हिन्दी भाषा

विकास और विश्लेषण

Hindi

हिन्दी भाषा : विकास और विश्लेषण

लेखक
डा० चन्द्रभान रावत
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशक
सरस्वती प्रकाशन मन्दिर
मोतीकटरा, आगरा–३

प्रकाशक
प्रतापचन्द जैसवाल
संचालक
सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, आगरा-३

मुख्य वितरक
सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा आगरा-३

प्रथम संस्करण २०२५
१ जनवरी, १९६९

मूल्य १६·००

मुद्रक
जनता, प्रेस
गुदड़ी मंसूर खाँ, आगरा

समर्पित

डा० बाबूराम सक्सेना

को

सविनय !

—चन्द्रभान

दो शब्द

'हिन्दी भाषा : विकास और विश्लेषण' प्रस्तुत है। इस दिशा में कई विशद प्रयास हो चुके हैं, एक प्रयोग और सही। मेरी मूल दृष्टि तो विवरणात्मक एवं संरचनात्मक भाषा विज्ञान की रही है, पर विकास-इतिहास की स्फुट-अस्फुट रेखाओं से यह प्रयास बच नहीं पाया है। यदि इसकी रूपरेखा शुद्ध संरचनात्मक होती, तो मुझे अधिक सन्तोष होता। पूर्ण सन्तोष के लिए फिर प्रयास करने के लिए उपयुक्त क्षण की प्रतीक्षा में रहूँगा। इस समय खण्डित सन्तोष ही सही।

'प्रयोग' मैंने इस दृष्टि से कहा कि इतिहास-विकास की रेखाओं और रूप-विवरण के बीच एक सामंजस्य रखा गया है। मुझे ऐसा अनुभव होता रहा है कि यदि संरचना का विश्लेषण इतिहास से पुष्ट होता रहे, तो कोई हानि नहीं कभी-कभी यह मिश्रित पद्धति अधिक सुनिश्चित निर्णय भी दे सकती है। विवरणात्मक पद्धति से विश्लेषण करके, प्राप्त इकाइयों का विकास-क्रम देखने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी, शुद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण का अपना अलग सौष्ठव और महत्त्व है।

अहिन्दी क्षेत्र के हिन्दी-विद्यार्थी के लिए मिश्रित पद्धति भी उपादेय रहती है और शुद्ध संरचनात्मक पद्धति भी। आरम्भ में परम्परा-बोध और स्वरूप-बोध साथ-साथ चलते हैं। आगे स्वरूप बोध अधिक आकर्षक हो जाता है। यदि हम कुछ भी करने के इच्छुक हैं तो हिन्दी के विवरण सम्बन्धी प्रश्नों की चुनौती स्वीकार करें। हिन्दी की संरचना का स्पष्ट एवं निर्मित बोध प्रस्तुत करें। हिन्दी का वैज्ञानिक रूप से स्वरूप निर्धारण हम सबका कर्त्तव्य है। वृहत्तर हिन्दी क्षेत्र की यह माँग है।

मुद्रण सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण सभी अन्तर्राष्ट्रीय संकेत चिन्हों का विधिवत प्रयोग नहीं हो सका है। कुछ चिन्हों के स्थान पर अन्य चिन्हों का प्रयोग किया गया है। संकेत-चिन्हों की सूची में इसके बारे में स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है।

—चन्द्रभान रावत

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

संकेत सूची

√=धातु
|=कल्पित, संभावित रूप
>=से उत्पन्न
<=उत्पन्न हुआ है।
अथर्व०=अथर्व वेद
अप०=अपभ्रंश
अपा०=अपादान
अधि०=अधिकरण
अन्य०=अन्यपुरुष
अव०=अवधी
उड़ि=उड़िया
उत्तम०=उत्तमपुरुष
एक०=एक वचन
ऋ० या ऋक्०=ऋग्वेद
गु०=गुजराती
नपुं०=नपुंसकलिंग
नभाआ=नव्य भारतीय आर्यभाषा
पं०=पंजाबी
प० हि०=पश्चिमी हिन्दी
पा०=पालि
प्रा०=प्राकृत
प्राभाआ=प्राचीन भारतीय आर्यभाषा
पुं०, पुं० लिं०=पुल्लिंग
पू० कृद०=पूर्वकालिक कृदन्त
बहु०=बहुवचन
ब्रज०=ब्रजभाषा
बुं०=बुंदेली
भविष्यत्०=भविष्यत् काल
भूत०=भूतकाल
भूत० कृ०=भूतकालिक कृदन्त
मध्य०=मध्यम पुरुष
मभाआ=मध्यकालीन आर्यभाषा
मरा०=मराठी
महा०=महाराष्ट्री
मा०=मागधी
मार०=मारवाड़ी
यजु=यजुर्वेद
राज०=राजस्थानी
वर्त० कृ०=वर्तमान कालिक कृदन्त
वर्त०=वर्तमान काल
वै०=वैदिक
शौ०=शौरसेनी
सं०=संस्कृत
संकेत०=संकेत वाचक
सम्प्र०=सम्प्रदान-कारक
सम्ब०=सम्बन्ध-कारक
सिं०=सिंधी
स्त्री०=स्त्रीलिंग
हि=हिन्दी
[ ]=संस्वनात्मक लेख (Phonetic writing)
/ /=ध्वनि ग्रामात्मक लेख (Phoneetc. writing)
{ }=पदरूपांशात्मक लेख (Morphological writing)

१

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण

आज संसार में २,७९६ भाषाएँ बोली जाती हैं।[१] इनमें विभिन्न बोलियों को सम्मिलित नहीं किया गया है। पर इस संख्या में एक हजार से ऊपर वे भाषाएँ सम्मिलित हैं जो अमेरिका की आदिम जातियों में प्रचलित हैं और जिनके उपयोक्ताओं की संख्या केवल हजारों में अथवा सैकड़ों में ही है। पाँच सौ के लगभग भाषाएँ अफ्रीका की जातियों द्वारा बोली जाती हैं। इतनी ही भाषाएँ आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा प्रशान्त महासागर के अन्य द्वीपों में प्रचलित हैं। सकड़ों ऐसी भाषाएँ भी इनमें सम्मिलित हैं जो एशिया के अनेक भागों में प्रचलित हैं और जिनके विषय में बहुत कम ज्ञात है। इस प्रकार इस विशाल संख्या में से कुछ ही प्रमुख भाषाएँ रह जाती हैं। इन प्रमुख भाषाओं को भी कुछ परिवारों में वर्गीकृत किया जाता है।

कुछ भाषा वैज्ञानिकों का मत है कि आज की भिन्न भाषाओं का मूल स्त्रोत एक अज्ञात मूल भाषा ही था। इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित होकर जातियों के एक स्थान से दूसरे स्थानों में जाने के कारण—वह मूल भाषा आज की अनेक भाषाओं में विकसित हुई है। इस सिद्धान्त को अतिवाद कह कर यदि स्वीकृत नहीं किया जाये, तो इतना तो निश्चित है कि आज की अनेक भाषाओं के ऐतिहासिक विकास-क्रम को देखते हुए उनका एक मूल उत्स मिल जाता है। तात्पर्य यह कि यदि संसार की समस्त भाषाओं का मूल स्त्रोत एक दुरूह कल्पना है, तो उनके परिवार तो निश्चित किये ही जा सकते हैं, जिनकी वर्तमान शाखाएँ एक मूल स्त्रोत से निःसृत हैं। यद्यपि लिखित सामग्री के अभाव में पारिवारिक वर्गीकरण वैज्ञानिक पूर्णता नहीं प्राप्त कर पाया है, तथापि कुछ भाषा वैज्ञानिक विकास-नियमों की दृष्टि से वर्तमान रूपों से मूल रूप तक की विकास-स्थितियों का पुनर्गठन संभव है। कुछ परिवारों के पुनर्गठन की आधार भूत प्रमाण-सामग्री पर्याप्त मिल जाती है और कुछ की कम। संसार के मुख्य भाषा-परिवारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

---

[१] Gray, Foundation of Language, P. 418

१.११. सेमिटिक-कुल (Samitic)—इस कुल की मुख्य भाषाएँ ये हैं : असीरी-बाबिलोनी, हिब्रू, फीनीशियन, सीरीयक, अरबी, साबियन, इथियोपियन, और हब्शी। अरबी और हब्शी को छोड़कर अन्य भाषाएँ मृत हो चुकी है। बाइबिल की एक पुराण-कथा के अनुसार इसका संबंध हजरत नूह के ज्येष्ठ पुत्र 'सैम' से है। इस कुल के कीलाक्षर लेख-प्रमाण २५०० ई० पू० से प्राप्त होने लगते है।

१.१ २. हैमिटिक-कुल (Hamitic)—इसमें प्राचीन मिस्त्री, काप्टिक, त्वारेग, कबाइल और अन्य बर्बर (Berber) भाषाएँ सुमाली, फुलानी इत्यादि आती हैं। मिस्त्री के लेख ४००० ई० पू० से मिलते हैं। इसके आगे के विकास की प्रतिनिधि काप्टिक है। ईसा के पीछे के हस्तलेख इसमें प्राप्त होते हैं। अरबी के आघात से मिस्री भाषा १७ वीं सदी ई० में मृत हो गई। बर्बर भाषाओं का परिचय लिबियन (Libyan) भाषा के चौथी शती ई० पू० के लेखों से मिलता है। आज बर्बर शाखा का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषाएँ त्वारेग (Tuareg) तथा कबाइल (Kabyle) हैं। इन्होंने अरबी के आघातों को झेला है और आजकल उत्तरी अफ्रीका में बोली जाती है। इनके बोलने वाले ६-७ मिलियन हैं। मिस्र के दक्षिण में सुमाली (Somali) तथा गल्ला (Galla) भाषाएँ लगभग ८ मिलियन लोगों द्वारा बोली जाती हैं।

१.१३. चीनी तिब्बती (Sino-Tibetan) **कुल**—इस कुल में चीनी, स्यामी ब्रह्मी, तिब्बती, तथा भारत-ब्रह्मा सीमान्त प्रदेशीय भाषाएँ आती हैं। ईसकी प्रमुख शाखा चीनी लगभग ४० करोड़ जनता की भाषा है। इस भाषा-क्षेत्र में कई उपभाषाएँ हैं जो परस्पर अंशतः तथा कभी पूर्णतः नहीं समझी जा सकती। इसकी अनेक उपशाखाएँ भी हैं। प्राचीनतम लिखित सामग्री लगभग २००० ई० पू० से मिलने लगती है। स्यामी के बोलने वाले लगभग ७ मिलियन हैं। इसका प्राचीनतम लेख प्रमाण १९९३ ई० का है। तिब्बती भाषा के लेख नवीं शती ई० के हैं। ब्रह्मी के बोलने वाले ८ मिलियन के लगभग हैं। अन्य बोलियों का विस्तार अत्यन्त सीमित है।

१'१४. फिन्नो उग्रीय वर्ग (Finno-Ugrian)—इस कुल का प्रतिनिधित्व मग्यर, फिन, एस्थ, लाप, वोगुल, ओस्त्याक आदि भाषाएँ करती हैं। लाप (Lapponic) भाषा नार्वे, स्वीडन, तथा फिनलैंड में बोली जाती हैं। बोलने वाले लगभग ३०,००० हैं। फिन भाषा का विस्तार सबसे अधिक है। इसके छुट-पुट लेख प्रमाण १३वीं सदी से मिलते हैं। फिन और एस्थ (Esthonian) भाषाएँ परिष्ठित हैं और फिनलैंड और एस्थोनिया की राज भाषाएँ हैं। हुंगेरी अथवा मग्यार (Magyar) भाषा के लेख भी १३वीं शती से मिलते हैं। इसके बोलने वाले १० मिलियन के लगभग हैं।

१'१५. तुर्कमंगोल मंचू वर्ग—इस परिवार में तुर्क तातार (Turco-Tartar) मंगोल तथा मंचू भाषाएँ आती हैं। ये भाषाएँ थोड़े बहुत अन्तर के साथ लगभग

३९ मिलियन लोगों द्वारा बोली जाती हैं। इनके प्राचीनतम लेख साइबेरिया से प्राप्त हैं जो लगभग ८ वीं शती के हैं। कुछ विद्वान तुर्क तातार भाषाओं का संबंध मंगोल और मंचू वर्गों से मानते हैं तथा कुछ फिन्नोउग्रियन से इनका सम्बन्ध जोड़ते हैं। पहले मत का आधार दृढ़ है। मंगोल भाषा तुर्क तातार के पूर्व में प्रचलित हैं। किन्तु इन जातियों के घुमन्तु स्वभाव के परिणामस्वरूप इनके रूप अन्यत्र भी एशिया के विभिन्न भागों में तथा योरूपीय रूस के कुछ क्षेत्रों में बिखरे हैं। चंगेज खाँ के समय से प्राचीन लेख मिलने लगते हैं। मंगोल वर्ग के उत्तर में मंचू वर्ग है। Tunguse लगभग ७०,००० लोगों द्वारा बोली जाती है। साहित्यिक और राजभाषा के रूप में मंचू १६४७ से मिलती है।

१.१६. **काकेशीय वर्ग**—काकेशस भाग में विविध भाषाएँ बोली जाती हैं। इनको उत्तरी काकेशिया तथा दक्षिण काकेशिया—दो भागों मे विभाजित किया जाता है। ज्यार्जियन भाषा द्वितीय समूह की मुख्य भाषा है। १० वीं शती से लिखित सामग्री प्राप्त होने लगती है। भाषाओं की विविधता का कारण पर्वत-शृंखलाएँ हैं।

१.१७. **द्रविड़ वर्ग**—इस वर्ग में तमिल, मलयालम्, कन्नड, तेलुगू, गोंड इत्यादि तथा ब्राहुई सम्मिलित की जाती हैं। तमिल भाषी १८ मिलियन, मलयामम् बोलने वाले ६ मिलियन, कन्नड के प्रयोक्ता १० मिलियन, तथा तेलुगु बोलने वाले २४ मिलियन के लगभग है। ब्राहुई भाषा बिलोचिस्तान के पहाड़ों में लगभग १७४,००० लोगों द्वारा बोली जाती है। इस समय की स्थिति से पूर्व-आर्य भारत में द्रविड़ों के दीर्घ विस्तार की सूचना मिलती है। सब मिलाकर भारत में लगभग ७ करोड़ दस लाख व्यक्तियों द्वारा इस वर्ग की भाषाएँ बोली जातीं हैं। भारत से बाहर सिंहल मे तमिल भाषी लगभग २० लाख हैं। उक्त साहित्यिक भाषाओं के अतिरिक्त कुछ आदिम जातियों में भी तुळू (१,५२,०००) कोडगू (४८,०००) तोदा (६००) गोंडी (१०,८००० से ऊपर मद्रास प्रदेश तथा हैदराबाद में) कन्ध या कुई (५ लाख ८६ हजार उड़ीसा में) कुँडखू या ओराँवाँ (१०,३८,००० बिहार उड़ीसा असम प्रदेश में) तथा माल्तो (७१००० राजमहल की पहाड़ियों मे) भाषाएँ प्रचलित हैं जो द्रविड़ परिवार से सम्बद्ध हैं। तमिल में ई० पूर्व का प्रचुर साहित्य बताया जाता है। कन्नड़ साहित्य भी प्राचीन है: ५वीं शती ई० से व्यवस्थित लेख मिलते हैं तेलुगु साहित्य का प्राप्त प्राचीन ग्रन्थ नन्नयभट्ट का महाभारत हैं। इससे पूर्व भी साहित्य अवश्य होगा।

१.१८. **आस्ट्रिक वर्ग**—भारत की कोल मुण्डा बोलियाँ, खासी, मोन ख्मेर निकोबारी और अन्य दक्षिण एशियाई भाषाएँ (Austro. Asiatic) तथा दक्षिण द्वीपीय भाषाएँ (Austronesian) जैसे इन्दोनेसी (Indonesian) सालइ, सुन्दानी यवद्वीपी, बाली, सुलबेसी, विसय एवं तगालोग आदि मेलानीसी-फीजीद्वीपी, पोलीनेसी (Polynesian) यथा सामो आई, ताहिती, माओरी, मारक्वेसी, हवाद्वीपी आदि इससे सबन्धित हैं। मानख्मेर भाषाएँ बर्मा, स्याम तथा नीकोबार में बोली जाती हैं। कौल

था मुंडा भाषी लोग पश्चिमी बंगाल छोटा नागपुर, मध्यप्रदेश तथा मद्रास प्रदेश के पूर्वोत्तर भाग में बिखरे हुए हैं। मुंडा-भाषाओं की संख्या लगभग ३ मिलियन है। कंबोडियन के प्राचीनतम लेख सातवीं शती ई० के हैं। मलायी पोलीनेसी (Austro-uesian) वर्ग मलाया से ईस्टर द्वीप तक विस्तृत है। इस भू-भाग की कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनका अध्ययन अत्यल्प ही हुआ है। बोलने वाले भी कम हैं।

१.१९ बाण्टू (Bantu) कुल—मध्य एवं दक्षिण अफ्रीका की स्वाहिली लुगाण्डा, कांगों भाषाएँ भी इस वर्ग के अन्तर्गत हैं। वैसे छोटी बड़ी १५० भाषाएँ इस वर्ग के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलने वाले ५० मिलियन के लगभग हैं। इन भाषाओं में स्वाहिली सबसे महत्वपूर्ण भाषा है। यह सम्पूर्ण पूर्वी अफ्रीका तट की राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित है।

१.१.१०. सुदानी (Sudanic)—वर्ग में पश्चिमी अफ्रीका की योरुबा, गाँ, अशान्ती, मन्दिगों आदि भाषाएँ आती हैं।

१ १.११. उक्त मुख्य भाषा-वर्गों में सभी भाषाएँ सम्मिलित नहीं हुई हैं। अनुमानतः मैक्सिको के उत्तर में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व १५,००,००० इन्डियन रहते थे। आज कल इन भाषाओं के बोलने वालों की संख्या एक-चौथाई मिलियन से कम नहीं है। इन भाषाओं के परिवार भी कई हैं। इनकी संख्या २५ और ५० के बीच में है। कुछ भाषा-परिवार समाप्त भी हो गये होंगे।

एस्किमोवर्ग की भाषाओं का भी बहुत कम अध्ययन हुआ है। इन भाषाओं का विस्तार उत्तर सीमान्त देशों से ग्रीनलैंड होते हुए एलूशियन द्वीप-समूह तक के भूभाग तक है।

१.२. भारोपीय परिवार[१]—यह परिवार अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इन भाषाओं के बोलने वालों ने प्राचीन और आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के विकास में मूल्यवान योग दिया है। इन परिवार का गंभीर वैज्ञानिक अध्ययन सभी भाषा वर्गों की अपेक्षा अधिक हुआ है। इन भाषाओं का वर्गीकरण जितना सुनिश्चित और सुदृढ़ है उतना सम्भवतः किसी अन्य का नहीं। साथ ही, संसार की जनसंख्या का बहुमत इन भाषाओं का प्रयोग करता है। राजनैतिक, आर्थिक और समाज वैज्ञानिक दृष्टियों से भी इन भाषाओं का महत्व है।

इसे भारोपीय नाम इसलिए दिया जाता है कि इन भाषाओं के बोलने वाले समस्त यूरोप तथा उत्तरी भारत तक पश्चिम-मध्य एशिया में फैले हुए हैं। जर्मन विद्वानों ने 'इन्डोजर्मनिक' नाम उपयुक्त समझा क्योंकि इस परिवार की पश्चिमी सीमा आइसलैंडी है जो जर्मन-वर्ग से सम्बद्ध है। कुछ इसे केवल 'आर्य' नाम से ही पुकारते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध उस आर्य जाति से है जो मूल 'आर्य भाषा को बोलती थी। किन्तु जाति और भाषा सदैव सम्बद्ध नहीं रहतीं। आज के भारोपीय भाषा भाषी अनिवार्यतः आर्य नहीं हैं। इसलिए आर्य नाम उपयुक्त नहीं है।

इन भाषाओं का विस्तार-क्षेत्र बहुत विशाल है। लगभग समस्त योरुप, उत्तर-पूर्वी भारत तक विस्तृत दक्षिण-पश्चिमी एशिया, प्रायः समस्त पश्चिमी गोलार्द्ध इन भाषाओं का क्षेत्र है। यूरोपीय जातियों के औपनिवेशिक विस्तार के साथ इन भाषाओं का भी प्रसार हुआ। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, तस्मानिया, दक्षिण अफ्रीका आदि में आरोपित भाषाओं के रूप में अंग्रेजी, फ्रेंच, डच, पुर्तगाली, इटाली तथा स्पेनी आदि भाषाएँ बोली जाती हैं। इस प्रकार भारोपीय परिवार की भाषाओं का प्रसार क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया। इन भाषाओं के बोलने वालों की संख्या लगभग १,०००,०००,००० हैं।

१. २१—**भारोपीय भाषा वर्ग की शाखाएँ**—इस वर्ग की भाषाओं को १० शाखाओं में विभक्त किया जाता है। इन दस शाखाओं के अतिरिक्त वर्त्तमान शोधों के आधार पर कुछ शाखाओं के अतीत कालीन अस्तित्व में विश्वास किया जाता है, जो लुप्त हो गई है। १० शाखाएँ इस प्रकार हैं।

(i) आर्य या भारत ईरानी : इसके सम्बन्ध में आगे विचार किया गया है। (१·४)

(ii) बाल्ती (Baltic) और स्लावी (Slavonic) : पहली में लिथुआनियन, लेटिश (Lettish) तथा विलुप्त प्राचीन प्रशियन (Old Prussian) आती हैं और और स्लावी में बल्गेरिया (Bulgarian) रूसी, पोलिश, जेच (Czech) सर्बो-क्रोटियन (Serbo croatian) तथा बल्गेरी आदि आती हैं। ये दोनों समूह परस्पर इतने ही सम्बद्ध हैं जितने भारतीय आर्य और ईरानी भाषा-समूह। इसलिए इनको 'बाल्ते स्लावी' वर्ग कहना सुविधाजनक है। स्लावी के प्राचीनतम लेख-प्रमाण ६ वीं० शती के हैं जो प्राचीन बल्गेरी में प्राप्त होते हैं। लिथुआनियन का पता १६ वीं शती से ही है।

(iii) आर्मीनी : आधुनिक समय में ही ज्ञात है : ५ वीं शती।

(iv) अल्बानी (Albanian) का ज्ञान भी आधुनिक समय का ही है।

उक्त चारों वर्गों को सामूहिक रूप से शतम्‌वर्ग के अन्तर्गत माना जाता है। शेष शाखाएँ केन्टुम वर्ग की हैं, जो इस प्रकार हैं:—

(v) ग्रीक : इसके अन्तर्गत अनेक उपभाषाएं हैं। इसका साहित्य होमर-काव्य (८०० ई० पू०) से आरम्भ होता है।

(vi) लैटिन : इसका विकास विभिन्न रोमानी (Romance) भाषाओं में हुआ है : फ्रेंच, इटली, स्पेनी,. पुर्तगाली, रूमानी आदि। इसका साहित्यिक रूप २०० ई० पू० से मिलने लगता है। इसके पुराने शिलालेख अत्यल्प हैं।

(vii) कैल्ती (Celtic) : इसका गैली (gallic) रूप लुप्त हो गया है। इन्सूलर कैल्ती के रूप में यह प्राप्त है। इसके उपविभाग इस प्रकार हैं : आयरिश (Gaelic) तथा ब्रिटानी (Brittanic, Welsh, Cornish, Breton) पुरानी आयरिश में इसके प्राचीनतम लेख आठवीं शती से प्राप्त हैं।

जर्मनी : इसकी एक उपशाखा पूर्वी जर्मन या गाथिक थी, जो अब मृत है। नार्डिक और पश्चिम जर्मन (इसमें अंग्रेजी भी है) जीवित शाखाएँ हैं।

IX—तोखारी (Tocharian) : इसके रूप चीनी-तुर्किस्तान में प्राप्त कुछ बौद्ध हस्तलेखों में सुरक्षित हैं। इनका समय ६ वीं और १० वीं शती के बीच में है। इसकी दो बोलियाँ है जिन्हें सुविधा के लिए A और B कहा जाता है।

X—हित्ती (Hittite) अनातोलिया के बोगज़्काई स्थान से प्राप्त कुछ ठप्पों के लेखों में यह सुरक्षित है। इन लेखों का समय १९ वीं शती ई० पू० से २० वीं शती ई० पू० तक माना जाता है। भारोपीय भाषाओं का इससे प्राचीन प्रमाण अप्राप्य है। इसकी खोज ने अनेक प्रश्नों को जन्म दिया है।

उक्त शाखाएँ प्रमुख हैं। कुछ मृत शाखाओ की खोज भी हुई है। यहाँ उनका संक्षिप्त विवरण भी अनावश्यक प्रतीत होता है। प्रस्तुत पुस्तक के विषय का संबंध मुख्यतः भारत-ईरानी या 'आर्यवर्ग' से है। अतः इस पर कुछ विशेष विचार होना अपेक्षित है। पर इससे पूर्व संक्षेप में आद्यभारोपीय या भारोपीय भाषाओं के मूल स्त्रोत पर संक्षिप्त दृष्टिपात उपयुक्त होगा।

१.२२ **आद्यभारोपीय**—उक्त शाखाओं में विभक्त होने से पूर्व भारोपीय का मूल रूप जिस जन-समूह द्वारा बोला जाता था उसे 'वीरास' (wiros) नाम दिया जाता है। 'वीरास' की रूप रेखा, उनके मानसिक विकास और शुद्ध रूप के सम्बन्ध में आज कुछ भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक युगों में जातीय मिश्रण के परिणाम स्वरूप शुद्ध 'रक्त' की बात हास्यास्पद ही है। 'वीरास' की जातिगत विशेषताओ के संबन्ध मे विद्वानों ने सम्भावनाएँ की हैं : 'बहुत संभव है ये लम्बे, बृहतकाय, लम्बी नासिका वाले, गौरवर्ण, नीलाक्ष एवं हिरण्यकेश 'नार्डिक' (Nordic)कुल के रहे हों, परन्तु इस विषय में भी विद्वानों को सन्देह है और यह धारणा की गई है कि शायद ये अपनी मूल अवस्था से ही मिश्रित रक्त के हों।[1]

आदि भारोपीय भाषा-भाषी इधर-उधर फैलने से पूर्व किस स्थान पर रहते थे, इस प्रश्न पर पर्याप्त विचार हुआ है पर कोई निश्चित एक मत निरूपित नहीं हो सका है। एफ० माक्स म्यूलर (F, Max Mueller) ने अविभक्त वीरास का आदि स्थान मध्य एशिया माना था। कुछ अन्य विद्वानों ने भी मध्य एशिया वाले मत का समर्थन किया। यह तो सम्भव प्रतीत होता है कि ईरानी और भारतीय जन मध्य एशिया से आये। किन्तु जर्मन, कैल्ट (celts) ग्रीक तथा योरुप के अन्य जनों के पूर्वज मध्य एशिया से गये या इसके कभी समीप थे, इस बात की सम्भावना और इसके प्रमाण शिथिल हैं।[2] अतः दूसरा मत लैथम ने प्रस्तावित किया भारतीय-यूरोपीयों का आदिम स्थान 'कहीं न कहीं यूरोप' में होगा। इसके समर्थन

[1] डा० सुनीति कुमार चटर्जी, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी', पृ० २०

[2] Burrow, The Sanskrit Language, P. 9

में यह प्रमाण दिया जाता था कि भारोपीय भाषाओं की सबसे अधिक संख्या प्राचीन काल से यूरोप में ही मिलती है। भारत-ईरानी शाखा आदिम जाति के औपनिवेशिक विस्तार का ही परिणाम है। पर अभी हाल ही में दो तोखारी उपभाषाओं नेसीय (Nesian) या हित्ती (Hittite) की खोज हुई है। इस खोज के फलस्वरूप इन भाषाओं को आद्य भारोपीय की पुत्री ही नहीं, भगिनी के रूप में स्वीकृत किया गया। इससे इटालियन नृतत्व-विशारद सेरजी (sergi) के एशिया माइनर वाले मत को वल मिला। पर कुछ विद्वानों ने इन भाषाओं को भी आक्रमणकारियों के साथ गया हुआ माना है। अतः यह अनुमान लगाया जाता है कि भारोपीय भाषी जनों का आदिम स्थान यूरेशिया महाद्वीप के किसी अन्य भाग में रहा होगा। डा० चटर्जी ने इसका निष्कर्ष यों निकाला है : 'यह अन्दाज है कि उत्तर में शीतोष्ण वन भूमि से स्पृष्ट मध्य एवं पूर्वी यूरोप की समतल भूमि में ही अर्द्ध प्रतिष्ठित भारतीय-संस्कृति का विकास हुआ होगा। वहाँ से इनके दल-के-दल भूमि के अनुर्वर हो जाने अथवा अन्य जनों के दबाव के कारण दक्षिण, पश्चिम, तथा दक्षिण-पूर्व एवं उत्तर-पश्चिम की ओर फैले…"[१] ब्रान्देश्ताइन की खोजों से मध्य एशिया वाला मत फिर से कुछ परिष्कृत होकर सामने आया। 'इस प्रकार यूराल पर्वत माला के दक्षिण में स्थित सुविस्तृत प्रदेश ही आद्यभारतीय आर्यों की मातृभूमि सिद्ध हुई प्रतीत होती है।[२] यहीं से ये लोग यूरोप की ओर गये और भारत-ईरान की ओर भी। यह मत बहुमान्य है।

१·२३ प्रसार-दिशा : क्रम—आदि स्थान के संबंध में उक्त मत को मान लेने पर उनकी प्रसार की दिशा का प्रश्न उठता है। ब्रान्देन्श्ताइन के मतानुसार जो प्रसार क्रम रहा उसका सार डा० चटर्जी ने इस प्रकार दिया है: इस प्रकार यूराल पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित सुविस्तृत प्रदेश ही आद्य भारतीय आर्यों की मातृभूमि सिद्ध हुई प्रतीत होती है। उनकी एक शाखा, भारतीय-ईरानी कुल की पूर्वज, सम्भवतः वहीं रही, जब कि मुख्य शाखा पश्चिम में आधुनिक पोलैंड की ओर प्रसारित होती चली गई। अथवा यह भी सम्भव हो सकता है कि भारतीय यूरोपीयों एवं एशिया माइनर के हित्ती लोगों के पूर्वजों ने पहले अपने उत्तरी मध्य एशिया के मैदानों वाले घर को छोड़ा, और जब कि उनकी यूरोपीय शाखा पश्चिम की ओर चली गई, वे स्वयं दक्षिण पश्चिम की ओर काकेसस में होते हुए ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी के द्वितीयार्द्ध में एशिया माइनर, मेसोपोतामिया एवं ईरान की ओर चले आए।[3] इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि पहले हित्ती लोग अपनी भाषा को लेकर मूल से पृथक् हुए। वे एशिया-माइनर के शासक बने। उनके पश्चात् भारतीय

१ 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी' पृ० २२।

२ वही पृ० २४

3 भारतीय आर्य भाषा ओर हिन्दी, पृ० २५।

ईरान शाखा के जन उत्तरी मैसोपोतामिया में आए (लगभग २००० ई० पू०)। इसके पश्चात् एक और शाखा पश्चिम की ओर चली और बालकन प्रदेश में होकर आधुनिक रूमानिया, युगोस्लाविया, बुल्गारिया और अल्बानिया में होते हुए, ग्रीस और पश्चिमी एशिया माइनर में आई।

इस शताब्दी के आरम्भ में हूगोविंक्लर (Huno Winckler) ने उत्तर-पूर्वी एशिया-माइनर में बोगाजकोंइ ३ (Boghaz koi) लेखों की खोज की। इनके आधार पर उन्होंने प्रगति की और ही दिशा बताई। इस खोज ने यह स्पष्ट किया कि मैसोपोतामिया और बाबिलोन में ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी में प्रचलित नामों और भाषा का वैदिक भाषा से पर्याप्त साम्य है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि उक्त जन एक भारतीय उपजाति से ही संबंधित थे, जो भारत से ही वहाँ गये। पर इसको अधिक युक्ति-युक्त नहीं माना जाता। अधिक तर्क सम्मत मत यही प्रतीत होता है कि उक्त स्थानों की जातियाँ पूर्व-वैदिक भारतीय आर्य ही थे। इनमें से कुछ वहीं बस गये और कुछ पूर्व की ओर बढ़ कर पहले ईरान और फिर भारत में बसे।

१·२४ उत्तर-पूर्वी एशिया माइनर और मैसोपोतामिया—यहाँ से प्राप्त लेखों की भाषा पूर्व भारत ईरानी स्थिति की द्योतक मानी जा सकती है। 'आर्य' समूह (भारत ईरानी) के इससे प्राचीन प्रमाण-चिह्न नहीं प्राप्त होते। वहाँ आर्यों की स्थिति उत्तरी मेसोपोतामिया के मितानी राज्य के कुछ लेखों से प्रमाणित होती है। इन लेखों का समय १५००-१२०० ई० पू० माना गया है। वहाँ के राजाओं की नाम-सूची की आर्यनामों से पर्याप्त समानता है। मितानी राजा अपने को मर्यनि (Maryanni) नाम से अभिहित करते है (वैदिक मर्य—मनुष्य)। इन नामों की सूची इस प्रकार है[1]—

मितानी	**आर्यरूप**	**अर्थ**
सुतर्न (Sutarna)	सुतरण (वै० सुतरमन)	'शासक, संचालक'
परशासतर (Parsasatar)	प्रशास्तर	'सुक्षत्र का पुत्र' (?)
सौश्शतर (Saussatar)	सौक्षत्र	(ऋत धामा)
अर्तदाम (Artadam)	ऋधामन (ऋतस्मर)	सत्यचेता
अर्तशुमर (Artasumar)	ऋतस्तर (वै०)	सत्तय ज्ञाता
तुशरथ (tusratha)	त्विषरथ, (वै० त्वेष्रथ)	'having rushing Chariots'
मति वाज (Matiwaza)	मति वाज	प्रार्थनाओं द्वारा विजयी।

इनके अतिरिक्त असीरी में लिखे कुछ स्थानीय व्यक्तिवाचक नामों से भी आर्य रूपों की समानता है। इन मितानी राजाओं के प्रभाव से सीरिया और पैलेस-

[1] Burrow, the sanskrit Language, P 27

टाइन प्रभृति स्थानों पर भी आर्य नामों से साम्य रखने वाले शब्द मिले हैं। इनमें कुछ अत्यन्त स्पष्ट हैं सुवरद+त (स्वदति 'स्वर्ग द्वारा प्रदत्त) श—तु—अर (* सत्वर=सत्वन् शक्तिशाली) अर्तमन्य (ऋतमन्य 'विधिका विचारक') आदि। समकालीन हित्ती साम्राज्य का मितानी साम्राज्य से युद्ध और शान्ति के सम्बन्ध थे। हित्ती के कुछ लेखों से मितानी में 'आर्यों' की स्थिति के निश्चित प्रमाण प्राप्त होते हैं। इन लेखों में सबसे महत्वपूर्ण संधिपत्र हित्ती राजा सपी-लु-लिउमा तथा मितानी राजा मतिवाज के बीच का है (१३५० ई० पू०) इनमें उल्लिखित कुछ देवताओं के नाम वैदिक देवों के नाम से असन्दिग्ध साम्य रखते हैं : इ-न्द-र (=इन्द्र) मित्र-श् (इल्) (=मित्र), उ-रु-वन्-अ-श्श् (इल) (=वरुण) ना-स-अत्-ति-य" (=नासित्य)। इस साम्य से भाषागत साम्य के साथ-साथ धार्मिक और सांस्कृतिक साम्य भी सिद्ध होता है। सम्भवतः इन्हीं आर्यों के प्रभाव से इन देशों में घोड़े के प्रयोग का आरम्भ हुआ। इन प्रमाणों के अतिरिक्त बेबीलोन के कस्सी (Kassite) राज्य के कुछ लेखों मे इन आर्यो' का प्रमाण मिलता है। बेबीलोनी पर्यायों के साथ जो देव-सूची है उसमें आर्य देवों के नामों की समानता है। कस्सी लोग स्वयं ईरान से आये हुए आक्रामक थे, और उस समय तक ईरान में आर्य पहुँचे नहीं थे। इस प्रकार यह भी मितानी के 'आर्यों' का प्रभाव था।

मितानी में इनका साम्राज्य रहा। ईरानी और भारतीय आर्यों की भाँति ये भी विजेताओं के रूप में वहाँ प्रविष्ट हुए। किन्तु इन्होंने मितानी के आदि निवासियों पर अपनी भाषा आरोपित नहीं की। वहाँ के आदिम वासियों की भाषा को ही इन्होंने अपनाया। व्यक्तिवाचक नामों के अतिरिक्त इन आर्यों को अपनी भाषा का और कोई चिन्ह प्राप्त नहीं होता। साथ ही वहाँ के आदिवासियों के धर्म में इनका धर्म घुलमिल गया। जातिगत भेद भी प्रायः लुप्त हो गया। प्राप्य सामग्री के आधार पर कुछ ध्वन्यात्मक नियम निर्धारित किये जा सकते हैं। व > ब ; च > ज; -प्त—> -त्त-। मितानी और मेसोपोतामिया के आर्य-भाषी जन ईरानी और भारतीय आर्यों के पूर्व जन ही हो सकते हैं। आर्यों की प्रगति-यात्रा में कुछ समूह वहीं बस गये और कुछ पूर्व की ओर आगे बढ़े और पहले ईरान और तत्पश्चात् भारत में प्रविष्ट हुए।

१.३ आदि भारोपीय की संक्षिप्त रूपरेखा : तथा अन्य निष्कर्ष

आदि भारोपीय का एक शब्द भी प्राप्य नहीं है। भाषा वैज्ञानिकों की तुलनात्मक शोधों के आधार पर इसकी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इन शोधों ने केवल आदि भारोपीय भाषाओं की आकृति और उनके विधान पर ही प्रकाश नहीं डाला, उनकी रहन-सहन और संस्कृति पर भी कुछ प्रकाश डाला है। साथ ही भाषा के विकास की तथा उस आदिम भारोपीय जाति की यात्राओं की दिशाएँ भी प्रकाश में आई हैं। शब्दों के अर्थतात्विक अध्ययन ने इस भाषा में आगत-शब्दों को खोजा है, जिससे इस जाति और इसकी भाषा से अन्य जातियों की भाषाओं के संपर्क सिद्ध

होते हैं। इससे उस तिथि के सबंध में भी कुछ परिचय मिलता है, जब आर्य या 'वीरा' अविभक्त रूप से एक ही स्थान पर साथ साथ रहते थे। ऊपर इन पर कुछ विचार किया गया है। यहाँ आदि भारोपीय भाषा की संक्षिप्त रूपरेखा दी जा रही है। इसका आधार अधिकांश भारोपीय-भाषावैज्ञानिकों के द्वारा प्राप्त निष्कर्ष है। विवादास्पद अंशों को छोड़ दिया गया है।

(क) आदि भारोपीय का ध्वनि-विधान

आदि भारोपीय में स्वर संयुक्त स्वर तथा व्यंजनों का वैविध्य प्राप्त होता है। स्पर्श तत्व, संघर्षी तत्व से अधिक प्रबल था। स्पर्श ध्वनियों के कम से कम चार वर्ग थे : अघोष स्पर्श : *p, *t, *k, *kʷ; सघोष स्पर्श : *b, *d, *g, *gʷ; सघोष महा प्राणः *ph *dh, *gh, *gʷh। अघोष महा प्राण ध्वनियों का अस्तित्व तो था : *ph, *th, *kh, *kwh; पर इनका प्रयोग अत्यन्त सीमित था। यदि इन ध्वनियों को प्रयत्न-स्थलों के अनुसार आयोजित किया जाय तो ये वर्ग होंगे : द्वयोष्ठ्य : *p, *b, *ph, *bh, दन्त्य *t, *d, *th, *dh; पूर्वतालव्य (Pre-palatals) : *k, *g, *kh, *gh तथा पश्चतालव्य (Post palatals) *kʷ, *gʷ, *kʷh, gʷh। कम से कम उस भाषा में एक ऊष्म ध्वनि 'स' थी। कुछ संयुक्त रूपों में सम्भवतः इसका सघोष रूप भी वर्त्तमान था, ऐसा अनुमान किया जाता है। मुख्य स्वर ये थे : *e, *ē, *o, *ō, *a, *ā, । इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी ध्वनियाँ भी थीं जो स्वर तथा व्यंजन दोनों रूपों में संयोग की परिस्थितियों के अनुसार प्रयुक्त हो सकती थीं। इस प्रकार वे (१) व्यंजन रूपों में *y, *w, *r, *l, *n, तथा *m की भाँति प्रयुक्त होते थे। इस रूप में ये प्रायः पद के आरंभ अथवा कुछ संयुक्त रूपों में प्रयुक्त होते थे। (२) मुख्य स्वरों के पश्चात् प्रयुक्त होने पर, वे संयुक्त स्वरों की रचना करते थे : *ei, *en, *er, *el, *en, *em, *oi, *ou, *or, *ol, *on, *om, *ai, *au, *ar, *al, *an, *am; आदि। (३) स्वरों के रूप में वे अलग भी प्रकट होते थे : *i, *u, *ṛ, *ḷ, *ṇ, *ṃ। (४) स्वर मध्यवर्ती स्थिति में भी ये आ सकते थे जबकि एक ह्रस्व स्वर जो इस प्रतीक से व्यक्त किया जा सकता है *ᵒ, उनसे पूर्व व्यक्त हो *ᵒye, *ᵒwe आदि; *ᵒys *ᵒwo, आदि; और *ᵒya, *ᵒwa आदि। उदासीन (neutral) स्वर भी था : *ə।

(ख) आदि भारोपीय का व्याकरण

भारोपीय शब्द तीन तत्वों से निर्मित था : धातु, प्रत्यय (Suffix) तथा अन्त्यांश (Termination)। ये तत्व स्वरों, व्यंजनों अथवा दोनों से बने होते थे। एक ही शब्द के भिन्न रूपों में, मुख्य स्वर जो धातु, प्रत्यय या अन्त्यांश में प्रयुक्त होते थे, किसी अन्य स्वर के द्वारा स्थानान्तरित भी हो सकते थे अथवा समाप्त ही हो जाते थे। इस प्रक्रिया ने स्वर-श्रेणियों (vowel gradations) को जन्म दिया।

इस व्यवस्था में दो मुख्य श्रेणियाँ थीं : उच्च (इसमें $\frac{v}{e}$ या $\frac{v}{o}$ थे) तथा निम्न (इसमें *a या शून्य थे)। निम्न श्रेणी की दो उपश्रेणियाँ हो जाती थीं : मध्यवर्ती (जिसमें स्वर a रह जाता था) तथा शून्य उपश्रेणी (जिसमें स्वर रहता ही नहीं था)।

स्वरों की भाँति व्यंजनों तथा सघोषों (sonants) में भी सम्भवतः प्रयोग-जन्य श्रेणियाँ हो जाती थीं। पर ये अत्यन्त सीमित थीं। भारोपीय में शब्दों के अनेक वर्ग थे : (१) संज्ञा (इनमें विशेषण, सर्वनाम, संज्ञायें, तथा कृदन्त भी सम्मिलित थे) (२) क्रियाएँ। इनमें समापिका क्रियाएँ तथा कृदन्त सम्मिलित थे। काल के रूप ये थे : (a) वर्तमान रूप (b) ऑरिस्ट (Aorist theme) तथा (c) पूर्ण-रूप (Perfect theme)। इनकी रूप संरचना कई प्रकार से की जाती थी। प्रत्यय-संयोग से, पूर्व प्रत्यय-संयोग से, अथवा द्वित्वीकरण (reduplication) से। क्रिया के दो मुख्य वर्ग थे। एक वर्ग ऐसी क्रियाओं का था जिसके साथ अन्त्यांश का संयोग करने से पूर्व एक स्वर (i जैसा) जोड़ दिया जाता था (Thematic class)। दूसरे वर्ग में वे क्रियाएँ आती थीं जिनमें अन्त्यांश बिना इस प्रकार की प्रक्रिया के सीधे-सीधे जोड़ दिया जाता था (a—thematic class)। काल रचना से समय तथा रूप (aspects) दोनों का बोध होता था। इनके अतिरिक्त क्रियाओं के व्युत्पन्न रूपों के भी अनेक वर्ग थे, नाम-क्रिया, प्रेरणार्थक आदि। ये मूल क्रियाओं के साथ प्रत्ययों का संयोग करके बनाई जाती थीं। इस प्रकार भारोपीय का क्रिया विधान जटिल था। संज्ञाओं के रूप भी विभिन्न प्रकार के प्रत्ययों के संयोग से सम्पन्न होते थे। इनके सम्भवतः दो मुख्य वर्ग थे : कर्ता संज्ञा (Agent nouns) कर्म-संज्ञा (Action nouns)। संज्ञा के इन मूल-रूपों या व्युत्पन्न रूपों के साथ अन्त्यांश संयुक्त होते थे। ये ८ विभक्ति-संबंधों का द्योतन करते थे। इस भाषा में तीन लिंग थे। (१) पुल्लिंग : इससे प्राणियों के पुरुषत्व, अप्राणिवाचक पदार्थों की बृहत् आकृति, शक्ति तथा स्थूलता का बोध सामान्यतः होता था। (२) स्त्रीलिंग इससे प्राणिवाचक संज्ञाओं के स्त्रीत्व तथा छोटी आकृति अथवा कोमलता (अप्राणि-वाचक संज्ञाओं के साथ) का बोध होता था। (३) नपुंसक : इनसे अतिरिक्त भावों का द्योतन होता था। भारोपीय में दो या अधिक संज्ञाओं का मेल भी हो जाता था। व्यक्तिवाचक (३ पुरुषों में), संकेतवाचक, तथा प्रश्नवाचक सर्वनाम थे। अन्त्यांश के विभिन्न संयोगों की दृष्टि से संज्ञा के कई वर्ग थे। सुर-सरणियाँ भी थीं जो शब्द के एक भाग से दूसरे भाग पर स्थानान्तरित होती रहती थीं। शब्दावली में मुख्यतः शरीर के अंग-वाची, कौटुम्बिक संबंधवाची, पशुवाची, वृक्षवाची, सांस्कृतिक वस्तु-वाची, तथा खाद्य सामग्री से संबंधित शब्द थे। रंग, क्षेत्र, तथा आकृतियों से संबंधित विशेषण थे। १,००० तक के संख्यावाची शब्द थे। धातुओं की संख्या सौ से अधिक खोजी जा चुकी है।

ग—आदिभारोपीय की बोलियाँ

सम्भवतः अपने आदि-रूप में इस भाषा में बोली गत भेद नहीं थे। पीछे बोलीगत वैविध्य प्रकट होने लगे, जो अन्ततः स्पष्ट बोलियों के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। बोली गत वैविध्यों की प्रवृत्तियों पर यहाँ कुछ संक्षिप्त विचार किया जा सकता है।

(१) **कण्ठ्य या पश्च-तालव्य ध्वनियाँ**—इण्डोईरानियन, स्लावी, बाल्टी, आर्मीनियन, तथा अल्बानियन भाषाओं के पूर्वी समुदाय में भारोपीय *kw उष्म में परिवर्तित हो जाती है : शतमवर्ग। ग्रीक, इटाली, केल्टी, तथा जर्मन भाषा में इसका विकास k के रूप में होता है : केण्टुमवर्ग। यह शतम-केण्टुम परिवर्तन के नाम से प्रसिद्ध है। इस परिवर्तन का मूल आदिभारोपीय जनसमुदाय के उच्चारण भेद में हो सकता है। इस ध्वनि का उच्चारण ओष्ठ्य-तालव्य और पश्चतालव्य दो प्रकार से होगा।

(२) **भारोपीय * Ŏ**—भारत, ईरानी, स्लावी, बाल्टी, अल्बानी, तथा जर्मन भाषाओं में भारोपीय * Ŏ तथा भारोपीय * ă में एकता करने लगे। जबकि आर्मीनी, ग्रीक, इटाली, तथा केल्टी भाषाएँ इनमें अन्तर करती हैं। इसका मूल भी आदि भारोपीय जन के उच्चारण भेद में है। इसके पूर्वी समुदाय * Ŏ का उच्चारण अधिक पश्चोन्मुख, तथा निम्नतर था। पश्चिमीवर्ग में इतना पश्च और निम्न उच्चारण नहीं था।

(३) **Augmtnt**—भारत ईरानी, आर्मीनी, ग्रीक भाषाओं में है, पर दूसरी भाषाओं मे नहीं है। इसका मूल भी आदि भारतीय की उच्चारण पद्धति में था।

पर क्षेत्र विभाजक रेखाएँ (Isoglossal lines) एक दूसरी से साम्य नहीं रखतीं इन प्रवृत्तियों ने बोली भेदों को आगे चलकर अधिक स्पष्ट और मुखर कर दिया। पीछे के विकास में सुमेरियन लोगों के सम्पर्क में ये भाषाएँ आईं और शब्दों का आदान हुआ। भारोपीय गायवाची शब्द * (gwous) का स्रोत सुमेरी में माना जाता है। यह सम्पर्क लगभग २७०० ई० पू० में था।

भारतीय-आर्यों के भारत अभियान के संबंध में कोई ठोस और स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। वैदिक साहित्य में भी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। साथ ही वैदिक भाषा और पुरानी ईरानी भाषा में प्राप्त होने वाले साम्य को देखते हुए यह भी सम्भव नहीं दीखता कि इन दोनों समूहों का पार्थक्य दीर्घकालीन था। हो सकता है कि आर्यों का भारत आगमन अनजान में ही हुआ हो, अर्थात् उन्हें यह भान ही न हुआ हो कि वे किसी नये भू-भाग में आ रहे हैं। इसका कारण ईरान और भारत की आदिम जातियों की समानता हो सकती है। आर्यों को ईरान में जो आदिवासी मिले थे उनमें पश्चिमी ईरान के एलामी (Elamite) तथा भारत की सीमा से स्पष्ट पूर्वी ईरानी क्षेत्र के 'दास' और 'दस्यु' थे। दास-दस्यु भारत के पश्चिमी भागों में

भी निवसित थे। ऋग्वेद में दास, दस्यु का उल्लेख है, ईरानी भाषा में यही शब्द * दाह, और * दह्यु हैं। ग्रीकों ने Dahai नामक उत्तर-पूर्वी ईरानी जाति का उल्लेख किया है। प्राचीन पारसीक में 'दह्न्यु' देशवाचक हो गया दासों का निवास स्थान। अतः उनको ईरान से पूर्व में भारत की ओर बढ़ने में ये ही पूर्व परिचित जातियाँ मिलती गईं। भौगोलिक रूप से संलग्न और पूर्व परिचित जातियों वाले पश्चिमी भारत को उन्होंने नया देश नहीं अनुभव किया।

भारत में आर्य लोग शनैः शनैः प्रविष्ट हुए इसके भाषा-वैज्ञानिक प्रमाण भी है। उत्तर-पश्चिम की आरम्भिक वैदिक भाषा और मध्यदेशीय उत्तरकालीन संस्कृत में भिन्नता मिलती है। वैदिक भाषा में ल > र की प्रवृत्ति है। संस्कृत में इन दोनों ध्वनियों को प्रायः सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति मिलती है। यह वैदिक प्रवृत्ति ईरानी में भी प्राप्त होती है। उत्तरी एशिया माइनर की सामग्री में इस प्रवृत्ति के चिह्न मिलते हैं।

भारत के उत्तर-पश्चिम की काफिरी भाषाएँ भारतीय आर्य और ईरानी के बीच में स्थित हैं। इन भाषाओं में भारतीय आर्य का स सुरक्षित हैं : ईरानी की भाँति यह हमें परिवर्तित नहीं होता। पर इसमें दो तालव्य पद्धति ईरानी के समान है : काफिरी ज़िम=सं० हिम; का० जाँ=सं० हन 'मारना।' हो सकता है कि इन भाषाओं को बोलने वाले पहले भारत ईरान सीमा पर पहुँचे हों; और पीछे आर्यों का अभियान भारत की ओर हुआ हो!

भारत के उत्तर पश्चिम में आर्यों के प्रतिष्ठित हो जाने की तिथि के संबंध में अनेक मत प्रचलित हैं। रूढ़िवादी विचारकों के अनुसार तो आर्यजन कहीं बाहर से भारत में नहीं आये। किन्तु यह मत अब निर्जीव प्राय ही हो गया है। दूसरा मत ज्योतिष की खोजों पर आधारित है जिसके अनुसार आर्यों का भारतागमन बहुत प्राचीन बताने की चेष्टा की जाती है। पर यह मत भी वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। पुरातत्व और भाषा वैज्ञानिक सामग्री के विश्लेषण से आर्यों के भारतागमन की तिथि १५०० ई० पू० के पहले नहीं जाती। यह समय २००० ई० पू० तथा १५०० ई० पू० के बीच रहा होगा।

ख—भारोपीय में विभाजन तथा विकास की स्थितियाँ—

अपने मूलस्थान और मूल-समुदाय से सर्व प्रथम पृथक होने वाला वर्ग हित्ती लोगों के पूर्वजों का था। वे एशिया माइनर में आए तथा उन्होंने एक साम्राज्य की स्थापना की। पर संख्या में ये लोग इतने अधिक नहीं थे कि वहाँ के पूर्व निवासियों को अभिभूत करके अपनी भाषा को उन पर लाद सकें। अन्ततः वे उन्हीं में घुलमिल गए। दूसरा वर्ग अपने मूलस्थान से लगभग २००० ई० पू० में अलग हुआ। यह आर्यों का बहुत बड़ा वर्ग था। उनका मार्ग तो पहले वर्ग का ही मार्ग था, पर वे पूर्व की ओर और आगे बढ़ गए। उन्होंने मित्तनी, मंडा, हर्री, तथा कस्सी (Kassites) (एशिया माइनर में) तथा उत्तर पश्चिम में मेसोपोटामिया में साम्राज्य

स्थापित किए। पीछे १४०० ई० पू० के लगभग इनका हित्ती लोगों से संघर्ष हुआ तथा सन्धि-पत्र लिखा गया। प्रो० डी मॉर्गन के द्वारा बोगाज केनी से प्राप्त सामग्री में इस सन्धि की सूचना मिलती है। साथ ही इस सामग्री में वैदिक इन्द्र, मित्र, नासत्य और देवताओं का नामोल्लेख भी मिलता है। ये लेख बेबीलोन की अक्षरात्मक लिपि में हैं। भारोपीय लोगों के संबंध में यह सर्वप्रथम लिखित प्रमाण है। यह सत्य है कि अविभक्त भारोपीय जन लेखन-कला से अनभिज्ञ था। यह कला सम्भवतः उनको बेबीलोनों तथा सुमेरों के सम्पर्क के पश्चात् प्राप्त हुई। इस आर्य समुदाय में से कुछ तो एशिया माइनर तथा मेसोपोटामिया में बस गए : कुछ आगे बढ़े और ईरान में प्रविष्ट हो गए।

ईरान में प्रविष्ट होने से पूर्व तथा उस काल में जबकि आर्य-जन एशिया माइनर तथा मेसोपोटामिया में सुनिश्चित, स्थिर जीवन व्यतीत कर रहे थे, तब ईरान में उन्होंने एक सभ्यता की स्थापना की : भारत ईरानी सभ्यता। इसी से एक शाखा पीछे भारतीय आर्य सभ्यता के रूप में विकसित हुई जिसका चरम विकास ऋग्वेद में दिखाई देता है। हित्ती सामग्री की खोज अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। सामग्री कम भी है तथा उसका पढ़ना भी कठिन है। इसके परिणाम स्वरूप अन्तिम रूप से हित्ती आर्य जनों तथा भारोपीय जनों का, तथा उनका भारत-ईरानीजनों से संबंध स्पष्ट रूप से स्थापित नहीं हो पाया। ईरान में आने पर आर्य-जन ने कुछ साहित्य-सृजन आरम्भ किया। यह साहित्य अवेस्ता, पुरानी फारसी, तथा पुरानी भारतीय भाषा मे मिलता है। वैदिक साहित्य के कुछ अंश सम्भवतः एशिया माइनर में ही बनने लगे थे। ऋग्वेद में कुछ अत्यन्त प्राचीन जातियों का उल्लेख इस बात को पुष्ट करता है। इससे एक निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है : एशिया माइनर, मेसोपोटामिया, तथा ईरान की प्रचलित आर्य भाषाएँ विकास की द्वितीय स्थिति—भारत ईरानी स्थिति—से संबंधित हैं। इस स्थिति का आरम्भ एशिया माइनर में हुआ। भारत-ईरानी का प्राचीन रूप ही एशिया माइनर तथा मेसोपोटामिया में था। इनमें परस्पर बहुत अन्तर भी नहीं है। इस प्रकार भारत-ईरानी स्थिति २००० ई० पू० से १५६० ई० पू० तक रही। १५०० ई० पू० के लगभग जब आर्य भारत में प्रविष्ट होने लगे, तब भारोपीय के विकास की तीसरी स्थिति आरम्भ हुई : भारतीय आर्य भाषा की स्थिति। इसी प्राचीन भारतीय आर्य से मध्य-कालीन या नव्य आर्य भाषाएँ विकसित हुईं।

१.४. भारत-ईरानी विकास स्थिति—

जब कोई भाषा विकास करती है तो कुछ प्राचीन रूपों को सुरक्षित रखती है, पुरानी थाती के कुछ तत्वों को छोड़ देती है और कुछ नवीन तत्वों को जन्म देती है भारत ईरानी ने प्राचीन तत्वों में से इनको छोड़ दिया : (a) भारोपीय ह्रस्व स्वर a, e, o का सरलीकरण a में होगया तथा दीर्घ $\bar{a}$, $\bar{e}$, $\bar{o}$ सरलीकृत होकर $\bar{a}$ में समाविष्ट होगये। (b) इस विकास ने संयुक्त स्वरों की संख्या को कम कर दिया :

संयुक्त स्वर केवल ६ रह गए : ai, au, ar, al, am, an (c) उदासीन भारोपीय स्वर, ə, i में परिवर्तित होगया। (d) k^w, k^wh, g^w, g^wh व्यंजनों में तालव्यीकरण की प्रवृत्ति आई। यह प्रवृत्ति तालव्य स्वर e, तथा i के पूर्व सक्रिय रहती थी। यही तालव्यीकरण के प्रसिद्ध नियम की भूमिका है। (e) पूर्व-तालव्य k kh आदि अघोष तथा सघोष संघर्षियों में परिवर्तित हो गये : s, z ! (f) दन्त्य ध्वनियाँ i, u, r, k के प्रभाव से o के रूप में विकसित हो गई। इसी स्थिति में वैदिक साहित्य की नींव पड़ी। मित्र, वरुण, नासत्य, सूर्य तथा दूसरे देवताओं का अस्तित्व तो पहले था, पर इनकी प्रशंसा आदि में मंत्र या प्रार्थनाएँ नहीं बने थे अथवा वे अप्राप्य हैं। अथवा वे जिस भाषा में रचे गए थे, उससे विकसित भाषा में इस स्थिति में फिर से रचे गये। ईरान में आर्यों का असुरों से सम्पर्क हुआ। उनके साथ मैत्री और संघर्ष दोनों ही हुए। आर्यों ने अभारोपीय स्रोतों से शब्दों को भी ग्रहण किया। मुख्यतः सुमेरी, अक्कवी, आदि जातियों के आगत शब्द इस आर्य शाखा में प्रयुक्त होने लगे। लेखन कला भी मिली।

ईरानी और भारतीय आर्य के तुलनात्मक अध्ययन से उस मूल शाखा का परिचय प्राप्त हो सकता है जिससे ये दोनों उपशाखाएँ निकली हैं। भारतीय आर्य बहुत दिनों तक अपनी भाषा की एकता को सुरक्षित रखे रही, पर ईरानी में थोड़े ही सयय पश्चात् विघटन की प्रवृत्तियाँ प्रबल होन लगीं और यह विभिन्न बोलियों में विभक्त होगईं। पुरानी ईरानी का परिचय अवेस्ता की भाषा तथा पुरानी फारसी से मिलता है। वैदिक संस्कृत से ये दोनों रूप तुलनीय हैं। अवेस्ता की भाषा जरथुश्त्र (zoroastrian) धर्मानुयायियों द्वारा सुरक्षित रही। यह पूर्वी ईरानी बोली का रूप प्रतीत होता है। 'गाथाओं' का प्राचीनतम रूप स्वयं जरथुश्त्र द्वारा रचित माना जाता है (६०० ई० पू० के लगभग) पुरानी ईरानी (old persian) दक्षिण-पश्चिम की बोली थी। अवेस्ता की अपेक्षा इसमे आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियाँ प्रबलतर हैं। इसके रूप अक्कामीनियन (Achaemenaia) राजाओं के लेखों में सुरक्षित हैं।

ईरानी और वैदिक भाषाओं में व्याकरण संबंधी अंतर बहुत कम हैं; पर ध्वन्यात्मक तथा ध्वनि-विकास के नियमों से संबंधित अन्तर उल्लेखनीय हैं। अवेस्ता की गाथाओं का सुनिश्चत ध्वनि-विकास के नियमों के अनुसार रूपान्तरण कर दिया जाय तो वैदिक रूपों से उनमें कोई अन्तर न रह जायगा। धर्म और संस्कृति से संबद्ध शब्द-समूह अधिकांश समान है। जैसे सं० हिरण्य, अवे० जरन्य 'स्वर्ण; सं० सेना, अवे० हएना, प्र० फा० हैना 'सेना'। इस प्रकार की एक लंबी सूची दी जा सकती है। अनेक देवताओं के नाम भी समान हैं : सं० मित्र, अवे० मिथ; सं० यम (विवस्वन्त का पुत्र) अवे० यिम (विवह्वन्त का पुत्र) पर जरथुश्त्र के धार्मिक सुधारों से शब्दों के अर्थ में अवश्य विरोध उत्पन्न हुआ। अवे० दएव, पु० फा० दैव

(daeva, daiva) संस्कृत के देव के समान हैं किन्तु वहाँ इसका अर्थ शैतान हो गया। इसी प्रकार अन्य वैदिक देवों के सम्बन्ध में भी अर्थ परिवर्तन हो गया।

इन ऐतिहासिक और भाषागत समय के आधार पर इस समूह को भी भारत ईरानी शाखा कहना समीचीन है। भारत में प्रविष्ट होने से पूर्व सम्भवतः इन दोनों उपशाखाओं की संख्या एक थी, चाहे कुछ बोलीगत भिन्नता रही हो। पीछे दोनों का स्वतन्त्र विकास हुआ।

१.५. आर्यों का भारत अभियान—इस स्थिति में फिर शाखा विभाजन हुआ देव पूजक भारत की ओर चल पड़े और असुर पूजक ईरान में ही बने रहे। उनकी गति मन्द शनैः शनैः तथा सम्भवतः अनजान में ही भारत की ओर रही थी। यात्रा में उन्हें बहुत अधिक प्राकृतिक परिवर्तनों का अनुभव भी नहीं हुआ। आर्य भारत में समय-समय पर अनेक वर्गों में प्रविष्ट हुए। ऋग्वेद की भाषा में मिलने वाले बोलीगत वैविध्यों मे यह स्पष्ट हो जाता है।

१.५.१ आर्यों के आगमन के समय भारत की जातीय स्थिति—

हक्सले ने भारत की आकृति की तुलना ताश को 'ईंट' (dimaond) से की है : उत्तरी कोना लद्दाख में, दक्षिणी कुमारी अंतरीप पर, पश्चिमी कोना सिंध के मुहाने और पूर्वी गंगा के समीप है।[1] हर्बर्ट रिजले ने इसकी आकृति एक अनियमित त्रिभुज जैसी मानी है।[2] प्राकृतिक पर्वतीय या सागरीय सीमान्तों ने भारत की सुरक्षा तो की है, पर इनके कारण बाह्य देशों से भारतीय संपर्क-संबंध विशेष प्रभावित नहीं हुआ। जातियों के आगमनों, उनके आक्रमणों अथवा व्यापारिक संबंधों के रूप मे उसका सम्पर्क अन्य देशों से बना रहा है। मध्य पूर्व तथा सुदूर पूर्व से उसका विशेष संपर्क रहा और अन्य स्थलों से सामान्य मध्य एशिया से दक्षिण तक की प्राकृतिक स्थिति या जलवायु इस प्रकार की नहीं है कि पशुपालक, घुमन्तु तथा भोजन की खोज में शीघ्रगामी जातियों के लिए दुस्तर बाधा प्रस्तुत करे। रिजले का यह कथन, कि आर्य-अभियान (१५०० ई० पू०) के पूर्व भारत में वन्य तथा असभ्य जातियाँ निवसित थीं,[3] विश्वास्य नहीं दीखता। अतः भारतीय प्राक्-इतिहास एशिया तथा सुदूर पूर्व से पूर्णतः पृथक् नहीं किया जा सकता है। एशिया को भौगोलिक रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : मैसोपोटामिया, भारत, चीन आदि का निम्नतर प्रदेश तथा मंचूरिया। यह विभाजन जातियों के स्थानान्तरण और प्रसारण से सम्बद्ध है। एशिया का २/५ भाग ऐसा है जहाँ या तो स्टैप्स (steppes) हैं या रेगिस्तान। इन स्थानों पर सुनिश्चित स्थायी जीवन सम्भव नहीं है। साइबेरिया के निम्नतर भाग दलदलीय वनों से आच्छादित हैं। इन घुमन्तु

[1] Journal of the Ethnological society (Lond) Vol. 1

[2] Risley, People of India (Lond) 1915, p. 1

[3] वही।

जातियों से निवसित भू-भागों में सभ्यता का विशेष विकास सम्भव नहीं है । इसीलिए क्रोपोटकिन के अनुसार सभ्यता के विकास का प्रमुख स्थान मैसोपोटामिया था।[१] हैडन के अनुसार दक्षिण एशिया में कहीं-न कहीं मानव का विकास हुआ ।[२] आरंभिक मानव-समूह परस्पर अधिक भिन्न नहीं थे । घुमन्तु जातियाँ अनिश्चित तथा अस्थिर जीवन-दशाओं से स्थिर जीवन क्रम की ओर आकर्षित होते रहे हैं ।

भारत की भौगोलिक स्थिति जातियों के वितरण-प्रसारण को नियंत्रित करती रही । जलीय-मार्गों के उद्घाटन और तत्सम्बन्धी सुविधाओं से पूर्व भारत में जातियों का प्रवेश पर्वतीय मार्ग से ही होता रहा । भारतीय इतिहास का प्रस्तर-काल (Palaeolithic age) सम्भवतः अधिक विकसित नहीं था ।[3] निओलिथिक' युग (Neolithic age) के सम्बन्ध में जो शोधें हुई हैं, उनसे ज्ञात होता है कि धातु-प्रयोग के पूर्व या पश्चात् निओलिथिक जन-समूह के संबंध में कोई पुरातात्विक प्रमाण प्राप्य नहीं है ।[४] इस युग की यत्किंचित सामग्री पूर्व की ओर मिली है । इस सामग्री का रूपगत साम्य सुदूर पूर्व की सामग्री से है । इस युग में जन समुदाय की प्रगति पूर्व से पश्चिम की ओर दीखती है । भारत की नदी-घाटियों से प्राप्त प्रस्तर सामग्री योरुप और अफ्रीका की सामग्री से कुछ साम्य रखती है । इस सामग्री से भारत की आरंभिक जातीय स्थिति का परिचय मिलता है ।

सिन्ध-घाटी की मोहन जोदारो तथा हरप्पाकालीन जनसंख्या का जातीय तत्व विवादास्पद रहा है । डा० मजमूदार के अनुसार इनकी आकृति की विशेषताएं आज के एशिया माइनर के जन से मिलती जुलती थीं ।[५] अमेरिका के 'वोस्टन म्युजियम आफ फाइन आर्टस' से संबंधित डा० क्रॉजमन (Krogman) ने चन्हों-दारो से प्राप्त एक सिर का अध्ययन किया था । इसके अनुसार भूमध्य सागरीय जाति के तत्व उनमें थे । साथ ही नग्रिटोतत्व भी मिश्रित माने गये हैं ।[६] कीथ के अनुसार सुमेरियन और कॉकेशियन तत्व थे । कुछ इस जाति में इन्डो-ऑस्ट्रिक तत्व देखते हैं । हरप्पा की सभ्यता विस्तृत थी। सुरक्षित दुर्गवत नगर सुनिश्चित सांस्कृतिक विशेषताओं से युक्त थे ।[७] इस सभ्यता का अन्त एक प्राकृतिक दुर्घटना या जातीय आक्रमण के

१ Geog. journ. xxiii, 1904, pp. 176, 331
२ Haddon, the Wanderings of Peoples, p. 12, 15
3 D. N. Majumdar, Race Realities in Cultural Gujarat, Intr. p. 1
४ Gordon R. Walley, 'Neolithic' Problem in the Prehistory of India, Washington Aca. sc. vol. 39, No. 6, june 15, 1949, pp. 181-201
५ डी० एन० मजूमदार, Race Realities in Cultural Gjyarat, Intr. P. vii
६ वही
७ Wheeler, Horappa, The Defence and Cemetry, Ancient India, No. 3, P. 66

फलस्वरूप हुआ। कुछ विद्वानों के अनुसार बिलोचिस्तान की नृशंस, युद्धप्रिय जातियों के आक्रमण ने इस सभ्यता को नष्ट कर दिया। आर्य भाषा-भाषी जातियों के भारत में आगमन के पूर्व देश में एक कृषक वर्गीय जाति के निवास का अनुमान किया जाता है। कुछ इनको नीग्रो समुदाय के मानते हैं। पर विशेष सम्भावना इस बात की है कि ये इण्डो-ऑस्ट्रिक समुदाय के थे। रिजले के अनुसार भारतीयजन की संरचना मे अंडमानियों का भाग नही था।[१] गेट्स के अनुसार नीग्रिटो जाति से पूर्व इण्डो-आस्ट्रिकों की उत्पति हो गई थी।[२] नीग्रिटो का प्रसार भी पीछे हुआ। इण्डो-ऑस्ट्रिकों में यदि नीग्रो-मिश्रण के तत्व मिलते हैं, तो उनका स्रोत पश्चिम अथवा अफ्रीका में हो सकता है, सुदूर-पूर्व के नीग्रिटो में नहीं। निषाद जाति, जो काली, ठिगनी, चपटी-चौड़ी नाक वाली थी[३], यहाँ द्रविड़-पूर्व जाति मानी जाती है। यह जाति इण्डो-आस्ट्रिक ही थी। निषाद मुण्डावर्ग की भाषाओं के आदिम बोलने वाले थे।[४] उनके वंशजों ने पीछे या तो आर्य या द्राविड़ भाषा को अपना लिया। डा० कोनो (S. Konow) ने मुन्डा जाति के मोनख्मेर का साम्य देखा था। गेट (E. A. Gait) तथा रॉय (S. C. Roy) ने मुण्डा भाषाओं के बहु-विस्तार को स्वीकार किया है।[५] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इण्डो-ऑस्ट्रिक जाति भारत की सबसे प्राचीन जाति थी।

भारत के आन्तरिक भागों तथा उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेशों (जो अब पश्चिमी पाकिस्तान में है) के अतिरिक्त अन्य सीमान्तों की जातियाँ या तो इण्डो-ऑस्ट्रोलॉइड थीं, या मंगोलाइड। इन्डो-ऑस्ट्रोलॉइड का मिश्रण भूमध्य सागरीय समुदायों से हुआ, विशेषत: गुजरात और Peninsula में। अन्त में डा० सुनीति कुमार चटर्जी के कथन से आर्य-पूर्व भारत की जातीय-स्थिति को स्पष्ट किया जा सकता है।

१·५२ भाषा-स्थिति—आर्यों के भारत प्रवेश के समय भारत की भाषा-स्थिति इस प्रकार थी : समस्त भारत में उन्नत द्राविड़ भाषाएँ प्रतिष्ठित थीं। इन द्राविड़ भाषाओं ने अपने से पूर्व की प्रचलित मुंडा भाषाओं को दबा दिया था। द्राविड़ भाषाओं की सुदृढ़ प्रतिष्ठा से पूर्व, प्रायः समस्त भारत में मुंडा भाषाओं की शाखा प्रशाखाएँ फैली हुई थीं। यद्यपि द्राविड़ भाषाएँ इनको पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर सकीं थीं, फिर भी उनका प्रभाव अत्यन्त सीमित हो गया था। पूर्व में, जहाँ आजकल आसाम, बंगाल, उड़ीसा (और सम्भवतः बिहार भी) हैं, तिब्बती-वर्मी, या तिब्बती चीनी समूहों की भाषाएँ अपना प्रभाव प्रसारित कर रही थीं। चाहे वे

---

१ People of India, P. 32

२ Gates, Human Ancestry P. 355

३ Chand, R. P. Indo Aryan Races, Vol. 1, pp. 65-70

४ वही

५ S. C. Roy, Mundas and Their Country, Introdution

निश्चित रूप से यहाँ बोली न जाती हों, पर अपने प्रभाव से इन क्षेत्रों को अभिभूत कर रहीं थीं। इस प्रकार आर्यों को इन तीन भाषा-समूहों की शाखा-प्रशाखाओं का सामना करना था।

१·५२१ मुंडाभाषाएँ—मुंडा जातियों का संबंध इण्डोआस्ट्रिक समूह से था। इस जाति की सभ्यता बहुत उच्चकोटि की नहीं थी। इनकी भाषा भी प्राचीन भारतीय आर्य भाषा को सम्भवतः उतनी प्रभावित नहीं कर पाई, जितनी द्राविड़ भाषाएँ कर सकीं। जब आर्यों का आगमन हुआ तब मुंडा जाति यहाँ निवसित अवश्य थी। इनकी भाषा की विशेषताएँ ये थीं : (१) क्रियाओं की संरचना प्रश्लिष्ट थी। क्रिया धातु 'दल' (To strike) का एक प्रश्लिष्ट रूप उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। दल्-ओछो-अकन-तहेन-तए-तीं-आ-ए' (He who belongs to him whobelongs to we will continueletting himself to be struck) (२) मुंडा शब्दों की अन्त्य ध्वनि बहुधा कण्ठ स्पर्श होती थी। (३) इस भाषा का लिंग-भेद प्राणि-अप्राणि के आधार पर था। (४) इस भाषा में तीन बचन थे (५) उत्तम पुरुष के द्विवचन के दो पृथक रूप थे : एक वह था जिसमें वह व्यक्ति समिलित रहता था, जिससे बातें की जा रही है, तथा दूसरा वह जिसमें वह सम्मिलित नहीं होता था। (६) क्रियाओं के साथ मध्य तथा अन्त्य प्रत्यय जोड़ने की पद्धति थी। प्रायः इस स्वभाव की भाषाएँ समस्त भारत में व्याप्त थीं। भाषा सर्वेक्षण ने 'मुंडा भाषा द्वीपों' की स्थिति आज भी प्रकट की है। मुण्डाभाषा द्वीप ये हैं : ननवारी, कुनन, रँगलोई, मंछात, (ये शिमला की पहाड़ियों में हैं); रँगकास, दर्मिया, व्यांग्मी, तथा चंदंग्सी (उत्तरी गढ़वाल के पर्वतों में ये हैं); खम्बू, व्याखा, वायु (नेपाल में हैं); धवल (दारजिलिंग); खासी-समूह (खासी पर्वतों में); उड़ीसा के कुछ भूभाग; मध्यप्रदेश में नरबदा के दक्षिण में हैं; गंजम के पास मद्रास में भी इस भाषा का द्वीप है। रंगून और एम्हर्स्ट (वर्मा) में मॉन भाषाओं के द्वीप वर्तमान हैं। इन भाषा-द्वीपों की स्थिति मुण्डा भाषा के विस्तार को स्पष्ट करती है। पंजाब से बर्मा तक, तथा मध्य प्रदेश और दक्षिण तक इन भाषाओं का विस्तार था। एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य है कि सीमान्त प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, सिंध, गुजरात, तथा दिल्ली से बनारस तक का भूभाग, दक्षिण में ग्वालियर, झाँसी, तथा जब्बलपुर आदि तक इस भाषा के 'द्वीप' नहीं मिलते। यह 'मध्यदेश' का क्षेत्र है और यह मध्यदेशीय भाषा परम्परा से प्रभावित है। इस क्षेत्र में आर्य और आर्यभाषा की शक्ति इतनी प्रबल थी कि मुण्डाओं की भाषा को परिवेष्ठन की ओर खदेड़ दिया गया।

१·५२२ मुंडा और द्राविड़—मुण्डा-भाषाद्वीपों के साथ-साथ द्राविड़-भाषा-द्वीप भी देश में बिखरे हुए हैं। बिलोचिस्तान में ब्राहुई-द्वीप है। मध्यप्रदेश में भी द्राविड़ भाषा-भाषी समूह और स्थल हैं। मध्यप्रदेश के अतिरिक्त बिहार और उड़ीसा भी इन बोली-द्वीपों से शून्य नहीं हैं। ये द्वीप विशेषतया गोंडी बोली के हैं, जो भोपाल, नागपुर, वर्धा, बालाघाट, छाना, सम्बलपुर तथा रायगढ़ में हैं। इनके अतिरिक्त

तेलगू, तमिल, मलयालम और कन्नड़ भाषाएँ समस्त दक्षिण-देश को ढक रहीं हैं। मध्यदेश, राजस्थान, गुजरात, सिन्ध आदि में द्राविड़-भाषा द्वीप भी नहीं मिलते हैं।

मोहनजोदारो तथा हरप्पा की सभ्यता को अधिकांश विद्वान द्राविड़ जातियों से संबंधित मानते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि द्राविड़ जातियों ने अपनी उच्च सभ्यता और शक्ति से मुण्डा जातियों को पराजित किया तथा कम से कम आंशिकरूप से इन अर्द्ध सभ्य जातियों को हिमालय, विन्ध्य और खासी पहाड़ियों में खदेड़ दिया, साथ ही ओड़ीसा, बिहार, तथा बर्मा आदि की ओर जाने को उन्हें विवश कर दिया। आर्यों को मुख्यतः द्राविड़ और गौण रूप से मुण्डा भाषाएँ भारत में मिलीं। द्राविड़ और मुण्डा भाषाओं का संघर्ष-संपर्क पहले भी हो चुका था।

१.५२३ द्राविड़ भाषाओं की मुख्य विशेषताएँ—(१) द्राविड़ भाषाएँ चीनी की भाँति एकाक्षरात्मक नहीं है; (२) इन भाषाओं का संबंध संश्लिष्ट भाषा समूह से है, (३) इनमें निर्जीव वस्तुएँ बहुधा नपुंसक लिंग ग्रहण करती हैं; (४) लिंग-भेद कोई लिंग-वाचक शब्द जोड़ कर बहुधा व्यक्त किया जाता है; (५) द्राविड़ संज्ञाएँ बहुधा अन्त्य प्रत्ययों से संयुक्त रहती हैं; (६) द्राविड़ विशेषण अव्यय हैं : विशेष्य संज्ञाओं के वचन और लिंग के अनुसार ये विकृत नहीं होते। ७) कृदन्तों का विशेषणवत् प्रयोग बहुत अधिक होता है। (८) उत्तम पुरुष सर्वनाम (बहुवचन) के 'इनक्लूसिव' तथा 'एक्सक्लूसिव' रूप होते हैं। (९) द्राविड़ भाषाओं मे कर्मवाच्य (Passive) क्रिया संरचना की कोई स्वतंत्र व्यवस्था नहीं है। इसकी संरचना कोई स्वतंत्र क्रिया संयुक्त करके की जाती है। ये कुछ मुख्य विशेषताएँ द्राविड़ भाषाओं की हैं।

१.५२४ तिब्बती-बर्मी भाषाएँ—आर्यों के आगमन के समय मुण्डा और द्राविड़ भाषाओं के अतिरिक्त एक और भाषा-समूह, तिब्बती बर्मी था। इनका अस्तित्व-१००० ई० पू० यहाँ था—ऐसा विद्वानों का मत है। ये भाषाएँ देश के पूर्वी क्षेत्र तक सीमित थीं। पश्चिमी तथा देश के अन्य भाग तथा वहाँ की भाषाएँ इनसे अप्रभावित थे। चीन, तिब्बत, बर्मा और भारत में परस्पर सांस्कृतिक संबंध अवश्य थे। इस वर्ग की भाषाओं की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं : (१) शब्द एकाक्षरात्मक (२) शब्दों के अर्थ में परिवर्तन लाने के लिए रिक्त शब्दों का संयोग किया जाता है। ये रिक्त शब्द (Empty words) व्याकरणिक संबंधों का द्योतन करते हैं। (३) व्याकरण की दृष्टि से बलाघात आदि (Tone) महत्वपूर्ण होते हैं। बलाघात या सुरसरणियां मूल अर्थ में भी परिवर्तन उपस्थिति कर देती हैं। (४) इन भाषाओं में कंठ्य स्पर्श ध्वनियों का बहुल प्रयोग मिलता है। (५) शब्दों के अन्त में अस्फुट स्पर्श ध्वनियाँ रहती हैं, (६) वाक्य में शब्द क्रम बहुत महत्वपूर्ण होता है। इनमें से (४) तथा (६) विशेषताएँ मुण्डा भाषाओं में भी मिलती हैं।

२

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल : साहित्य-भाषा सर्वेक्षण

२·० भारतीय आर्य भाषा का इतिहास भारत में आर्यों के प्रवेश से ही आरम्भ हो जाता है। भारतीय आर्य भाषा के सबसे प्राचीन लिखित रूप और आर्यों के भारत-प्रवेश के बीच कुछ काल व अवकाश अवश्य रहा। वैदिक साहित्य की रचना भी इस अवकाश में क्रमशः हुई और भाषागत परिवर्तन भी हुए। ये परिवर्तन सम्भवतः द्रुत गति से हुए। ईरानी और वैदिक भाषा में जो ध्वन्यात्मक तथा अन्य अन्तर उपस्थिति हुए, वे इसी अवधि से घटित हुए होंगे।[1]

२·१ **भारत ईरानी से भारतीय आर्यभाषा का विकास**—इन दोनों का अन्तर ही विकास के रूप, उसकी गति और दिशा का सूचक है। ये अन्तर संक्षेप में ये थे : (१) भारत ईरानी के संयुक्त स्वर अई (ai) तथा अऊ (au) संकुचित होकर ए (e) तथा ओ (o) हो गए . आई तथा आऊ ह्रस्वीकृत होकर आई, अऊ के रूप में विकसित हुए। (२) तालव्यीकृत कण्ठ्य ध्वनियाँ, तालव्य ध्वनियों में विकसित हो गई। इस प्रकार एक नवीन तालव्य-ध्वनियों का वर्ग भारतीय आर्य भाषा में उत्पन्न हुआ। (३) सम्भवत· स्थानीय स्रोतों से मूर्द्धन्य ध्वनियों का वर्ग आर्य ध्वनियों में समाविष्ट हुआ (४) सघोष संघर्षी ज, ज़ (z ž) समाप्त हो गए। (५) अन्तिम संयुक्त व्यंजनों का लोप होने लगा। (६) ध, भ, > ह की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी। (७) अनेक नवीन व्याकरणिक रूप विकसित हुए : सादृश्यमूलक नवीन रूप प्रकाश में आए। इन अन्तरों के होते हुए भी प्राचीन वैदिक तथा प्राचीन अवेस्ती में इतनी समानता है कि कुछ ध्वन्यात्मक विकास-नियमों को लागू करके, अनेक गाथाओं को पुराने वैदिक मंत्रों के रूप मे बदला जा सकता है। इसी प्रकार वैदिक मंत्रों को अवेस्ता गाथाओं में परिवर्तित किया जा सकता है।

[1] अन्तरों के लिए, बरो, द संस्कृत लैंग्वेज, पृ० ३३

२·२ प्राचीन आर्यभाषा की संक्षिप्त रूपरेखा—

२·२१ ध्वनियाँ

(क) स्वर : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ, अई, अऊ (ऐ, औ)

(ख) व्यंजन-स्पर्श : कण्ठ्य : क, ख, ग, घ, ङ् (वर्गीयनासिक्य)

तालव्य :

च्, छ्, ज्, झ्, ञ् ,,

मूर्द्धन्य : ट्, ठ्, ड्, ढ, ण ,,

दन्त्य : त्, थ्, द्, ध्, न् ,,

ओष्ठ्य : प्, फ्, ब्, भ्, म् ,,

(ग) संघर्षी : अघोष : स् (दन्त्य), श (तालव्य), ष (मूर्द्धन्य) ᳵ (कण्ठ्य) ᳶ (ओष्ठ्य)

(घ) महाप्राण : सघोष ह् : अघोष ह (:)

(ङ) शुद्ध अनुनासिक : म् (अनुस्वार)

(च) अर्द्धस्वर : य् (तालव्य) र् (मूर्द्धन्य) ल (दन्त्य) व (ओष्ठ्य)

२·२२ **पदरूप**—प्राभाआ में शब्दों के तीन वर्ग थे : संज्ञाएँ—इनमें विशेषण, सर्वनाम तथा संख्यावाचक शब्द भी सम्मिलित थे, क्रियाएँ—इसमें रूप और कृदन्त सम्मिलित थे, अव्यय—इनमें उपसर्ग, अन्त्य प्रत्यय, क्रिया विशेषण, संयोजक, आदि आते हैं। संज्ञाओं में त्रिलिंगभेद मिलता है। लिंगभेद अनियमित था। कुछ नियमों के अनुसार शब्द की बाह्य रचना अथवा अर्थ के अनुसार लिंग का निर्धारण किया जा सकता था। तीन वचन थे : एक, द्वि, बहु। आठ कारक थे : कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, संबंध, अधिकरण तथा सम्बोधन। संज्ञा-प्रातपदिक सुनिश्चित प्रत्ययों के संयोग से व्युत्पन्न होते थे। इनमें से मुख्य वे थे जो कर्तृ प्रधान (agent nouns) तथा कर्म प्रधान (action nouns) मुख्य थे। संज्ञा-प्रातपदिक स्वरान्त और व्यंजनांत दोनों ही हो सकते थे। कारक-विभक्तियों के संयोग से व्यंजनांत प्रातपदिक परिवर्तित भी होते थे और अपरिवर्तित भी रहते थे। यह प्रातपदिक वर्ग बहुत प्राचीन है। यह वर्ग शनैः शनैः संख्या और महत्व दोनों ही दृष्टियों से ह्रासोन्मुख रहा। स्वरान्त प्रातपदिक वर्ग को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) अ-आकारान्त; (२) -इ। उ-कारान्त; (३) ई। ऊ-कारान्त; (४) ऋकारान्त; तथा (५) ए, ऐ, औ-कारान्त। कारक विभक्तियाँ भी दुर्बल और दृढ़ हो सकती थीं और बलाघात के इधर-उधर होने से तथा ध्वन्यात्मक कारणों से प्रातपादिक भी दो-तीन रूप ग्रहण करते थे। पीछे के विकास में अ। आ-कारान्त तथा इ। ई-कारान्त प्रातपादिक इतने महत्वपूर्ण होते गए कि अन्य वर्ग घिसने-पिसने लगे। तुलनात्मक विशेषणों की संरचना प्रत्ययों के योग से होती थी : इन प्रत्ययों के दो वर्ग थे ईयस्, ईष्ठ तथा तर, तम। दूसरा वर्ग पीछे विकसित हुआ और अधिक लोकप्रिय होता

गया। संख्यावाचक संख्या और क्रम दोनों को व्यक्त करते थे। साथ ही अनेक संख्या वाचक व्युत्पन्न रूप प्रचलित थे। तीन पुरुषों से सम्बद्ध सर्वनाम थे। अन्य पुरुष में तीन लिंग भी सूचित होते हैं। साथ ही संकेत वाचक, प्रश्नवाचक, संबंध वाचक, अधिकारवाचक, तथा अनिश्चयवाचक सर्वनाम हैं। सार्वनामिक संयुक्त रूप तथा व्युत्पन्न रूप भी मिलते हैं। संज्ञाओं की भांति सर्वनाम और विशेषण लिंग, वचन तथा विभक्ति का द्योतन भी करते हैं।

क्रियाओं में दो वाच्य हैं : कर्तृ, कर्म। कुछ धातुओं का प्रयोग दोनों में तथा कुछ का केवल एक में प्रयोग हो सकता है। काल ये हैं: वर्तमान, पूर्ण, 'ओरिस्ट' (Aorist), दो भविष्य, अपूर्ण, तथा शर्तिया (Conditional)। इनसे समय का तथा कार्यावस्था दोनों का बोध होता है। आज्ञावाचक आदि भी हैं।

२.० प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में वैदिक-छन्दस् तथा संस्कृत सम्मिलित हैं।

२ १. वैदिक-छन्दस—भारतीय आर्य भाषा का इतिहास ऋग्वेद की रचना से प्रारम्भ होता है। डा० चटर्जी के अनुसार ऋग्वेद का वशिष्ठ-सूक्त '१२ वीं शताब्दी ई० पू० से पहले की रचना नहीं हो सकती। वेद संहिताओं का संकलन इस दृष्टि से इस काल से कम से कम एक शताब्दी पश्चात् तो अवश्य ही हुआ होगा। दसवीं शताब्दी ई० पू० इस काल-गणना से पूरा-पूरा मेल खाती है।' (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी ५.६८) मोटे रूप से ऋग्वेद की रचना का काल १२००-१००० ई० पू० माना जा सकता है। यह सम्भव है कि ऋग्वेद में कुछ शताब्दियों पूर्व के कुछ मंत्र सम्मिलित हों। इस समय से भारतीय आर्य के साहित्य की अनवरत धारा प्रवाहित रही है।

वैदिक-युगीन साहित्य का संबंध धर्म, तथा यज्ञानुष्ठान से है। उसके तीन मुख्य भाग हैं : ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद की संहिताएँ; यज्ञों की रहस्यमय आध्यात्मिक व्याख्या करने वाले ब्राह्मण गद्यग्रंथ, तथा यज्ञों के विधि-विधान से संबद्ध सूत्र-साहित्य—श्रौत सूत्र तथा गृह्य सूत्र। इनका सम्भावित काल इस प्रकार माना जाता है : संहिता-काल १२००-८०० ई० पू०; ब्राह्मण-काल ८००-५०० ई० पू० तथा सूत्र-काल ६००-३०० ई० पू०। (Burrow, The Sanskrit Language, p. 43) पर यह काल-विभाजन मुख्यतः अनुमान पर ही आधारित है।

उक्त वैदिक भाषा रूपों का प्रचार-स्थल आरंभ में पंजाब था। पीछे इन भाषाओं का विकास पूर्व की ओर कुरु-पांचाल जनपदों तक हुआ। वैदिक काल का पश्चभाग इन्हीं केन्द्रों से संबंधित है। ऋग्वेदीय भाषा में प्राप्त बोलीगत विभेद इस भौगोलिक विस्तार का ही परिणाम था। वैदिक 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग सम्भवतः इसी कारण से हो। वैदिक काल में ही आर्यों का विस्तार पूर्व में कौशल

और दक्षिण में अवन्ती तक हो चुका था। पर इन स्थानों पर प्रचलित भाषा-रूप वैदिक या संस्कृत में स्थान न पा सके। यद्यपि पूर्व और दक्षिण के भाषा रूपों का विश्वसनीय लिखित प्रमाण नहीं है, पर उन स्थानों पर प्रचलित बोलियाँ वैदिक-कालीन भाषा-विवरण में सम्मिलित होनी चाहिए। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा संस्कृत का पर्याय नहीं है, उस समय अनेक जन-प्रचलित बोली रूप होंगे जिनका कुछ चिह्नावशेष भी आज प्राप्त नहीं है, पर जिनका मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के रूप में विकसित रूप अवश्य प्राप्त है। कुछ बोली-गत रूप ऋग्वेद में मिल भी जाते हैं। अन्त्य-अस > -ए मिलता है जो संस्कृत तथा मध्यदेशी प्राकृतों के—ओ से भिन्न है। यह पूर्वी आर्य-बोली की विशेषता थी। पर उत्तर-पश्चिम में भी यह रूप अप्राप्य नहीं है। ऋग्वेद के 'सूरे दुहिता' 'सूर्य की पुत्री' इसी प्रकार का एक रूप है जो ऋग्वेद में सुरक्षित है। कुछ पालि-प्राकृत में सुरक्षित रूप संस्कृत कालीन या उससे पूर्व की बोलियों से संबंध रखते हैं। पालि का 'इध (=यहाँ) संस्कृत इह से पुराना है; प्राकृत सिढिल—'ढीला' (<* शिठिल—) तथा सं० शिथिर —(ल°) सम्भवत:* श्रृथिर के दो स्वतंत्र विकसित रूप हैं। व्याकरण में भी इस काल की बोलियों और साहित्यिक भाषा में अन्तर मिलते हैं। इन कतिपय प्रमाणों से इतना तो निश्चय हो जाता है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल में भी बोली-गत विभेद थे।

२.२. वैदिक और शास्त्रीय (क्लासीकल) संस्कृत—वैदिक साहित्य के संरक्षक ब्राह्मण वैदिक भाषा के रूपों को अपरिवर्तित रखना चाहते थे। साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त दैनिक व्यवहार की भाषा को भी अविकृत रखने की चेष्टा की गई। पर जन-प्रचलित भाषा-रूपों को अविकृत रखने के प्रयत्न नहीं हुए। परिणामतः पुरोहित वर्ग और जनता की भाषा में बहुत अन्तर उपस्थित होने लगा। फिर भी ये प्रयत्न भाषा की परिवर्तनशीलता की शक्ति पर पूर्ण विजयी नहीं हो सके। पर भाषा-प्रवाह दो धाराओं में विभक्त अवश्य होगया : उच्चवर्गीय मंद गति से परिवर्तनशील तथा जनता की द्रुतगति से परिवर्तनशील भाषाएँ।

वैदिक भाषा की गति को स्थिर रखने के प्रयत्न में भारत के भाषा-मनीषियों ने महत्वपूर्ण भाषा-वैज्ञानिक देन दी। आनुष्ठानिक यज्ञ-कर्म में प्रत्येक शब्द के पूर्ण, शुद्ध उच्चारण की आवश्यकता पर बहुत बल दिया गया। 'पद पाठ' में मंत्रों में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द को अलग किया गया। इसमें व्याकरणिक अनुसन्धान और विश्लेषण का आरम्भ है। इसमें संधि और ध्वनि-विश्लेषण पर विचार है। 'प्राति-शाख्य' एक प्रकार से उच्चारण-शास्त्र ही हैं। प्राचीन उच्चारण संबंधी ज्ञान के ये ही स्रोत हैं। चाहे इनमें से अधिकांश उत्तर-पाणिनि युग के हों पर इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था किसी न किसी रूप में प्रचलित अवश्य थी। 'शिक्षा'-ग्रंथ ध्वनि-विज्ञान पर महत्वपूर्ण कार्य है। 'निघंटु में कठिन वैदिक शब्दों, मुख्य देवताओं के नामों का व्याख्यार्थ है। प्रातिशाख्य भी ध्वनि विज्ञान पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इस प्रकार

ब्राह्मण-ग्रन्थों से लेकर पाणिनि तक भाषा को सुरक्षित रखने की एक दृढ़ प्रवृत्ति सक्रिय दीखती है। यह प्रवृत्ति केवल वैदिक ग्रन्थों की धार्मिक भाषा को ही अपरिवर्तनीय रखने तक सीमित न रही, ब्राह्मण वर्ग की दैनिक व्यवहार में प्रचलित भाषा को बाँध रखने के भी प्रयत्न हुए। परिणामतः उच्चवर्गीय धार्मिक और दैनिक व्यवहार की भाषा तथा जनता की परिवर्तनशील भाषा-बोलियों में अन्तर बढ़ता गया।

उच्चवर्गीय भाषा के रूपों को अपरिवर्तित रखने के इतने प्रयत्नों के होते हुए भी, कुछ परिवर्तन आये बिना न रहे। यद्यपि पाणिनि की संस्कृत वैदिक भाषा से पीछे की है, पर परिवर्तन बहुत कम हैं। परिवर्तन की यह मन्दगति उक्त भाषा वैज्ञानिक प्रयत्नों का ही परिणाम है। इस प्रकार इस युग में भाषा के तीन रूप मिलते हैं : वैदिक सुस्थिर भाषा, साहित्यिक संस्कृत तथा जनता की अधिक परिवर्तनशील भाषा। पाणिनि ने साहित्यिक संस्कृत का द्वार परिवर्तन के लिए बन्द कर दिया : उसकी रूप-रचना को अन्तिम रूप दिया। इसके पश्चात् संस्कृत भाषा का नहीं, संस्कृत साहित्य का इतिहास मिलता है। मध्य भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास यहाँ से आरम्भ होता है।

वैदिक और संस्कृत में ध्वनि-गत विभेद अत्यल्प हैं। किन्तु शब्द-समूह और व्याकरण के क्षेत्र में अधिक विभेद दृष्टव्य हैं। ल (l) तथा लह (lh) के स्थान पर प्राय: ड, ढ तथा र् के स्थान पर कुछ शब्दों में ल् के प्रयोग के अतिरिक्त अन्तर उपस्थित नहीं हुए। सन्धि के सम्बन्ध में अधिक परिवर्तन हुए : वैदिक—इय्—,—उव—<सं०—य्—,—व्—। इसी प्रकार के कुछ अन्य परिवर्तन भी हैं। पद-रचना के सम्बन्ध में परिवर्तन अधिक हुए। पूर्वकालीन भाषा में प्रयुक्त रूपों का बाहुल्य बहुत कुछ कम हो गया। संज्ञा प्रातिपादिक के रूप में भी कमी हुई। कुछ प्रत्यय अप्रयुक्त हो गए। पदों के संयुक्त रूप लम्बे होने लगे। वैदिक भाषा में प्राय: संयोग दो का ही होता था। इस प्रक्रिया ने संस्कृत के रूप को बहुत कुछ बदल दिया। वैदिक में स्वराघात (Accent) महत्वपूर्ण था। संस्कृत में उसका सर्वथा लोप हो गया।

बहुत से वैदिक शब्द छूट गये। वैदिक युग में अनेक भारोपीय शब्द प्रचलित थे, संस्कृत में उनका प्रयोग उठ गया। अनेक शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो गया। वैदिक असुर—'स्वामी, देव', उत्तरकालीन वैदिक तथा संस्कृत में असुर—'राक्षस' हो गया। वै० अरि—'विश्वासपात्र' (इसी से आर्य) सं. अरि—'शत्रु'। सम्भवतः ये युग्म वैदिक में उपलब्ध थे। संस्कृत मे इनमें से केवल एक ही प्रयोग में रह गया। अर्थों में विकास भी हुआ। वह्नि 'ले जाने वाला' का प्रयोग अग्नि के लिए वैदिक भाषा में हुआ, क्योंकि वह देवताओं के लिए भेंट ले जाता था। संस्कृत में इसका अर्थ केवल अग्नि रह गया। वैदिक दस्यु 'अनार्य--जाति' पीछे लुटेरे के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

जहाँ बहुत से वैदिक शब्द संस्कृत-शब्द-समूह में स्थान न पा सके, वहाँ अन्य स्रोतों से कुछ नवीन शब्दों का आगमन भी हुआ। इससे संस्कृत शब्द-समूह बहुत समृद्ध हो गया। कुछ ऐसे शब्द भी संस्कृत में मिलते हैं जिनका प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। क्रि० विशेषण परुत् 'गतवर्ष' का प्रयोग पाणिनि-पूर्व भाषाओं में नहीं मिलता, पर यह एक भारोपीय शब्द है। अनेक नये शब्दों का निर्माण प्रस्तुत धातु-सामग्री और प्रत्ययों के नवीन संयोगों के द्वारा हुआ। भारतीय आर्य भाषा के बाहरी स्रोतों से भी संस्कृत शब्द-समूह समृद्ध हुआ। सैकड़ों द्राविड़ शब्द प्रविष्ट हो गए। इस वर्ग के शब्दों का मिश्रण वैदिक में कम है। भारत के बाहर से आये हुए शब्द भी मिल गए। होरा 'घंटा' ग्रीक स्रोती माना जाता है। बहुत से शब्द संदिग्ध व्युत्पत्ति वाले भी हैं। इनको 'देशी' शब्द समूह के अन्तर्गत रखा जाता है।

२·४ **इतिहास**—संस्कृत के इतिहास के अध्ययन के लिए वैयाकरण, महाकाव्य, शास्त्रीय साहित्य, बौद्ध और जैन संस्कृत तथा वृहत्तर भारत में संस्कृत पर संक्षिप्त विचार आवश्यक है।

२·४१ **वैयाकरण**—प्राचीन भारतीय वैयाकरण संसार के भाषा विज्ञान में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सम्भवतः इतना प्राचीन भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण संसार में कहीं प्राप्त नहीं होता।[१] पाणिनि संसार के वैयाकरणों में आज भी मूर्द्धन्य बना हुआ है। उस पर अनेक भाष्य और टीकाएँ हुई हैं, पर सम्भवतः पाणिनि का अध्ययन पूर्ण नहीं हो पाया।[२] पाणिनि के पश्चात् अनेक वैयाकरण उत्पन्न हुए। सस्कृत व्याकरण पर एक सहस्र से ऊपर ग्रन्थ मिलते हैं।[3] इन सभी ने व्यक्त-अव्यक्त रूप से पाणिनि से प्रेरणा ली। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में अपने पूर्व-कालीन कुछ वैयाकरणों का उल्लेख किया है।[४] सस्कृत व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का विवेचन करते हुए बर्नल ने पूर्व पाणिनि ६८ वैयाकरणों का नामोल्लेख किया है। इस प्रकार ऐन्द्र सम्प्रदाय से लेकर पाणिनि सम्प्रदाय और उसके पश्चात् वैयाकरणों की एक दीर्घ परम्परा मिलती है, जिनकी देन अपूर्व है।

१ Bloom field, "For no language of the past have we a record comparable to Panini's record of his mother tongue, nor is it likely that any language spoken today will be so perfectly recorded."—Language, p. 270 ff

२ Bloombield, 'Even with the many commentaries that we possess several lifetimes of work will have to be spent upon Panini before we have a conveniently usable exposition of the language which he recorded for all time."

३ Belvalkar, Systems of Sanskrit Grammar P. 1.

४ The Aindra school of Sanskrit Grammarians, PP. 326

पाणिनिका काल ६००-४०० ई० पू० के लगभग माना जाता है। इसका संबंध मगध के नन्द राजाओं से जोड़ा जाता है। उसका जन्म भारत के उत्तर-पश्चिम के शालातुर स्थान पर हुआ। उसके जीवन के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। 'अष्टाध्यायी' में ४००० के लगभग सूत्र हैं। पाणिनि के सूत्रों पर कात्यायन के वार्तिक भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। पीछे महाभाष्यकार पतंजलि ने इन दोनों पर कार्य किया। पाणिनि के पश्चात् कई सम्प्रदाय बने। कातन्त्र सम्प्रदाय इनमें सबसे प्राचीन है, जिसके प्रवर्तक शर्ववर्मा का सम्बन्ध दक्षिण के शातवाहन वंश से बताया जाता है। पीछे के कार्यों में चन्द्र (६०० ई० के लगभग) का व्याकरण है। यह बौद्धों में विशेष लोकप्रिय था। जिनेन्द्र व्याकरण, जैन-संरक्षण में लिखा गया था। इसके पश्चात् हेमचन्द्र का हेम व्याकरण आता है। पर इनमें से किसी का भी स्वतंत्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता। सभी का उद्देश्य पाणिनि के व्याकरण को विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त और सरल बनाना था। इन व्याकरणों में मौलिक अंश अत्यन्त स्वल्प है।

पाणिनि के व्याकरण का आधार उसका समकालीन भाषा रूप था। उसका जन्म उत्तर-पश्चिम में हुआ था, अतः उसके व्याकरण का आधार भी उदीच्य भाषा का ही रूप होगा। वस्तुतः पाणिनि ने अपने समय के शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा को आदर्श रूप में ग्रहण किया। वैदिक भाषा की तुलना में इसे लोक-भाषा के नाम से अभिहित किया गया है।

२·४२ **महाकाव्य**—पाणिनि के पश्चात् की आरंभिक भाषा का प्रतिनिधित्व करने वाले दो महाकाव्य महाभारत और रामायण हैं। महाकाव्य की परम्परा वैसे वैदिक समय तक जाती है। पर इन दोनों महाकाव्यों का वर्तमान रूप ईसा से कुछ ही इधर-उधर का माना जाता है। इन दोनों के विकास में पर्याप्त समय लगा होगा। इनमें प्रयुक्त भाषा पाणिनि के समय की या कुछ आगे-पीछे की ही भाषा है। शास्त्रीय साहित्य की तुलना में ये ग्रंथ संस्कृत काव्य के उस रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो जनता के लिए लिखा गया था, न कि काव्य-मर्मज्ञों और शास्त्रज्ञों के लिये। साथ ही इनकी लोकप्रियता भी इनके निर्माण के लोकोन्मुख उद्देश्य की ओर इंगित करती है।

इनकी भाषा में पाणिनीय नियमों का पूर्ण निर्वाह नहीं मिलता। इनके आधार पर कुछ विद्वान इनको पूर्व पाणिनि युग की कृतियाँ मानते हैं। कर्तृवाच्य, मध्य, तथा कर्मवाच्य के रूपों में कुछ तालमेल मिलता है। कर्मवाच्य रूप कभी कर्तृ-वाच्य के समान होता है : श्रूयन्ति 'सुने जाते हैं।' -त्वा तथा -य वाले संज्ञार्थक क्रिया (Gerund) के प्रयोग में स्पष्टता नहीं है। पाणिनि के अनुसार प्रथम का प्रयोग असंयुक्त तथा द्वितीय का संयुक्त क्रियाओं के साथ होना चाहिए। पर इस नियम का सर्वथा पालन महाकाव्यों की भाषा में नहीं मिलता। वर्तमान कालिक कृदन्त के-अत या-अन्त की सहायता से स्त्रीवाचक रूप बनाने के संबंध में पाणिनि-निर्धारित नियमों का भी दृढ़ता से पालन नहीं मिलता। इनके अतिरिक्त और भी अनियमित रूप

महाकाव्यों की संस्कृत में मिलते हैं। इनके आधार पर कुछ विद्वान इन महाकाव्यों के वर्तमान रूपों को उत्तरपाणिनि युग के मानते हैं, यद्यपि रामायण, महाभारत की कथाएँ वैदिककाल से ही प्रचलित थीं। हो सकता है कि इन ग्रंथों का कुछ भाग पीछे इनके साथ संलग्न कर दिया गया हो। साथ ही महाकाव्यों की मौखिक परम्परा भाषा के विकास से बच नहीं पाई होगी। ब्राह्मण इन कथाओं के संरक्षक और वक्ता नहीं दीखते। इनमे बारबार 'सूतोवाच' मिलता है। जिससे प्रतीत होता है कि सूत जाति से इस साहित्य का संबंध था। इनकी भाषा ब्राह्मणों की परिनिष्ठित भाषा से निश्चित ही अधिक लोकप्रिय होगी। सूतों की संस्कृत व्यावहारिक रूपों से व्याकरणिक रूपों की अपेक्षा, अधिक सम्बद्ध होगी।

महाकाव्यों की भाषा पुराणकारों के लिए आदर्श बनी। पुराणों की रचना भी लगभग इसी समय से आरम्भ हुई। आगम ग्रंथों की भाषा भी इनसे मिलती-जुलती है। इस प्रकार महाकाव्यभाषा पाणिनीय संस्कृत की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय संस्कृत का प्रतिनिधित्व करती है।

२.४३ शास्त्रीय साहित्य (classical Literature)—

संस्कृत के शास्त्रीय-साहित्य और पाणिनि के बीच एक दीर्घ समय की अवधि है। पाणिनि और कालिदास के बीच ८००-९०० वर्ष का युग है। सम्भवतः इस काल के संस्कृत साहित्य का अधिकांश भाग लुप्त हो गया है। इस समय में काव्य की उन्नति रही, इसके प्रमाण मिलते हैं। रुद्र दामन के संस्कृत शिलालेख (१५० ई०) से उन्नत संस्कृत काव्य की स्थिति की सूचना मिलती है। पतंजलि ने वररुचि नाम के कवि का उल्लेख भी किया है और कुछ काव्यांश भी उद्धृत किये हैं। कनिष्क के संरक्षण में रहे-पले अश्वघोष के ग्रन्थ नेपाल में सुरक्षित हैं (७८ ई०)। इनके कुछ अंश मध्य एशिया में भी प्राप्त हुए हैं। ये कुछ चिह्न हैं जो पाणिनि और कालिदास के बीच की संस्कृत काव्योन्नत्ति के प्रतीक हैं।

शास्त्रीय संस्कृत साहित्य और पाणिनि के बीच के काल में शैलीगत अनेक अंतर उपस्थित हो गये होंगे। कुछ रूप लुप्त हो गये, कुछ अप्रचलित हो गये और कुछ नवीन पद्धतियाँ भी बनीं। पतंजलि को भी इन विकासों का परिचय था। पाणिनि के नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए भी कुछ विकसित रूप शास्त्रीय संस्कृत में मिल ही जाते हैं। बहुत से शब्द भी प्रयोग में न रहे जैसे अन्वबसर्ग (allowing one his own way) निखसित-'वहिष्कृत'। वाक्य-विन्यास सम्बन्धी नये-नये विकास हुए। संयुक्त शब्दों के प्रयोग की ओर प्रवृत्ति बढ़ी। पद संयोग और वाक्य योजना जटिल से जटिलतर और दीर्घ से दीर्घतर होते गये। इस प्रक्रिया ने संस्कृत शैली को अत्यन्त कृत्रिम और जटिल कर दिया। क्रिया के क्षेत्र में कर्मवाच्य के प्रयोग अधिक प्रचलित हो गये। तवन्त पर आधारित कृदन्त रूप भूतकाल के लिए विकल्प रूप से प्रयुक्त होने लगे, कृतवान्—'उसने किया।'

शब्द समूह अधिक समृद्ध हुआ। अनेक शब्द ऐसे प्रयुक्त होने लगे जो पहले

प्रयुक्त नहीं हुए थे। नवीन शब्दों का आगमन भी हुआ। शब्दों के नवीन स्रोत थे कुछ तो संस्कृत धातु और प्रत्ययों के आधार पर नवीन रूप में गढ़े गये। विभिन्न अर्थों की प्राप्ति के लिए प्रत्ययों के नवीन संयोग काम में आने लगे। कुछ प्राकृत शब्द भी संस्कृत में ग्रहण कर लिए गये : भट्ट, भट्टार, भट्टारक—'स्वामी' (सं० भर्तृ) उडु—'तारे' (सं० ऋतु, ऋतुपति उडुवई—'चन्द्रमा'—उडु—तारा समझ लिया गया) विदेशी प्रभाव से यद्यपि भाषा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया, फिर भी कुछ विदेशी शब्द घुस आये। सं० लिपिऽअशोक-दिपि, लिपि, ईरानी दिपि लिखने' से आगत बताया जाता है। प्र० फारसी असवार—'अश्वारोही संस्कृत में अश्ववार के रूप में ग्रहण किया गया। कुछ यूनानी शब्द भी मिलते हैं : सुरूंग-सुरंग, खलीन 'bridle'। ज्योतिष क्षेत्र में इस प्रकार के अधिक शब्द आए : जामित्रा इन शब्दों को संस्कृत रूप में ढाल दिया गया। पूर्वी देशों से व्यापार-व्यवसाय के सम्बन्ध थे। उनसे नए पदार्थ नाम सहित आये : लवंग (इन्डोनेशियन लवङ्)। द्रविड शब्द तो आये ही। इन से संस्कृत शब्द समूह बहुत समृद्ध हुआ। देशी शब्द कम रहे। इन शब्दों की व्युत्पत्ति की समस्या बनी ही रहेगी। जैन संस्कृत लेखकों ने ऐसे देशी शब्दों का प्रयोग अधिक किया है।

२.४४; **बौद्ध और जैनों की संस्कृत**—बौद्ध और जैन संस्कृत लेखकों ने संस्कृत-साहित्य की सीमाओं को विस्तृत किया। साथ ही इन लेखकों के द्वारा संस्कृत भाषा का विकास भी हुआ : कुछ परिवर्तन हुए। बौद्ध साहित्य का संस्कृतीकरण भी किया गया। भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृतीकृत बौद्ध साहित्य की भाषा का अध्ययन महत्वपूर्ण है। इस प्रकार की भाषा को अर्द्ध या मिश्रित संस्कृत नाम दिया जा सकता है। महासंघिक वर्ग के लेखकों द्वारा मिश्रित संस्कृत का उपयोग हुआ है। शब्दों का ध्वन्यात्मक रूप संस्कृत के समान है और वह प्राकृत व्याकरण से नियंत्रित हैं। पा० (भिक्खुस्स सं० भिक्षु का का संबंध एक०) का संस्कृत की भाँति भिक्षोस न करके भिक्षुक्य कर दिया गया गया। इस प्रकार जनता में प्रतिष्ठित संस्कृत का प्रयोग संस्कृत व्याकरण से असम्पृक्त लेखकों ने किया। उत्तर पश्चिम के सरस्वतीवादियों ने पुराने समय से ही संस्कृत को अपनाया। इसमें मिश्रण कम है : संस्कृत का व्याकरण भी है। इस भाषा का प्रयोग मुख्यतः अनुवादों में हुआ। सरस्वती वादियों के अन्य मौलिक ग्रन्थ भी हैं, जिनकी भाषा अनुवादों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक समीप है। विनयपटिक में दृष्टान्त रूप में समन्वित और दिव्यादान में संगृहीत कहानियाँ इस भाषा का प्रतिनिधित्व करती हैं। पाणिनि के नियमों का पूर्ण पालन तो इनमें नहीं है पर शैली सुन्दर है। अश्वघोष तथा उसके पीछे के कुछ कवियों में शुद्ध संस्कृत का प्रयोग मिलता है। इनमें बौद्ध-धर्म के केवल पारिभाषिक शब्द आये हैं। बौद्ध दार्शनिकों के ग्रन्थों में भी कुछ बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के साथ संस्कृत का प्रयोग हुआ है।

जैन लेखकों द्वारा संस्कृत बहुत पीछे अपनाई गई। पहले प्राकृत का संस्कृती

करण आरम्भ हुआ । पीछे संस्कृत प्रतिष्ठित हो गई । जैनों की संस्कृत भी प्राकृत से अत्यधिक प्रभावित रही । शब्दावली मुख्यत: प्राकृत की ही है । आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अनेक शब्दों का प्राचीनतम प्रयोग जैन रचनाओं में ही मिलता है।

२.४५. बृहत्तर भारत में संस्कृत—संस्कृत भाषा अनार्य उपादानों से भी अपनी शक्ति बढ़ा रही थी । जैन और बौद्ध भी संस्कृत की ओर आकर्षित हो रहे थे। समन्वित हिन्दू संस्कृति उदारतापूर्वक सभी तत्वों को संवारती-सहेजती अपने को विस्तृततर करती जारही थी । इस सब का परिवहन संस्कृत भाषा करती थी ।समस्त उत्तरी भारत में जन साधारण भी संस्कृत समझ लेता था, चाहे उसका व्यवहार न कर पाता हो । संस्कृत एकीकरण का एक मुख्य सूत्र बन गई । इस विस्तार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है । "आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में किसी एक भाषात्मक बन्धन की अनुपस्थिति से (संस्कृत या प्रादेशिक प्राकृत के रूप में) आर्यभाषा को उत्कर्ष का सबसे प्रथम तथा सबसे बड़ा अवसर मिल गया । आर्यभाषा अपने विभिन्न स्वरूपों और बोलियों के रूप में पश्चिम में गान्धार से लेकर पूर्व में विदेह एवं मगध तक तथा उत्तर में हिमालय के पाद प्रदेश से लेकर मध्य भारत के वन प्रदेश तक तथा पश्चिम के सागर तट की ओर गुजरात से होकर दक्षिण में लगभग ६०० वर्ष ई०पू० तक प्रतिष्ठित हो गई । इसके पश्चात वह बंगाल में, दाक्षिणात्य में तथा सुदूर दक्षिणी भारत में प्रसारित हुई । आर्यभाषा को (प्राकृत एवं संस्कृत दोनों रूपों में) प्रवासी आर्यजन सुसंगठित और सुप्रतिष्टित द्राविड़ जातियों में ले गए जिनकी भाषा इतने दृढ़ सुनिश्चित रूप को पहुँच चुकी थी कि साधारण जीवन में उसकी जगह आर्यभाषा का स्थापित होना असम्भव था ।"[1]

दक्षिण में संस्कृत के प्रसार को तमिल, तेलुगू और कन्नड से अवरुद्ध होना पड़ा ये तीनों साहित्यिक भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित थीं । फिर भी संस्कृत का इन भाषाओं पर प्रभाव था । उक्त भाषाओं में संस्कृत शब्दों का प्रवेश इस प्रभाव का द्योतक है । प्राचीन काल में भी प्रभाव पड़ा पर प्राकृतों का प्रभाव उल्लेखनीय है। शातवाहन राजाओं के राज्य कार्य की भाषा के रुप में प्राकृत का प्रचलन था । उनके उत्तराधिकारी भी प्राकृत को प्रोत्साहन देते रहे ।

कांची तक प्राप्त ऐतिहासिक लेखों से ज्ञात होता है कि तेलुगु-कन्नड़ क्षेत्र प्राकृत मातृभाषा वाले आर्य शासकों के शासन में रहा । किन्तु आर्यों की संख्या इस क्षेत्र में कम होने के कारण, प्राकृत यहाँ की बोलचाल की भाषा नहीं बन सकी । ४०० ई० के पश्चात् के लेख प्राप्त नहीं होते । शासकीय और सांस्कृतिक भाषा के रूप में पीछे प्राकृत का स्थान संस्कृत ने लिया और बोलचाल की भाषा के रूप में प्राकृत के स्थान पर स्थानीय द्राविड़ भाषाएँ बलबती हुईं । लगभग ४५० ई० से कन्नड़ और ६५० ई० से तेलुगु भाषाएँ साहित्यिक भाषा के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठित हो

---

१. डा० सु० कु० चटर्जी, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० ८१-८२

गई। प्राकृत प्रभाव संस्कृत-प्रभाव के रूप में बदल गया। संस्कृत का तत्व इन भाषाओं में गहरा उतरने लगा। प्रारम्भिक तेलुगु-कन्नड़ शास्त्रीय साहित्य तो संस्कृत शब्दों से अत्यन्त बोझिल है। यह प्रक्रिया पीछे के समय में भी बलवती रही।

तमिल क्षेत्र में संस्कृत का प्रभाव अत्यन्त दुर्बल रहा। साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित तमिल दक्षिण की सबसे प्राचीन भाषा थी। इसने संस्कृत प्रभाव से स्वतंत्र रहकर ही विकास किया। पीछे कुछ संस्कृत प्रभाव दीखता है पर तेलुगु-कन्नड़ के समान नहीं। पर प्रायः सभी द्राविड़ भाषाओं पर संस्कृत-प्राकृत प्रभाव ईसा पूर्व शतियों से ही आरम्भ हो गया था। तमिल आर्य भाषा प्रभाव-क्षेत्र में पीछे आई। तमिल में संस्कृत और प्राकृत-शब्द तमिल वेश में ही आज प्राप्त होते हैं।

आर्य भाषाओं की एक शाखा सीलोन भी गई। इस भाषा को वहाँ ले जाने का श्रेय कुछ योरोपीय विद्वानों ने पूर्वी भारतीयों के उपनिवेश-अभियान को दिया है।[1] पर डा० सुनीति कुमार चटर्जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं: 'लंका में भारत से आने वाले मूल आर्य भाषी प्रवासियों के प्रतीक रूप होने की दृष्टि से विजयी पूर्वी भारत के न होने पर, पश्चिमी भारत के रहे होंगे।[2] बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ ही साहित्यिक भाषा के रूप में पाली लंका में प्रतिष्ठित हुई। इसके पश्चात् संस्कृत भी स्थापित हुई और संस्कृत भाषा का विस्तार काफी हुआ।

पूर्व और दक्षिण-पूर्व में भी आर्य भाषाओं का विस्तार हुआ। ब्रह्मा में प्राप्त प्राचीनतम पालि और अन्य शिलालेख पूर्वी-छठी शती से आरम्भ होते हैं। वहाँ ब्राह्मण धर्म भी पहुँचा और बौद्ध धर्म भी। वहाँ संस्कृत और पाली दोनों इनके साथ वहाँ पहुँचीं। पालि ब्रह्म देश में अब भी प्रमुख धार्मिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है। बर्मी मूल भाषा तथा साहित्य भी इन प्रभावों से शून्य नहीं हैं और भी पूर्व में हिन्दू प्रवासी स्याम (द्वारावती) कम्बोडिया, (कम्बुज) तथा अन्नमा (चम्पा) तक फैले। यहाँ आर्य-प्रवासी ईसा-पूर्व काल से ही आते रहे। दूसरी तीसरी शती ई० से ही अनेक संस्कृत लेख वहाँ प्राप्त होते हैं। इससे उन स्थानों में संस्कृत का महत्व सिद्ध होता है। जब वहाँ की स्थानीय भाषाएँ साहित्यिक भाषाओं के रूप में विकसित होने लगीं, तथा संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव उन पर रहा। आज भी स्यामी भाषा पारिभाषिक शब्दों के लिए संस्कृत से शब्द ग्रहण करती है: टेलीफ़ोन के लिए थोरोसप् या थुरसप् (सं. दूर शब्द); एरोप्लेन के लिए 'आगात्-छान्' (सं. आकाश यान); सौवाँ हिस्सा 'सिदांस' (सं. शतांश) का प्रयोग होता है।

हिन्दू-संस्कृति इन्डोनेशिया, जावा, सुमात्रा तथा बाली द्वीपों तक भी विस्तृत हुई। यहाँ संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रचार हुआ। यहाँ अनेक नगरों के नाम

Burrow, 'Ceylon received its Aryan language through colonsation from Eastern India,' The Sanskrit Language, P. 63.

भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ. ८३

संस्कृत के हैं ।[1] यहाँ अनेक संस्कृत शिलालेख भी प्राप्त होते हैं : प्राचीनतम चौथी-पांचवीं शती के हैं । संस्कृत वहाँ कभी राज-काज और धर्म की भाषा थी । आज भी हिन्दू धर्म का कोई न कोई रूप तथा संस्कृत भाषा किसी न किसी रूप में प्राप्त होते हैं । वहाँ पर भी संस्कृत स्थानीय भाषाओं से प्रभावित है । यवद्वीप (जावा) तथा बालिद्वीप का अधिकांश साहित्य संस्कृत पर ही आधारित है । भाषाएँ संस्कृत शब्दों से पूर्ण हैं । आज भी इन द्वीपों में संस्कृत शब्द पारिभाषिक उपयोग में लिए जाते हैं । इस प्रकार संस्कृत शब्दों का प्रसार आज भी सुदूर-पूर्व में मिलता है ।

बौद्ध धर्म के विकास के साथ मध्य एशिया के एक बड़े भाग में भारतीय आर्य-भाषाओं का प्रभाव विस्तृत हुआ । किसी समय चीनी तुर्किस्तान के क्रोरेना राज्य में प्राकृत का एक रूप वहाँ की शासकीय भाषा थी । बौद्ध संस्कृत ग्रंथ जो भारत में लुप्त हो गये थे, मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं । इस क्षेत्र की मूल भाषाएँ संस्कृत-प्राकृत के प्रभाव से पनपने लगीं । ईरान वर्ग की खोतानी और तोखारी इस प्रकार की भाषाओं में उल्लेखनीय हैं । इन भाषाओं का शब्द समूह संस्कृत और प्राकृत शब्दों से समृद्ध है । ईरान से भारत का संबंध-सम्पर्क भी रहा और बौद्ध धर्म भी वहाँ रहा । इससे अनेक भारतीय आर्य शब्द फारसी में मिश्रित हुए : ब्रुत= मूर्ति (—'बुद्ध') शकर (< सक्करा, शर्करा) कन्द 'मिश्री (< खण्ड) । ग्रीक और संस्कृत में भी शब्दों का आदान-प्रदान रहा ।

७०० ई० के लगभग से तिब्बती भी संस्कृत से प्रभावित होने लगी । बौद्ध शब्दावली का तिब्बती में प्रवेश होने लगा । पर भारतीय शब्दों का तिब्बतीकरण ही अधिक रहा । व्यक्तिवाचक नामों का भी तिब्बती में अनुवाद कर लिया गया : बुद्ध—सङस्-र्ग्यस (—सेङस् जे) । चीन और भारत का भी संपर्क ईसा-पूर्व काल से था । जब बौद्ध भिक्षु चीन में बौद्ध सिद्धांतों के प्रचार के लिए गये तो बौद्ध संस्कृत ग्रंथों का चीनी में अनुवाद हुआ । वैसे संस्कृत शब्द चीनी भाषा में अनूदित ही विशेष रूप से हुए । जो संस्कृत शब्द अपना भी लिए गये, उनका चीनी उच्चारण बिल्कुल ही बदल गया । बुद्ध का प्राचीन चीनी उच्चारण भ्यवद, भ्यवत् रहा, आधुनिक चीनी में फ्वात्, फवात्, फो आदि हैं । साथ ही अनेक चीनी विद्वानों ने संस्कृत के अध्ययन का भी प्रयास किया । इस प्रकार व्यक्त-अव्यक्त रूप से चीनी भी भारतीय आर्य भाषा के प्रभाव से अछूती न रही । चीन से यह प्रभाव कोरिया और जापान तक पहुँचा । ७ वीं शताब्दी के ताड़ पत्रांकित हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथ जापान में सुरक्षित बताए जाते हैं । इससे वहाँ संस्कृत के पहुँचने का प्रमाण मिल जाता है ।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में बोलीगत वैविध्य :—

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में तीन बोलियों के बीज मिलते हैं : (१) एक में भारोपीय *र, तथा *ल, दोनों 'र' के रूप में परिणत हो रहे थे । यह विशेषता

[1] वही, नामों की सूची, पृ. ८६

उत्तर-पश्चिम की बोली में मिलती थी। यह अवस्था के अधिक समीप थी। ऋग्वेद के प्राचीन अंश इसी बोली में मिलते हैं। (२) दूसरी बोली में *र्, *ल् दोनों ल हो गये थे। यह बोली पंजाब के दक्षिण-पूर्व में थी। यह बोली भाग तत्कालीन आर्य संस्कृति से कुछ पृथक् थी। (३) केन्द्रीय बोली तीसरी बोली थी जिसमें *र्, *ल दोनों ही अपना अस्तित्व रखती थीं। यह भी सम्भव; है कि यह तीसरी बोली ऊपर की दोनों बोलियों का मिश्रित रूप हो। यह तीसरी बोली ही पाणिनि की संस्कृत है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल १२०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक रहा।

३

मध्य कालीन भारतीय आर्यभाषा-काल

(१) पालि-प्राकृत ।

३.०. यह देखा जा चुका है कि वैदिक तथा वैयाकरणों के समय में उच्चवर्गीय धार्मिक और व्यावहारिक भाषाओं को अपरिवर्तनीय रखने के वृहत् भाषा वैज्ञानिक प्रयत्न किये गये । पर जन-भाषा-प्रवाह परिवर्तन-जन्य नवीनताओं को ग्रहण करता गया । इस निरंतर गतिशील प्रवाह न ही कालान्तर में मध्य-कालीन भारतीय आर्य भाषाओं का रूप ग्रहण किया । वैदिक युग की कथ्य भाषाएँ ही पालि प्राकृत आदि के रूप में विकसित हुई; साथ ही वैदिक तथा आदि स्तरीय प्राकृत एक ही मूलस्रोत से निःसृत हुई होंगी ।

आर्य सभ्यता के प्रमुख क्षेत्रों और केन्द्रों में बाहर की पट्टियों में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का विकास तीव्र गति से होने लगा । जब प्राभाआ भाषाएँ अपने शुद्ध रूप में भारत के उत्तर-पश्चिम में तथा पंजाब में प्रचलित थीं, पूर्व और दक्षिण एक भाषा-क्रान्ति का परिचय देने लगे । उत्तर-पश्चिम और पंजाब में आर्य-जनों की सघन बस्तियाँ थीं । अतः शुद्ध आर्यभाषा की परम्परा वहाँ अधिक समय तक चलती रही । पूर्व और दक्षिण में आर्य बस्तियाँ बिरल थीं । अतः वहाँ विकास की गति कुछ तीव्र रही । इन स्थलों पर अनार्य-संपर्क भी अधिक था । यहाँ के आर्य-जनों को अपनी भाषा की शुद्धता को बनाए रखना कठिन हो गया । आर्येत्तर जातियों पर अपनी भाषा को लाद देना भी कठिन था । सौराष्ट्र की ओर आर्यजन की गति अपेक्षाकृत सरल और द्रुत थी क्योंकि मध्य-केन्द्र से दूरी कम थी । ज्यों-ज्यों आर्य पूर्व की ओर अग्रसर होते गए वे मध्यदेश से दूर और विच्छन्न होते गए । यही कारण है कि पूर्व और दक्षिण में परिवर्तन अधिक हुआ । मध्यदेश में भी भाषा में परिवर्तन हो रहा था । पर यह बहुत अधिक नहीं था । पाणिनि और पतंजलि के समय तक पंजाब में शुद्ध आर्य भाषा की परम्परा चलती रही । पर दोनों ही यहाँ की तथा मध्य देश की भाषा में आए हुए अपभ्रंश रूपों से अवगत थे । यास्काचार्य और प्रातिसाख्यों के रचयिताओं ने भी, बोलीगत विभेदों की सूचना दी है । इससे

सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में ६०० ई० पू० से ही विकार उत्पन्न होने लगे थे। पर मध्य देश में तथा और पश्चिम में परिवर्तन इतना नहीं था। वैयाकरणों ने पूर्व और पश्चिम की बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन करके अन्तर को स्पष्ट करना चाहा है। दक्षिणी बोलियों में उसका इतना अन्तर नहीं बताया गया। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में स्थानीय बोलीगत अन्तर सबसे पहले अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट होने लगता है। लगभग (२५० ई० पू०) अशोक से लगभग तीन शती पूर्व भगवान बुद्ध (लगभग ५०० ई० पू०) तथा उनसे २५ वर्ष पूर्व महावीर ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार लोक भाषा में इसलिए किया था कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा सामान्य जन के लिए बोध गम्य नहीं रही थी। ये लोक-भाषाएँ सम्भवतः बुद्ध से दो शती पूर्व से ही सामान्यजन में लोकप्रिय थी। इस प्रकार पूर्व की बोलियाँ स्वतंत्र रूप मे ७०० ई० पू० में भी अस्तित्व में थीं। पर इस भाषा की प्रकृति और विकृति का पूर्ण परिचय प्राप्त करने की साधन-सामग्री का नितान्त अभाव है; क्योंकि बुद्ध जी का धर्म और उसके साथ-साथ उनके सिद्धान्तों की वाहिका भाषा अन्तर्प्रादेशिक हो गए। बौद्ध भिक्षुओं ने पश्चिम मे अपने मत का प्रचार करने के लिए विभिन्न पश्चिमी भाषाओं का आश्रय लिया। इस प्रकार आरम्भिक पूर्वी भाषा पश्चिम के रूपों से शीघ्र ही अभिभूत हो गई। यह अनुमान अवश्य होता है कि ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक पूर्वी बोलियाँ बहुत धार्मिक और राजनैतिक महत्व प्राप्त कर चुकी थीं। सम्भवत: ये भाषाएँ समस्त भारत में समझी जाती थीं। इसको धार्मिक महत्व यदि बुद्ध और महावीर ने प्रदान किया तो राजनैतिक महत्व अशोक ने। यह कहा जाता है कि अशोक के शिला लेख पहले पूर्वी भाषा मे ही थे। फिर विभिन्न भागों में वहाँ की विशेषताओं से युक्त करके तथा उसमें उन्हीं के अनुसार कुछ परिवर्तन करके उत्कीर्ण कराया गया। अशोक के पश्चात् धर्म, संस्कृति और राजनीति के केन्द्र फिर पश्चिम की ओर खिसक आए। अतः जब दोनों धर्म प्रवर्तकों के उपदेशों और सिद्धान्तों को ग्रन्थ-बद्ध करने का समय आया तब उनको बहुधा पश्चिमी भाषाओं में ही लिखा गया जिससे वे समस्त आर्य-भारत में समझे जा सकें, वे भाषाएँ पालि और अर्द्धमागधी थीं। यही मध्यकालीन आर्य भाषाओं के विकास की आरम्भिक स्थिति थी।

३. १. **प्राकृत : विकास काल क्रम**—प्रथम प्राकृतें वैदिक काल की क्षेत्रीय आर्य कथ्य बोलियाँ होंगी, इनका समय २००० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक माना जाता है। इन प्राकृतों की समानता वैदिक से है। इनका रूप विभक्तिबहुल (synthetic) होगा। इन बोलियों के अवशेष प्राप्त नहीं होते। ई० पू० ६ ठवीं शती से १० वीं शती तक द्वितीय स्तरीय प्राकृतों के विकास का युग है। जैन और बौद्ध धर्म के प्रचार के माध्यम बनने तथा इनके सिद्धान्त-उपदेशों के लेखन के समय से इन भाषाओं को साहित्यिक भाषा की प्रतिष्ठा प्राप्त होने लगी। द्वितीय स्तर की प्राकृतों के सब से प्राचीन सुरक्षित लेख अशोक के शिलालेख हैं: इनको प्रादेशिक

कथ्य भाषाओं में लिखवाया गया है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस काल की भाषाओं को मध्य-भारतीय आर्य भाषाओं (भभा आभा) की संज्ञा दी है। इस प्राकृत युग को तीन काल-खंडों में विभाजित किया जा सकता है—

१. आरम्भिक अवस्था : ४०० ई० पू० से १०० ई०
२. मध्य अवस्था : १०० ई० ,, से ५०० ई०
३. उत्तर कालीन अवस्था : ५०० से १००० ई०

इस विकास-काल को एक और प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। मध्यकालीन भाषाओं के विकास के तीन रूप इस प्रकार रहे—

(१) आरभिक : ७०० ई० पू० से २०० ई० पू० : पुरानी मागधी, पुरानी अर्द्धमागधी, अशोक के शिलालेखों की प्राकृत तथा बौद्ध गाथाओं के पुराने रूपों तथा तिपिटिकाओं के पुराने रूपों में मिलने वाली पालि। जैन धर्म की अर्द्ध-मागधी इस स्थिति में सम्मिलित नहीं है।

(२) द्वितीय स्थिति: २०० ई० पू० से ६०० ई० तक, अशोक के बाद के शिलालेखों की भाषा, संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त साहित्यिक प्राकृतें; वररुचि और हेमचन्द्र के व्याकरणों की प्राकृतें।

(३) अपभ्रंश: ६०० ई० से १००० ई०।

३·२० मध्यकालीन आर्यभाषाओं का क्षेत्रीय विकास—

वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन आर्यभाषा का विकास आर्यों के भारत आगमन से ही आरम्भ हो गया था। ऋग्वेद में ही पुराने और नवीन शब्दों की स्थिति साथ-साथ मिलती है। पीछे की संहिताओं में और ब्राह्मण ग्रन्थों में नवीन शब्दों और नवीन शब्द-रूपों का परिणाम और अधिक हो गया। अशुद्ध उच्चारण, अशुद्ध व्याकरण-रूप, सुर-भ्रम के कारण ही असुरों की पराजय और देवों की विजय हुई। ऐसा कथन मिलता है। पवित्र प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के शुद्ध प्रयोग से 'असुर' अनभिज्ञ हो गए। उनके अनुष्ठानों में प्रयुक्त मंत्रों के अशुद्ध उच्चारण का अर्थ गलत हुआ और देवों ने उनका नाश कर दिया। वैदिक उच्चारण के विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख प्रातिसाख्यों में मिलता है। सम्भवतः विभिन्न स्थानों और विभिन्न शाखाओं के ऋषियों के कारण ही उच्चारण-सम्प्रदाय बने होंगे। यास्काचार्य के निरुक्त से स्थानीय भेदों वाली बोलियों के विकास की स्पष्ट सूचना मिलती है। यह भेद ध्वनियों तक ही सीमित नहीं था, शब्दावली में भी यह विभेद मिलता है। वैदिक भाषा तो प्रायः अबोधगम्य होने लगी थी। यास्क ने शब्दों का द्विविध विभाजन दिया है: वैदिक शब्द और भाषिक शब्द। इस प्रकार संस्कृत की प्रतिष्ठा की भूमिका स्थिर होने लगी और वैदिक स्थिति समाप्त होने लगी थी। यास्क ने पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं के अन्तर की बात भी कही है। पर ये अन्तर इतने सुस्पष्ट और मुखर उस समय नहीं थे। अतः ये अलग-अलग दो भाषाएँ नहीं कही जा सकतीं। ये दोनों

ही परस्पर बोधगम्य थीं। जब तक आर्यजन ब्रह्मावर्त, कुरुपांचाल, तथा मध्यप्रदेश तक सीमित रहे, उनकी भाषा विशेष विकसित या परिवर्तित नहीं हुई। ज्योंही उनकी गति पूर्व और दक्षिण की ओर होने लगी, परिवर्तन की गति भी द्रुततर होने लगी। पाणिनि, कात्यायन और पंतजलि अपभ्रष्ट रूपों का स्पष्ट उल्लेख करते है।

आर्य शक्तियाँ पूर्व में शिथिल थीं। अतः वहाँ भाषा-विकास द्रुततम गति से होरहा था। कालक्रम की दृष्टि से भी वही विकास पहले-पहल इस रूप में हुआ। इस प्रकार प्राचीन आर्यभाषा पहले दो वर्गों में विभाजित हुई। प्राच्य और प्रतीच्य (पश्चिमी) भाषा-समूह। बुद्ध और महावीर के द्वारा (६वीं शती ई० पू०) अपने उपदेशों के लिए पूर्वी भाषाओं का चुनाव, अशोक के द्वारा प्राच्य को राजभाषा बनाया जाना (३री शती ई० पू०) तथा प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों का प्राकृतों को पूर्वी-पश्चिमी, मध्यदेशीय तथा पैशाच वर्गों में बाँटना (वररुचि २०० ई०), इन्हीं दो भाषा-वर्गों की स्थिति को पुष्ट करते हैं।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के प्रथम विकास की कुछ सर्व-सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार दी जा सकती हैं। मुख्य प्रवृत्ति पुरोगामी और पश्चगामी समीकरण की थी। एक वर्ग की स्पर्श ध्वनि+अन्यवर्गीय स्पर्श ध्वनि>पीछे के वर्ग की स्पर्श ध्वनियों का द्वित्व। जैसे (१) प्राभाआ—प्त—> मभाआ—त्त्—; प्राभाआ—ब्द—> मभाआ—द्द्—; (२) ऊष्म+ नासिक्य> नासिक्य+ह; प्राभाआ—स्न—> भभाआ—ण्ह—; (३) स्वर संकोचन : प्राभाआ—अय्—या—अइ—> भभाआ—ए; प्राभाआ—अउ—> भभाआ—ओ—; प्रभाआ—अव्—> मभाआ— ओ—। ये परिवर्तन प्रायः सभी स्थानों के मध्यकालीन भाषारूपों में मिलते थे। पर कुछ ऐसे भी रूप थे जो केवल पूर्वी भाषाओं की विशेषताएँ बन गए थे। उनमें से मुख्य प्रवृत्तियाँ ये हैं: (१) प्रभाआ ऋ> पश्चिम अ, पूर्व इ; (२) र/ल के आधार पर जैसे आर्यभाषाएँ विभाजित हुई थीं, एक बार फिर ये ध्वनियाँ बोलीगत विभाजन की आधार बनीं। —र—पूर्वी बोलियों की विशेषता थीं। (३) तीनों ऊष्म ध्वनियाँ पश्चिम में स, तथा पूर्व में श के रूप में विकसित हुईं। (४) व्याकरण में संज्ञाओं के —अ अन्त्य वाले कर्त्ता, एक० पु० रूप पश्चिम में ओकारान्त तथा पूर्व में एकारान्त मिलते थे। (५) आत्मने पद तथा, अन्य अप्रचलित काल-रूप पश्चिम में पूर्व की अपेक्षा कुछ अधिक समय तक चलते रहे।

उत्तर या हिमालय प्रदेश में भी आर्यभाषा तीव्रता से बदल रही थी। आर्य-भाषा यहाँ पहाड़ी भाषाओं के सम्पर्क में आई, जो सम्भवतः मुण्डा-वर्ग की भाषाएँ थीं। ये मुण्डा जातियाँ भारत के आदिवासियों में से थे, जो अपनी विघटनशील बोलियाँ बोलते थे। इनकी भाषा में सघोष ध्वनियों की अपेक्षा अघोष ध्वनियों की प्रमुखता थी। इन भाषाओं में मूर्द्धन्य ध्वनियाँ नहीं थीं। इसलिए ये स्वर मध्यवर्ती

ग्,-द्,-ब्, को क्,-त्,-प् में परिवर्तित कर देती थीं। उत्तरी क्षेत्र में भी आर्य भाषा का विकास बहुत पहले ही आरम्भ हो गया था। इन विशेषताओं और विकसित रूपों से युक्त पहाड़ी क्षेत्रों की भाषा को प्राकृत वैयाकरणों ने पैशाची के अन्तर्गत रखा था। निष्कर्षत: प्राभाआ के तीन मध्यकालीन विकसित रूप सामने आते हैं: (१) मध्यवर्ग: यह पश्चिम में सौराष्ट्र तक, दक्षिण में सुरपारक, अवन्ती और सम्भवत: विदर्भ तक, आधुनिक राजस्थान, पंजाब, उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश, तथा मध्यदेश (ब्रह्मावर्त, कुरुपांचाल, तथा मत्स्य) इस वर्ग मे सम्मिलित थे। (२) पूर्वी वर्ग: मगध, बंग, तथा कलिंग (आधुनिक बिहार, बंगाल, तथा उड़ीसा) इसमें सम्मिलित थे। आधुनिक पूर्वी हिन्दी क्षेत्र इन दोनों वर्गों को जोड़ता है। इसमें काशी, कोसल, तथा वत्स सम्मिलित थे। (३) हिमालयी या पैशाची वर्ग।

दूसरी विकास स्थिति मे दक्षिण भाषा-वर्ग अलग हुआ। यह विकास-स्थिति प्राकृत-स्थिति कही जा सकती है। इस स्थिति में अनेक सामान्य विशेषताएँ विकसित हुईं। कुछ स्थानीय विशेषताएँ भी थीं जो स्थानीय रूपों में इस युग की बोलियों के विभाजन की आधार थीं। प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृतों की उत्पत्ति और विस्तार संबंधी अनेक उल्लेख किए हैं। यह स्थिति मध्यदेश से बाहर प्रथम शती ई० पू० में तथा इससे दो शती पश्चात् मध्य देश में उपस्थित हो गई थीं। इस स्थिति का सबसे प्राचीन वैयाकरण वररुचि था। उसने ४ प्राकृतों का रूप-निरूपण किया है। (१) मुख्य प्राकृत : इसका विस्तृत विवेचन है; (२) पैशाची; (३) मागधी; तथा (४) शौरसेनी। मुख्य प्राकृत की उत्पत्ति वररुचि ने संस्कृत से, तथा शेष दो प्राकृतों की उत्पत्ति शौरसेनी से मानी है। शौरसेनी का संस्कृत से सीधा संबंध माना है। मुख्य प्राकृत महाराष्ट्री है। इसको इस व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है। यह दक्षिण की थी अथवा शौरसेनी की एक विकसित काव्योपयोगी शाखा इस पर पर्याप्त मतभेद है। पर यदि इसे दक्षिण की प्राकृति ही माना जाय, तब भी अपने साहित्यिक रूप में यह अपनी निजी विशेषताओं से मुक्त होकर, समस्त आर्यभारत की काव्य-भाषा बन गई। इसमें कुछ भी स्थानीय नहीं रह गया। प्राकृत के वैयाकरणों ने काथ्य प्राकृतों का व्याकरण नहीं लिखा, साहित्यिक प्राकृतों का ही विश्लेषण किया है। पर इस विश्लेषण से प्राकृतों के स्थानीय विवरण का ज्ञान हो जाता है। वररुचि के पश्चात् वैयाकरणों ने प्राकृतों की संख्या में वृद्धि की : पाँच, छः, तथा १६ तक। यहाँ तक कि पीछे संख्या ५० तक पहुँच गई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ शताब्दियों में स्थानीय प्राकृत रूप मुख्य साहित्यिक प्राकृत रूपों से विशिष्ट होने लगे। वररुचि के विवरणों के आधार पर प्राकृतों को भौगोलिक विस्तार इस प्रकार निश्चित होता है (१) मध्य या शौरसेनी वर्ग : ब्रह्मवर्त, कुरुपांचाल, मत्स्य, शौरसेन प्रदेश, अवन्ती, सौराष्ट्र, मरुदेश, शाकद्वीप या पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, नर्मदा का उत्तरवर्ती प्रदेश, काठियावाड़, सिन्ध, तथा राजस्थान; (२) मागधी : जैसा पहला लिखा गया है, इसके साथ अर्द्ध-

मागधी क्षेत्र भी संबद्ध है : उत्तर में वर्तमान बनारस से सीतापुर तक, तथा दक्षिण पश्चिम में जबलपुर तक; (३) महाराष्ट्री क्षेत्र : सुर पाइक, दक्षिण में गोआ तक, प्राचीन विदर्भ, दक्षिणापथ, तथा विन्ध्य, वर्तमान अमरावती, तथा गोदावरी का उत्तरवर्ती प्रदेश; तथा (४) पैशाची प्रदेश : इसका उल्लेख पहले हो चुका है।

३·२ द्वितीय स्तर की प्राकृतें

प्राकृत भाषाओं के परिचय के दो प्रमुख स्रोत रहे हैं। धार्मिक साहित्य तथा परम्परागत प्राकृत व्याकरण-ग्रंथ। प्राकृत वैयाकरणों के द्वारा प्रस्तुत-संगृहीत सामग्री के आधार पर पिशेल ने प्राकृतों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन किया। प्राकृत वैयाकरणों में सबसे पहले वररुचि का नाम आता है। वररुचि ने चार मभाआ भाषाओं का उल्लेख किया है। महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी तथा शौर सेनी। इसके पश्चात् प्राकृतों की संख्या में वृद्धि होती रही। भरत ने भौगोलिक आधार पर चार से अधिक संख्या गिनाई थी।

३·२ द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाएँ:—

मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, सूरसेनी, अर्द्ध मागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या।[1] चण्ड ने अपने प्राकृत व्याकरण में पैशाचिकी की चर्चा की है—पैशाचिक्यां रणयोर्लनौ। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में महाराष्ट्राश्रया, शौरसेनी, गौड़ी, लाटी नाम दिये हैं।[2] हेमचन्द्र ने मागधी शौरसेनी, पैशाची और चूलिका पैशाची का उल्लेख किया है। मार्कण्डेय ने अपने प्राकृत-सर्वस्व में आठ भाषाओं का उल्लेख किया है। महाराष्ट्री, अवन्ती, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, वाह्लीकी, मागधी, प्राच्या और दाक्षिणात्या। इनके साथ छः विभाषाओं का भी उल्लेख है।[3]

इन नामों में भरत की सूची को छोड़कर अधिकांश साहित्यिक प्राकृतों के ही नाम है। भौगोलिक विभाजन की दृष्टि से प्राकृतों की संख्या में आगे चल कर वृद्धि होती गई। विभाषाओं के रूप में कुछ वैयाकरणों ने इनका उल्लेख किया है। इनमें से अधिकांश में साहित्य रचना भी नहीं हुई और उनका रूप कालान्तर में लुप्त हो गया। इन विभाषाओं से प्राकृत भाषाओं के रूपों की अनन्तता प्रकट होती है। डा० कत्रे ने एक संगीत ग्रंथ 'गीतालंकार के आधार पर ४२ नामों की सूची दी है।[4] ये नाम इस प्रकार हैं। महाराष्ट्री, किराती, म्लेच्छी, (चौथी नष्ट), सोमकी, चोलकी, कांची, मालवी, काशी सम्भवा, देविका, कुशावर्ता, सूरसेनिका, बौधी, गुर्जरी, रोमकी, मालवी, कानमूखी, देवकी, पंचपत्तना, सैंधवी, कौशिकी, भद्रा, भद्रभोजिका, कुन्तला, कोशला, पारा, यावनी, कुकुंरी, मध्यदेशी, कांबोजी, तथा

1 नाट्य० १७,४८,

2 काव्यादर्श १/३४,३५

3 कलेक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भंडार कर, भाग २, पृ० ३१२

4 देशभाषाविशेषण तस्यान्तोनेह विद्यते। विष्णु धर्मोत्तर पुराण ३।२।१०-११

३१वीं अज्ञात् । आगे उदाहरण भाग में भी भाषाओं के नाम दिए हैं। भाषाओं की संख्या ४२ बताई गई है। पर यथार्थ संख्या ३१ ही है। यह सूची जातियों और देशों के आधार पर है। तात्पर्य यह कि प्रायः समस्त भारत में प्राकृत-भाषा की शाखाएँ फैली हुई थीं। पर इस सूची में पालि की गणना नहीं है। पालि साहित्यिक प्राकृतों के पूर्व की स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है। नीचे पालि तथा प्रमुख प्राकृतों का संक्षिप्त परिचय आयासित है। अशोक के शिलालेखों की भाषा बौद्धधर्म की भाषा के देशगतरूपांतरों को स्पष्ट करती है। कहीं-कहीं ढाँचा बहुत विचित्र होगया है।

३·२१ **पालि**—इसका प्रयोग हीनयान बौद्धों के त्रिपिटक, महावंश और जातक प्रभृति ग्रंथों में हुआ है। इसकी उत्पत्ति के संबंध में मतभेद है। बौद्ध इसे मागधी कहते हैं। बुद्धघोष ने इसे 'मगध बोहार' नाम से संबोधित किया है। पर मागधी से पालि का कोई सादृश्य नहीं दीखता। पालि और वैदिक भाषा में पर्याप्त साम्य दीखता है। भंडारकर के मतानुसार, पालि मध्य संस्कृत का प्रतिनिधित्व करती है, जिसका समय 'ब्राह्मणों' की रचना तथा यास्क-पाणिनि युग के बीच ठहरता है।[१] फासवाल ने सुत्तनिपात की भूमिका में लिखा है—वैदिक भाषा के जो भव्य रूप पालि में प्राप्त होते हैं, वे क्लासीकल संस्कृत में भी प्राप्त नहीं होते। इससे स्पष्ट होता है कि 'छन्दस्' के समय में अनेक प्रचलित 'प्राकृत' अथवा प्रादेशिक भाषाओं से पालि का संबंध है। पालि की पैशाची से भी समानता है। इस आधार पर डा० कोनो (Konow) तथा ग्रियर्सन इसका उत्पत्ति-स्थान पैशाची क्षेत्र को मानते हैं। पर कोनो पैशाची का स्थान दक्षिण प्रदेश में तथा ग्रियर्सन उत्तर-पश्चिम में मानते हैं। परन्तु पालि भाषा अशोक के गुजरात-स्थित गिरनार के शिलालेख की भाषा के अधिक अनुरूप होने के कारण, पूर्व की नहीं पश्चिमी प्रदेशों की भाषा दीखती है। डा० चटर्जी ने निष्कर्ष में कहा है कि बुद्ध के सभी उपदेश प्रारम्भ में मागधी में ही रहे होंगे, पर बाद में मध्यदेश की शौरसेनी प्राकृत में अनुवादित हुए थे, वे ही ई० पू० प्रायः २०० वर्ष से पालिभाषा के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।[२] वैसे शौरसेनी से भी अधिक पालि की समानता पैशाची से अधिक है।

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति पर भी विद्वान एक मत नहीं हैं। विधु शेखर भट्टाचार्य ने इसका व्युत्पत्ति क्रम इस प्रकार दिया है : पङ्क्ति > पन्ति > पत्ति > पट्ठि > पल्लि > पालि। बौद्ध साहित्य में भी पालि का प्रयोग 'पङ्क्ति' के अर्थ में मिलता है। कुछ लोग पालि का संबंध पल्लि 'गाँव' से जोड़ते हैं : पालि ग्रामों की

Dr S. M. Katre, Names of Prakrit Languages', 'Avolume of Indian and Iranian Studies, Bombay 1939, P. 193

Origin and Development of the Bengali Language, Vol, I., P, 57.

तथा संस्कृत नगरों की भाषा थी । कैक्स वाले सर 'पालि' की व्युत्पत्ति पाटलिपुत्र से मानते हैं । भिक्षु जगदीश कश्यप ने 'पालि महाव्याकरण' में पालि शब्द की व्युत्पत्ति 'परियाय' (सं० पर्याय) शब्द से मानी है : परियाय > पलियाय > पालियाय > पालि । डा० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है[1] 'पालि शब्द की सीधी सादी व्युत्पत्ति 'पा' धातु से 'णिच्' प्रत्यय 'लि' के योग से सम्पन्न होती है । प्राचीन लेखकों ने भी पालि की व्युत्पत्ति 'अत्थानिपाति, रक्खतीति. तस्मात् पालि' (अर्थों की रक्षा करती है, इसलिए 'पालि') 'पा' धातु से की है ।' अब पालि की सामान्य विशेषताओं पर संक्षिप्त दृष्टि उपयुक्त होगी ।

३.२१.१. पालि की ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—श, ष, स् > स् । इसके अतिरिक्त संस्कृत व्यंजन बने रहे । शब्द के आदि में स्थित अल्पप्राण, महाप्राण संस्कृत असयुक्त व्यंजन सुरक्षित रहे । ङ्, ञ, ण्, न्, म्, पाँच नासिक्यों में से न्, म्, ही आदि में प्रयुक्त होते थे । यह प्रवृत्ति संस्कृत के ही समान है । आदि अन्तस्थ ध्वनियाँ य्, र्, ल्, व् भी सुरक्षित हैं । केवल र् > ल् । शब्द के आदि में प्राणध्वनि का आगमन मिलता है : संस्कृत अघोष अल्पप्राण व्यंजन > अघोष महाप्राण: कृत, प > ख, थ, फ : परशु > फरसु । कहीं संस्कृत घोष महाप्राण > उसी वर्ग के सघोष अल्पप्राण : भगिनी > बहिनी ~ बहिणी । कुछ व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में भी अन्तर हो गया : कंठ्य स्पर्श > तालव्य स्पर्श : कुन्द > चुन्द; दन्त्य स्पर्श > मूर्द्धन्य स्पर्श : दाह > डाह, दसति > डसति । पालि में आदि न् > ण नहीं होता था । कभी-कभी आदि य — > ल् — : यष्टिका > लट्ठिका । ऋ > अ,इ, उ, र : ऋते > रिते । ऐ, औ > ए, ओ ।

शब्द के मध्य में संस्कृत अघोष स्पर्श > उसी वर्ग का सघोष स्पर्श : क, च, ट,-त्,-प्-,थ् > ग, ज, ल, द, व, ध : खेट > खेल । मध्य-स्थित संस्कृत अघोष अल्प प्राण व्यंजन क,त,प > पालि मे अघोष महाप्राण ख, थ, फ : सुकुमार > सुखुमाल । कहीं कहीं (अपवाद स्वरूप) सं० सघोष स्पर्श > उसी वर्ग का अघोष स्पर्श : शावक>चापक । स० दन्त्य व्यंजनों का मूर्द्धन्यीकरण भी मिलता है : प्रथम > पठम; शकुन सकुण । अन्य परिवर्तन इस प्रकार हैं तालव्य स्पर्श > दन्त्य-स्पर्श : चिकित्सति > तिकिच्छति । मूर्द्धन्य > दन्त्य : डिंडिम > देण्डिम, द् > र् : एकादश>एकारस; न्>ल् या र । ण > ल, ल : वेणु; बेलु; र > ल्, कहीं-कहीं ल् > र्; य>व् आयुध>आवुध; व्>य : दाव>दाय; व>म् । त > ट् : चेतक > चेटक; थ > ठ : शिथिल > सठिल; ग्रंथि > गांठि ।

सयुक्त व्यजनों के क्षेत्र में समीकरण की प्रवृत्ति दीखती है : त्र, क्त, प्त > त्त तथा त्प > प्प । स, श, ष का महाप्राणत्व इनसे संयुक्त ध्वनियों (स्क, ष्क, श्च, ष्ट, स्त, ष्प, के द्वितीय व्यंजन में मिलकर उन्हें महाप्राण (ख, छ, ठ, थ, फ)

[1] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ. ६२.

व्यंजनों में परिवर्तित कर देती थीं। यही ध्वनियां संयुक्त व्यंजनों का स्थान ले लेती हैं। यदि इनके पूर्व स्वर हो तो क्ख, च्छ, ट्ठ त्थ और प्फ के रूप से मिलती हैं। श्न, ष्ण, स्म, श्म, तथा ष्म > ह्ल, ण्ह, या म्ह होकर संयुक्त ध्वनियों का स्थान ले लेते हैं। स्वर के पश्चात् आने पर-न्ह, ण्ह, म्ह, ध्य > झ, ज्झ : मध्य > मज्झ त्य > च्च : मृत्यु > मच्चु। र्व > ब्ब : पूर्व > प्रब्ब। क्ष > च्छ : तक्षक > तच्छक; त्स > च्छ : वत्स > वच्छ। र्द्ध > ड्ढ : वर्द्धते > बड्ढति। ध्वनि विकास की इस सामान्य रूपरेखा से इतना स्पष्ट हो जाता है कि पालि तक इतना अधिक अन्तर उपस्थित नही हुआ था जितना पीछे की भाषा-बोलियों में। इनमें से दन्त्य > मूर्द्धन्य की प्रवृत्ति आर्येतर जातियों के प्रभाव से हो सकती है।

व्याकरण भी सरलता की ओर उन्मुख था। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अनावश्यक समझे जाने वाले व्याकरण-रूपों का लोप होगया। कुछ नवीन रूप भ्रम-पूर्ण तुलना के आधार पर खड़े किए गये। कुछ पुराने रूपों को सुरक्षित भी रखा गया।

पालि में शब्द-रूपों की अनेकरूपता मिलती है। संस्कृत के पदान्त व्यंजनों का लोप होगया और इस प्रकार हलन्त प्रातिपदिक लुप्त होगए। विद्युत् > बिज्जु। नपुंसक लिंग शब्दों के अनेक रूप पुल्लिग के समान घटित होने लगे। कुछ शब्द रूप वैदिक भाषा में थे, संस्कृत में नहीं रह; बोल-चाल की भाषा में बने रहने के कारण पालि में प्रविष्ट होगए। पालि में कर्त्ता कारक बहुवचन में देवा (वैदिक-देवा) के साथ-साथ देवा से (वैदिक देवास:) करण बहु० देवेहि (वैदिक देवेभि:, सं, देवै:) प्रचलित रहे। लिंग व्यत्यय भी मिलता है। कारकों का व्यत्यय भी है। सर्वनामों के रूप यथोचित ध्वनि परिवर्तन के साथ संस्कृत के समान ही निष्पन्न हुए।

प्राचीन धातु रूपों का वैविध्य काफी-कुछ सुरक्षित रहा। पर कुछ धातुओं के गुणों में परिवर्तन होगया। भ्रमपूर्ण सादृश्य का नियम यहाँ भी सक्रिय दीखता है। कुछ अपवादों को छोड़ कर आत्मने पद का लोप होगया। चार काल वर्तमान (लट्) असम्पन्न सामान्य (लुङ्) भविष्य (लृट्) एवं क्रियातिपत्ति (लृङ्)तथा चार प्रकार निर्देश, अनुज्ञा, सम्भावक (Optative) तथा अभिप्राय (Subjunctive) रह गये। द्विवचन का प्राय: अभाव होगया।

३. २. २. अशोक के शिलालेखों की भाषा:—अशोक के शिलालेखों की भाषा की कोई सुनिश्चित विशेषतायें नहीं हैं और न किन्हीं पूर्ण निर्धारित नियमों से नियंत्रित ही मानी जा सकती हैं। यह कोई स्वतंत्र भाषा न होकर स्थानीय विशेषताओं से युक्त एक मिश्रित भाषा है साथ ही पालि भाषा से इनमें अन्तर है। पालि के नियमों के अनुसार जहाँ व्यंजनों का लोप होना चाहिए, वहां व्यंजन सुरक्षित भी दीखते हैं। भाषा की स्थानीय विशेषताओं को ध्यान में रख कर शिलालेखों के उत्तर-पश्चिम की भाषा, दक्षिण-पश्चिम की भाषा तथा प्राच्य भाषा में लिखे-तीन विभाग हो सकते हैं। उत्तर-पश्चिम की भाषा ध्वनि-योजना की दृष्टि से संस्कृत के

निकट है। कुछ स्वर-विकास के उदाहरणों के अतिरिक्त स्वर प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के समान ही है। ऋ > रु, रि; ऐ, औ > ए, औ : तवै (प्रत्यय) >-तवे; पौत्र>पोत। अय> ए : पूजयति> पुजेति; अव > ओ। अ > उ मुन > मत; ओषुढ>ओषध। -अः>-ओ : जनः > जनो; पुनः > पन। पदारंभ और मध्य में प्रायः संस्कृत ध्वनियां सुरक्षित हैं। व्यंजनों में तालव्यीकरण की विशेषता मिलती है: क्ष> छ: मोक्ष>मोछ; त्य > च : आत्ययिक > अचयिक; दय> ज : अद्य > अज। मूर्द्धन्यीकरण की प्रवृत्ति भी है: कृत > कट; वृद्ध> बुढ़। वर्ग > वग्र जैसे परिवर्तनों में संस्कृत से अनजाने लेखकों का संस्कृत की ओर झुकाव दीखता है। व्यंजन-विकास के और भी रूप मिलते हैं।

पालि की भांति व्याकरण के क्षेत्र में सरलीकरण की प्रवृत्ति दीखती है। व्यंजनान्त प्रातिपदिक स्वरान्त रह गये; द्विवचन का कोई चिह्न नहीं मिलता। मिथ्या तुलना के कारण कारकों के रूपों में भी समानता आगई। तीनों भागों की भाषाओं की कुछ और स्थानीय विशेषताएँ हैं। पर, अधिकांश में भाषा का ढाँचा समान है। इन लेखों में से कुछ की भाषा यह प्रकट करती है कि संस्कृत का प्रभाव बढ़ चला था।

३ २३. **संक्रान्तिकालीन प्राकृतें**—[१] पालि और साहित्यिक प्राकृतों को जोड़ने वाली सामग्री मध्य एशिया से प्राप्त कुछ सामग्री है। इस सामग्री में अश्वघोष (१००-२०० ई०) के दो संस्कृत नाटकों के कुछ अंश, धम्मपद का प्राकृत संस्करण तथा मध्य एशिया के शान-शान राज्य के कुछ लेख-पत्र सम्मिलित किये जाते हैं। इसका अधिकांश निय नामक स्थान पर प्राप्त हुई है। अतः इस भाषा को निय-प्राकृत कहा गया है।

अश्वघोष के नाटकों में कुछ पात्रों-दुष्ट, गणिका, विदूषक आदि—के द्वारा प्राकृत का प्रयोग हुआ है। इस प्राकृत पर संस्कृत का अधिक प्रभाव है। स्वर मध्य ग अघोष स्पर्श > सघोष का केवल एक उदाहरण सुरद (> सुरत) मिला है। यह प्रवृत्ति प्राकृतों में मिलती है। दुष्ट द्वारा प्रयुक्त प्राकृत में प्राचीन मे मागधी प्राकृत के तत्व विशेष हैं: र् > ल् : कालना > कारणात। प, स् > श्। अ एवं ओ के स्थान पर ए का प्रयोग: बुत्ते > वृत्तः; कलोमि करोमि। अहम् का प्रतिरूप अहक प्राप्त होना है। सम्बन्ध कारक एक वचन-स्य>हो : मक्कट हो > मर्कटस्य। गणिका और विदूषको द्वारा प्रयुक्त प्राकृत प्राचीन शौरसेनी के समान है। ऋ> इ : हिदयेन > हृदयेन; पदान्त-अः > ओ : दुक्करो > दुष्करः; न्य, ज्ञ > ञ्ज। व्य >व्व; क्ष>क्ख : पेक्खामि>प्रेक्षामि; सक्खी >साक्षी। वर्त० कृ० प्रत्यय 'मान' मिलता है—मुञ्जमानो। गोभम् की समानता अर्धमागधी से है। र् > ल;-अः> ए। श् का प्रयोग नहीं है।

[१] यह विवरण डा० उदय नारायण तिवारी के आधार पर दिया गया है। हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ११०-१११।

आरेल स्टेन द्वारा शान-शान राज्य के खरोष्ठी में लिखे पत्र तीसरी शती के माने जाते हैं। इनकी भाषा उत्तर-पश्चिम की प्रतीत होती है। आस-पास की भाषाओं का प्रभाव भी इस पर पड़ा है। साहित्यिक भाषा होने के कारण तत्सम तथा अर्द्धतत्सम रूप भी प्राप्त होते हैं। पदान्त-य,-या,-ये > इ; ऋ > रिः क्रित > कृत। ए > इ : छित्र > क्षेत्र। स्वरमध्यवर्ती स्पर्श, उष्म एवं संघर्षी-व्यंजन > सघोष; कहीं कहीं लुप्त भी और उस स्थान पर 'अ' ह् का आगमन। य ध > यथा; पढम > प्रथम; गोयरि > गोचरे। कहीं कहीं सघोष व्यंजन > अघोष व्यंजन: विरकु > विरागः। तीनों ऊष्मध्वनियाँ श्, ष्, स् मिलती हैं। कहीं कहीं सघोष ऊष्म ध्वनि ज़ भी प्रयुक्त हैं। कहीं कहीं व् > म् नम > नावम्; चिमर > चीवर। पदान्त अः > ओ, डः पनितो > पण्डितः। कहीं कहीं अः > ए भी से > सः। र् और ल् वाले संयुक्त व्यंजन प्रायः सुरक्षित रहे। अनुनासिक व्यंजन + सघोष स्पर्श में सघोष स्पर्श व्यंजन अनुनासिक में तिरोभूत होगया है : भ न > भ द; खन्न < खन्द। क्ष > छ : भिक्षु > भिच्छु कहीं, क्ष सुरक्षित भी। श्च्, स्त्, स्प् सुरक्षित रहे। ष्ट > ट, ठ : जेठ > ज्येष्ठ। ध > स्, ज। मसु > मधु।

कर्मकारक एक०-म् लुप्त है। कर्ता एक वचन का रूप भी कर्मकारक के रूप के समान होगया है। -त व्य प्रत्ययान्त एवं कुछ अन्य विशेषणों के कर्ता एक० में अस > ओ। कर्ता कर्म बहु०—ए प्रत्यय के युक्त। करण कारक एक वचन में 'एन' तथा बहु० में ऐहि (-एभि) अपादान एक वचन में अदे'-आदे तथा बहु० वच० में एहि प्रत्ययों का योग किया गया है। संबंध कारक एक वचन में—अस् (आस्य), बहुवचन में अन्। अधिकरण एक वचन में प्रायः अम्भि, परन्तु कहीं कहीं 'ए' का प्रयोग हुआ है और बहु० मे—एषु का। द्विवचन दो अपवादों को छोड़कर नहीं मिलता। सर्वनामों के ये रूप हैं : अहु (=अहम्) तुओ (=त्वम्) मंय (करण-संबंध) मम (कर्ता-संबंध) महि (मह-यम्) तहि (=तुभ्यम्) तुस्य (=तव, कर्ता में भी) अ (स्) मह्नु (=अस्माकं) तु (स) मह्नु (तुष्माकम्) ते (=तस्मिन्)। समापिका क्रियाओं में सामान्य वर्तमान एवं भविष्यति, अनुज्ञा, वर्त्तमान एवं भविष्यत् तथा वर्तमान (optative) के रूप मिलते हैं। —त्वा प्रत्यय के स्थान पर —त्वि : श्रुनिति (=श्रुत्वा)

३. २४. **साहित्यिक प्राकृतें उत्पत्ति**—'प्राकृत' शब्द के कई अर्थ किए गये हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न मौलिक तत्व ही प्राकृत हैं। भाषा के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग दो बातें प्रकट करता है : विस्तृत अर्थ में सामान्यजन की अकृत्रिम संस्कार रहित भाषा, तथा संकुचित अर्थ में 'संस्कृत' से इतर भाषाएँ। भरत ने नाट्य-शास्त्र में तत्सम, तद्भव तथा देशी, इन तीन प्रकार के शब्दों के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए संस्कार गुण वर्जित भाषाओं को प्राकृत कहा है—

"एतदेव विपर्यस्तं संस्कार गुण वर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृत पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥"

पर प्रायः संस्कृत के सभी वैयाकरण—हेमचन्द्र[1], मार्कण्डेय[2], षडभाषा चन्द्रिकाकार[3], तथा प्राकृत चद्रिकार[4]—प्राकृतों को संस्कृत से विकसित मानते हैं। वैयाकरण ही नहीं कुछ काव्य शास्त्रज्ञ भी यही बात कहते हैं।[5] अलंकार शास्त्रों के टीकाकारों ने भी तद्भव-तत्सम के तत् का सम्बन्ध जोड़ कर इसी मत का अनुसरण किया है।[6] 'पर प्रकृतिः संस्कृतः' सस्कृत वाली बात भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भ्रमपूर्ण और ऐतिहासिक दृष्टि से अप्रामाणिक है। प्रकृति का अर्थ सस्कृत किसी कोष-ग्रन्थ में नहीं मिलता। लाक्षणिक अर्थ मुख्य अर्थ के बाधित होने पर ही लगाना चाहिए। इसलिए प्राकृत की व्युत्पत्ति > 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्' अथवा 'प्रकृतीना साधारण जनानामिदं प्राकृतम्, ठीक दीखती है - रुद्रट कृत काव्यालंकार के एक सूत्र (२, १२) की व्याख्या करते हुए नमिसाधु नामक जैन विद्वान ने लिखा है। (११ वीं शती): प्रकृति शब्द का अर्थ लोगों की व्याकरण आदि सस्कारों से रहित स्वाभाविक बोली है। इस 'वचन-व्यापार' मे उत्पन्न भाषा ही प्राकृत है। अथवा 'प्राक्—कृत' (पहले किया गया) से प्राकृत शब्द सिद्ध है। यह भाषा समस्त भाषाओं का मूल स्रोत है। जो हेमचन्द्र व्याकरण के क्षेत्र में प्राकृत को संस्कृत से उत्पन्न मानता है, वही काव्यानुशासन में कहता है, प्राकृत अकृत्रिम है, मधुर शब्दावली से युक्त है। वही समस्त भाषाओं में परिणत हुई है।[7] देशीनाममाला में भी वह जैन भाषा, अर्द्धमागधी, को समस्त भाषाओं का आदि स्रोत मानता है।[8] लौकिक संस्कृत से प्राकृतों का उतनी समानता नहीं जितनी वैदिक से।

आधुनिक विद्वानों में भी मतभेद है। काल्डवेल के अनुसार प्राकृतों का जन्म द्राविड़ तथा सिथियन भाषाओं से हुआ है।[9] संस्कृत में प्रयुक्त इन अनार्य भाषाओं की सूची भी इन्होंने दी है। पर इन शब्दों का प्रयोग साहित्यिक द्राविड़ भाषा में नहीं मिलता है। बीम्स ने इस मत का पूर्ण खंडन किया है उनके अनुसार यह मत भौगोलिक ऐतिहासिक, तथा भाषावैज्ञानिक दृष्टि से निर्मूल है।[10] वस्तुतः मध्य-कालीन और आर्य भाषाओं का विश्लेषणात्मक गठन की ओर अग्रसर होना एक

---

[1] प्रकृति : संस्कृतं तत्र भव तत् आगतं वा प्राकृतम्—। सिद्ध हेमचन्द्र ८।१।१

[2] प्रकृति : संस्कृतम् तत् भवं प्राकृतमुच्यते। प्राकृत सर्वस्व, पृ० १

[3] प्रकृते : संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता।

[4] प्रकृति : संस्कृत तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृनम्।

[5] प्रकृते : रागतं प्राकृतं संस्कृतम् दशरूपक, २।६४।

[6] प्रकृते : संस्कृतादागतं प्राकृतम्। वाग्भटालकार टीका २।२।

[7] काव्यानुशासन, श्लोक १

[8] देशी नाम माला श्लोक १

[9] कम्परेटिव ग्रामर आफ द्रविडियन लैंग्वेजेज, पृ० ३७

[10] कम्परेटिव ग्रामर आफ दि मार्डन इन्डियन लैंग्वेजेज़।

भाषावैज्ञानिक विकास-नियम का परिणाम है। वैसे बाहरी प्रभाव भी व्यक्त-अव्यक्त रूप में पड़ा हो सकता है। डा० सुनीति कुमार चटर्जी का मत कुछ इस प्रकार है द्राविड़ प्रभाव तो स्पष्ट दीखता है, किन्तु प्रत्यय तथा उपसर्गों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्राविड तत्व सीधे उधार नहीं लिए गए। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आर्य भाषाओं का गठन उनकी शैली पर हुआ।[1] बीम्स प्राकृतों की उत्पत्ति साहित्यिक संस्कृत से पृथक बोलचाल की संस्कृत से मानते हैं। ग्रियर्सन के अनुसार, वैदिक तथा संस्कृत 'आदि प्राकृतों (Primary Prakrits) से निर्गत हुई। पाणिनि-युग में साहित्यिक रूप में ये प्राकृते नहीं रहीं। इन्हीं प्राकृतों से आगे की साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ निकली······इन भाषाओं की मध्य स्थिति का प्रतिनिधित्व नाटकों की प्राकृत तथा जैन महाराष्ट्री करती हैं। इनकी अन्तिम स्थिति अपभ्रंश के द्वारा प्रकट होती है।[2] इसे सबसे यही निष्कर्ष अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि प्राकृत वैदिक या संस्कृत से नहीं निकली, वैदिक तथा संस्कृत के स्थिरीकरण के समय में जन भाषा की जो अन्तर्धारा प्रवाहित हो रही थी, वही कालान्तर में प्राकृतों के रूप में प्रकट हुई। बाहरी प्रभाव भी व्यक्त-अव्यक्त रूप से पड़ते रहे और संस्कृत का प्रभाव प्राकृतों पर और प्राकृतों का संस्कृत पर भी होता रहा।

३.२४.२ **प्राकृतों की संख्या : विस्तार : उत्कर्ष**—प्राकृतों के नामोल्लेख के संबंध में पहले विचार किया जा चुका है। (३.२) वस्तुतः देश-भेद से भाषा-विभाषाओं के रूपों में प्राकृतों की अनेक शाखाएँ होंगी, यह एक वैज्ञानिक सम्भावना है। भरत के द्वारा निर्दिष्ट सात प्राकृतों को यदि १६ महाजन पदों के अनुसार विभाजित करें तो समस्त भारत में विभिन्न प्राकृतों की स्थिति इस प्रकार कही जा सकती है: मागधी, अंग-मगध की, प्राच्या काशी कौशल की, दाक्षिणात्या दक्षिण की, अवन्तिजा अश्य-अवन्ती की तथा शूरसेनी मत्स्य शूरसेन की प्राकृतें थीं। वाह्लीका कुरु-पांचाल की मानी जानी चाहिए। इससे प्राकृतों के भौगोलिक विस्तार की सूचना मिलती है। परन्तु सभी शाखाओं में साहित्य-रचना नहीं हुई। अतः सभी सुरक्षित भी न रह सकीं। साहित्यिक प्राकृतें इस प्रकार हैं: पैशाची, मागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन शौरसैनी और अपभ्रंश।

प्राकृतों के विस्तार-क्षेत्र केवल भारत ही नहीं भारत से बाहर भी इनकी यात्रा हुई। दक्षिण में शातवाहन राजाओं की राजभाषा के रूप में यह प्रतिष्ठित रही। दक्षिण में सीलोन में बौद्ध-ब्राह्मणों के साथ पहुँची। दक्षिण पूर्व और पूर्व में ब्रह्मा, स्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, इन्डोनेशिया आदि द्वीपों में धार्मिक-सांस्कृतिक भाषा के रूप में ही नहीं राजभाषा के रूप में भी रही। मध्य-एशिया में निय नामक स्थान से प्राप्त प्राकृत-सामग्री उसकी वहाँ की स्थिति का प्रमाण है।

[1] दि ऑरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, भा० १, पृ० १७३
[2] लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इन्डिया, जिल्द १, पृ. १२७-२८

चीन, जापान, तिब्बत में भी बौद्धधर्म के साथ प्राकृत का विस्तार हुआ। एक प्रकार से संस्कृत के विकास-विस्तार में भी प्राकृत सहायक रहीं: जहाँ-जहाँ प्राकृत पहुँची वहाँ कभी-न-कभी संस्कृत भी मान्य हुई। इस प्रकार प्राकृत का विस्तार-क्षेत्र बहुत व्यापक रहा।

जैसा पहले देखा जा चुका है, प्राकृतों का विकास लोक-प्रचलित बोलियों से ही हुआ। पर साहित्यिक माध्यम बनने पर इनमें भी रूढ़ि-प्रियता आने लगी और संस्कृत भाषा-रूपों और काव्य-शास्त्र से अधिकाधिक प्रभावित होने लगी। यहाँ तक कि ये संस्कृत से अद्भुत-सी दीखने लगी। साहित्यिक माध्यम के रूप में लोकप्रिय होने पर प्राकृत के व्याकरण लिखे गये। आज प्राकृत के छः मुख्य व्याकरण उपलब्ध हैं, वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश', और हेमचन्द्र का हेम व्याकरण इसमे सबसे प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्र ने 'देशी नाम माला' नामक एक कोष-ग्रन्थ लिखा और एक अपभ्रंश का भी व्याकरण लिखा। त्रिविक्रम की 'प्राकृत-सूत्र-वृत्ति', तथा चन्द की 'षड्भाषा चन्द्रिका' भी प्रमुख व्याकरण रचनाएं हैं। प्राकृत-सामग्री दो रूपों में प्राप्त होती है। स्वतन्त्र रचनाओं के रूप में तथा नाटकों में कुछ पात्रों के कथोपकथन की भाषा के रूप में।

भरत के नाट्य सूत्र, विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण, तथा नाटक लक्षण कोष-कार (१३ वीं शती के लगभग) ने संस्कृत के नाटकों में प्राकृत-प्रयोग के सम्बन्ध में नियम-निर्देश दिये हैं। भरत ने महाराष्ट्री का कोई उल्लेख नहीं किया। सम्भवत: मृच्छकटिक के टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार महाराष्ट्री का प्रयोग काव्य-गीत साहित्य तक ही सीमित हो: महाराष्ट्र या दयस्तु काव्य एवं प्रयुज्यते। नाटक लक्षण-कारने भी महाराष्ट्री की चर्चा नहीं की। पर विश्वनाथ ने 'आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्री प्रयाजते[1], कहकर महाराष्ट्री को भी स्वीकृत किया है। इनके प्रयोक्ता वर्गों के निर्देशों से प्रकट होता है कि प्राकृतों का विस्तार समाज के सभी वर्गों में था। पर उच्च वर्गों के द्वारा शौरसेनी का प्रयोग ही होता था, शौरसेनी नाटकीय प्राकृतों में सबसे प्रमुख है। यदि इनके साथ विभाषाएँ और जोड़ दी जायें तो समाज के आर्य और आर्येतर वर्गों की भाषाओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व हो जाता है।

व्यापकता के साथ प्राकृतों की प्रतिष्ठा साहित्य के क्षेत्र में भी हुई। हाल ने प्राकृत काव्य को अमृतोपम कहा है और उसको न सुनने और पढ़ने वालों को एक प्रकार से धिक्कारा है।[2] वाक्पति राज ने प्राकृत की प्रबन्ध-सम्पत्ति की प्रशंसा की है।[3] आगे उसने लिखा है कि प्राकृत काव्य के पठन से भीतर और बाहर एक

[1] साहित्य दर्पण ६। १५९

[2] अमिअं पाउअ कव्वं पढिउं सोउं चजे ण आणंति।
कामस्स तत्त-तत्ति कणंति, ते कहण लज्जति ।। गाथासप्तशती १।२

[3] गउडवहो, ७२

अभूतपूर्व सुख व्याप्त हो जाता है जिससे दोनों आँखें एक ही साथ विकसित और मुद्रित होतीं हैं ।[१] राजशेखर ने 'कर्पूर मजरी' में संस्कृत को कर्कश और प्राकृत को सुकुमार बताते हुए उनमे वही भेद बताया है जो पुरुष और स्त्री में होता है ।[२] बाल-रामायण में संस्कृत-प्राकृत भाषाओं की तुलना करते हुए राजेश्वर ने लिखा है :. सस्कृत भाषा श्रवणीय है, प्राकृत-भाषा स्वभावत: मधुर, अपभ्रंशभव्य और पैशाची रससिक्त है ।[३] इस प्रकार संस्कृत के रहते हुए भी प्राकृत भाषा और उसका काव्य लोकप्रियता और उत्कर्ष प्राप्त कर रहे हैं । प्राकृतों का उत्कर्ष उसकी स्वाभाविकता, मधुरता और लोक में व्यापकता के कारण है ।

३.२४.३ **मुख्य प्राकृतों का सक्षिप्त परिचय**—मुख्य-मुख्य प्राकृतों की भौगोलिक स्थिति और साहित्य-सम्पत्ति तथा उसकी मुख्य विशेषताओं का स्वल्प परिचय अप्रासंगिक नहीं होगा ।

क—**पैशाची**—इस प्रकार के उदाहरण प्राकृत प्रकाश, प्राकृत व्याकरण, (हेमचन्द्र) षडभाषा चन्द्रिका, प्राकृत सर्वस्व, और सक्षिप्त सार आदि प्राकृत व्याकरणों में; कुमार पाल चरित, काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) मोहराज पराजय नाटक काव्यों में, तथा दो-एक षडभाषा स्तोतो मे मिलते हैं । वृहत्कथा लुप्त हो गई है, जो पैशाची का सबसे प्राचीन साहित्य था । भरत ने इसका उल्लेख नहीं किया । परिवर्ती रुद्रट (काव्यालंकार २/१२), केशवमिश्र (संस्कृत प्राकृतं चैव पैशाची मागधी, तथा—अलंकारशेखर, पृ०५) ने पैशाची का उल्लेख किया है । वाग्भट ने इस भाषा को 'भूत भाषित' कहा है ।[४] वाग्भट तथा केशवमिश्र ने क्रमशः भूत और पिशाच प्रभृति पात्रों के लिए और षडभाषा चन्द्रिकाकार ने राक्षस, पिशाच और नीच पात्रों के लिए इस भाषा के प्रयोग की बात कही है । मार्कण्डेय ने अपने प्राकृत सर्वस्व में ग्यारह प्रकार की पैशाची का उल्लेख किया है । बाद में त्रिविध पैशाची का उल्लेख किया है : 'कैकयं शौरसेनं च पांचाल मिति ।' एक प्रकार से समस्त भारत में पैशाची का क्षेत्र सिद्ध होता है । इतना विस्तृत क्षेत्र किसी घुमन्तु जाति का द्योतक है । ग्रियर्सन ने पैशाची का क्षेत्र उत्तर पश्चिम पंजाब तथा अफगानिस्तान का प्रदेश माना है । हार्नली ने अनार्य जातियों के द्वारा विकृत रूप में बोली जानी वाली आर्य भाषा ही पैशाची थी । पैशाची का क्षेत्र बहुत विस्तृत प्रतीत होता है ।

[१] हरिस-विसेसो वियसावओ य मउलावओ य अच्छीण ।
इह बहि-हुत्तो अंतो-मुहो य हिययस्स विप्फुरइ । वही ७४

[२] परुसो सक्कअ-बंधो पाउस-बंधोवि हुइ सुउ मारो
पुरिस-महिलाणं जेत्ति अमिहं तरं तेत्ति अभिमाणं । कर्पूरमंजरी, अंक १

[३] बाल रामायण १/११

[४] संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम् —वाग्भटालंकार २/१

वररुचि ने शौरसेनी प्राकृत को पैशाची का मूल कहा है।[1] मार्कण्डेय ने पैशाची को कैकय, शौरसेनी और पांचाली, इन तीन भेदों में विभक्त करके संस्कृत-शौरसेनी को कैकय पैशाची का और कैकय-पैशाची को शौरसेन पैशाची का मूल बताया है। पांचाल पैशाची के मूल का उल्लेख नहीं मिलता। इससे इस प्राकृत का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम और पश्चिम प्रदेशों से विशेष दीखता है।

पैशाची की प्रमुख विशेषताओं में मुख सघोष व्यंजनों के स्थान पर सवर्गीय अघोष व्यंजनों का प्रयोग बताया है : नगर > नकर। स्वर-मध्यग स्पर्श व्यंजनों का इसमें लोप नहीं होता था। ल > ल : शील > सील ; दृ > ति : यादृश > यातिस।

ख—शौरसेनी—इसका केन्द्र शूरसेन प्रदेश माना जाता है। मध्यदेश की भाषा होने के कारण संस्कृत के अधिक समीप है। पालि और शौरसेनी में ध्वनि-विकास की अनेक स्थितियाँ समान हैं। इससे पालि और शौरसेनी के एकदेशीय होने की बात सिद्ध होती है। शौरसेनी प्राकृत इस युग की सबसे प्रथम, अधिक उन्नत, लोकप्रिय और सस्कृत से प्रभावित भाषा थी। यही ब्रजभाषा तथा हिन्दी के क्षेत्र की प्राकृत थी। हिन्दी क्षेत्र की अपभ्रंश तथा अन्य बोलियों का विकास इसी प्राकृत से हुआ है। अन्य नाटकों में तो इसका प्रयोग स्त्री, विदूषक, तथा परिचायक ही करते है, पर 'कर्पूर मंजरी' में राजा के द्वारा भी यह प्रयुक्त हुई है। पैशाची, मागधी आदि अनेक प्राकृतें इससे प्रभावित थीं। गंगा-यमुना की घाटी इस प्राकृत का प्रमुख विस्तार क्षेत्र था।[2] शौरसेनी प्राकृत का आधार महाराष्ट्री प्राकृत मानी गई है।[3] किन्तु अनेक आधुनिक विद्वानों ने महाराष्ट्री को शौरसेनी का परवर्ती रूप माना है। प्राकृत वैयाकरणों ने शौरसेनी की वे विशेषताएँ बताई हैं, जो महाराष्ट्री से भिन्न थीं।

वररुचि ने इसका आधार संस्कृत को माना है : प्रकृतिः संस्कृतम् (प्राकृत प्रकाश १२।२) स्वर मध्यवर्ती त, थ, > द, ध[4] : गच्छति; गच्छदि यथा > जधा। व्यापृत शब्द में त > ड।[5] पुत्र का त् भी कभी-कभी ड् : पुत्र : > प्रड्डो। ण्य, ज्ञ तथा न्य > ञ्ञ। कृत्वा > करिअ।[6] हेमचन्द्र ने भी शौरसेनी पर पर्याप्त विचार किया है। पैशाची अवन्ती, मागधी, टक्कदेशीय विभाषा को शौरसेनी से प्रभावित बताया गया है। इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत मध्य में स्थित होने के कारण पूर्व, पश्चिम दोनों ओर अपने प्रभाव का विस्तार करती रही।

---

१ प्रकृतिः शौरसेनी, प्राकृत प्रकाश १०/२

२ दिनेशचन्द्र सरकार, ग्रामर ऑफ दि प्राकृत लैंग्वेजज़, पृ० १०१

३ प्राकृत प्रकाश १।९१;

४ वही १२।३

५ वही १२/४;

६ वही १२।९

ग—महाराष्ट्री—शौरसेनी के साथ ही काव्य में प्रयुक्त महाराष्ट्री प्राकृत भी प्रमुख प्राकृत थी। सेतुबन्ध, गउड वहो, कुमारपाल चरित, आदि ग्रन्थों में इसके निदर्शक अंश प्राप्त होते हैं। वररुचि ने अपने प्राकृत प्रकाश (१२। ३२) में महाराष्ट्री का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने महाराष्ट्री नाम न देकर 'प्राकृत' नाम से ही इसमें लक्षण और उदाहरण बताये हैं। भरत ने इसका उल्लेख नहीं किया है। दन्डी ने इसकी उत्कृष्टता घोषित की है।[१] नाम से इसका विस्तार क्षेत्र महाराष्ट्र प्रदेश प्रतीत होता है। मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री का सम्बन्ध मराठा देश से न मानकर, मध्यदेश से माना है, और इसे शौरसेनी के विकास की दूसरी अवस्था माना है।[२] वररुचि के प्राकृत व्याकरण के आधार पर डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने भी इस मत की पुष्टि की है।[३] आज की मराठी भाषा महाराष्ट्री के इतने समीप नहीं, जितनी शौरसेनी के। अतः उक्तमत निराधार नहीं है। यदि इस मत को मान लिया जाय तो महाराष्ट्री प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश को जोड़ने वाली कड़ी बन जाती है। इस मतानुसार महाराष्ट्र=विशालराष्ट्र।

हेमचन्द्र ने 'प्राकृत' नाम से अभिहित महाराष्ट्री की प्रकृति संस्कृत ही मानी है। संक्षिप्त रूप से इसके मुख्य लक्षण भी देख लेने चाहिए। स्वरों का व्यत्यय इसकी एक विशेषता थी। ध्वनि > झुणि; शय्या > सेज्जा; पद्म > पोम्म; सदा > सइ। ऋ, ॠ, ऌ, ॡ स्वर लुप्त हो गये। ऋ > अ, आ, इ, उ, ए आदि तृण > तण; मृदुक > माउक्क; कृपा > किवा, मातृ > माइ, माउ, वृन्त > विट, वेंट। ऌ > इलि: क्लृप्त > किलित्त। ऐ का प्रयोग नहीं मिलता : ए, अइ प्रयुक्त। शैल > सेल, सैन्य > सइण्ण। औ > ओ, अउ या उ : कौमुदी कोमुई; कौरव>कउरव; गौड > गउड।

स्वर मध्यवर्ती क, ग, च, ज, द, त, य, व > अ; लोक > लोअ; नग > णअ; शची > सई; रजत > रअत; यती > जई; गदा > गआ; वियोग > विओअ, लावण्य > लाअण्ण। स्वर मध्य ग ख, घ, थ, ध, भ > ह: शाखा > साहा; नाथ > णाह आदि। स्वर मध्यम ट, ठ, ड, त > क्रमशः ड, ढ ल, ड: भट > भड; मठ > मढ, गरुड > गरुल, > तडाय > तलाइ; प्रतिभास > पडिहास, पताका > पडाआ। न > ण: कनक > कणअ, > नर > णर। स्वर मध्यग प > व: शपथ> सवह, रिपु > रिउ। स्वरमध्य। फ > भ, ह रेफ > रेभ, मुक्ताफल > मुत्ताहल। आदि य> ज। यम > जम। अनेक स्थानों पर र > ल : हरिद्रा हलिद्दा। श ष > स : शब्द>सद्द कहीं-कहीं श, ष, स छ। कहीं कहीं सस्वर व्यंजनों का लोप भी है : राजकुल > राउल।

---

१ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः — काव्यादर्श १। ३४

२ महाराष्ट्री, ए लेटरफेज ऑफ शौरसेनी, पृ — ८६

३ इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी, पृ० १६२।

संयुक्त व्यजनों में भी विकास की अनेक दिशाएं दीखती हैं। कहीं-कहीं स्वरभक्ति से विश्लेषण, कहीं समीकरण आदि नियम मिलते हैं। व्याकरण में लिंग-व्यत्यय मिलता है : संस्कृत पुंल्लिंग > महा० स्त्री पु० ; स्त्री० > पु० आदि। इस प्रकार महाराष्ट्री विकास की पर्याप्त आगे की स्थिति की द्योतक है।

घ—मागधी—इसके सबसे प्राचीन रूप उत्तर पूर्व के खालसी, मिरट-लौरिया आदि के शिलालेख, अश्वघोष के नाटकों के कुछ अंश भास, कालिदास के नाटकों के कुछ अंशों, में मिलते हैं। नाटकों में राजा के अन्तःपुर में रहने वाले, सुरंग खोदने वाले, कलवारं, अश्वपालक, आदि के पात्रों के लिए इसके प्रयोग का विधान मिलता है। विपत्ति-काल मे नायक भी इसका प्रयोग कर सकता है। राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण मगध से बाहर भी प्रचलित रही।

वररुचि ने शौरसेनी को इसका आधार माना है : प्रकृति : शौरसेनी।[1] मार्कण्डेय का भी यही मत है : मागधी शौरसेनीतः ।[2] मागधी के तीन प्रकार-भेद माने गये हैं : शाकारी, चाण्डाली, और शाबरी।

मागधी की सामान्य विशेषताएं इन प्रकार हैं। र > ल : नर > णल; स, ष > श; पर संयुक्त ष, स > स : शुष्क > शुस्क, बृहस्पति > बहस्पदि ; ट्ट, ष्ठ > स्ट : पट्ट > पस्ट, सुष्ठु > शुस्टु । स्थ, र्थ > स्त: उपस्थित > उवतिद ; सार्थ > शस्त । ज, द्य, य > य : जानाति > याणदि ; दुर्जन > दुय्यण ; मद्य > मय्य ; यम > यम। न्य, ण्य, ज्ञ > ञ्ञ। अनादि छ > श्च : गच्छ > गश्च, पिच्छिल > पिश्चिल । क्ष > स्क : राक्षस > लस्कश ; यक्ष > यस्क। कुछ विकास-नियम शौरसेनी के से हैं, और कुछ उससे भिन्न।

ङ—अर्द्धमागधी—जैनचार्यों के द्वारा इसे आदि प्राकृत और आर्षी नामों से पुकारा गया है। भारत की प्राकृत-सूची में भी इसकी गणना है। भरत के अनुसार राजपुत्र और श्रेष्ठियों के द्वारा नाटकों में इसका प्रयोग होना चाहिए। विश्वनाथ ने भी यही बात दुहराई है।[3] इसका विस्तार क्षेत्र काशी-कोसल प्रदेश था। जैन-धर्म के शास्त्रों की इसमें रचना हुई है। अश्वघोष के नाटकों में भी इसके उदाहरण मिलते हैं (शारिपुत्र प्रकरण)।

इसकी स्थिति शौरसेनी और मागधी के बीच में थी। अतः शौरसेनी और मागधी दोनों के प्रभावों से यह युक्त है। र, ल दोनों ध्वनियाँ इसमें मिलती हैं। प्रथम एक वचन एकारान्त और ओकारान्त दोनों रूप इस उभय-प्रभाव के द्योतक हैं। श, ष > स शौरसेनी से साम्य रखता है। स्वर मध्यग व्यंजन के स्थान पर य-श्रुति इसकी विशेषता है : सागर > सायर। दन्त्य स्पर्श व्यंजन > मूर्द्धन्य स्पर्श

[1] प्राकृत प्रकाश ११/२

[2] प्राकृत सर्वस्व, पृ. १०१

[3] चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी, साहित्य दर्पण ६/१६०

व्यंजन की प्रवृत्ति इसमें बहुत है। संस्कृत पूर्व-कालिक कृदन्त त्वा > त्ता ; त्य प्रत्यय > च्च।

जैनों द्वारा प्रयुक्त महाराष्ट्री और शौरसेनी पर अर्द्ध मागधी का गहरा प्रभाव था। इनको इसीलिए जैन महाराष्ट्र और जैन शौरसेनी कहा जाता है।

३.३ भाषा-विकास के प्राकृत-स्थिति की सामान्य विशेषताएँ—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की आकृति संश्लेषणात्मक ही रही, फिर भी सरलीकरण की प्रवृत्ति सबल थी। अनेक ध्वन्यात्मक विकास हुए। प्रातिपदिकों और धातु-रूपों में कमी हुई। सरलीकरण-समीकरण पश्चिमी बोलियों की अपेक्षा पूर्वी बोलियों में अधिक और शीघ्रतर हुआ है। पश्चिमी क्षेत्र की बोलियाँ संस्कृत के अधिक समीप और उससे प्रभावित बनी रहीं। अतः परिवर्तन की गति मन्द रही। पूर्व संस्कृत के क्षेत्र से दूर पड़ गया, आर्य-तत्व भी उधर सबल नहीं रहे, उसी क्षेत्र में आर्यों के प्रति प्रतिक्रियाएँ भी होती रहीं। अतः उधर की जनता शुद्धताभिमानी कम रही। ब्राह्मण-ग्रंथों के 'उदीच्यों' (पश्चिम) की भाषा को उत्कृष्ट बनाया गया है।[1] प्राच्या बोलने वालों की भाषा और उनके आचार-व्यवहार की आलोचना की गई। सरल शब्दों को भी कठिन समझते हैं। अदीक्षित होते हुए भी दीक्षितों की वाणी का प्रयोग करते हैं।[2] मध्य देश की भाषा दोनों के मध्य में स्थित थी। उदीच्या और प्राच्या के कुछ अन्तर स्पष्ट रहे। उदीच्या में र् तथा प्राच्या में उसके स्थान पर ल् का प्रयोग होता था : राजा=लाजा। सामान्यतः इस प्राकृतों के विकास-क्रम को नीचे स्पष्ट किया गया है।

३.३.१. ध्वन्यात्मक विकास—संस्कृत में प्राप्त कुछ ध्वनियों का लोप हो गया। स्थिति के अनुसार कुछ ध्वनियों में विकास भी हुआ। संयुक्त व्यंजनों के सम्बन्ध में समीकरण आदि की प्रवृत्ति भी मिलती है। इन पर क्रमशः नीचे विचार किया गया है।

३.३१.२. पालि और प्राकृतों में लोप की प्रक्रिया समान रही। ऋ, तथा ॠ, ऌ ध्वनियों का लोप हो गया। व्यंजनों में श, ष, के स्थान पर केवल स प्रयुक्त होने लगा। पूर्वी प्राकृतों में स, ष > श की प्रवृत्ति मिलती है। प्राचीन आर्य भाषा का संगीतात्मक स्वराघात के स्थान पर बलात्मक स्वराघात (Stress accent) स्थान पाने लगा। इसके कारण स्वरों के ह्रस्वीकरण या लोप की प्रवृत्ति सबल हुई।

३.३१.२. **ध्वनि-विकास**—स्वर और व्यजन दोनों में ही विकास हुआ। साथ ही संयुक्त और असंयुक्त स्वर और व्यंजनों की विकास की दिशाएँ अलग-अलग रहीं।

---

[1] तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते। उदञ्च उ एवं यन्ति वाचं शिक्षितुम्, यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूवन्त इति—शांखायन-कौषीत की ७.६।

[2] अदुरुक्त वाक्य दुरुक्तमाहुः। अदीक्षिता दीक्षित वाचं वदन्ति-ताण्डय-पंचविंश ब्राह्मण।

क-स्वर-विकास—सबसे अधिक विकास ऋ में दीखता है। कभी उसका व्यंजनांश और कभी स्वरांश विकसित हुआ है। प्राकृतों में ऋ > रि, रु की एक प्रवृत्ति मिलती है। सदृश > सरिस; वृक्ष > रुक्ख। ऋ > अ, इ, उ मिलता है : कृत > शौ० कद। शिलालेखी प्राकृतों में आरंभिक ऋ > अ ही मिलता है। कुछ असंयुक्त स्वरों का विकास मृदुलीकरण की प्रवृत्ति के कारण हुआ। संयुक्त व्यंजनों से पूर्व इ, उ > ए, ओ, कभी कभी इ, उ > अ। समान स्वरों का विषमीकरण भी मिलता है : शिथिल > सढिल।

ख-अर्द्धस्वर—अर्द्ध स्वर य, व का भी विकास हुआ। कुछ शिलालेखों में य सुरक्षित भी मिलता है। पर इसका विकास य > ज, इ या अन्य स्वर की दिशा में मिलता है : यक्ष > जक्ख, संयुक्त > सजुत्त। व के विकास की दो प्रवृत्तियाँ दीखती हैं : व > ब : वभ्रू > बभ्रू; व > प : विग्रह > पिग्ह; व > म : द्रविड़ > दमिल; व का लोप भी मिलता है : देव-आर्य > देअज्ज। कहीं कहीं व > उ या अन्य कोई स्वर—: जीव > जीअ। संयुक्त स्वर ऐ, औ : ए, ओ तैल > तेल; यौवन > जोव्वण। स्वर-व्यत्यय, मात्रा-परिवर्तन, स्वर-संकोच, नासिक्यीकरण आदि की प्रवृत्तियां भी मिलती है।

ग-व्यजन-विकास—प्राकृतों का वातावरण व्यंजनों के लिए उपयुक्त नहीं था। स्वरों की शक्ति बढ़ रही थी और व्यजनों की क्षीण हो रही थी। आरंभिक व्यंजन कुछ रूपों को छोड़कर सुरक्षित रहते थे। मध्य व्यंजन के सम्बन्ध में ये प्रवृत्तियाँ मिलती है : स्वर मध्यग अघोष > सघोष : शुक > सुग, यथा > जधा, ऋतु > उदु। कुछ स्वर मध्य क व्यंजनों का लोप भी होगया : क, ग, च, ज, त, द, प, ब, य, व > ० के उदाहरण मिलते हैं।[1] अघोष महाप्राण > सघोष महाप्राण या-ह- लघु > * लघु > लहु; रूधिर > रुहिर; कथा > कधा > कहा। कुछ अन्य परिवर्तन मिलते हैं : क > ह : चिकुर > चिहुर; त > ड : प्रति > पडि, त > ह: बसति > बसही। द > ल, र: प्रदीप्त पलित्त, गदगद गग्गर, प > व, म, ० : शाप > शावो। ड, ढ > ल, लह्। फ > भ : शफरी सभरी। अन्य व्यजनों > का प्राय: लोप ही हो जाता था। व्यंजन विपर्यय भी मिलता है।

सयुक्त व्यजनों में समीकरण की प्रवृत्ति मिलती है। पुरोगामी समीकरण के रूप ये हैं : स्पर्श+स्पर्श : सप्त > सत्त, शब्द > सद्द। ऊष्म+स्पर्श : निष्क > निक्ख, आश्चर्य > अच्छेर, आस्फोटयति आप्फोटेति, अन्तस्थ+स्पर्श : कर्क > कक्क, कर्षक > कस्सक। नासिक्य+नासिक्य : निम्न निन्न, र+ल, य, व : दुर्लभ > दुल्लभ आर्य > अय्य, अज्ज, सर्व > सब्ब। पश्चगामी समीकरण के रूप ये मिलते हैं : स्पर्श +नासिक्य : लग्न > लग्ग, > स्वप्न > सोप्प, > स्पर्श+र, ल : तक्र > तक्क, शुक्ल > सुक्क, स्पर्श+अन्तस्थ : शक्य > सक्क, उच्चते > वुच्चते। ऊष्म+अन्तस्थ,

[1] प्राकृत प्रकाश २।२, प्राकृत व्याकरण १।१७७

मिश्र > मिस्स, अश्व > अस्स, अनुनासिक + अन्तस्थ : रम्य > रम्म, बिल्व > बिल्ल । कुछ विशेष समीकरण के उदाहरण ये हैं : क्ष > क्ख, च्छ : भक्षिका > भक्खिआ, वृक्ष > वृच्छ ।

संक्षेप में इस युग की ध्वनि विकास की प्रवृत्तियाँ ये रहीं : कुछ स्वरों का विकास हुआ, बहुधा सुरक्षित रहे । आरंभिक व्यंजन प्राय: बने रहे । स्वर मध्यग व्यंजनों का बहुविध विकास हुआ । अन्त्य व्यंजन लुप्त हो गये । संयुक्त व्यंजनों का समीकरण होता रहा ।

पद विकास—पदान्त व्यंजनों के लोप के परिणाम स्वरूप व्यंजनान्त या हलन्त प्रातपदिक समाप्त होगये । अन्य प्रातपदिकों में अकारान्त वाले रूपों का ही प्राधान्य होगया । अन्य पद भी इन्हीं के रूपों में ढलने लगे । पालि में जो रूप अवशिष्ट थे, उनका भी विघटन होने लगा । लिंग के संबंध में पर्याप्त अनिश्चितता रही । लिंग-विपर्यय पर्याप्त मात्रा में मिलता है । द्विवचन का सर्वथा लोप होगया था । कारकों की संख्या भी कम होगई : सम्बन्ध और सम्प्रदान समान होगये । कर्ता और कर्म बहुवचन का कार्य एक ही रूप से लिया जाने लगा । धातु रूपों में आत्मनेपद के दो-एक रूप ही रह गये । कारक और क्रिया के सम्बन्ध के द्योतन के लिए संज्ञा-पद के साथ कारका व्यय और कृदन्त रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति चल पड़ी । रामायदत्तम रामाय कए (कृते) दत्तम, रामस्य गृहम् > रामस्य गृहम् रामस्स केरक (कार्यक) घरम् । कारकाव्यय आगे पर सर्ग के रूप में काम आने लगे ।

संस्कृत और प्राकृत—जिस युग में शास्त्रीय संस्कृत अपने चरम की ओर अग्रसर थी, उस युग में प्राकृतें भी साहित्यिक क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना रही थीं । सस्कृत अपनी उन्नत अवस्था को प्राय: उसी समय पहुँची, जब वह दैनिक व्यवहार की भाषा न रह कर साहित्य, संस्कृति, धर्म और शासन की भाषा रह गई थी । इस समय में दैनिक व्यवहार में प्राकृतों का प्रयोग था । प्राकृतों की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठा बद्ध और जैन धर्मों के उदय से आरम्भ हुई (५०० ई० पू० के लगभग) इन धर्मों के प्रवर्त्तकों और प्रचारकों ने अपने उपदेशों का माध्यम इन्हीं को (प्रारम्भ में मागधी को) बनाया । ३०० ई० पू० के लगभग अशोक ने संस्कृत की उपेक्षा करके अपने अभिलेख इन्हीं में उत्कीर्ण करवाए । मौर्य शासकों की राजभाषा के रूप में स्थान पाकर प्राकृतों ने अपनी जड़ें और गहरीं करलीं । मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् घटना-क्रम बदला । उसके पश्चात् सस्कृत पूर्ण रूप से साहित्य, संस्कृति और राज्य की भाषा के रूप में अधिष्ठित हो गई । ईसा की शतियों म संस्कृत अभिलेखों की भी भाषा बनने लगी : रुद्रदामन (१५० ई०) का सस्कृत अभिलेख सस्कृत की विजय का प्रतीक है । दक्षिण में ४ थी ५वीं शती ई० तक प्राकृत बनी रही । इस प्रकार गुप्त युग से लेकर मुसलमानों के आक्रमणों तक संस्कृत, चाहे अशुद्ध रूप में ही क्यों न हो, राज्य करती रही ।

आरम्भिक बौद्ध अभिलेख केवल 'प्राकृत' में ही मिलते हैं । ईसा की प्रथम

शताब्दी के लगभग उत्तर के बौद्धों ने प्राकृत के स्थान पर संस्कृत का प्रयोग करना आरम्भ किया। अश्वघोष (१०० ई०) विशुद्ध संस्कृत का विशेषज्ञ था। उसके द्वारा संस्कृत का ग्रहण संस्कृत की तत्कालीन प्रधानता को ही द्योतित करता है। दक्षिण और सीलोन के थेरवादी बौद्ध प्राकृत को ही अपनाए रहे। वे पालि के ही भक्त बने रहे।

जैनों ने कुछ देर से संस्कृत को अपनाया। श्वेताम्बर रूप को जैन धर्म ने वलभी के अधिवेशन (५२६ ई०) में ग्रहण किया। उस समय तक प्राकृतों का ही प्रयोग पूर्ण रूप से जैन धर्म के साहित्य और प्रचार के लिए रहा। पीछे उनके द्वारा भी संस्कृत का प्रयोग होना आरम्भ हुआ। पर प्राकृतों को भी संरक्षण मिलता रहा। इस प्रकार धर्म और राजनैतिक क्षेत्र में संस्कृत की प्रधानता हुई। पर प्राकृत और संस्कृत में प्रतियोगिता चलती रही।

काव्य-साहित्य के क्षेत्रों में भी यह प्रतियोगिता दीखती है। शातवाहन राजाओं के संरक्षण में तथा उनके उत्तराधिकारियों द्वारा महाराष्ट्री के गीति-साहित्य को संरक्षण प्रोत्साहन मिलता रहा। हाल की 'सतसई' इसका प्रमाण है। पर प्राचीन काव्य का अधिकांश भाग संस्कृत में ही था। संस्कृत के रामायण और महाभारत की लोक-प्रियता आश्चर्यजनक रही। यह उस समय का साहित्य था जब प्राकृतों ने अभिलेखों के क्षेत्र से संस्कृत को निकाल दिया था। संस्कृत की प्रमुखता के दो कारण हो सकते हैं : मौर्य साम्राज्य से पश्चात् पुष्यमित्र (१८८ ई० पू०) के विद्रोह के पश्चात् ब्राह्मण धर्म की बौद्ध-जैन धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रबल हो उठी। साथ ही प्राकृतों की बहुरूपता तथा अनेकता के युग में संस्कृत समस्त भारत की एक सामान्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। अशोक के शिलालेखों का भाषा-वैविध्य भाषा गत अनेकता सिद्ध करता है। इसलिए भारत की एकता के लिए संस्कृत आवश्यक हो गई। साथ ही साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठत हो जाने पर प्राकृतें भी उतनी ही रूढ़ हो जाती थीं, जितनी कि संस्कृत, इस प्रकार संस्कृत ही उस युग में राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो सकती थी।

संस्कृत और प्राकृतों का सम्बन्ध संस्कृत नाटकों से स्पष्ट है। कुछ पात्र उनमें प्राकृत बोलने के ही अधिकारी हैं। संस्कृत वस्तुतः अत्यन्त सुसंस्कृत उच्च वर्गों की ही भाषा रह गई थी और सामान्य जन लोक-भाषा संस्कृत का ही प्रयोग करता था। स्त्री, (कुछ अपवादों को छोड़ कर) बच्चे, तथा निम्नवर्गीय नाटक-पात्र प्राकृत ही बोलते हैं। साहूकार, सेठ, व्यापारी भी प्राकृत का ही प्रयोग करते हैं। विदूषक जो संस्कृत से अनभिज्ञ ब्राह्मण पात्र होता था, भी प्राकृत ही बोलता है। इससे यह प्रकट होता है कि इस वर्ग के भी सभी लोग संस्कृत नहीं बोलते थे। इस प्रकार व्यवहार के क्षेत्र में प्राकृत का प्रयोग अधिक से अधिकतर होता जाता था।

४

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा (१) अपभ्रंश

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं की अन्तिम कड़ी अपभ्रंश का अनेक दृष्टियों से महत्व है। भाषा-गठन की जो प्रवृत्तियाँ इसमें विकसित हुईं, उनमें एक ओर प्राकृतों की प्रवृत्तियों के विकास के स्तर दृष्टव्य हैं, और दूसरी ओर वे बीज भी हैं जो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के रूप में विकसित हुए। भौगोलिक दृष्टि से यह भारत के अधिकांश भागों में प्रचलित थी और जन-जीवन के अधिक निकट थी। भरत मुनि के उल्लेखों के अनुसार सिन्धु-सौवीर से लेकर गुजरात तक एक बोली व्याप्त थी। संस्कृत और प्राकृत समस्त देश में व्याप्त थीं, यद्यपि उनके बोली-गत भेद प्राप्त होते थे।[1] अपनी साज सज्जा में प्राकृत ने संस्कृत के उपकरणों अधिकाधिक अपनाना आरम्भ कर दिया था। इसी कारण से वैय्याकरणों प्राकृत की मूल प्रकृति संस्कृत को ही निर्दिष्ट किया। संस्कृतेतर सभी भाषाओं को देशी-'भाषा' के अन्तर्गत रखा जाता था। साहित्यिक रूप में जो भाषा संस्कृत के प्रभाव से युक्त होने के कारण इतनी कृत्रिम लगती थी कि उसकी 'प्रकृति' संस्कृत कह दी जाती थी, अपने मूल रूप में वह जनभाषा भी थी। "यह जनता के द्वारा बोली गयी किसी भाषा के आधार पर बनी थी और राजनीतिक या धार्मिक इतिहास की परम्परा के कारण यह भारत की सामान्य साहित्यिक भाषा बन गई। भेद इतना है कि यह पूर्णतया असम्भव है कि सब प्राकृत भाषाओं को संस्कृत की भाँति एक मूल भाषा तक पहुँचाया जाय। केवल संस्कृत को ही इसका मूल समझना, जैसाकि होएफर, लास्सन, भंडारकर, याकोबी आदि कई विद्वान समझते हैं, भ्रमपूर्ण है। वैदिक व्याकरण और शब्दों से सभी प्राकृत भाषाओं का नाना स्थलों में साम्य है, जो बातें संस्कृत में नहीं पाई जातीं।[2]" इस प्रकार मध्यकालीन भाषाओं के विद्यार्थियों को इस भ्रम से बचना चाहिए। किसी भी भाषा से किसी स्वतंत्र भाषा का जन्म नहीं होता। सामान्य रूप से अपभ्रंश का संबंध मध्यकालीन इतिहास से माना जाता

---

१. संस्कार पाठ्य संयुक्ता सम्यङ्‌ न्याय्य प्रतिष्ठितः।
द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृताः॥ नाट्य शास्त्र, १७/२८

२. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण : मूल-रिचर्ड पिशल, अनु०-डा० हेमचन्द्र जोशी, पृ० ८

है। पर अपभ्रंश का स्त्रोत और तत्संबंधी उल्लेख बहुत प्राचीन है। भरतमुनि ने 'उकार बहुला' देशी भाषा अपभ्रंश का उल्लेख किया है। 'डार बहुला' प्रवृत्ति सिंधी, गुजराती, राजस्थानी, तथा ब्रजभाषा में भी मिलती है। दक्षिण में तमिल, तेलुगु, मलयालम, और कन्नड़ में भी इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। अपभ्रंश की यह प्रमुख विशेषता मानी जाती है।)

(परम्परा की दृष्टि से अपभ्रंश आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को प्राचीन आर्य भाषाओं से जोड़ती है। प्राकृत भाषाओं से अपभ्रंश भिन्न है। अपभ्रंश लोक के अधिक समीप रही और ढाँचे तथा गठन में भी प्राकृतों के अपेक्षा यह काफी आगे की विकास-स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है। यदि इसका किसी जाति विशेष से सम्बन्ध जोड़ा जाय तो, यह आभीरों से विशेष रूप से सम्बद्ध थी।) भामह ने 'आभीरादि वचन' कह कर इस सम्बन्ध की सूचना दी है। नाट्य शास्त्र से भी यह सूचना मिलती है।[१] प्राकृत व्याकरण में भी 'आभीरी' का उल्लेख मिलता है। आभीर-प्रदेश की निश्चित स्थिति अज्ञात ही है। पर यह मध्य देश के पश्चिम या उत्तर पश्चिम में स्थित होगा, यह अनुमान किया जाता है।[२] (मध्यदेश की भाषा का आभीरों द्वारा जो रूप प्रस्तुत हुआ था, सम्भवतः उसमें अपभ्रंश के बीज हैं। इतना निश्चित है कि आभीर जाति ने भारत की प्रत्येक दशा में अपना अभियान किया था।)

देशी भाषा के उल्लेख भी बहुत प्राचीन काल से मिलते आते हैं। नाट्य-शास्त्र में 'देशी भाषा' का विशेष उल्लेख मिलता है।[३] अपभ्रंश के कवियों ने भी इसे देश भाषा के नाम से पुकारा है। स्वयम्भू, पद्मदेव, लक्ष्मणसेन, पादलिप्त, उद्योतन और कोअहल जैसे कवियों ने अपनी भाषा को देशी कहा है।[४] विद्यापति ने 'देसिलवअना' लिखकर इसी परम्परा का पालन किया है। प्राकृत वैयाकरणों ने शब्दों के त्रिविध वर्गीकरण में 'देशी' को रखा है। मार्कण्डेय ने देशी भाषाओं को असीम कहा है।[५] देशी भाषाओं में अपभ्रंश सम्पृक्त थी। (अपभ्रंश भाषा की विभिन्न धाराओं से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ है। "उदाहरण के लिए : महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी और कोङ्कणी; मागधी अपभ्रंश की पूर्वी

१. नाट्य शास्त्र १७/६२

२. आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यद अपभ्रंश तयोदितम्॥ काव्यालंकार १/३६

३. १७/४६

४. मार्कण्डेय ने 'आभीरो मध्यदेशीयाः सूक्ष्मभेदा व्यवस्थिता।' वह है (प्राकृत सर्वस्व प्रथम अध्याय)

५. १७/२६ : अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषा निकल्पनम्।
भाषा चतुर्विद्या ज्ञेया दशरूपे प्रयोगतः॥

शाखाओं से बंगला, उड़िया, और असमी, तथा पश्चिमी शाखा से मैथिली, मगही, और भोजपुरी; अर्धमागधी अपभ्रंश से हिन्दी की पूर्वी भाषाएँ अवधी, बघेली, और छत्तीसगढ़ी; शौरसेनी अपभ्रंश से बुन्देली, कन्नौजी, ब्रज, बाँगरू और खड़ी बोली; नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, मालवी, मेवाती, मारवाड़ी, जयपुरी और गुजराती; टाक्की अपभ्रंश से लहँदा, और पंजाबी, एवं पैशाची से कश्मीरी और सिन्धी[९] ये प्रादेशिक रूप प्राचीन काल से मिलते थे। पर जब अन्तर विशेष आ गया तो आधुनिक रूप में नामकरण हो गया।

प्राकृत-परिवार की भाषाएँ संस्कृत से निःसृत नहीं कहीं जा सकतीं। ये वैदिक काल से चली आई हैं। धार्मिक रूप से कश्मीरी शैव सम्प्रदाय का प्राकृत को बल मिला था। वन्य जातियों से लेकर राजदरबारों तक इसका विस्तार था। संस्कृत नाटकों में इसको प्रश्रय मिला। यह एक प्रकार से इसकी विजय थी।

---

६. डा० हीरा लाल जैन, 'पाहुड़दोहा' की भूमिका,

७. देसिलवअना सब जन मिट्ठा
तै तैसन जम्पओ अवहट्ठा। कीर्तिलता।

८. देशभाषा विशेषेण तस्यान्तों नेहविद्यते। विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३/२/१०-११

९. देवेन्द्र कुमार जैन, हिन्दी पर अपभ्रंश का प्रभाव, 'हिन्दुस्तानी' भाग २३, अंक २, पृ० ५७

५

मध्य कालीन भारतीय आर्यभाषा-काल: (२) अपभ्रंश

४.० इतिहास की दृष्टि से मध्यकालीन आर्यभाषाओं का अन्तिम रूप अपभ्रंश है। इसकी स्थिति मध्यकालीन और आधुनिक आर्यभाषाओं के बीच में है। 'अपभ्रंश' शब्द का अर्थ-विकास हुआ है। इस अध्याय में अपभ्रंश के अर्थ, उसके विस्तार, प्रकार साहित्य और उसकी मुख्य विशेषताओं पर विचार किया गया है।

४.१. अपभ्रंश का अर्थ-विकास—पतंजलि ने संस्कृत के परिनिष्ठित रूप से स्खलित अथवा अनियमित रूपों को अपभ्रंश कहा है।[१] गो शब्द के जिन रूपों का उल्लेख अपभ्रंश कह कर किया गया है, वे प्राकृतों में भी प्राप्त होते हैं। प्राकृत वैयाकरण चन्ड[२] और हेमचन्द्र[३] ने इन रूपों को प्राकृत माना है। दंडी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि शास्त्र-ग्रन्थों में संस्कृत रूपों के भ्रष्ट रूपों को अपभ्रंश कहा जाता है।[४] भरत ने नाट्यशास्त्र में सबसे 'विभ्रष्ट' नाम से संस्कृत और देशी के अतिरिक्त एक भाषा का स्पष्ट उल्लेख किया है जो उकार बहुला थी।[५] और आभीर जाति के द्वारा बोली जाती थी (नाट्य० १७। ६१, ६२) कुछ अपभ्रंश पद्य भी इसमें उद्धृत हैं, जिनकी विशेषताएँ वैयाकरणों द्वारा वर्णित अपभ्रंश की विशेषताओं से मिलती हैं। भरत के अनुसार इस भाषा का सम्बन्ध घुमन्तु, पशुपालक असंस्कृत जन-समूह से था।

भामह (६ टीं शती) के समय तक अपभ्रंश काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई, इसको काव्य की भाषा और साहित्य के एक विशेष रूप की स्थिति प्राप्त हो गई।[६] दंडी के अनुसार आभीरों की भाषा में रचित काव्य अपभ्रंश है।[७] संस्कृत के

[१] एक स्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंश:। तद् यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी गोता, गोपो तालिके त्येवभादयोऽपभ्रंश:— १ महाभाष्य १। १।

[२] चन्ड, प्राकृत लक्षण २। १६

[३] प्राकृत व्याकरण ८। २। १७४

[४] काव्यादर्श, १। ३६

[५] भरत, नाटयशास्त्र, १७। ४७। ४८। ५५

[६] शब्दार्थौ सहितौ काव्यां गद्यं पद्यं च तद द्विधा।
संस्कृत प्राकृत चान्यपभ्रंश इति त्रिधा॥ काव्यालंकार, १ १६, २८

[७] अभीरादि गिर: काव्येष्वपभ्रंश इतिस्मृता:। शास्त्रेषु संस्कृतादन्य दपभ्रंशतयोदितम्। [काव्यादर्श १। ३६]

साथ अपभ्रंश को भी काव्य-क्षेत्र में स्थान प्राप्त हो गया। वलभी के धरसेन द्वितीय (काठियावाड़, ६०० ई०) को एक ताम्र-पत्र-लेख में अपभ्रंश काव्य में भी निष्णात बताया गया है। चन्ड ने अपने 'प्राकृत लक्षण' में अपभ्रंश को भाषा के रूप में ग्रहण किया है। रुद्रट (९ वीं शती) अपभ्रंश : शब्द को बहुभेद प्रादेशिक बोलियों के लिए प्रयोग करता है : षष्ठो भूरि-भेदो देश विशेषाद अपभ्रंश : राजशेखर (१० वी शती) संस्कृत-प्राकृत से भिन्न और प्रतिष्ठा में उनके समान अपभ्रंश काव्य की चर्चा करता है (काव्य भीमांसा, अध्याय ३, पृ० ६ अध्ययन ९ पृ० ४८, अध्याय १०, पृ० ५४—५)।

११ वीं शती का प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम अपभ्रंश को शिष्ट-भाषा के नाम से अभिहित करता है।[१] १२ वीं शती तक अपभ्रंश अपने चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी और आगे के भाषा-विकास के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार पहले अपभ्रंश संस्कृत के भ्रष्ट रूप के लिए प्रयुक्त होता था। पीछे 'विभ्रष्ट' के रूप मे यह आभीरों की बोली मानी गई। पीछे वह साहित्यिक क्षेत्र के अवहट्ट या अवहस नाम से प्रतिष्ठित हुई। ११ वीं शती में शिष्ट भाषा मानी गई। उच्चवर्गों और कवियों में इसे सम्मान प्राप्त हुआ। १२ वीं शती तक इसका स्वरूप वैयाकरणों द्वारा सुनिश्चित हो गया और शास्त्रीय भाषा बन गई।

४. २. **अपभ्रंश का विस्तार**—स्वाभाविक रूप से इतना तो माना जा सकता है कि देश-भेद से अनेक अपभ्रंश रूप देश में प्रचलित रहे होंगे। भरत की उकार-बहुला विभ्रष्ट भाषा आभीरों से सम्बद्ध थी। दन्डी ने भी उसे एक अपभ्रंश का रूप माना है।[२] इसके अधार पर डा० गुने ने अपभ्रंश को प्राकृत का भ्रष्ट रूप माना है जिसे विदेशी (आभीर) बोलते थे।[३] धनंजय,[४] नमिसाधु, हेमचन्द्र[५] ने भी आभीरों तथा उनकी भाषा का उल्लेख किया है। यह आभीर जाति अपने घुमन्तु स्वभाव और वीरता के कारण एक समय समस्त भारत में विस्तीर्ण थी। अतः अपभ्रंश के विस्तार में इसका पर्याप्त योग हो सकता है। स्वयंभू के हरिवंश पुराण, में ढक्क भाषा में विरचित एक कडवक मिलता है।[६] यह भाषा पंजाब के 'ढक्क' देश की प्रतीत होती है, क्योंकि इसमें मागधी के लक्षण दिखाई नहीं देते।[७]

१ प्राकृतानुशासन (१७ । ९१)
२ काव्यादर्श १/३६
३ इन्ट्रोडक्शन टू भविष्सयन्त कहा, पृ० ४१-६०
४ दशरूपक, २/४२
५ अभिधान चिंतामणि।
६ अपभ्रंश पाठावली (अहमदाबाद, १९३४) उद्धरण ४,११
७ हीरालाल, जैन, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५० (सं० २००२) अंक ३-४ पृ० १०३

ढक्की की एक धारा सिंध और दूसरी गुजरान की ओर प्रवाहित हुई। वहाँ अहमदाबाद के 'नगर' प्रदेश में प्रतिष्ठित होने के कारण उसका नाम 'नागरी' हुआ। सम्भवतः आभीरों के साथ वह गुजरात में आई। इसीसे नमिसाधु ने इसे ही आभीरी कहा होगा।[१] 'ब्राचड' ग्राम्य कहलाई। गुजरात से सिन्ध तक इनका मिश्रण उपनागर कहलाया। इस प्रकार अपभ्रंश का प्रवाह पश्चिम और उत्तर पश्चिम से आभीर जैसी जातियों के अभियान के साथ प्रवाहित हुआ और विभिन्न प्रदेशों में स्थानीय विभिन्नताओं को ग्रहण करता हुआ अपभ्रंश-प्रवाह आन्तरिक रूप से समान रहा। फिर यह अपने युग की एक महत्वपूर्ण साहित्यिक भाषा बनी। उत्तरी भारत के राजपूतों के दरबारों में तुर्कराज्य स्थापित होने से पूर्व उसका चलन था। यही वह भाषा थी जो बंगाल से महाराष्ट्र तक चलती थी। बंगाल तथा उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रदेशों के कवियों द्वारा यह ग्रहण की गई।[२] राहुल सांकृत्यायन ने इसकी पुष्टि करते हुए लिखा है : 'जहाँ सरहपा और शबरपा बिहार-बंगाल के निवासी थे, वहाँ अब्दुर्रहमान का जन्म मुलतान में हुआ था। स्वयंभू और कनकाभर शायद अवधी और बुन्देली क्षेत्र युक्त प्रान्त के थे, तो हेमचन्द और सोमप्रभ गुजरात के। और रसिक तथा आश्रयदाता होने के कारण मान्यखेट (मानखेट, निजामहैदराबाद) का भी इस साहित्यसृजन में हाथ रहा है। इस प्रकार हिमालय से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक ने इस साहित्य (अपभ्रंश) के निर्माण में हाथ बटाया है।[3] इस प्रकार साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का बहुत विस्तार था। प्राकृत चन्द्रिका' में दी हुई लम्बी अपभ्रंश सूची इसके बोलचाल के रूपों के विस्तार को सिद्ध करती है। इसमें समस्त भारत आ जाता है।

४·३ अपभ्रंशों के प्रकार : वर्गीकरण—वररुचि ने अपने प्राकृत प्रकाश में अपभ्रंश की चर्चा नहीं की। चंडकृत प्राकृत-लक्षण में इसकी चर्चा है। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश पर विस्तार से विचार किया है, पर इसके भेद प्रभेदों का उल्लेख नहीं किया। क्रमदीश्वर, मार्कण्डेय और रामतर्कवागीश ने अपभ्रंश के तीन भेद बताये, नागर, उपनागर, ब्राचड। शारदातनय (१३वीं शती) ने भी इस त्रिविध वर्गीकरण को दिया है : नागरक, ग्राम्य, उपनागरक।[४] इनके विकास का संक्षिप्त विवरण ऊपर (४·२) में दिया जा चुका है। हो सकता है साहित्य में प्रतिष्ठित उक्त अपभ्रंश भेदों ने वैयाकरणों का ध्यान आकर्षित किया हो। रुद्रट ने देश भेद से विविध अपभ्रंशों का उल्लेख किया है। प्राकृत चन्द्रिका में २७ अपभ्रंश भेदों का

१ वही।

२ डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, इन्डोएर्यन एण्ड हिन्दी, पृ० १६४

3 हिन्दी काव्यधारा, भूमिका, पृ० ५-६

४ एता नागरक ग्राम्योपनागरक भेदतः''' भाव प्रकाशन, गायकवाड़, ओरियंटल सिरीज़, संख्या ४५ ओरियंटल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा (१९३०) पृ० ३१०

उल्लेख हुआ है : ब्राचड, लाटी, वैदर्भी, नागरी, उपनागरी, बर्बरी, अवन्ती, पांचाली, टक्की मालवी (आवन्ती) कैकेयी, गौडी, औड्री (उड़िया) सैंहली, कौन्तली, पाण्डया, कालिंगी, प्राच्या, आभीरी, कार्णाटी, मध्यदेशी, गौर्जरी, टक्क, पाश्चात्या, द्राविड़ी, वैतालिकी तथा कांची ।[1] मार्कण्डेय ने इन सबके सामान्य लक्षण दिये हैं और अन्त में 'शेषा देश भाषा विभेदात्' कह कर सूची को पूर्ण नहीं माना है। इस प्रकार अनेक रूपों में अपभ्रंश विद्यमान थी । पीछे इनका समाहार नागर, ब्राचड, उपनागर में हो गया । नागरो ब्राचडश्चोपनागरश्चेति तेत्रयः ।[2] हेमचन्द्र ने अपभ्रंश सामान्य नाम से तथा मार्कंडेय ने नागर अपभ्रंश विशेष नाम से अपभ्रंशों के लक्षण प्रस्तुत किये हैं । वे राजस्थान या गुजरात की अपभ्रंशों से सम्बन्धित हैं। मार्कण्डेय ने ब्राचडापभ्रंश नाम से सिन्ध प्रदेशीय अपभ्रंश के लक्षण उदाहरण दिये हैं । उपनागर मिश्रित थी । अतः इसके कोई स्वतंत्र लक्षण नही मिलते । शौरसेनी के निदर्शन मध्यदेशी अपभ्रंश के साथ हैं । कुछ विद्वान प्रत्येक प्राकृत की एक अपभ्रंश की बात कहते हैं । पर व्याकरण के प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार का विभाजन उपलब्ध नहीं होता । संक्षेप में इसके विस्तार-क्षेत्र का विकास इस प्रकार दीखता है : भरत ने हिमवत्, सिन्धु, सौवीर (उत्तर पश्चिम) से इसके विस्तार क्षेत्र का निर्देश किया है ।[3] राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में मरुभूमि, टक्क, औभादानक की चर्चा की है ।[4] यहाँ की भाषा अपभ्रंश से मिलती-जुलती थी । इस प्रकार राजस्थान और पंजाब भी सम्मिलित कर लिए गये । पीछे मगध तक इसकी सीमाएँ हो गई होंगीं : आभीरी भाषा अपभ्रंशस्था कथिताक्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते (नमिसाधु) विभाषाओं के रूप में उसका विस्तार समस्त भारत में हो गया ।

४·४ अपभ्रंश साहित्य—तगारे ने अपभ्रंश-साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया है :[5] पश्चिमी अपभ्रंश साहित्य, दक्षिणी अपभ्रंश साहित्य और पूर्वी अपभ्रंश साहित्य । पश्चिमी अपभ्रंश का क्षेत्र और ग्रियर्सन द्वारा निर्दिष्ट शौरसेनी का क्षेत्र ही है । आज जिन प्रदेशों में गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी बोली जाती है, वही क्षेत्र पश्चिमी अपभ्रंश का था । पश्चिमी अपभ्रंश का साहित्य यह है—कालिदास के विक्रमोर्वशीय के पद्य, जो इन्दु का परमात्म प्रकाश और योगसार, देवसेन का सावयधम्म दोहा, रामसिंह का पाहुड दोहा, धनंजय के दशरूपक के कुछ पद्य, धनपाल की भविसदत्त कहा, भोज के सरस्वती कण्ठाभरण के कुछ पद्य, जिनदत्त की उपदेशतरंगिणी, लक्ष्मण गणिका सुपास णाहचरिअ । हरिभद्र का

---

१ बंगीय साहित्य परिषद पत्रिका ।

२ प्राकृत सर्वस्व, पृ० ३

३ हिमवत् सिन्धु सौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः नाट्य० १७।६२

४ सापभ्रंश प्रयोगाः सकल मरुभ्रवष्टक्कभादानकाश्च, अध्याय १०, पृ० ५१

५ हिस्टोरीकल ग्रामर आफ अपभ्रंश: ५०१५

सनत्कुमार चरित, हेमचन्द्र का सिद्धहेम, हरिवंशपुराण, सोमप्रभ कुमारपाल प्रतिबोध। इस सूची से यह स्पष्ट है कि संस्कृत के काव्यशास्त्री और अन्य उच्च-वर्गीय साहित्यिकों में शौरसेनी की बहुत प्रतिष्ठा थी। इस सूची में कालिदास के विक्रमोर्वशीय के पद्य संदिग्ध हैं।

दक्षिणी अपभ्रंश का साहित्य गुजरात में लिखा गया। अतः इसकी भाषा पर पश्चिमी अपभ्रंश का प्रभाव है। इसका साहित्य अल्प मात्रा में ही उपलब्ध है। पुष्पदन्त के महापुराण, नागकुमार चरित, और जसहर चरिउ, कनकाभर का करकण्ड चरित। पुष्पदन्त मान्यखेत का था।

पूर्वी अपभ्रंश भी मुख्य थी। इसका साहित्य यह है : काण्ह का दोहाकोष तथा सरह का दोहाकोष। काण्ह को कनिपा या कानुपा भी कहा जाता है। इस कोष में केवल ३२ दोहे हैं। वैसे विद्यापति की कीर्तिलता भी इसी भाग मे आती है। पर इस कृति को मभाआ और नभाआ के बीच के संक्रान्तिकाल से सम्बन्धित बताया जाता है।

साहित्य की इस सूची से प्रकट होता है कि पश्चिमी अपभ्रंश में साहित्य प्रचुर मात्रा मे लिखा गया। संस्कृत और शौरसेनी प्राकृत की भाँति शौरसेनी अपभ्रंश को भाषा के इतिहास में फिर महत्ता प्राप्त हुई। नागर अपभ्रंश को शिष्ट, बहुप्रचलित तथा महत्वपूर्ण अपभ्रंश माना गया। इस महत्ता के सम्बन्ध में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है[1] "लगभग ८०० ई० से शुरू होकर १२००-१३०० तक शौरसेनी अपभ्रंश भाषा, जो 'नागर अपभ्रंश' भी कहलाने लगी, उत्तर भारत में एक विराट साहित्यिक भाषा के रूप में बिराजती थी। संस्कृत के बाद इस शौरसेनी अपभ्रंश ही का स्थान उस समय था।.........चार-छह सौ वर्षों तक सिंध प्रदेश से पूर्वी बंगाल तक; कश्मीर, नेपाल, मिथिला से लेकर महाराष्ट्र और उड़ीसा तक तमाम आर्यावर्ती देश इस शौरसेनी या नागर अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का क्षेत्र बन गया था।.........यह सच है कि शौरसेनी अपभ्रंश उन दिनों की आन्तर-प्रादेशिक भाषा ही थी और आजकल की ब्रज भाषा, खड़ी, बोली आदि विभिन्न प्रकार की हिन्दी का उद्गम इस शौरसेनी अपभ्रंश से ही हुआ है।" अपभ्रंश काव्य भी श्रेष्ट समझा जाता था।[2]

४·५ मभाआ विकास क्रम की अपभ्रंश स्थिति की विशेषताएँ—इसमें प्राकृत और अपभ्रंश की सामान्य तुलना और अपभ्रंश की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

४·५·१ प्राकृत और अपभ्रंश—ऊपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक प्राकृत से एक-एक अपभ्रंश के उदय होने की बात अवैज्ञानिक और अप्रामाणिक है।

१ पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ७९ (ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा)

२ राजशेखर, बालरामायण, १।११।

प्रायः भाषा के उक्त सभी रूप एक साथ समाज के विभिन्न वर्गों में प्रचलित रहते थे और प्रधानता उच्चवर्ग की भाषा को मिलती थी और कालान्तर में जन भाषा इस पद पर आसीन हो जाती थी। अतः यह मानना भ्रम है कि प्राकृतों के पश्चात अपभ्रंश का 'उदय' हुआ। अपभ्रंश प्राकृत काल में भी चलती रही, और प्राकृतों के शास्त्रीय भाषा हो जाने पर अपभ्रंश की स्वाभाविकता, सरसता और कोमलता से आकर्षित होकर कवियों ने इसमें रचनाएं आरम्भ थीं।)

ध्वनि के क्षेत्र में अन्य प्राकृतों की अपेक्षा अपभ्रंश ने विशेष विकास नहीं किया। (भाषा अधिक विश्लेषणात्मक हो गई। व्याकरण के क्षेत्र में विकास द्रुतगति से और अधिक हुआ। शब्द रूपों मे सरलीकरण और अधिक दीखा। विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के कारण पर सर्गों का प्रयोग अधिक बढ़ गया। शब्द समूह भी अधिक समृद्ध हो गया। इस प्रकार प्राकृतों की आरभिक अवस्था में विकास की जो दिशाएँ निश्चित हो गई थीं उन दिशाओं में अपभ्रंश आगे बढ़ी और कुछ नवीन दिशाओं में भी प्रगति आरम्भ हुई।)

४·५·२ **अपभ्रंश की विशेषताएं**—इस शीर्षक के अन्तर्गत ध्वनिवैज्ञानिक और पद वैज्ञानिक विशेषताओं पर विचार किया गया है।

४·५२·१ **ध्वनिवैज्ञानिक विशेषताएं**—प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार अपभ्रंश की ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(क) **स्वर-परिवर्तन की अनियमितता**[१]—पर वस्तुतः प्राकृत के स्वर-परिवर्तन की दिशा में परिवर्तन नहीं हुआ। पर अपभ्रंश के स्वर-परिवर्तन में नभाआ के चिन्ह प्रकट होने लगते हैं। ये प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

(अ) अन्त्य स्वरों का ह्रास और लोप-सम्भवतः प्राभाआ में भी अन्त्य स्वरों का उच्चारण शिथिल था। मभाआ में अन्त्य व्यंजन लुप्त हो गये। अशोक के शिलालेखों में—आ >—अ की प्रवृत्ति मिलती है। हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। पिअ < प्रिया, परा इय < परकीया, चेय < चेयणा < चेतना। उपान्त्य स्वर अधिकांश सुरक्षित मिलता है। उपान्त्य स्वरों के कुछ परिवर्तन बलाघात के अभाव या समीकरण की प्रक्रिया के कारण होते हैं। आरम्भिक अक्षर भी सुरक्षित मिलता है। इसका कारण यह था प्राभाआ और प्रारम्भिक मभाआ में आरम्भिक अक्षर पर बलाघात रहता था।

(आ) प्राभाआ के स्वर मध्यग स्पर्श अल्पप्राण व्यंजन क, ग, च, ज, त, द, प सघोष होकर मभाआ में समाप्त हो गये। इससे उदवृत्त स्वर संपृक्त हुए। इससे या तो विवृत्ति (Hiatus) सुरक्षित रखी गई। या—य—,—ब—,—ह्—, या—र—को बीच में लाकर स्वरों की रक्षा की गई अथवा दोनों स्वरों को एक

१ पुरुषोत्तम, अज्झलड च बहुलम्—१७।१७

कर दिया गया : अ+इ > ए : जेहा । < जइसा < यादृश ; अ+उ > ओ : चोत्थी < चउत्थी < चतुर्थी ; चोद्दह < चउद्दह < चतुर्दश । आ+अ > आ : छाण < (छाअण) छादन । —अ+—आ > आ : पियारी < प्रियकारी । इस प्रवृत्ति में नभाआ के विकास का बीज मिलता है ।

(इ) **स्वरों का नासिक्यीकरण**—यह प्रवृत्ति उत्तर मभाआ काल में आने लगी थी । बंगाली और मराठी में इस प्रवृत्ति के चिन्ह आज भी मिलते हैं । नासिक्यीकरण कहीं स्वतः हो गया है और कहीं क्षतिपूरक । स्वतः नासिक्यीकरण की कुछ प्रवृत्ति पालि और प्राकृत में भी मिलती थी । पक्षी > पंखी, विध्यति > विन्धइ । नासिक्य व्यंजनों के लोप से स्वर का नासिक्यीकरण क्षतिपूरक रूप में हुआ है : हउँ < अहकम् । कहीं कहीं नासिक्य स्वर के अनासिक्यीकरण के उदाहरण भी मिलते हैं : सीह < सिंह । वीसा < विंशति ।

(ई) **मध्य स्वरागम**—के उदाहरण तद्भवों में मिलते हैं । विशेषतः—र—, —ल—से युक्त संयुक्त व्यंजनों में स्वरागम हो जाता है ✓ वरिस < ✓ वर्ष ; किलेस < क्लेष । कुछ उदाहरण आदि स्वरागम (Prothesis) के भी मिलते हैं : इत्तिय < स्त्री—क ।

(उ) **ऋ की सुरक्षा**—की बात भी प्राकृत वैयाकरणों ने कही है । पुरुषोत्तम प्राकृतानुशासन १७।१५) वस्तुतः यह केवल कुछ हस्तलिखित प्रतियों की विशेषता है । वस्तुतः इसका विकास प्रायः सभी स्वरों में हुआ ऋ > अ, इ, ई, उ, ऊ, ए, । ऋ > अ की प्रवृत्ति पश्चिमी तथा ऋ > ई पूर्वी, अपभ्रंश की विशेषता थी । —ऋ—>—अ—: कसण < कृष्ण ; ऋ—>—इ—: हिअअ < हृदय ; —ऋ—>—उ—: प्रहवि < पृथवी आदि ।

(ऊ) ह्रस्व एँ, ओं की स्थिति अपभ्रंश की एक विशेषता है । संयुक्त व्यंजनों से पूर्व आरभिक ए, ओ > एँ, औ या इ, उ : ✓ पेक्ख (Pekkha) या पिक्ख < ✓ प्रेक्ष पोत्थय (Patthhaya) < पुस्तक ।

(ख) **व्यंजन-विकास**—इस संबंध में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं :

(अ) प्राभाआ का अन्त्य व्यंजन प्राकृतों की भाँति अपभ्रंश में भी लुप्त हो गया ।

(आ) प्राभाआ का आरंभिक व्यंजन प्राकृतों की भांति अपभ्रंश में भी सुरक्षित रहा ।

(इ) स्वरमध्यग स्पर्श अघोष, अल्पप्राण व्यंजन > प्रा० सघोष > अप० ऊष्मवत् उच्चरित (Spirant) नभाआ में यह लुप्त हो गया : शुक > सुग > सुअ ; अपर > × अबर > अअर ।

स्वरमध्यग अघोष महाप्राण स्पर्श व्यंजन > सघोष महाप्राण या—ह— > अप० सघोष महाप्राण या—ह—।

प्राकृत वैयाकरणों ने इसी को स्वरमध्यग अघोष का नियम बताया है।

(ई) **स्वर मध्यग —म— > वँ**[1]—अपभ्रंश की एक विशेषता मानी गई। वैसे यह प्रवृत्ति कुछ प्राकृतों में भी पाई गई है। साहित्यिक अपभ्रंशों में —म्— सुरक्षित भी मिलता है। —म— > वँ ✓ व पश्चिम की विशेषता के रूप से पीछे विकसित हुई: पूर्व में —म— > —ब्। भावमि < भाम्यामि; जवला < यमलक कवँल < कमल।

(उ) **महाप्राणी करण**—कुछ प्रारंभिक और स्वर मध्यग व्यंजनों का महाप्राणी करण मिलता है। खिलिय < कीलित। कुछ उदाहरणों में ऋ, र या ऊष्म ध्वनियों के कारण महाप्राणीकरण हुआ है :— ✓ खेड्ड, खेल्ल ✓ खिल्ल < ✓ क्रीड—; फरसु < परशु।

स्वरमध्यग व्यजनों का महाप्राणी करण अत्यल्प है। धन्धा, धन्धी < द्वन्द्व (?) वढ < बट्ठ (?)

(ऊ) **अल्पप्राणी करण**—यह प्रवृत्ति सामान्यतः प्राभाआ, पालि, तथा प्रारंभिक प्राकृतों में भी मिलती है। अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति की गति नभाआ की अपेक्षा मन्दतर रही। अल्पप्राणी करण मुख्यतः अन्त्य महाप्राण व्यंजनों का हुआ। विसर्ग का लोप भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। सप्प < सर्पाः कहीं कहीं यह विषमीकरण या ह के विपर्यय (Metathesis) के कारण हुआ है: संकल < शृंखला, बहिणि—हि < भगिनी।

(ए) **मूर्द्धन्यीकरण**—कुछ ध्वन्यात्मक परिस्थितियों में दन्त्य स्पर्श व्यजनों का मूर्द्धन्यीकरण अपभ्रंश में हो जाता है। ऋ से पीछे त > ड कड > कृत; मट्टी < मृत्तिका। इस स्थिति में दन्त्य व्यंजन सुरक्षित भी मिलते हैं। र से पूर्व प्रयुक्त दन्त्य स्पर्श > मूर्द्धन्य: चाहे बीच में स्वर हो— पढम > प्रथम। कहीं कहीं दन्य सुरक्षित है। र्त > ट : वट्टइ > वर्तते। > दन्त्यों के पीछे र् आने पर भी मूर्द्धन्यी करण के उदाहरण मिलते हैं। स्वरमध्यग दन्त्य > मूर्द्धन्य: >पढु < पत—। इस प्रकार दन्त्य स्पर्शों के सुरक्षित रखने और उनके मूर्द्धन्नीकरण दोनों की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। पश्चिमी अपभ्रंशों में दन्त्यों को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति विशेष थी: इसके साथ ही न > ण, ल < ल की प्रवृत्ति भी मिलती है।

अन्य स्थानों पर अन्य व्यंजनों का विकास प्राकृतों के समान ही रहा।

(ऐ) **संयुक्त व्यंजन**—संयुक्त व्यंजनों के संबंध में भी अपभ्रंश प्राकृतों के समान ही रही। समीकरण के साथ पूर्व स्वर के क्षतिपूरक दीर्घी करण के साथ द्वित्व व्यंजन के सरलीकरण की प्रवृत्ति चलती रही। तासु > तस्स < तस्य। यह प्रवृत्ति आरंभिक प्राकृतों में भी मिलती है। क्ष > क्ख की प्रवृत्ति मुख्य है। पूर्वी और प्रथम पश्चिमी अपभ्रंशों में यही प्रवृत्ति थी। क्ष > च्छ पीछे

---

[1] हेमचन्द्र : सिद्ध हेम, ८।४।३९७

का विकास है : छार > क्षार : अच्छि < अक्षि यह प्रवृत्ति नवीन युग की प्रवृत्ति का बीज दीखता है ।

ल्ह, म्ह, न्ह, ण्ह, आदि व्यंजन उष्मों के साथ संयुक्त व्यंजनों से विकसित हुए : उल्हवइ < उल्लसति, तुम्हेंहि < X तुष्मे; ण्हणु < स्नान; उण्ह उ < उष्ण । इस प्रकार के महाप्राण व्यंजन हिन्दी के कुछ बोलियों में भी मिलते हैं ।

४.५२.२ **पद-रूप तात्विक विकास** (Morphological)—पद-रूपों की दृष्टि से अपभ्रंश प्राकृतों से कुछ पृथक् है । विघटन और एकीकरण की प्रवृत्तियाँ तीव्रतर हो गईं ।

(क) **प्रातपदिक**—प्राय: सभी प्रातपादिक एक रूप में ढल गये थे—अ अन्त वाला रूप ही सर्व प्रधान हो गया था । स्वरान्त प्रातपदिक ही मिलते हैं । सामान्यतः इनके अन्त में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आते हैं । णाह (नाथ) कीला (क्रीड़ा) लट्ठि (यष्टि), राणी (राज्ञी), महु (मधु), भू (भू) । इन सबका समाहार—अ,—इ,—उ में ही हो जाता है ।

(ख) **लिंग**—प्राकृत वैयाकरणों के सामने अपभ्रंश लिंग-विधान की समस्या रही । उनका विचार था कि इस सम्बन्ध मे निश्चित नियम नहीं बनाए जा सकते (पुरुषोत्तमक, प्राकृतानुशासन १७।२१) पश्चिम की अपेक्षा पूर्वी अपभ्रंश में लिंग व्यत्यय अधिक रहा ।—आ—ई—ऊ वाले प्रातपदिकों के सम्बन्ध में विशेप समस्या नहीं थी य तो स्त्रीलिंग ही होते हैं, चाहे प्राभाआ में उनका कोई लिंग रहा हो । इस प्रकार प्राभाआ नपुं० लिंग भी स्त्रीलिंए हो गये ।—अ,—इ,—उ वाले प्रातपदिक किसी भी लिंग में आ सकते थे । अतः इनके सम्बन्ध में जटिलता रही ।

(ग) **वचन**—मभाआ के आरम्भ में ही द्विवचन लुप्त हो गया था । यही स्थिति नभाआ में मिलती है । आदर सूचक एकवचन के लिए बहुवचन का प्रयोग पुरानी बात है ।

(घ) **कारक**—नभाआ में मूल और तिर्यक दो रूप ही प्राप्त होते हैं । अपभ्रंश में कर्ता, कर्म, तथा अपादान (Vocativce) एक रूप में ढल गये और मूलरूप (Direct case) के आधार बने ।)सम्प्रदान और सम्बन्ध (Dat and Gen) अपभ्रंश से पूर्व ही एक हो गये थे । अपभ्रंश में करण (Ablative) भी इनमें सम्मिलित हो गया । इस संयुक्त रूप के आधार पर नभाआ का तिर्यक (Oblique) रूप स्थिर हुआ । इस प्रकार कारकों की सख्या में कमी और रूपों में सरलीकरण की प्रवृत्ति रही ।

(ङ) **सर्वनाम**—प्राभाआ के सर्वनामों में बहुत ध्वन्यात्मक परिवर्तन हुए । एकीकरण, विघटन आदि की प्राकृतकालीन प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं । पुरुष-वाचक सर्वनाम के रूप इस प्रकार हैं ।

(अ) **उत्तमपुरुष**—(i) **एकवचन**—कर्त्ता, हउं, हुं, कर्म-मइं, मइ, करण

(Intrumental) अधिकरण-मइँ मइ, सम्प्रदान, सम्बन्ध, करण—मज्झु, महु—महुँ, मह, मज्झ भी।

(ii) **बहुवचन**—मूल-अम्हइँ, अम्हे, अम्हि; कर्तरि, अधि० अम्हइँ, अम्ह, सम्प्र०, सं० करण अम्ह हँ।

(आ) **मध्यम पुरुष**—(i) **एकवचन**—कर्ता तुहुँ, तुहं, कर्म पइं, तइ अधिकरण (Inst) पईं, तईं, सम्प्र०, अपादान (Abl) : तउ, तुज्झ तुध्र, तुह, तिम्ह, तुहुँ, तुम्हे।[1]

(ii) **बहुवचन**—कर्ता, कर्म तुम्हे, तुम्हाइं, तुम्भइं। कारण (Inst) तुम्हेहिं, तुम्हहिं, तुम्हाहिं। सम्प्र० (Abl), सम्बन्ध—तुम्हाहं, तुम्ह, तुम्हहिं। अधि० तुम्हासु, तुम्हसु।

(इ) **अन्यपुरुष**—(i) पुल्लिग, नपुं० लि० एक०—मूल-सो, सु, कर्म-तं, करण (Inst) तेण, तें, अपादान (Abl) तो, तहां। सम्प्र० सम्बन्ध-तमु, तासु, तस्सु, तहो। अधिकरण तहिं, तद्रु,

(ii) **स्त्रीलिंग एक०**—कर्ता-सा, कर्म-तं, करण-तए, अपा० सम्बन्ध-तहे, तासु।

(iii) **पु० नपुं० बहुवचन**—कर्ता-ते~ति, कर्म-ताइं-ते, करण-तेहिं, सम्प्र० अधि० तहँ, ताहँ, ताण।

(iv) **निकटवर्ती संकेत सूचक**—संकृत एतद तथा इदम् के रूप ही अपभ्रंश में विशेष प्रचलित रहे। इसके ये रूप प्रत्युक्त मिलते हैं : पुल्लिग एक एहो (हि-यह), बहुवचन ए इ (हि. य)। स्त्रीलिंग एक० एह, बहु० वच० एईउ, ए हाउ; नपुं० एक० एहु; बहु० एइइं, एईइं, एहाइं।

(v) **दूरवर्ती संकेत सूचक**—संस्कृत 'अ द स्' अपभ्रंश में 'ओ इ' के रूप में प्रयुक्त हुआ (हि० वह)

(vi) **संबंध वाचक**—सं० यद् > जे, जो रूप प्रयोग में आते रहे।

(vii) **प्रश्न वाचक**—सं. किम् के तीन रूप—क, कि क व ण। क व ण का प्रचलन अधिक मिलता है। इनमें वि अथवा पि < अपि का संयोग करके अनिश्चित वाचक रूप बनते हैं। केवि, कुवि आदि।

(viii) **निज वाचक**—संस्कृत में 'आत्मन्' का प्रयोग मिलता है। अपभ्रंश में इसके स्थान पर विकसित रूप एवं अप्प दो रूपों का प्रयोग मिलता है। (हिन्दी-आप)

(ix) **परिमाण वाचक**—वड्ड, --तुल, -त्तिय, -त्तिउ प्रत्ययों के योग से बनते हैं। जेवड्ड-जे-त्तुल, जेत्तिय-जित्तिउ (हि० जितना) इत्यादि रूप मिलते हैं। इ सो,

---

१ तगारे, हिस्टॉरीकलग्रामर ऑफ अपभ्रंश ५.२१२। आगे का विवरण भी इसी के आधार पर है।

-एहु के योग से गुणवाचक सर्वनाम सम्पन्न होते हैं: जइसो, जेहु (हि० जैसा) सम्बन्ध वाचक-रिस प्रत्यय से सम्पन्न होते हैं: तुम्हारिस, (तुम्हारा) हम्हारिस (हमारा)।

च-क्रिया-रूप (Conjugation) इस शीर्षक में धातु रूप प्रेरणार्थक सामान्य वर्तमान, आज्ञार्थक, भविष्य, भूत, विध्यर्थ, वर्तमानकालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, क्रियार्थक संज्ञा (infinitive) पूर्वकालिक क्रिया के रूप संक्षेप में दिए गए हैं।

(१) **धातु रूप**—एकीकरण और सरलीकरण की प्रक्रिया इस क्षेत्र में भी चलती रही। आत्मने-पद और परस्मैपद के भेद का विघटन आरम्भिक मभाआ में होने लगा था, अपभ्रंश में समाप्त हो गया। गण और तज्जन्य रूप-वैविध्य भी समाप्त हो गया: भ्वादि गण के रूपों में सभी धातुएँ ढलने लगी। प्राभाआ की व्यंजनान्त धातुएं अपभ्रंश में विकरण-स्वरान्त हो गयीं। अनुरणनात्मक धातुओं के प्रयोग में वृद्धि हुई।

प्राभाआ के वर्तमान और भूतकालिक कृदन्त पद्धति का अनुसरण अपभ्रंश धातुएँ करने लगीं। क्रिया-धातुओं के मुख्य स्रोत वर्तमान कर्तृवाच्य, वर्त० कर्मवाच्य, भूत-कर्मवाच्य कृदन्त, तथा अनुरणात्मक रूप हैं। उदाहरणतः पावइ *प्रापति=प्राप्नोति वर्तमान कर्तृ०) उपज्जइ (उत्-पद्-य-वर्त० कर्मवाच्य) मुक्कइ (*मुक्न=मुक्त भूत० कर्मवाच्य कृद०) तथा 'गुलगुलइ 'विघाड़ना'।

इस प्रकार संस्कृत के उपसर्ग और प्रत्ययों से मुक्त रूपों से भी अपभ्रंश की अनेक धातुएँ निःसृत हुईं।

(२) **प्रेरणार्थक रूप**—अव का योग करने के प्रेरणार्थक रूप बनते हैं। दावइ (दा) विण्णवइ (वि-ज्ञा) कभी-कभी स्वर की वृद्धि से ही काम चला लिया जाता है: मुख्यतः—अ—की वृद्धि और—इ—,—उ—का गुण इसको सम्पन्न करने के काम में लाई जाते हैं। उदाहरण: झंखाअइ (√झंख 'क्रोधित होना), भेसावइ (भी—)। कभी-कभी मूलधातु में—आव—का योग कर दिया जाता है: णच्चावइ (नृत्य=नृत्) कुछ मूलधातु रूप तथा प्रेरणार्थक रूप समान होते हैं: पावइ (×प्रापति=प्रापयति)। कुछ उदाहरण दुहरे प्रेरणार्थक भी मिलते हैं: काराविय (कर—) खावाविय (खाद्—) कुछ संस्कृत के समान रूप भी मिलते हैं। अप्पइ (अर्पयति)। इन रूपों में नभाआ से समानता मिलती है। हिन्दी में पकना: पकाना, सूखना: सुखना रूप मिलते हैं।

(३) **सामान्य वर्तमान**—इसके ये प्रत्यय मिलते हैं: उत्तम पु० एक०—मि,-आमि.—उं,—उः पावमि, करउं, मध्यम पुरुष एक०—हि,—सि: पावहि, करसि; अन्य पुरुष एक०—इ,—दि,—एदि,—एः मेल्लइ। उत्तम० बहु०—मु,—हुं,—मो,—मा: जाहुँ, विण्णविमो। मध्य० बहु०—हु,—ह,—इद्धाः करह, करहु। अन्य० बहु०—हिं,—न्ति—न्ते, इरेः बुज्झहिं, कीलन्ति।

(४) **आज्ञार्थक**—प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार कुछ आज्ञार्थक रूप प्राकृतों

से पृथक हैं। ये इस प्रकार हैं : उत्तम० बहु०—हुं, मध्यम० एक०—इ,—उ,—ए,—ह, अन्य० एक०—ऊ। अन्य प्राकृतों के समान हैं : उत्तम० एक० आमों, मध्यम० बहु०—अह,—अध एध,—अथ। इनमें वैविध्य भी मिलता है।

आज्ञार्थक के रूपों में विविधता मिलती है। प्राकृत ी के द्वारा दिये हुए कुछ प्रत्यय सामान्य वर्तमान के ही हैं। उनमें से कुछ तो मिलते ही नहीं हैं। —ज्ज—का योग—उ,—इ —हिइ, उँ,—उ—हु से पूर्व विशेष रूप से मिलता है। अन्य पु० एक० करिज्जउ, अन्य० बहु० करिज्जहुँ, मध्य० पु० एक० करिज्जहि-इ, मध्य० बहु० करिज्जहु, उत्तम० एक० करिज्जहु, उ० पु० बहु० किज्जउँ।

(५) भविष्य—इसके दो रूप मिलते हैं—स—वाले रूप तथा—ह वाले रूप।

(i) स वाले रूप इस प्रकार हैं :

एक० वच० उत्तम०—एसमि, समि-इसु,-एसु-सु। हसमि, पाविसु
मध्यम०—एसहि -सहि -ईसि,-इस्ससि। सहीसि, करीसि।
अन्य०—एसई,-सई, इसई,—करे सई।
बहु० वच० उत्तम०—एसहुँ,-इस्सहुँ,-इसहुँ। करेसहुँ
अन्य०—सहिं,-एसहिं,-इस्सहिं। होसहिं

(ii) ह वाले रूप इस प्रकार है—

एक० वच० उत्तम०—ईहिमि,-हिस्सु,-हु।
मध्य०—ईहिसि,-हि,-इहहि,-हिसि।
अन्य०—इहइ,-एहइ, इहिहइ।
बहु० वच० अन्य०—इहिन्ति, हिन्ति, इहइ। ये रूप केवल दक्षिणी अपभ्रंश में मिलता है।

—स,—ह के साथ वस्तुतः वर्तमान के प्रत्यय जोड़ कर ये रूप बनाए गये हैं।—स—ह का सम्बन्ध प्राभाआ—स्य (मध्य० भविष्य) से सम्बन्धित हैं। —ह—और—स वाले रूप नभाआ में प्राप्त होते है।

(६) भूतकाल—अपभ्रंश में कृदन्तों के साथ √अस्-या √भू की सहायता से बनते हैं। हरिवंश में[1]—ल प्रत्यय के भी उदाहरण हैं। पर यह बहु प्रचलित रूप नहीं था। नभाआ में-ल वाले रूप मिल जाते हैं।

(७) वर्त० कृदन्त—अपभ्रंश में —न्त वाले रूप ही कुछ अपवादों के साथ मिलते हैं स्त्री० अन्ति। इससे कुछ कम प्रचलित —माण (स्त्री० माणा,—माणी) वाले रूप है। ये दोनों रूप प्राकृतों में भी है। भमन्तु, जन्ती, लहंतो, आदि।

(८) भूत० कृदन्त—इअ, —इउ; —इय, —इयउ, —इअअ, —इअउ

१—हरिवंश, ८१/१०/६

भूतकालिक कर्म वाच्च कृदन्त के प्रत्यय हैं। इनका सम्बन्ध प्राभाआ —इ—त। इसके रूप हिन्दी आदि न भाआ में भी मिलते हैं। छड्डिअ, फुल्लिअ चल्लिउ। अत्यन्त अल्प संख्या में संस्कृत के अन्य रूपों में विकसित उदाहरण भी मिल जाते हैं।

(९) **क्रियार्थक संज्ञा** (Infinitive) अपभ्रंश में इसके दो प्रत्यय मिलते हैं: —अण, —अणु, —णहउँ, —अ ण हं, —हुँ, —एवि, —एप्पि आदि। सहण, करणहं, करेप्पि, करेवि आदि उदाहरण हैं। नभाआ में —न और —ब दोनों रूप प्राप्त होते हैं।

(१०) **पूर्वकालिक क्रिया**—इसके प्रत्ययों का विवरण प्राकृत वैयाकरणों ने दिया है। हेमचन्द्र ने ये प्रत्यय दिये हैं:[1] —इ, —एप्पि, —एप्पिणु, —एवि, —एविणु। देवि, करेविणु, मुएप्पिण आदि उदाहरण मिलते हैं।

छ—**क्रिया विशेषण**—अपभ्रंश के क्रिया विशेषण संज्ञाओं से (णिच्छउ < निश्चय) सर्वनामों से (किम्: कहीं, कहिं, कहि=कुत्र) यद्: जहिं, जहीं=यत्र) तथा क्रिया विशेषणों (इत्थ, इत्था=अत्र आदि) से विकसित हुए हैं। काल वाचक, स्थान वाचक तथा रीति वाचक क्रिया विशेषण अपभ्रंश में मिलते हैं।[2]

उक्त विवरण से ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं: अपभ्रंश पर कुछ संस्कृत का प्रभाव रहा। प्राकृतों से पर्याप्त समानता रही। पर उसमें नभाआ के विकास के बीज भी मिलते हैं। सरलीकरण और एकीकरण की प्रवृत्ति सक्रिय रही।

[1] हेमचन्द्र-सिद्धहेम, ८/४/४३९-४२
[2] दे० तगारे, हिस्टॉरीकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश पृ० १५३

६

नव्य भारतीय आर्य भाषा (नभाआ) काल

५.०. अपभ्रंश-भाषा स्थिति में ही नभाआ की प्रवृत्तियों के बीज जम गये थे। हेमचन्द्र ने लगभग १३ वीं शती में अपभ्रंश का व्याकरण लिखा। इस समय तक अपभ्रंश साहित्य-रूढ़ भाषा हो गई। पर अपभ्रंश में साहित्य-रचना बहुत समय तक होती रही। १२ वीं शती अपभ्रंश की अन्तिम अवधि मान लेनी चाहिये। बोलचाल की भाषा में परिवर्तन द्रुतगति से होने लगे। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में 'ग्राम्य' अपभ्रंश की चर्चा है। इससे प्रतीत होता है कि साहित्यिक रूप में रूढ़ अपभ्रंश के साथ ही साथ कथ्य अपभ्रंश का रूप भी चल रहा था। यही कथ्य अपभ्रंश नभाआ की विकास-स्थिति का द्योतक है। कुछ समय ऐसा भी रहा जिसमें अपभ्रंश चलती रही, पर नभाआ के लक्षण प्रमुख होने लगे। यह 'संक्रान्ति काल' है।

५.१. संक्राति काल—इस काल की सीमाएँ १२०० ई० से १४०० ई० तक मानी जा सकती है। इस काल का रूप अस्पष्ट है। कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं जो नवीनता की ओर उन्मुख दीखती हैं, पर साहित्यिक अपभ्रंश से रंजित और प्रभावित हैं। अनुमानतः इस काल की भाषा-स्थिति इस प्रकार की होगी : संस्कृत-प्राकृत यद्यपि जन-प्रवाह से विच्छन्न हो गई थी, फिर भी धार्मिक, सास्कृतिक और उच्च-वर्गीय साहित्यिक-बुद्धि विलास की भाषाएँ बनी रहीं। हर्ष का नैषध इसका प्रतीक है। शौरसेनी का साहित्यिक रूप जैन लेखकों का माध्यम बना हुआ था। शालिभद्र सूरि (११८४ ई०) तथा लक्खण (१२५७) की रचनाएँ इसकी द्योतक हैं। शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप 'अवहट्ठ' साहित्यिक क्षेत्र में बहुप्रचलित था। अवहट्ठ और राजस्थानी के किंचित मिश्रण से 'पिंगल' का रूप निश्चित हो रहा था, जो साहित्यिक कृत्रिम भाषा थी। पश्चिमी प्राचीन राजस्थानी और गुजराती के मिश्रण से भी एक साहित्यिक भाषा पनप रही थी, जिस पर शौरसेनी का प्रभाव था। तेस्सितोरी ने इसका व्याकरण लिखा है। इन साहित्यिक रूपों के अतिरिक्त दृश्य या कथ्य अपभ्रंशों से विकसित अनेक भाषाएँ जन-प्रचलित थीं।

५.१.१. संक्राति कालीन साहित्य—इस साहित्य को चार वर्गों में विभक्त करके देखा जा सकता है। वह साहित्य जिसमें उत्तर और पश्चिम की भाषा

प्रवृत्ति प्रतिबिम्बित है; दूसरा वह साहित्य जो कौसल-अवधी की प्रवृतियों से युक्त है; तीसरा वर्ग उन रचनाओं का है जो पूर्व में हुई और पूर्वी सीमाओं की विशेषताओं को लिए हुए हैं। चौथे वर्ग में दक्षिणात्य रचनाएँ आती हैं।

५.११.१ **उत्तर-पश्चिम**—इस वर्ग में 'संनेहय रासय' (संदेश रासक) : अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) : ११७५-१२२५ वि० की बीच; प्राकृत पैंगलम, जिसमें ६००-१४०० के बीच के पद्य संग्रहीत हैं तथा पुरातन प्रबन्ध-संग्रह मुख्य रूप से आते हैं। 'प्राकृत पैंगलम'[१] की भाषा नवीन विकसित, कृत्रिम, दरबारी भापा थी। यह भाषा अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परा में है। कुछ संक्रान्ति कालीन प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। व्यंजन-द्वित्वों को समाप्त करके पूर्व स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण की प्रवृत्ति अपभ्रंश में मिलती थी। प्राकृ पैं० में भी यह प्रवृत्ति है : कम्म > काम; सच्च > साच। अन्य विशेषताएँ ये हैं : अनुस्वारों का ह्रस्वीकरण – चँडेसर < चण्डेश्वर; संयुक्त = संजतु। स्वर मध्यम व्यजनों के लोप से उत्पन्न विवृत्ति को नभाआ में सह-स्वरों के संयुक्तीकरण, अथवा —य—, —व—, —ह—, श्रुति के द्वारा अलग किया जाता है। प्रा. पै. में भी यह प्रवृत्ति मिलती है : अ + उ = औ : आओ > आअउ > आगतः; अ + इ = ऐ : आवे < आवइ आयति; कहीं —य— > ज, : कहिज्जइ < कथ्यते। ब्रज भाषा की औकारान्त तथा खड़ी बोली की आकारान्त प्रवृत्तियाँ इसमें मिल जाती हैं : भमरो < भ्रमरः; वपुड़ा > वापुरा। सर्वनामों के रूप प्रायः नभाआ (ब्रज) से मिलते हैं। परसर्गों का प्रयोग सीमित है।

पुरातन प्रबन्ध संग्रह भी एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें प्राचीन अनुश्रुतियाँ संग्रहीत हैं। कुछ लोक-साहित्य के पद्यों का भी इसमें संग्रह है। इसमें अपभ्रंश की विशेषताएँ भी मिलती हैं और नवीन भी। पर भाषा में एकरूपता नहीं है।

'सन्नेहय रासक' एक महत्वपूर्ण कृति है। इसके लेखक ने कृति की भाषा को 'अवहट्ठ' कहा है।[२] हो सकता है अवहट्ठ शौरसेनी अपभ्रंश का किंचित विकसित रूप हो। लेखक ने यह भी माना है कि प्रस्तुत रचना सामान्य जन के लिए लिखी गई है। पर लेखक की भाषा साहित्यिक, परिनिष्ठित और प्राकृत प्रभावापन्न है। इसकी भाषा की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार व्यंजन द्वित्व-परब्बस < परवश; तम्माल < तमाल। यह प्रवृत्ति चारणशैली में प्रमुख थीं। स्वर संकोच : अ आ > आ: सुन्नार < सुन्नआर; अंधार < अंधआर < अंधाकार। अन्य रूप भी हैं। हेमचन्द्रीय अप० म > व : यह प्रवृत्ति इसमें भी मिलती हैं। व > उ की प्रवृत्ति भी—संताउ < संतावु < संताप। ल का महाप्राणी करण: मिल्हउ <

[१] इसका सम्पादन १९०२ ई० मे चन्द्र मोहन घोष ने किया था।

[२] वर्ण रत्नाकर (१३२५ ई०) तथा कीर्तिलता (१४०६ ई०) मे भी अवहट्ठ शब्द का ही प्रयोग है।

मेल्ल । द्वित्वव्यंजनों का सरलीकरण तथा पूर्व स्वरों का क्षतिपूरक दीर्घीकरण तो है ही । प्रातपदिकों के निर्माण में यर < कर प्रत्यय महत्वपूर्ण है : संजीवयर । अन्त्यस्वर के दीर्घ होने से चितेरा, लुटेरा जैसा रूप लेता है । अपभ्रंश की—उ विभक्ति से युक्त होकर ब्रजभाषा की भाँति ओकारान्त भी हो जाता है । चितेरो, लुटेरों आदि । निर्विभक्ति और विभक्ति व्यत्यच के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि इस क्षेत्र में सुनिश्चिलता नहीं थी ।—इ वाले पूर्वकालिक कृदन्त मिलते हैं: दहे विकरि (>ब्र दहिकैं) संयुक्त क्रिया के प्रयोग इसकी भाषा अपभ्रंश में आगे बड़ी हुई है । क्रियार्थक मंज्ञा के-ण प्रत्यय से युक्त रूप में सामर्थ्यवाचक-जाइ का सयोग मिलता है : कहण न जाइ 'कहा नहीं जाता' परसर्गों मे सउं (ब्र० सौ) सरिसु, । चतुर्थी में लग्गि-लग रूप मिलता है ; सप्तमी में महि, मह भज्झ आदि रूप प्राप्त होते हैं ।

इससे स्पष्ट होता है कि सनेह रासय की भाषा का ढाँचा यद्यपि हेमचन्द्र के आदर्शों को लिए हुए है, तथापि कुछ विकासोन्मुख भी है । राजस्थान, गुजरात क्षेत्र में उक्त ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं ।[1] यह साहित्यिक भाषा से अधिक जनप्रिय 'उक्ति' भाषा में हैं ।

५. ११. २. कोसल अवधी क्षेत्र—'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' की भाषा कोसली है । इस पुस्तक की खोज भारतीय विद्यामन्दिर के संचालक मुनि जिन विजय जी ने की है । यह व्याकरण ग्रंथ है । बनारस के आस पास के प्रदेशों की भाषा पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है । यह पुस्तक गोविन्दचन्द्र[2] के सभा पडित दामोदर शर्मा द्वारा लिखित है । इसकी भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण डा० सु० कु० चटर्जी ने किया है । भाषा का सगठन 'पिंगल' या साहित्यिक भाषा की भाँति ही है । पर उसकी अपेक्षा तद्भवता कम है ।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा की मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं ।

पदान्त दीर्घ स्वर ह्रस्व कर दिए जाते हैं : आकांख < आकांक्षा ; द्वित्व व्यंजनों के सरलीकरण और पूर्व के दीर्घीकरण के फलस्वरूप भी ऐसा होता है : लज्जा > लाज । स्वर संकोचन की प्रवृत्ति भी है : इ अ, उ अ > ई, ऊ : भंडारी (< भडारि अ < भंडा अरिअ < भाण्डा गारिक) गोरू < गोरूअ <गोरूप । अनुस्वार ध्वनि का लोप प्रतीत होती है । स्वरमध्यग अनुस्वार या तो सम्पर्कित स्वर की सानुनासिकता का अवशिष्ट है या—वँ—या—यँ—का । नासिक्य व्यंजन अथवा सानुनासिक स्वर से पूर्व का स्वर भी सानुनासिक हो जाता है : काँहे (= काहें) । सानुनासिक और अननुनासिक दोनों प्रकार की विभक्तियाँ मिलती हैं : तेइँ

[1] मुक्तावबोध : कुल मंडल सूरि सं० १४५० वि०
बाल शिक्षा : संग्रामसिंह । सं० १३३६ वि०
उक्ति रत्नाकर : श्री साधु सुन्दर गणि । १६ वीं शती

[2] राज्यकाल ११५४ ई० तक

~ तेइ ; स बहि ~ सबहि। नासिक्य व्यंजनों के ह्रस्वोच्चरित रूप भी नांद=नान्द सेफ=सम्फ। न्ह ल्ह, म्ह अपभ्रंश को समान मिलती हैं। श ष > स। द्वित्व व्यंजन को सरलीकृत करके पूर्व स्वर का दीर्घीकरण कर दिया जाता है : भात < भक्त। कुकुरू < कुकुरू < कुर्कुरो) अन्य० एक० सामान्य वर्तमान के प्रत्यय —अइ,—एइ, > अ : पढ़ < पढ़इ (< पठति) सोह < सोहइ (< शोभते) तुलसी में भी ऐसे रूप मिल जाते हैं। प्रातपदिक स्वरान्त हैं और अकारान्त प्रातपदिक की भाँति रूप-रचना। नपु० बहुधा पुल्लिग हो गया है। स्त्री० प्रत्यय अधिकांश — इ, — ई है। परसर्गों का पर्याप्त प्रयोग भाषा की अधिक विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का द्योतक है। सम्प्रदान किह केहं. किह, कर, केर। अपादान — में तौ, पास, हुंत हंती। कारण — पास, सउँ, सेउँ। अधिकरण-करि, भाम्फ, माँम्फ; संबंध—कर, केर धातु रूप अपभ्रंश से और सरल हो गये। संज्ञा और विशेषण पदों से अनेक क्रिया पद निःसृत हुए हैं। संस्कृत की तत्सम या अर्द्ध तत्सम धातु रूपों को भी अपना लिया गया है जिय(सं० जन्म) ~ किण (< सं० घृणा)। ~ आछ्छ रह्, ~ — हो आदि सहायक क्रियाओं की सहायता से कालनिर्माण सम्पन्न होता है। अन्य क्रियाएँ भी मिलती हैं ~ पल्, ~ ले —, ~ कर् — आदि से क्रियाओं को संयुक्त करके विभिन्न अर्थों की सृष्टि होती है।

उक्त लक्षणों का भी आधुनिक भाषा-प्रवृत्तियों से पर्याप्त साम्य है।

५११.३ प्राच्य प्रदेश—इस वर्ग की मुख्य रचनाएँ वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता और चर्यापद हैं। वर्ण रत्नाकर की रचना चौदहवीं शती के प्रथम चरण में ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने की थी। यह मैथिल भाषा के प्राचीनतम उपलब्ध रूपों को स्पष्ट करता है। इसकी खोज हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १९०१ में की थी। इसमें विविध मनुष्यों, मनुष्य के कार्यों, उत्सवों आदि के वर्णन करने की पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। सन् १९४० में डा० सुनीति कुमार चटर्जी और पं० बबुआ मिश्र के सम्पादन में यह पुस्तक एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल से प्रकाशित हुई। इसकी भाषा के अध्ययन से बंगला, मगही, भोजपुरी आदि के विकास पर भी प्रकाश पड़ता है।

इसकी भाषा-गत विशेषताएँ इस प्रकार हैं : समस्त पदों में आ > अ : कनकटा ए, ओ के दीर्घ और ह्रस्व दोनों रूप मिलते हैं। संयुक्ताक्षर में अन्त्य होने पर इनका उच्चारण ह्रस्व हो जाता है : कएले, आठओ। अनुनासिक ध्वनि के वातावरण से स्वरों के सानुनासिक होने के उदाहरण मिलते हैं : काँन (=कान > कर्ण)। अनुनासिक ध्वनि का लोप भी मिलता है : तृतीया विभक्ति—एँ (> एन) का —ए रूप भी प्राप्त होता है। नासिक्य ध्वनि का अनुस्वार में पूर्णतया परिवर्तन हुआ है, लघु नासिक्य ध्वनि के रूप में उच्चस्ति मिलता है—दान्त (दाँत भी)। क्ष < क्ख, छ : क्षीर > खीर ; दतछा < दन्तक्षत। —व—>नासिक्य ध्वनि या—म्—रेमन्त=रेवन्त—। यमनिका=जवँनिका =यवनिका। —म् > वँ : दालिव ~ दालिवँ >दाड़िम। त्व् > ब : किवा > किम्बा। ड, ड़ के स्थान पर

ल का उच्चारण दीखता है—व्यालि (=व्याडि)। श्, स् में विनिमय हुआ दीखता है, पर स का प्रयोग बहुल है। न्ह, म्ह, ल्ह, र्ह मिलते हैं। शब्द और धातुओं के रूप में अधिक सरलता मिलती है। विभक्ति—प्रत्यय रूप अत्यन्त शिथिल हो गये हैं। कारकों के रूप में परसर्गों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ गई है। करण—संग, सज्यो, सँ; सम्प्रदान—करण, लागि; अपादान—सञो, सँ, तह; सम्बन्ध —क। भूतकाल —अल प्रत्ययान्त मिलता है: चलल, भेलि (हुई)। संयुक्त क्रिया पदों का बहुत प्रयोग मिलता है: अछ सहायक क्रिया के रूप में मिलता है: होइते अछ, चरइतें अछ, भेल अछ।

कीर्तिलता की सूचना पहले ग्रियर्सन ने दी थी। महा महोपाध्याय पं० हर प्रसाद शास्त्री ने नेपाल-दरबार-लाइब्रेरी से लेकर १९२४ में बंगला अनुवाद के साथ बंगाक्षरों में इसे प्रकाशित किया। डा० बाबूराम सक्सेना द्वारा अनुवादित और संपादित रूप ना० प्र० सभा काशी से १९२९ में प्रकाशित हुआ। कीर्तिलता के कर्ता विद्यापति ठाकुर हैं (१४ वीं शती का अन्त) इन्होंने अपनी भाषा को 'अवहट्ठ' नाम से अभिहित किया है। इसमें गद्य भी मिलती है। लोक भाषा के गठन में साहित्यिक अपभ्रंश का प्रयोग करके इसकी भाषा योजना हुई है। 'सब जन मिट्ठा' की जनभाषा-परम्परा में यह है। प्राचीन पूर्वी भाषा के रूपों का इससे परिचय मिलता है।

बंगला के प्राचीन रूप का परिचय चर्या पदों से मिलता है। चर्या पदों में सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धों के ४७ पद हैं। ये पद नेपाल में प्राप्त हुए थे। महा महोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री के अनुसार इनकी पांडुलिपि बारहवीं शती की है। राखालदास बनर्जी ने इनको चौदहवीं शती के अन्त का माना है। इस भाषा की विशेषताएँ बंगाल के विकास पर प्रकाश डालती हैं। सम्प्रदान—'रे'; सम्बन्ध—एर, —अर; अधिकरण —'प' विभक्ति तथा मांझ अन्तर आदि परसर्गो का प्रयोग मिलता है। भूतकाल में —इल, —इब प्रत्यय, वर्तमान कृदन्त—अन्त प्रत्यय तथा कर्मवाच्य में —इअ प्रत्यय का व्यवहार मिलता है। ये विशेषताएँ बंगला से प्रर्याप्त साम्य रखती हैं।

५·११.४ दाक्षिणात्य क्षेत्र—इस क्षेत्र में ज्ञानेश्वरी, और एकनाथी रामायण मिलती हैं। ज्ञानेश्वरी सन्त ज्ञानेश्वर कृत गीता की लोकाभाषा में टीका है। इसका वर्तमान प्राप्य रूप ज्ञानेश्वर के तीन सौ वर्ष के पश्चात् के सन्त एकनाथ द्वारा संशोधित है। इसकी भाषा में मराठी का आधुनिक रूप स्पष्ट दिखाई देता है। अतः ज्ञानेश्वर के वर्तमान रूप से मराठी के प्राचीन रूप का ज्ञान पर्याप्त मात्रा में नहीं होता।

निष्कर्ष ५.२१—संक्रान्तिकाल मे आर्य भाषा के समस्त क्षेत्र में रचनाएँ हो रहीं थीं। अपभ्रंश का प्रभाव इन रचनाओं पर गहरा था, पर विकासोन्मुख प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। ध्वनि के क्षेत्र मे ऊष्मों का स, या श में परिवर्तन हो रहा था।

द्वित्वों को सरल करने की प्रवृत्ति मिलती है। स्वर संकोचन की प्रवृत्ति अधिक प्रबल है। धातुरूपों में अधिक एकीकरण और अधिक सरलीकरण मिलता है। परसर्गों के प्रयोग और विभक्ति के क्षय के उदाहरण मिलते हैं। अवहट्ठ, डिंगल, पिंगल आदि के रूप में अपभ्रंश या अर्द्ध अपभ्रंश साहित्यिक क्षेत्र में चलती रहीं। साथ ही बोलचाल के रूप भी विकसित हुए।

५. २. अन्य भारतीय आर्य भाषाएँ—१००० ई० के पश्चात् तुर्कों तथा अन्य मुस्लिम वर्गों के उत्तर भारत के आक्रमण से नवीन युग का सूत्र पात होता है। नवीन ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, और राजनैतिक, परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। देशी जन-भाषाओं के सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्यों को जनता तक वहन करना था : इसके लिए शक्ति अर्जित करनी थी और सामग्री जुटानी थी। क्षत्रिय, सामंत, ब्राह्मण और उसकी भाषा की उपेक्षा तो नहीं कर पा रहा था, पर अपभ्रंश तथा देशी भाषाओं की शक्ति और आवश्यकता की दृष्टि से उन्हें भी संरक्षण दे रहा था। चारणों की वीरगाथाएँ और प्रेम श्रृंगार-गीत इन भाषाओं में रचे जाकर राज-सम्मान प्राप्त कर रहे थे। धर्म के निस्पृह सेवी सन्त या भक्त भी अपनी दिव्यानुभूति से देशी भाषाओं का श्रृंगार कर रहे थे। १३ वीं शती तक असहिष्णु मुसलमान जाति का भारत पर आधिपत्य हो गया। धर्म और संस्कृति की सुरक्षा का प्रश्न प्रमुख होने लगा। दोही मार्ग थे : संघर्ष या समन्वय। देशी भाषाओं में समन्वय की शक्तियों का भी उदय हुआ। इन परिस्थितियों में नभाओं भाषाओं का इतिहास आरम्भ होता हैं। सभी आर्य प्रदेशों में नवीन भाषाओं का स्वागत भी हुआ और नवीन साहित्य से उनकी अर्चना भी।

डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार तेरहवीं शताब्दी ई० के आदि से नभाआ भाषाओं का साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण अवश्य हो गया था।[1] साहित्यिक रूप ग्रहण करने के लिए भी एक दीर्घ परम्परा अपेक्षित होती है। लगभग १००० ई० के पश्चात् से इन भाषाओं का रूप बोलचाल की भाषाओं के रूप में विकसित हुआ होगा।

५. २. १. नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की उत्पत्ति—प्राकृतों से अपभ्रंशों से नव्य भाषाओं के विकास का क्रम कुछ विद्वानों ने अवश्य माना है पर वैज्ञानिक दृष्टि से वह इतना संतोष जनक नहीं है। किसी अन्य भाषा से उदय होने की बात अवैज्ञानिक है। भाषा आरम्भ में सजीव जन-स्रोतों से अपना रूप संवारती है और कालान्तर में साहित्य व्याकरण-रूढ़ हो जाती है। जन-भाषा विकास-पथ पर रुकती नहीं। यह कहना कि किसी रूढ़ भाषा से आगे की भाषा उत्पन्न हुई, कुछ भ्रमपूर्ण लगता है। साहित्य में प्रयुक्त होने पर पूर्व कालीन साहित्यिक भाषाएँ नवीन भाषा को प्रभावित अवश्य करती हैं। पर प्राकृतों तथा भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से नीचे एक तालिका दी जा रही है।[2]

---

[1] हिन्दी भाषा का इतिहास ५०४६-५०

[2] यह तालिका डा० सुनीत कुमार चटर्जी की दी हुई है।

भारतीय आर्य
[प्राचीन वैदिक]
उदीच्य
मूलतः खशयार्द ; पीछे राजस्थानी से प्रभावित
प्रतीच्य (दक्षिण-पश्चिम)
मध्यदेशीय
प्राच्य
दाक्षिणात्य
व्राचड
अपभ्रंश
सिन्धी
कैकय भद्र टक्क
पूर्वी पंजाबी
पश्चिम पंजाबी या लहँदा
पहाड़ी भाषाएँ
पश्चिमी (चमेअली, कुल्लई आदि
मध्य (गढ़वाली, कुँमायूनी)
पूर्वी (खसकुरा या नेपाली)
लाटी, शौरसेनी
आमीरी, अवन्ती : शौरसेनी से प्रभावित
नागर अपभ्रंश
राजस्थानी
मालवी तथा निमाड़ी
मेवाती, गूजरी
जयपुरी, हाड़ौती
पश्चिमी
मारवाड़ी
गुजराती
शौरसेनी
शौरसेनी अपभ्रंश
पश्चिमी हिन्दी
बुन्देली
कनौजी
ब्रजभाषा
बांगड़ू
हिन्दुस्तानी या नागरी हिन्दी
अर्द्धमागधी
अर्द्धमागधी अपभ्रंश
अवधी
बघेल
छत्तीसगढ़ी
मागधी
मागधी अपभ्रंश
पूर्वी मागधी
असमिया
बंगला
उड़िया
पश्चिमी मागधी
मैथिली
मगही
भोजपुरी
महाराष्ट्री
महाराष्ट्री अपभ्रंश
मराठी
कोंकणी

उक्त तालिका से किसी न किसी प्राकृत के नभाओं भाषाओं का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वस्तुतः प्राचीन काल से ही निरंतर विकास शील भाषा-प्रवाह चला। मभाआ भाषाओं में उसका एक रूप था और नभआ भाषाओं ने और आगे की विकास प्रवृत्तियाँ विकसित थीं।

५. २. २. नभाआ भाषाएँ—मराठी गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, हिन्दी (पश्चिमी, पूर्वी इण्डिया,) बंगाली, बिहारी, आसामी, सिन्धी, लहँदा, काश्मीरी, तथा हिमालय भाषाएँ—गढ़वाली, कुमाऊँनी तथा नेपाली, आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ हैं।) इस सूची में सिंहली, तथा एशिया एवं यूरोप के घुमन्तू जनों की भाषाएँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं।[1]) संबंध की दृष्टि से महाराष्ट्रीय अपभ्रंश से मराठी का सम्बन्ध माना जाता है। गुजराती, राजस्थानी (विभिन्न बोलियों सहित) पंजाबी तथा पश्चिमी हिन्दी (अपनी विभिन्न बोलियों के साथ) ऐतिहासिक रूप से शौरसेनी अपभ्रंश से संबंधित हैं। अवधी और उसकी बोलियों का सम्बन्ध अर्द्ध मागधी से, तथा अन्य पूर्वी बिहारी, उड़िया, बगाली और और आसामी मागधी से सम्बद्ध की जाती है। सिन्धी ब्राचड अपभ्रंश से तथा लहगा काश्मीरी सम्भवतः पैशाची अपभ्रंश से सम्बन्धित बताई जाती हैं। (डा० भण्डारकर पहाड़ी भाषाओं को हिन्दी की बोलियों के अन्तर्गत रखने के पक्षपाती थे। अतः इनका सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से होता है ग्रियर्सन ने इन्हें पहाड़ी भाषाएँ और हॉर्नले ने नार्दर्न गॉडियन कहा है।)

५.२.३. नव्य भारतीय आर्य आषाओं की भौगोलिक स्थिति—और उनकी सामान्य विशेषताओं पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

५. २३.१. मराठी—इसका केन्द्र पूना है। इसके दक्षिण में cauar जिला, दक्षिण पूर्व में तेलिंगाना छोटा नागपुर, तथा उत्तर में विन्ध्य और सत पुड़ा की श्रेणियाँ हैं। हार्नले ने इसकी तीन मुख्य बोलियाँ मानी हैं[2] कोणकाणी, दखनी, तथा कोल्हापुर-रत्नगिरि की बोली। कोण कणी की मुख्य विशेषता नासिक्यीकरण की है। अन्य बोलियों की वैविध्य द्योतक रेखा अस्पष्ट है। डा० भंडारकर कारवारी गोआनी, मालवणी, सावन्तवाड़ी, चित्पावनी सालसेट्टी तथा खान देशी भी अस्पष्ट रूप से विभिन्न बोलियों का उल्लेख करते हैं।[3] महाराष्ट्रीय की केन्द्रीय बोली पूना की बोली है। बरारी भी एक बोली है। इन बोलियों में मुख्य अन्तर एक-समूह का है। कोण कणी में कन्नड़ शब्दों का मिश्रण है। बरारी में ये भीली और तेलुगु शब्दों का तथा पूना मराठी में फारसी शब्दों का अन्तर है। खान देशी मराठी और भीलों शब्दों के साथ गुजरती ही है।[4] यह वस्तुतः एकमिश्रित बोली है। खान देशी

---

[1] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, ५.१४३

[2] गॉडियन लेंग्वेजज़,पृ iii

[3] फिलॉलॉजीकल लैक्चर्स, पृ० १२०

[4] ग्रियर्सन, दालैंग्वेजेज ऑफ इन्डिया, पृ० ९०

के पश्चिमी भाग और बरार की भाषा पर गुजराती का प्रबल प्रभाव है : १९३१ की जनगणना के अनुसार बोलने वालों की संख्या २,१३,६१,३९९ है। इसकी लिपि देवानागरी है।

५.२३.२. गुजराती—दक्षिणी और पूर्व में मराठी और खानदेशी भाषी प्रदेश उत्तर में राजस्थानी और पश्चिमी हिन्दी भाषी भाग तथा पश्चिम में कच्छी प्रदेश और समुद्र हैं। इस भाषा में बोलीगत वैविध्य बहुत कम मिलता है। पुराने समय से यहाँ अनेक जातियाँ आकर्षित होती रहीं, अभीर गुर्जर, यादव, ग्रीक मौर्य तथा सिथियन आक्रमण भी इस प्रदेश पर होते रहे। इस भाषा का पुराना नाम लाटी था।[1] अरब, पारसी, तथा तुर्क भी इस उपजाऊ और समृद्ध भू भाग की ओर आकर्षित होते रहे। इस प्रकार गुजराती में अनेक तत्व हैं : दण्डी की लाटी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश तथा अनेक विदेशी तत्व इसे प्रभावित करते रहे। गुजराती और राजस्थानी में इतना घनिष्ट सम्बन्ध था कि बहुतों की दृष्टि में यह एक ही भाषा थी। तेस्सितोरी के अनुसार इसकी उत्पत्ति प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से हुई। उसमें १५ वीं १६ वीं शती में पृथक हुई। १२ वीं शती के प्राकृत वैयाकरण हेमचन्द्र भी यहीं के थे। इसके नमूने १२ से १५ वीं शती तक के जैन लेखकों की कृतियों में मिलते हैं। नरसी महता १५ वीं शती के हैं। गुजराती के बोलने वालों की संख्या १,०८,५०,००० है (१९३१ की जनगणना)। इसकी लिपि कैथी के समान है। देवनागरी से बहुत मिलती-जुलती है।

५.२३.३. मारवाडी या राजस्थानी—तेस्सितोरी के अनुसार और मारवाडी 'पुरानी राजस्थानी' से विकसित हुई।[2] ग्रियर्सन ने समस्त राजपूताने की बोलियों को राजस्थानी भाषा के नाम से पुकारा है।[3] ये बोलियाँ मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी तथा दो एक साधारण बोलियाँ हैं। मारवाड़ी गुजराती से बहुत सम्बद्ध है। इसलिए इनको एक ही वर्ग की माना जाता रहा। शेष बोलियों को तेस्सितोरी पूर्वी राजस्थानी (संदिग्ध) या पश्चिमी हिन्दी की बलियों के साथ वर्गीकृत करता है।

राजस्थान की बोलियों के पश्चिम में सिन्धी और लंहदा, उत्तर में लहंदा और पंजाबी, पूर्व में ब्रजभाषा, बुन्देली तथा दक्षिण में मराठी, खानदेशी तथा गुजराती भाषा प्रदेश हैं।

५.२३.४ पंजाबी—आधुनिक पंजाब का भाग पंजाबी भाषी है। केवल पश्चिमी भाग जो सिन्ध के किनारे-किनारे स्थित है, लहंदा प्रदेश है। हार्नले तथा अन्य योरोपीय विद्वानों ने लहँदा को मुल्तानी नाम से पंजाबी की बोलियों में वर्गी-

[1] काव्यादर्श,

[2] Ind. Ant ४३, P. २१

[3] लिंग सर्वे० ९, भाग २, पृ० ६

कृत किया था। पर खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि लहँदा एक स्वतन्त्र बोली है जिसकी समानता पंजाबी की अपेक्षा सिन्धी से है। पंजाबी की दो मुख्य बोलियाँ हैं : अमृतसर की केन्द्रीय परिनिष्ठित पंजाबी तथा दक्षिण पूर्वी पंजाब की मालवई। यह हिन्दी क्षेत्र के पश्चिमोत्तर में स्थित है। पाकिस्तान ने इसे लहँदा से असम्बद्ध कर दिया है। इसकी उत्पत्ति शौरसेनी वर्ग की टक्क अपभ्रंश से मानी जाती है। १६ वीं शती में रचित सिक्ख गुरुओं के पद मिलते हैं। गुरुमुखी लिपि यहाँ प्रचलित है। यह भी देवनागरी से निकली है। पंजाबी बोलने वालों की संख्या २,४६,६०, ६८० है।

पश्चिमी पंजाबी हिन्दी की. जटकी, मुल्तानी, विभाली आदि नामों से जानी जाती थी। प्राचीन कैकय देश यही था। इसीलिए इसका सम्बन्ध कैकय प्राकृत से जोड़ा जाता है। इसका साहित्य अत्यल्प है। अब यह भाषा-भाषी प्रदेश पंजाब में है।

५.२३.५ हिन्दी : पश्चिमी और पूर्वी—इनका परिचय आगे के अध्याय (६) में दिया गया है।

५.२३.६ उड़िया—आज के उड़ीसा राज्य में बोली जाती है। पुराने समय में यह उत्कली या ऑड्री भी कहलाती थी। दक्षिण मिदनापुर, बिहार के दक्षिणी कौने, छोटा नागपुर के अल्प भाग, सम्भलपुर, तथा गंजम जिले के ऊपरी भाग में भी वह प्रचलित है। इसके उत्तर में बंगाली बिहारी, पश्चिम में पूर्वी हिन्दी, दक्षिण में तेलुगु' तथा पूर्व के समुद्र हैं। बोलीगत वैविध्य प्रायः नहीं है। इसके प्राचीनतम लेख १३९५ ई० से प्राप्त होते हैं। इसकी गोलाक्षतात्मक लिपि देवनागरी से पृथक् दीखती है पर इनमें कोई ऐतिहासिक अन्तर नहीं है। शब्द-समूह पर तेलुगु-मराठी का प्रभाव भी है।

५.३.७ बंगाली—बंगाल की भाषा है। छोटा नागपुर के कुछ भाग तथा आसाम की घाटी में भी यह बोली जाती है। बंगाली भाषा में दो स्पष्ट बोली-स्तर दीखते हैं : संस्कृत गर्भित तत्सम बहुल, शिक्षितों की भाषा तभा सुलभ जन-भाषा। डा० ग्रियर्सन ने लिखा था : कि उच्चस्तरीय बंगला संस्कृत की अधिक से अधिक दासी होती जा रही है।[1] बंगाली का एक और विभाजन सम्भव है। कलकत्ता तथा उसके आस-पास की केन्द्रीय भाषा; रंगपुर, मेमनसिंह, डाका, वरीसल की पूर्वी बंगाली बोली; तथा नदिया और २४ परगना की पश्चिमी बंगाली बोली। और भी उपबोलियाँ हैं। बंगाली का साहित्य समृद्ध है। देवनागरी से कुछ मिलती-जुलती लिपि में यह भाषा लिखी जाती है। बोलने वाले ५,३४,६८,४३९ हैं।

५.२३.८ बिहारी—बिहार में प्रचलित बोलियों को बिहारी नाम दिया

---

[1] "Each decade it is becoming more and more a slave of SKT. than before" लिंग० सर्वे० v, ५०१६

जाता है। इसके पश्चिम में पूर्वी हिन्दी का प्रदेश, दक्षिण में बंगला और उड़िया भाषा-क्षेत्र, और पूर्व में भी बंगला का प्रदेश है। इसके उत्तर में हिमालय की बोलियाँ हैं। छोटा नागपुर में भी कुछ इसका प्रचलन है। इसकी तीन मुख्य बोलियाँ हैं: मैथिली, मगही और भोजपुरी। मैथिली का स्थान इनमें महत्वपूर्ण है। मैथिली मुज्जफरपुर, दरभंगा, चम्पारन, पूर्णियाँ तथा भागलपुर जिले के ऊपरी भाग में प्रचलित है। मगही का क्षेत्र पटना, गया और हजारीबाग है। बिहारी बोलियों में सबसे अधिक पश्चिम में भोजपुरी है। गोरखपुर, गाजीपुर, बनारस, मिरजापुर, छपरा नगरों में तथा उनके आसपास यह बोली जाती है। छोटा नागपुर के कुछ भाग में भी यह पाई जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका सम्बन्ध मागधी से माना जाता है। ये भाषाएँ देवनागरी लिपि का ही प्रयोग करती हैं।

५.२३.९ आसामी—आसाम के उत्तरी भाग मे आसामी बोली जाती है। बंगला से बहुत प्रभावित है। कुछ अन्तरों को छोड़कर प्रायः बंगलाक्षरो के समान ही इसकी लिपि है। इसकी मुख्य बोलियाँ हैं: पूर्वी बोली शिवसागर के आसपास, तथा पश्चिमी आसामी। शंकरदेव के प्राचीन पद मिलते हैं।

५.२३.१० सिन्धी—सिन्ध की भाषा है। निम्न सिन्ध नदी के दोनों किनारों पर यह भाषा प्रचलित है। इसके पश्चिम मे बिलोचिस्तान, उत्तर में मुलतान जिला पूर्व में राजस्थान का मारवाड़ी भाषी भाग है। गुजराती और सिन्धी के बीच में कच्छी है जिस पर दोनों भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। शब्दावली पर फारसी का बहुत प्रभाव है। लहँदा के साथ साथ फारसी लिपि भी प्रयोग में आती है। इसकी तीन मुख्य बोलियाँ हैं: सिरैकी, लारी तथा थरेली। पहले सिन्ध के ऊपरी भाग में, दूसरी नीचे के भाग में तथा थार के रेगिस्तान मे बोली जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका सम्बन्ध व्राचड अपभ्रंश से माना जाता है। अब सिन्ध पाकिस्तान में है।

५. २३. ११. काश्मीरी—इसका सम्बन्ध दरद या पैशाची से माना जाता है।[१] इसमें साहित्य भी कम नहीं है। इसके दो रूप हैं: हिन्दुओं द्वारा प्रयुक्त काश्मीरी संस्कृत शब्दावली से तथा मुस्लिम जनता की भाषा फारसी-अरबी शब्दों से लदी हुई है। १००० ई० से पूर्व ही इसमें साहित्य-रचना हुई, इसकी सम्भावना है। वर्तमान समय में कश्मीरी का पठन-पाठन नहीं है। आरंभिक शिक्षा का माध्यम उर्दू है। कुछ दर्दी भाषाएँ ईरानी के अधिक समीप हैं। अधिकांश दरदी भाषाओं का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है।

५.२३ १२ पहाड़ी वर्ग—इस वर्ग में गढवाली, कुमाऊनी तथा नेपाली आती हैं। इनके साथ अन्य हिमालयी बोलियाँ भी प्रचलित हैं। पश्चिम में सतलज से लेकर, पूर्व में ग्रोग्री तक हिमालय की तराइयों में ये भाषाएँ बोली जाती हैं।

---

१ ग्रियर्सन, मैनुअल ऑफ काश्मीरी लैंग्वेज, प्रथम, ७

पश्चिमी पहाड़ी के बोलने वाले खस कहलाते हैं। महाकाव्य में खसों की गणना शबरों, शकों तथा यवनों के साथ विदेशियों के रूप में हुई है। इन भाषाओं के विवरण के लिए अभी पर्याप्त सामग्री नहीं है।

५.२३.१३ सिंहली[1]—सिंहल की मूल अनार्य भाषा वेद्धा थी। अब वह लुप्त है। भारतीय आर्य भाषा का वर्तमान प्रचलित रूप पश्चिमी भारत—गुजरात, काठियावाड़ तथा दक्षिण सिन्ध—से वहाँ व्यापारियों आदि के द्वारा पहुँचा। भाषा की यह यात्रा अनुमानतः ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में सम्पन्न हुई होगी। पीछे पूर्वी भारत के आगन्तुकों द्वारा प्रभाव पड़ते रहे। इस प्रकार वहाँ भाषा का स्वतन्त्र विकास नहीं हुआ। संस्कृत और पालि का भी प्रभाव उत्तर काल में पड़ा। वहाँ से सिंहली मालद्वीपों तक भी प्रसारित हुई।

५.२३.१४ घुमन्तु भाषाएँ[2]—एशिया और यूरोप की कुछ घुमन्तु जातियों की भाषाएँ भी भारतीय आर्य समूह की भाषाओं से सम्बद्ध हैं। डा० जान सैम्पसन ने वेल्स की यायावर जातियों की बोलियों का अध्ययन किया है (The Dialect of the Gypsies of wales) भारत से अत्यन्त दूर और संस्कृत से सम्बद्ध न होने के कारण उनका इतिहास कुछ पृथक रहा। ये जातियाँ भारत से ई० सन् से कुछ शताब्दी पूर्व ही चली गई थीं। आज ये फारस, आर्मीनिया, सिरिया, ग्रीस, रूमानियाँ, हंगरी, सारे पूर्वी यूरोप, जर्मनी, फ्रांस, स्पेन, इंग्लैंड, स्काटलैंड तथा वेल्स में मिलती हैं।

उक्त संक्षिप्त विवरण से नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की भौगोलिक स्थिति और उनके विस्तार का कुछ आभास हो जाता है।

५.३. नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण—ऊपर नभाआ का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इन भाषाओं में परस्पर कुछ समानता और कुछ सम्बन्ध भी दिखाई पड़ता है। कुछ में यह समानता परस्पर और अधिक है। इन समानताओं के आधार पर पहले कुछ यूरोपीय विद्वानों ने इन भाषाओं का वर्गीकरण किया था। हार्नले ने वर्ग-विभाजन इस प्रकार किया है[3] : **पूर्वी गॉडियन** : इसमें पूर्वी हिन्दी, बंगाली तथा उड़िया को रखा गया है। **पश्चिमी गॉडियन** में पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती और सिन्धी आती हैं। गड़वाली, कुमाऊनी और नेपाली को हार्नले ने **उत्तरी गॉडियन** में रखा गया है। **दक्षिणी गॉडियन** में केवल मराठी है। बिहारी को उसने स्वतन्त्र नहीं माना है। इसकी भोजपुरी आदि बोलियों को पूर्वी हिन्दी के साथ वर्गीकृत किया गया है। ग्रियर्सन का वर्गीकरण कुछ और ही है। उसके अनुसार वर्गीकरण इस प्रकार है :—उसने **केन्द्रीय वर्ग** में पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी,

---

[1] इसका विवरण डा० सु० कु० चटर्जी की 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी' के आधार पर दिया गया है।

[2] वही।

[3] गाडियन लैंग्वेज पृ० XIV से XVII

राजस्थानी और गुजराती और हिमालयी भाषाएँ, **बीच के वर्ग** में केवल पूर्वी हिन्दी, **पूर्वी वर्ग** में बिहारी, बंगाली तथा आसामी भाषाएँ, **दक्षिणी वर्ग** में केवल मराठी तथा **उत्तर-पश्चिम** वर्ग में सिन्धी, लहँदा तथा कश्मीरी रखी गई हैं।

ग्रियर्सन एक और वर्गीकरण की चर्चा करते हैं। इसका आधार हार्नले की आर्यों के भारत में दो वर्गों में प्रविष्ट होने की मान्यता है। पूर्वागत आर्य पंजाब में बस गए थे। दूसरा दल काबुल नदी के मार्ग से गिलगित एवं चित्राल होते हुए मध्यदेश में प्रविष्ट हुए। इस दवाब के फलस्वरूप पूर्वागत आर्यजन पूरब, दक्षिण और पश्चिम में फैलने को बाध्य हुए। नवागतों ने सरस्वती, यमुना और गंगा के तटों पर यज्ञपरायण संस्कृति का विस्तार किया। इस प्रकार नवागत आर्यों का भीतरी वर्ग पूर्वागत आर्यों के परिवेष्ठन में आ गए। ग्रियर्सन ने इस मत का समर्थन किया।[1] वैसे आर्यों के आक्रमण के सम्बन्ध मे दोनों में किंचित मतभेद रहा, पर भाषाओं के इस आधार पर भीतरी और बाहरी वर्गों में विभाजित करने पर दोनों एक मत रहे। स्व० रमाप्रसाद चन्द ने नृतत्व की दृष्टि से इस सिद्धान्त का आंशिक समर्थन किया। उन्होंने आर्यो के दो जातिगत भेद माने : एक लम्बशीर्ष, दूसरा मध्यमशीर्ष। इस प्रकार एक नवीन भाषा-वर्गीकरण की नींव पड़ी। ग्रियर्सन ने वर्गीकरण इस प्रकार किया :[2]

[क] बाहरी उपशाखा—

प्रथम—उत्तरी पश्चिमी समुदाय	१. लहँदा अथवा पश्चिमी पंजाबी २. सिन्धी
द्वितीय—दक्षिणी समुदाय	३. मराठी
तृतीय—पूर्वी समुदाय	४. उड़िया ५. बिहारी ६. बंगाली ७. आसामी

[ख] मध्य उपशाखा—

चतुर्थ—बीच का समुदाय :	८. पूर्वी हिन्दी

[ग] भीतरी उपशाखा—

पंचम—केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय	९. पश्चिमी हिन्दी १०. पंजाबी ११. गुजराती १२. भीली १३. खान देशी १४. राजस्थानी

लिंग० सर्वे आफ इन्डिया, भाग १, खण्ड १, पृ. ११६; बुलेटिन ऑफ द स्कूल ऑफ ओरियन्टल स्टडीज्-लन्दन इन्स्टीट्यूशन, भाग १ (१९३०) पृ० ३२

ऊपर चर्चित। पृ० १२०

षष्ठ—पहाड़ी समुदाय { १५. पूर्वी पहाड़ी अथवा नेपाली
१६. मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी
१७. पश्चिमी पहाड़ी }

डा० सुनीत कुमार चटर्जी ने इस सिद्धान्त को अमान्य ठहराया : "भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यह सिद्धान्त ग्राह्य प्रतीत नहीं होता और न रमाप्रसाद चन्द का नृतात्विक निरूपण ही निश्चयात्मक है; क्योंकि उनका मत स्वयं 'भीतरी-बाहरी-समुदाय वाले सिद्धान्त को कई मूल बातों में काटता है। यह सब कुछ होते हुए भी, एक बात तो माननी ही पड़ेगी। वह यह है कि महाप्रणों के उपयोग में 'भीतरी' भाषाएँ (पश्चिमी हिन्दी) तथा एक 'अन्तर्मध्य' भाषा (पूर्वी हिन्दी) औरों से बिलकुल भिन्न अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं। इनमें ठीक प्रभाआ महाप्राण ध्वनियाँ सुरक्षित हैं जबकि इनके 'बाहरी' बर्तुल की भाषाएँ......सघोष......महाप्राणो एवं ह-कार का भिन्न भिन्न रूपों में व्यवहार करती हैं।[1]"

ग्रियर्सन के अनुसार 'भीतरी' और 'बाहरी' समुदायों के ध्वनि-तत्व, ध्वनि विज्ञान, तथा रूप तत्व में कुछ ऐसा भेद पाया जाता हैं जिसके अनुसार यह विभाजन एक सीमा तक ही युक्ति-युक्त है। 'पूर्वी हिन्दी को बाहरी शाखा की होते हुए भी भीतरी उपशाखा से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण अन्तर्मध्य समुदाय की भाषा बताया गया है। इसी प्रकार पूर्वी पंजाबी, राजस्थानी और गुजराती पर भी भीतरी समुदाय का प्रभाव माना गया है। नीचे इस विभाजन के संबंध में ग्रियर्सन और डा० चटर्जी के मतों की संक्षिप्त चर्चा की गई है।

क-ध्वनि संबंधी अन्तर—(१) बाहरी उपशाखा में अन्त्य—इ,—उ वर्तमान हैं। पश्चिमी हिन्दी में ये लुप्त हो गए हैं। अछि (कश्मीरी) अँखि (सिंधी) आँखि (बिहारी) के स्थान पर हिन्दी में आँख शब्द मिलता है। चटर्जी ने इसके संबंध में दो बातें कही हैं। एक तो यह कि ऐतिहासिक दृष्टि से प्राभाआ में प्राप्त अन्त्य स्वर के लोप की प्रवृत्ति स्पष्ट है। साथ ही ब्रज भाषा में अन्त्य—इ भी मिलता है (आँखि, फिरि) और—उ भी (अकालु, कंगाल)। अतः यह अन्तर दोनों को विभाजित करने वाला प्रमुख तत्व नहीं हो सकता।

(२) बाहरी उपशाखा में (विशेषतः बँगला में) इ > ए तथा उ > ओ की प्रवृत्ति मिलती है, पर भीतरी शाखा में नहीं। इसका समाधान यों किया जा सकता है कि ये दोनों ध्वनियाँ शिथिल हैं। जब जीभ कुछ कम ऊपर उठती है तो स्वभावतः इनका उच्चारण ए, ओ के समान हो जाता है। प्राकृतों में भी स्वर मध्यग इ, उ > ए, ओ की प्रवृत्ति मिलती है। बिल्व > बेल्ल ; पुष्कर > पोक्खर। एक प्रकार से ये एँ, ओ या ए, ओ के ह्रस्वोच्चरित रूप ही हैं जो इ। ए और उ। ओ के बीच

[1] भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १३१

की स्थिति में हैं। साथ ही ब्रजभाषा में बेल, पोखर तथा अन्य ऐसे रूप मिल जाते हैं।

(३) बाहरी उपशाखा (विशेषत: पूर्वी) में उ > इ के उदाहरण हिन्दी बालू, बँग० बालि < सं० बालुका। चटर्जी के अनुसार यह विशेषता भी बाहरी उपशाखा की नहीं हैं। पश्चिमी हिन्दी में भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं : फिसलाना—फुसलाना, खिलना—खुलना आदि। साथ ही बँगला में भी इसके विपरीत रूप मिल जाते हैं : हि० गिनना, बँग० गुनना (सं० गणना : अ > इ)

(४) ऐ < अइ; औ < अउ बाहरी उपशाखाओं में विवृत ए, तथा ओ में परिवर्तित हो जाते हैं। पर पश्चिमी हिन्दी, राज०, गुज०, आदि में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। हैट, डौटर जैसे अंग्रेजी शब्दों में ही नहीं दैनिक प्रयोग के शब्दों में भी वह प्रवृत्ति मिलती है। और ऐसा।

(५) संस्कृत च, ज > त्स (ts) तथा द्ज् (dz) बाहरी शाखा की विशेषता है। इसके लिए डा० चटर्जी का उत्तर है कि पूर्वी बँगला तथा आसामी में दन्त्यीकृत उच्चारण का कारण बर्मी-तिब्बती प्रभाव और महाराष्ट्री की इस विशेषता कारण, तेलगु का संपर्क हो सकता है। उड़िया के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। समस्त बाहरी वर्तुल की भाषाओं की यह विशेषता नहीं है।

(६) र, ल् तथा ड, ड़ के उच्चारण की भिन्नता भी दोनों शाखाओं को विभक्त करती है। बंगाल में ल् का उच्चारण है। पर पश्चिमी हिन्दी में भी सिन्धी और बिहारी की भाँति ही उच्चारण मिलता है। गर (गल) जरै (जलै) पकरै (पकडे) बिगरे (बिगड़े)

(७) पूरब और पश्चिम की बोली में मिलने वाले द् और ड के परस्पर विनिमय को ग्रियर्सन ने बाहरी उपशाखा की विशेषता मानी है। पर ब्रजभाषा में मिलने वाले उदाहरण इसका खडन करते हैं।

(८) ग्रियर्सन के अनुसार म्ब > म् तथा म्ब > ब क्रमश: बाहरी और भीतरी उपशाखा की विशेषताएँ हैं। पर मध्यवर्ती पश्चिमी हिन्दी में भी जामुन > जम्बु; नीम > निम्ब जैसे उदाहरण हैं। बंगाल में भी आम और तामा के स्थान पर आंब और ताँबा भी मिलता है।

(९) बाहरी उपशाखा में स्वरमध्यवर्ती-र्-का लोप हो जाता है। भीतरी शाखा में है। पर पश्चिमी हिन्दी में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। अपर > अवरु > औरु, अरु, और, औ। बंगला में-र्- का लोप नहीं होता।

(१०) ग्रियर्सन ने स > ह बाहरी उपशाखा की विशेषता मानी है। पर पश्चिमी हिन्दी और ब्रजभाषा में भी यह प्रवृत्ति मिलती है : तस्य > तस्स > तास > ताहुता। अंकवाची शब्दों में तो ग्यारह, बारह मिलते ही हैं।

(११) स, ष > श मागधी की स्वतंत्र विशेषता मानकर इसे बाहरी

उपशाखा की विशेषता बताया गया। मराठी और गुजराती में इ, ई, ए तथा य के पूर्व स् > श् की प्रवृत्ति मिलती है।

(१२) ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ, न्ह, म्ह, ल्ह आदि महाप्राण-वर्ण बंगला में अल्पप्राण हो जाते हैं। किन्तु यह परिवर्तन बाद में हुआ। इस प्रवृत्ति से पश्चिमी हिन्दी भी मुक्त नहीं है : बहिन <* भइनी <भगिनी; उड़िया भैणी, पंजाबी भैण। पर मध्यवर्ती शाखा में ऐसे उदाहरण बिरल हैं। यहाँ अल्प प्राण महाप्राण के उदाहरण अधिक हैं : भेस < वेश।

(१३) द्वित्व व्यंजनों के सरलीकरण तथा पूर्वस्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण की प्रवृत्ति में भी ग्रियर्सन ने अन्तर बताया है। पूर्वी मागधी में इ, तथा उ का दीर्घीकरण नहीं होता: भीख=भिख, पूत=पुत। पर पश्चिमी हिन्दी में भी कहीं कहीं सरली करण मिलने पर भी क्षतिपूरक दीर्घीकरण नहीं मिलता: सच् < सत्य; सब < सब्ब < सर्व।

ख—रूपतात्विक अन्तर—

१. ग्रियर्सन का कथन है कि स्त्री प्रत्यय-ई बाहरी उपशाखा की पश्चिमी एवं पूर्वी दोनों भाषाओं में मिलती है। पर चटर्जी के अनुसार प्रायः सभी भाषाओं में यह प्रवृत्ति मिलती है : संस्कृत-आ > अप० अँ >आधुनिक-ई। पश्चिमी हिन्दी में यह प्रवृत्ति मिलती है।

(२) संज्ञा शब्द रूपों की दृष्टि से भीतरी वर्ग की बोलियाँ विश्लेषणात्मक स्थिति में हैं : प्राचीन कारक-विभक्ति लुप्त हो गये हैं : संज्ञापद परसर्गों की सहायता से सम्पन्न होते हैं। बाहरी उपशाखा की भाषाएँ विकास की एक स्थिति और आगे बढ़ गई हैं—

भीतरी—संश्लिष्ट→विश्लेषावस्था→×

बाहरी—संश्लिष्ट→विश्लेषावस्था→संश्लिष्टावस्था

बंगला : रामेर बोई=हिन्दी : राम की पुस्तका

चटर्जी ने इसका समाधान इस प्रकार किया है : प्राचीन कारक रूपों के कुछ अवशिष्ट रूप प्रायः सभी भाषाओं में मिलते हैं, पर सभी में भिन्न रूपों में प्राप्त होते हैं। मध्य देश की नभाआ भाषाओं के तिर्यक रूपों (घोड़ा तिर्यक घोड़े) तथा सम्बन्ध कारक के रूप में विशेष दृष्टव्य हैं। घोड़े का > घोड़ हिकअ =घोटस्य+कृत अथवा घोटक—तृतीया के बहुवचन प्रत्यय-हि < भिः + कृत ? यहाँ घोड़े रूप में प्राभाआ के संश्लिष्ट कारक रूप विद्यमान हैं। बंगला के घोड़ार =घोटक+कर तथा विहारी घोराक=घोटक+कृत ? या घोटक× क्, क्क ? में वस्तुतः पुराने संश्लिष्ट रूप का अवशिष्ट नहीं, अपितु सामासिक रूप हैं।

३—बाहरी-उपशाखा को पश्चिमी एवं दक्षिणी नभाआ भाषाओं, लहँदी, सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी में कर्मवाच्य के रूप सुरक्षित हैं। प्राच्य

भाषाओं में ये कर्मवाच्य रूप कर्तृवाच्य के रूप में उन्मुख हो गये हैं। इन भाषाओं में कर्मवाच्य कृदन्तीरूप अन्य पुरुष के सर्वनामीय प्रत्ययों के रूपों को अन्तर्मुक्त करके क्रियापद का रूप धारण कर चुके हैं। पश्चिम की लहंदी तथा सिन्धी के कर्मवाच्य रूपों में भी सर्वनामी रूप जोड़ें गये हैं। फिर भी कर्मवाच्य की स्थिति का प्रमाण इससे मिलता है कि लिंग-वचन-अन्वय कर्म के साथ होता है। इस आधार पर प्रच्यों को कर्तरि, और पश्चिमी को कर्मणि रूपों में विभक्त किया जा सकता है, बाहरी और भीतरी रूप में नहीं। पश्चिमी बोलियों में भावे प्रयोग प्रचलित हैं। पूर्वी भाषाओं में उसका लोप होगया है।

४. बाहरी उपशाखा की भाषाओं में भारोपीय—ल् प्रत्यय वर्तमान है, मध्य-देश में इसका अभाव है। पूर्वी भाषाओं तथा मराठी में इसके द्वारा अतीत काल का रूप बनता है। गुजराती और सिन्धी में इसकी सहायता से कर्मवाच्य के कृदन्तीय रूप सम्पन्न होते हैं। पंजाबी में इसका अभाव है। इस प्रकार बाहरी उपशाखा की भाषाओं में भी प्रयोग की समानता नहीं है। वैसे पश्चिमी हिन्दी में भी—ल्— प्रत्यय है : लजीला, छैला।

इस प्रकार ग्रियर्सन के वर्गीकरण का आधार अत्यन्त दुर्बल है। यदि कुछ बातों में मराठी का साम्य बाहरी भाषाओं से है, तो उच्चारण में उसका साम्य भीतरी शाखा की भाषाओं से भी है। मराठी में ल (l) है और उड़िया में भी। दूसरी ओर राजस्थानी, गुजराती तथा पंजाबी में ही हैं। उक्त वर्गीकरण के स्थान पर चटर्जी का वर्गीकरण ही अधिक उपयुक्त दीखता है—

(क) उदीच्य (उत्तरी) : १. सिन्धी, २. लहँदी, ३. पूर्वी पंजाबी
(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) : ४. गुजराती ५. राजस्थानी
(ग) मध्यदेशीय : ६. पश्चिमी हिन्दी
(घ) प्राच्य : (पूर्वी) : ७. I—कोसलीया पूर्वी हिन्दी
II—मागधी प्रसूत ८. बिहारी, ९. उड़िया
१०. बँगला—११. असमिया।
(ङ) दाक्षिणात्य : १२. मराठी।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह वर्गीकरण निर्दोष है। वस्तुतः भाषाओं को स्पष्ट वर्गों में विभाजित करना एक टेढ़ा काम है। अनेक विरोधी तत्व प्रत्येक वर्गीकरण के साथ उत्पन्न हो सकते हैं। पर भाषाओं की समानताओं और अन्तरों का अध्ययन करना प्रत्येक भाषा के विद्यार्थी का कार्य है।

५.४ नव्य भारतीय आर्य भाषा की प्रमुख विशेषताएँ—विकास की दृष्टि से, प्राकृत और अपभ्रंशों से आगे की स्थिति से भाषाएँ संबंधित हैं। कुछ विकास के नियम ज्यों के त्यों बने रहे और कुछ नियम आगे बढ़े। इस शीर्षक में नभाआ की ध्वनि वैज्ञानिक और पदरूपात्मक विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

५.४.१ नभाआ की ध्वनि वैज्ञानिक विशेषताएँ—स्वरों और व्यंजनों से संबंधित विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

५.४१.१. स्वर—प्राभाआ के ऋ तथा ऌ स्वरों को छोड़कर प्रायः सभी स्वर नभाआ में प्राप्त होते है। कुछ भाषाओं में ए, ओ के ह्रस्वरूप एँ, ओँ भी प्राप्त होते हैं। प्राकृतों में भी द्वित्वों से पूर्व ए, ओ —> एँ, ओँ मिलते हैं। फारसी से क़, ख़, ग़, फ़, ज़ जैसी कुछ ध्वनियों का आगमन भी हुआ है। पर केवल फारसी अरबी तत्सम शब्दों में इन ध्वनियों का प्रयोग मिलता है, वहाँ भी कभी-कभी नहीं मिलता। स्वरों का विकास अवश्य अधिक हुआ। स्वरों का विकास-क्रम इस प्रकार रहा—

संयुक्त व्यंजनों के सरलीकरण के साथ अ > आ : कान्हा < काण्हो < सं. कृष्णः। अकारण अ > इ : अवधी छिनु, मराठी खिण < सं. क्षण। संयुक्त व्यंजनों से पूर्व इ-, ड-> ए,-ओ-: सेंदूर, म० शेंदूर < प्रा० सिंदूरो, सेंदूरो < सं. सिन्दूरः, हिं० पोथी, म० गु० पोथा, < प्रा० पोत्थअं < सं. पुस्तकम्। कुछ बोलियों में इ, उ सुरक्षित भी हैं : सिं० सिंधुर। बंगाली पुथी (=पुस्तक)। कहीं कहीं मूल शब्द में द्वित्व न होने पर भी इ, उ > ए, ओ : म० मेहुण < प्रा० मिहुण<सं. मिथुन। गुज० मोहडुं < प्रा. मुह < सं. मुख। ब्रज में भी मोंहड़ौ रूप मिलता है। अन्तिम अक्षर पर बलाघात होने पर ई, ऊ ह्रस्व हो जाते हैं। यह प्रवृति हिन्दी की अपेक्षा मराठी-गुजराती में मिलती है : म० किडा < प्रा० कीड-ओ < सं. कीटक :। गुज० कुवो < प्रा० कूवओ < सं. कूपक : किसी किसी भाषा में ई, ऊ > ए ओ : म० तांबोली < स. ताम्बूल। हिन्दी में भी तँमोली शब्द मिलता है। उड़ि० णाल, मरा० भूक। ई, ऊ > अ, आ भी मिलते हैं : पं० निरख ०।। < सं. निरीक्षण। हिन्दी में भी निरख, परख (परीक्षण) रूप मिलते हैं। गु० माणस, म० माणूस < सं. मनुष्य। यह प्रवृत्ति गुजराती में विशेष रूप से मिलती है। पालि और प्राकृतों में ऐ (ai) तथा औ (au) > ए, ओ। यह प्रवृत्ति कुछ आधुनिक भाषाओं में भी मिलती है : म०, हि० गेरूँ, गेरू < सं. गैरिक। म०, हि० गोरा < सं. गौर : हिं० बं० ओ० सोहाग < सौभाग्य। ऐ, औ यदि किसी भाषा में मिलते हैं तो दो कारणों से : अ-इ तथा अ-उ के बीच के व्यंजनों के लोप से दोनों स्वर पास आगये हैं पर मिले नहीं : हि० भैंस (bhaisa), मरा० म्हैस < सं. महिषी। हि० चौथा (Cautha) < स. चतुर्थ। पश्चिमी हिन्दी में ऐ तथा औ भी मिलते हैं। अथवा संस्कृत का प्रभाव रहा।

नभाआ में बलाघात (Accent) के कारण भी स्वरों में परिवर्तन हुआ।[१] जब उपान्त्य स्वर पर बल होता है, तो बलाघात वाला अक्षर दीर्घीकृत और अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है : कीर्त—कीरत—कीर्ति। यदि वह अक्षर

१. भंडारकर, फिलॉलॉजीकल लैक्चर्स, पृ० १५२

दीर्घ होता हैं तो बलपूर्वक उच्चरित होता है। गुजराती और हिन्दी में होने वाला स्वर का ह्रस्वीकरण या लोप भी बलाघात का पीछे हटना है। बलाघात न रहने से आदि स्वरों का भी लोप मिलता है: भीतर < अभ्यन्तरं । रहँट < अरहट्ट सं. अरघट्ट। राजस्थानी तथा पश्चिमी हिन्दी में कुछ अपने और कुछ आगत शब्दों में ऐ, औ (ai, au) अग्र तथा पाश्च निम्न मध्य ध्वनि ऐ, औ हो गई। नभाआ में आभ्यन्तर तथा अन्त्यस्वरों का लोप होना एक नवीन दिशा का सूचक है।

५.४१'२ **व्यंजन परिवर्तन का रूप**—प्राकृतों का वातावरण व्यंजनों के लिए बड़ा संकट पूर्ण था। अपने अस्तित्व की रक्षा ये नहीं कर सके: कहीं-कहीं बचे। नभाआ की प्रवृत्ति व्यंजनों के विरुद्ध नहीं रही। उनमें परिवर्तन या उनका लोप विशेष नहीं हुआ कुछ प्राकृत अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ चलती रहीं। यहाँ संक्षेप में नभाआ व्यंजन-विकास पर संक्षिप्त दृष्टिपात किया गया है।

(a) **असंयुक्त व्यंजन: अल्प प्राण स्पर्शों का मृदुलीकरण**—बंगला, मरा० बगका<सं० बक: हि० किवाड, मराक कवाड<प्रा० कवाडअ<सं० कपाटक। पर यह कोई प्राकृत से नयी प्रवृत्ति नहीं है। हि० भादों, मरा० भादवा<प्रा० भाद्दवअ<सं० भाद्रपद। य, व >इ, उ: हि० पड़ौसी, मरा० पडोशी<सं० प्रतिवेशी। य>इ के उदाहरण विरल हैं। कुछ बोलियों में ड>ल(l): दालिब< दाडिम। न>ल भी मिलता है: मरा० लिंब-निंब। र् तथा ल या ल में परस्पर विनिमय भी मिलता है। पूर्वी हिन्दी और ब्रज में प्रवृत्ति विशेष मिलती है: ब्र० धौरा, मर० ढवला<धवला, साँवरा<श्यामल:। कुछ बोलियों में स, श>ह। हिन्दी और सिन्धी के संख्या वाचकों में यही प्रवृत्ति मिलती है: ग्यारह आदि। मराठी में दहा<दश है। सिंधी और पंजाबी में हकार की प्रवृत्ति विशेष है। बहुत सी भाषाओं में म>वँ। यह प्रवृत्ति प्राकृत काल से चलती आई हैं। गाँव-ग्राम। कहीं कहीं अनासिक्यीकृत व ही है, गु० ठाम, मरा० ठाव। सिं० पं० मिनत, बं० भिनति, मरा० विनति-विनति। मूल छ या क्ष>छ मराठी में स में भी बदल जाता है। मरा० मासा, सं० मत्स्य (>प्रा० मच्छ) म० ऊस—उच्छ<सं० इक्षु।

प्राभाआ और मभाआ की च, ज ध्वनियों का एक विशेष अभूतपूर्व विकास मिलता है। मराठी में, गंजाम की उड़िया मे, सूरत की गुजराती में, कुछ राजस्थानी बोलियों में कुछ पार्वात्य गोरखाली आदि में तथा पूर्वी बंगाल में च>त्स (ts) तथा ज>द्ज (dz) की प्रवृति मिलती है। किन्तु यह ध्वनिविकार कुछ ध्वन्यात्मक परिस्थितियों में ही प्राप्त होता है।

महाप्राण स्पर्श व्यंजनों तथा ह के विकास ने भी एक नवीन रूप धारण किया, पश्चिमी हिन्दी, तथा कुछ सीमाओं तक बिहारी भाषाओं ने महाप्राण-ध्वनियों की सुरक्षा की प्रवृत्ति ही दिखाई है। अन्त्य-ह भी सुरक्षित मिलता है। पर अन्य नभाओं में महाप्राण के क्षय के लक्षण ही दीखते हैं। पश्चिमी बँगला में ह-

आम्भिक होने पर सुरक्षित रहता है, पर मध्यवर्ती, या अन्त्य होने पर लुप्त हो जाता है। सघोप महाप्राण ऊष्मों में परिवर्तित हो जाते हैं। पूर्वी बंगला में 'ह' कण्ठनालीय स्पर्श ध्वनियों में बदल जाती है। अघोष महाप्राण भी आरम्भ में रहने पर ही महाप्राण बने रहते हैं। आरम्भिक संघोष महाप्राण आश्वसित ध्वनि हो जाते हैं लिखित बंगला हात (hat) बोलचाल की पश्चिमी बंगला (ha : t), ठेठ पूर्वी बंगला (?a : t) इसी प्रकार (bhat), (bha : t), (b?a : t)[१] पंजाबी में आरम्भिक सघोष महाप्राण एकनिम्नोन्नत स्वरविन्यास के साथ अघोष स्पर्श में परिवर्तित हो जाता है, इसके लिए (U) चिन्ह है। हि० भूख (=बुभुक्षा) पं० प्रUख नभाआ महाप्राण के विकास की अनेक गुत्थियाँ गुजराती में भ न लिखकर वह लिखा जाता है। व्हेन (b-hen) ग्हेलो (g-helo)। गुजराती के महाप्राण के सम्बन्ध में डा० सु० कु० चटर्जी लिखते हैं "सम्मिलित व्यंजनों की आश्वसित ध्वनि बना देने में हकार का कण्ठनालीय स्पर्श अर्थात् महाप्राण का कंठनालीय संबार में परिवर्तन हो जाना गुजराती में स्पष्टतया तथा दृष्टिगोचर होता है।[१] लेहेर (leher) (l ? e r) । यह परिवर्तन ग्रियर्सन द्वारा निर्दिष्ट बाह्य घेरे की बोलियों की विशेषता है। इसके विकास की समस्या बनी रही है। बाह्य प्रभाव की भी सम्भावना है। राजस्थान और गुजराती में परम्परा से विकसित हुई, यह अनुमान है। एक सामान्य प्रवृत्ति महाप्राण > अल्पप्राण की है : मरा० शिकणें (प्रा० सिक्ख < स शिक्ष) दूसरी प्रवृत्ति ख, थ, घ, भ > ह है। यह परिवर्तन प्राकृतों मे भी मिलती थी : मुँह > समुख; मेह मेघ; मरा० नाहो, हि० नाह नाथ > आदि। भीतरी शाखा की भाषाओं मे महाप्राणों को सुरक्षित रखने की चेष्टा भी है। किसी व्यंजन से पूर्व प्रयुक्त सा:नासिक व्यंजन निकटस्थ स्वर का नासिक्यीकरण रह गया त चन्द्र > चन्द > चाँद ।

(B) **संयुक्त व्यजन**—प्राकृतों के समय में भी संयुक्त व्यंजनों में पर्याप्त परिवर्तन आ गये थे इस क्षेत्र में तीन प्रक्रियाएँ रहीं : समीकरण, सरलीकरण तथा स्वर-भक्ति। नाभाआ भाषाओं में सरलीकरण की प्रवृत्ति और आगे बढ़ी है। मरा० हात, गु०| हि० हाथ < प्रा० हत्थ < हस्त। प्राकृतों के समीकृतरूपों को इस प्रकार सरलीकरण के द्वारा और विकसित किया गया। स्वरभक्ति के उदाहरण ये हैं : मरा० वरीस, हि० बरस < सं० वर्ष; पं० शिलोक < सं० श्लोक। जो संयुक्त व्यंजन मिलते हैं वे संस्कृत के प्रभाव से या विदेशी शब्दों में मिलते हैं : हन्स=सं० हंस; बन्सी-वंश; वक्त आदि।

(C) **उच्चारण-विकास**—लिपि में लिखे जाने वाले रूप और वास्तविक रूप में उच्चरित रूप कुछ ध्वनियों से अलग हैं : ष् का उच्चारण हिन्दी में श

डा० सुनीति कुमार चटर्जी, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी

के समान ही होता है। मराठी में इसका शुद्ध उच्चारण सुरक्षित है। ज्ञ का उच्चारण हिन्दी में ग्य जैसा होने लगा है।

५.४१.३. निष्कर्ष—इस मभाआ युग से जो ध्वनि मूलक विघटन आरम्भ हुआ था उसकी एक विकास कड़ी नभाआ भाषाएँ हैं। विदेशी प्रभावों से कुछ नवीन ध्वनियाँ भी आईं और कुछ उच्चारण पर भी प्रभाव पड़ा। मभाआ से कुछ बातें नवीन हुईं। व्यंजन-द्वित्वों के सरलीकरण की प्रवृत्ति को गद्य के प्रचार से भी योग मिला। पंजाब में व्यंजन-द्वित्व शेष रहे, कुछ। ध्वनि विकास की दृष्टि से समस्त नभाआ भाषाएँ प्रायः समान नियमों से परिचालित हैं। कुछ रूप विशेष भाषाओं में अपने हैं।

५.४.२ पदवैज्ञानिक विकास-क्रम—इसमें संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, कारक चिन्ह और क्रिया पर विचार किया है।

५.४२.१.संज्ञा—प्राभाआ के सुबन्त रूपों की संख्या मभाआ युग में घटी और नभाआ काल में और भी कम हो गई। आकारान्त 'सबल' हिन्दी संज्ञा के केवल तीन रूप मिलते हैं। कर्त्ता एक० घोड़ा (< प्राभाआ कर्त्ता एक० घोटकः) तिर्यक घोड़े (प्राभाआ करण बहु०* घोटकेभिः > घोड़हि< घोडे; तथा अधिकरण एक* घोटकधि > घोटअहि > घोड़े) तथा घोड़ों (< प्राभाआ संबन्ध बहु० घोटका नाम)। व्यंजनान्त संज्ञाओं के और भी कम रूप मिलते हैं। पूत, पूतों। पूत कर्त्ता एक पुत्र; कर्त्ता बहु० पुत्रा; अधिकरण एक० पुत्रे। पूतों <संबंध बहु० पुत्राणाम (ब्र० पूतन)। कुछ भाषाओं में प्राभाषा के अन्य विभक्तियाँ सुरक्षित हैं। मराठी में तिर्यक अधिकरण की जगह सम्बन्ध-सम्प्रदान प्रचलित है और कर्त्ता बहुवचन ज्यों का त्यों मिलता है। कर्त्ता एक० देव <देव; बहु० देवा<देव; सम्प्र० एक० देवाय मराठी तिर्यक एक० देवा; सम्बन्ध बहु० देवानाम <तिर्यक बहु० देवाँ। इस प्रकार कुछ प्राभाआ रूप विकसित हुए। पर एक रूपता की ओर झुकाव रहा।

द्विवचन तो मृत ही रहा। सभी भाषाओं में दो ही वचन मिलते हैं। बहुवचन प्रकट करने के लिए शब्द के पश्चात षष्ठी एक वचन का एक सबल रूप और समूह सूचक शब्द जोड़कर रूप-रचना करने की एक नई रीति चली। बंगला आमि-सब (कर्ता बहु० + समूहवाचक) हम-सब जैसे रूप हिन्दी में भी मिल जाते हैं। पूर्वी बोलियों की यह विशेषता है विहारी छोकरालोक; मराठी में दोघेजण, सर्वजण, इसी प्रकार के प्रयोग हैं।

कुछ बोलियों में तीन लिंग मिलते हैं। हिन्दी बंगाली में केवल दो ही मिलते हैं। अधिकांश भाषा में अन्त्य व्यंजनों का लोप हो जाने से स्वरांत रूप ही रह गये। हिन्दी में अन्त्य ह्रस्वरों के लोप की प्रवृत्ति मिलती है जिससे अधिकांश संज्ञाएँ व्यंजनान्त रह गईं।

डा० सुनीति कुमार चटर्जी, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी

५.४२.२ **सर्वनाम**—सर्वनाम प्राभाआ के विकसित रूप ही हैं। पश्चमी हिन्दी, पंजाबी और सिन्धी के उत्तम पुरुष के रूप सस्कृत के अहकम् से निर्गत हैं। शेष में 'म' वाले रूप ही मिलते हैं इस प्रकार सर्वनाम भी प्रायः समान हैं। गुजराती और ब्रज में 'ह' वाले रूप हैं : हौं, गुज० हुं। अन्य पुरुष संकेत वाचक के समान ही हैं।

५.४२.३ **विशेषण**—उड़िया और बंगला के अतिरिक्त सभी नभाआ भाषाओं में विशेषण का लिंग संज्ञा के समान होता है। पर बहुधा विशेषण तिर्यक रूप में प्रयुक्त होते हैं : मरा० चौगला घोड्यास। प्रायः सभी तुलनात्मक रूप अधिक, बहुत, सबसे आदि के योग से सम्पन्न होते हैं। सं० ईयस्, इष्ट छोड़ दिये गये। तर्, तम का प्रयोग संस्कृत तत्समों में होता है।

५·४२·४ **कारकः विभक्ति**—अपभ्रंश के कुछ ही कारक प्रत्यय आधुनिक भाषाओं में मिलते हैं। मराठी मे कर्ता एक० उ, करण एक० एँ, नें, बिहारी में केवल एँ है गुजराती में ए है : छोकराए। कुछ और अपभ्रंश के रूप अवशिष्ट हैं। अन्य नये चिह्न इस प्रकार है : मरा० ला, लागीं, हून, आंत; गुज० थी, माँ, नें, नों; ब्रज कूँ, कौ, सूँ; मैथिली कें, सौं, कर, माँ; बंगाली एर्, देर, दिगेर्, आदि आधुनिक भाषाओं में जोड़े जाते हैं।

जो चिह्न प्राकृत और अपभ्रंश में नहीं मिलते, उनके मूल स्रोत के विषय में विद्वानो ने अनेक अनुमान लगाए हैं। काल्डवेल ने के वाले चिह्नों को द्राविड़ी से गृहीत माना है, पर यह उचित नहीं। इसके संबंध सं० कृते से हो सकता है। पर इस पर लगे अनुस्वार के संबंध में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अन्य उपसर्गों की व्युत्पत्ति पर आगे हिन्दी उपसर्गों के साथ विचार किया गया है।

५.४२.५ **क्रियारूप**—क्रिया के क्षेत्र में परिवर्तन अधिक हुए हैं। कालों में केवल वर्तमान का पुराना रूप वर्तमान है। काल रचना नई रीति से होने लगी। प्रकारों (moods) में केवल आज्ञावाचक अवशिष्ट है। क्रियारूपों का प्राभाआ कालीन वैविध्य प्राकृतों में ही बहुत कुछ लुप्त हो गया था। कुछ धातुओं के रूप कुछ भाषाओं मे हैं। पुराना भविष्य काल भी कुछ भाषाओं, जैसे गुजराती में, तथा कुछ भाषाओं मे अंशतः सुरक्षित है। गुज० करीश-करिशुं ; करशे-करशो तथा करशे·करशे। इनमें स्य>स्स के चिह्न हैं। ब्रज में तथा पूर्व मे करिहौं,करिहैं जैसे रूपों में स>ह की प्रवृत्ति है।

नये वर्तमान रूप बहुधा वर्त० कृद० के साथ पुरुषवाचक तथा वचन पदरूपांश जोड़ कर बनाए जाते है : मरा० करतों, करतोंस, करता आदि। कुछ में सहायक क्रियाओं के योग से रूप सम्पन्न होते हैं। भूतकाल के रूपों की कथा भी प्रायः इसी प्रकार की है। भूत० कृद० के साथ पुरुषवाचक और वचन-द्योतक पदरूपांश जोड़ कर नये भूतकालिक रूप सम्पन्न होते हैं। भविष्य के द्योतक मराठी में न, ल हैं : इनका संयोग पुराने वर्तमान रूपों के साथ होता है। बंगाली आदि पूर्वी बोलियों में

'तव्य' से सम्बन्धित-ब् वाले रूप हैं : बंगाली करीब, करिबे, उड़ि० दिखिवे, देखिबु आदि। ब्रज और पंजाबी में-ग वाले रूप हैं : करूगा ; सिन्धी में-दा है। गा और दा क्रमशः √गम् तथा √दा-धातुओं के कृदन्ती रूप माने जाते हैं।[1] वर्त० कृ० प्राय: त के साथ मिलता है : मरा० करित, गुज० करत, बंगा० करित, हिन्दी-करत, उड़ि०-करन्त, सि० भीरींदो। पिछले दो में नासिक्य रूप शेष है। भूत० कृ० प्राकृतों के समान ही हैं। मराठी में ल और संयुक्त हो जाता है।

पूर्वकालिक कृदन्त के कई रूप मिलते हैं। मरा० करुन, गुज० करीने, ये अप० एविणु या प्रा० इअ तथा न (ne) के संयुक्त रूप दीखते हैं। ब्रज में -इ वाले हैं : देखि, सुनि : इ<प्रा० इअ। हिन्दी में कर है, मिश्रित रूप सुनकर जैसा भी मिलता है।

क्रियार्थक संज्ञा-अन के संयोग से बनती हैं, मरा० करणें; हि०करना, गुजराती में-वुं-करवुं, देवुं आदि हैं। ब्रज भाषा मे देखिबौ, करिबौ आदि रूप भी मिलते है।

प्रेरणार्थ में मरा० ईव, अब (करिवणें, करावबुं). सिन्धी-वाइ (धोवाइणु) हिन्दी-आ,-वा (नचाना, दिलवाना), आदि-आ-या-वा-वाले रूप मिलते हैं।

५.४२.६ निष्कर्ष—नभाआ भाषाएँ रूप-रचना की दृष्टि से प्राभाआ और मभाआ भाषाओं से बहुत विकसित हैं। सबमें मौलिक रूपगत एकता मिलती है। प्रवृत्ति विश्लेषणात्मक है।

[1] भंडार कर, फिलॉलॉजीकल लैक्चर्स, पृ० २७१

७

हिन्दी

६. १. **हिन्दी : नाम-निरुक्ति**—फारसवासियों ने सिन्धु के प्रतिरूप 'हिन्द' (स > ह) को सिन्धु नदी के तटीय प्रदेशों के द्योतन के लिये प्रयुक्त किया : यहाँ के निवासी 'हिन्दू'। अरबों ने 'सिन्ध' प्रदेश को 'सिन्द' कहा : 'हिन्द का एक भाग ही 'सिन्द' माना गया। इसी 'हिन्द' से 'हिन्दी' शब्द व्युत्पन्न हुआ। 'हिन्दी' के अर्थ का भी विकास हुआ है। अमीर खुसरो ने 'हिन्दू' और 'हिन्दी' में अन्तर करते हुए हिन्दी का अर्थ भारतीय मुसलमान किया है।[1] इकबाल की दृष्टि में हिन्दी का अर्थ हिन्दुस्तान का निवासी रहा।[2] आगे चलकर 'हिन्दी' शब्द भाषा-वाचक बना गया। यह वह भाषा थी जिसका प्रयोग हिन्दू तथा भारतीय मुसलमान करते थे।

६. २. **अन्यनाम**—हिन्दी के कुछ रूपांतर भी मिलते हैं। हिन्दुई, हिन्दवी, हिन्दवी। दक्षिणी मुसलमानों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण भी इसको एक नाम मिला दक्खिनी, दखनी, या दकनी। आधुनिक नेताओं द्वारा हिन्दोस्तानी या हिन्दुस्तानी शब्द से इस भाषा को द्योतन किया गया। बंगाल में इसका रूप 'हिन्दुस्थानी' हुआ। खड़ी बोली, रेख्ता, रेख्ती या उर्दू नाम भी चलते हैं।

६. २-१. **हिन्दुई, हिन्दवी अथवा हिन्दूवी**—पहले इसे अरबी-फारसी शब्दों से रहित दिल्ली के आस पास के हिन्दुओं की भाषा माना जाता है। स्व० पं चन्द्रबली पांडेय ने इसे शिक्षित हिन्दू-मुसलमानों की सामान्य भाषा माना है।[3] रानी केतकी की कहानी की रचना इंशा अल्लाखाँ ने इसी भाषा में की है जिसमें हिन्दवी छुट और इसमें किसी बोली की पुट नहीं,। यह भाषा वह है जिसमें भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं। साथ ही वह भाषा अरबी, फारसी या तुर्की के

[1] हॉब्सन-जॉब्सन, पृ० ३१५

[2] हिन्दी हैं हम वतन हैं हिन्दोस्तां हमारा

[3] 'उर्दू का रहस्य' पृ. ४०-४८

प्रभाव से युक्त है। यह मुख्यतः शिष्ट भारतीय मुसलमानों की बातचीत का माध्यम थी। इस प्रकार यह भाषा जाति-धर्म की सीमाओं से स्वतंत्र थी। इससे पहले केवल भाखा शब्द मिलता था। यह प्रसिद्ध है कि सादलदबलाह मसऊदे (मृ० ५२५ हि०) एक हिन्दी दीवान लिखा था। (Early Hondustani poetry, By Aspeenge gournal of Asiatic-society of Bengal vol,21, (1853) अमीर खुसरो की खालिकपारी में बारह बार हिन्दी और पचपन बार 'हिन्दवी' शब्द आया है। सादी के समकालीन बाकर आगाह (जन्म० ११५७ हि०) ने अपने उर्दू दीवान का नाम 'दीवाने हिन्दी' रखा था। (हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी, पद्मसिंह शर्मा, (पृ० ४८-४९)। अबुलकादिर सरवरी साहब ने बाकर आगाह के दीवाने के संबंध में कहा है कि हिन्दी या हिन्दवी इसका (उर्दू) का कदीमतरीन न था···उर्दू हिन्दी, दक्खिनी एक ही जबान के मुखतलिफ़ नाम हैं।' (उर्दू, जिल्द ९, हिस्सा ३४ २० २८१-३१८) इस प्रकार यह शब्द उर्दू के लिए भी प्रयुक्त होता था।

६. २. २. **दक्खिनी**—इससे दक्षिणवासी मुसलमान और उनकी भाषा दोनों अर्थ निकलते थे।[१] साथ ही इसे देश की स्वाभाविक भाषा भी बताया गया है। स्वाभाविक भाषा से तात्पर्य 'हिन्दवी' हो सकता है। इस प्रकार दक्खिनी 'हिन्दवी' का देशपरक नाम है। अरबी-फ़ारसी शब्द इसमें हैं अवश्य पर अल्प मात्रा में।

६. २. ३. **हिन्दुस्तानी**—यह राजनैतिक क्षेत्र में प्रचलित शब्द है और राजनीति के दाव-पेचों के साथ इसके अर्थों में भी परिवर्तन होता गया है। इस नाम का प्रवर्तन यूरोपीयों ने किया। पर इसकी व्युत्पत्ति तुर्की से ही है। बाबर ने दौलत खाँ लोदी के संबंध में हिन्दुस्तानी का उल्लेख किया है।[२] इससे यही स्पष्ट होता है कि १५ वीं-१६ वीं शती में यह शब्द प्रचलित हो गया था और इसका तात्पर्य हिन्दी ही था। हॉब्सन- जॉब्सन के अनुसार हिन्दुस्तान का निवासी और हिन्दुस्तान की भाषा, दोनों अर्थों में यह शब्द चलता रहा। साथ ही वहाँ इसको उत्तर-भारत के मुसलमानों की भाषा भी माना गया है जो आगरा-दिल्ली के आसपास प्रचलित थी और हिन्दी फारसी तथा अन्य विदेशी शब्दों से मिश्रित थी। यही उर्दू कहलाती है। पुराने एंग्लो-इन्डियन इसे मूर (Moors) कहा करते थे (पृ० ३१७) इस प्रकार हिन्दुस्तानी शब्द उर्दू वाचक बन गया। 'मूर' भी मुसलमान ही हैं। मूर भाषा की लिपि को संस्कृत और बंगला से भिन्न नागरी कहा गया है (हाब्सन-जाब्सन, पृ.४४८) आगे इसको उर्दू के रूप में यूरोपीयों ने बढ़ावा दिया। राजनैतिक रंग से रंजित उर्दू-

---

१ हॉब्सन-जॉब्सन : 'देकनी' पर विवरण।

२ I have made him sit down is before me and desired a man who understood the hindustani language to explain to him what I said sentence by sentence in order to reassure him [Memoirs of Babar, Lucas, King edn. Vol II, P. 170]

हिन्दी विवाद खड़ा किया गया। भारत में स्थित यूरोपीयन स्कूलों में भी उर्दू-शिक्षण को प्रोत्साहन दिया गया। कचहरियों में भी इसे स्थान मिला। ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तानी के संबंध में लिखा है : इसका क्षेत्र गंगा का ऊपरी दोआब है। वह भारत की अन्तर्प्रादेशिक भाषा है। यह फारसी तथा देवनागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सकती है : इसकी साहित्यिक शैली में फारसी और संस्कृत के शब्दों का बहुत प्रयोग नहीं होता।[1] इसके साहित्यिक रूप की झाँकी 'ऊर्दू' या रेख्ता में होती है। दक्षिण में वली औरंगाबादी ने इसे प्रामाणिक रूप दिया। पीछे दिल्ली में भी सौदा (मृ० १७८०) तथा मीर तकी (मृ० १८१०) आदि कवियों ने इसको साहित्य का माध्यम बनाया। इस विवरण से हिन्दुस्तानी, उर्दू और रेख्ता आदि में अभेद लगने लगता है। पर यह ठीक नहीं लगता : केलाग के अनुसार (फारसी-मिश्रित हिन्दी) नगरों के मुसलमानों तथा सरकारी दफ्तरों में काम करने वालों के व्यवहार की भाषा यह थी।[2] वस्तुतः उर्दू एक वर्ग की भाषा थी और हिन्दुस्तानी या सरल हिन्दी सामान्य जनों की भाषा थी। ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तानी को मूल भाषा कहा है। इससे एक ओर साहित्यिक हिन्दुस्तानी या उर्दू विकसित हुई और दूसरी ओर साहित्यिक हिन्दी।

कांग्रेस के साथ राष्ट्रीयता पनपी। राष्ट्रीयता के साथ भाषा का प्रश्न भी उठा। उत्तरी भारत में राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी को आसीन करने की सम्भावना को बल मिलने लगा। हिन्दी जनता की तो अपनी थी, पर कचहरी और कार्यालयों से इसे आश्रय नहीं मिला। मालवीय जी से हिन्दी आन्दोलन को पर्याप्त बल मिला। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने मालवीय जी के साथ कन्धा मिलाया। नागरी प्रचारिणी सभा काशी (स्थापि० १८९३ ई०) ने पर्याप्त योगदान दिया। सन् १९१० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई। प्रथम सभापति पं० मदनमोहन मालवीय और मंत्री टण्डन जी हुए। सम्मेलन ने हिन्दी और नागरी को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि माना। गांधी जी ने भी इस सम्मेलन के अधिवेशनों का दोबार सभापतित्व किया : सन् १९१७ तथा १९२५ इन्दौर। गांधी जी के व्यक्तित्व से हिन्दी राष्ट्रभाषा आन्दोलन बहुत गतिशील हुआ। फिर दक्षिण-भारत-प्रचार सभा की नींव गांधी जी की प्रेरणा से पड़ी।

१९२६ ई० के कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन (कानपुर) में कांग्रेस की

लिंग० सर्वे० Vol. IX, Part I P. 43

Only where Mohammedan influence has long prevailed, as in the large cities and on account to the almost exclusive currency of Mohammedan speech in Goverment offices, have many Hindus learned to condmn their native tongue and affect the Persianized Hindi known as 'Urdu' [A Grammar of the Hindi Language, Preface to first edition, P. XI, XII.

कार्यवाही के लिए हिन्दी के प्रयोग का प्रस्ताव, टंडन जी ने किया और पास हुआ। वहाँ हिन्दुस्तानी स्वीकृत हुई। इस शब्द का प्रयोग हिन्दी-उर्दू के स्थान पर हुआ। तत्कालीन परिस्थिति में हिन्दी शब्द भ्रामक हो सकता था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन १९३६ ई० में, डा० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में नागपुर में हुआ। उसमें मद्रास के अतिरिक्त शेष अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी के लिए राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति के संगठन का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। इसका कार्यालय वर्धा में रहा। साम्प्रदायिक भावना को लेकर दिल्ली में अंजुमन तरक्किए उर्दू की स्थापना की गई। उर्दू के देशव्यापी प्रचार की योजना हुई। गांधी जी के हिन्दी-प्रचार-कार्य की भी आलोचना की गई। पहले गांधी जी ने राष्ट्रभाषा पद के लिए हिन्दी हिन्दुस्तानी नाम चलाया। पर आगे चल कर केवल हिन्दुस्तानी ही रह गई। फारसी और नागरी दोनों लिपियों के सीखने का समर्थन किया गया। स्वतंत्र भारत के संविधान-निर्माण के समय फिर यह प्रश्न आया। यह पद नागरी हिन्दी को मिला। गांधी जी की हिन्दुस्तानी उर्दू-हिन्दी के बीच की सर्वसाधारण की सरल शैली थी। उर्दू वालों ने इसे उर्दू ही समझा।

६.२५४ **रेख्ता-रेख्ती**—रेख्ता पुरुषों की रेख्ती स्त्रियों की भाषा थी। हिन्दी की वह शैली इस नाम से पुकारी जाती थी जिसमें फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक हो। डा० उदयनारायण तिवारी के अनुसार[1] "प्राय: लोग रेख्ता और उर्दू को भ्रमवश एक दूसरे का पर्यायवाची समझ लेते हैं किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। उर्दू की अपेक्षा रेख्ता की व्याप्ति अधिक है। उर्दू को तो रेख्ते की एक विशिष्ट शैली कह सकते हैं। परन्तु रेख्ते को उर्दू कहना अशुद्ध होगा।...भाषा के अर्थ में रेख्ता का प्रयोग उर्दू से पुराना है। यह भी हिन्दी की एक शैली ही है। वास्तव में उर्दू के पद्य साहित्य की भाषा को 'रेखता' नाम से पुकारा जाता था। 'रेखता' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सादी दक्खिनी के काव्य में मिलता है जो वली दक्खिनी से पूर्व आदिलशाह अव्वल के समय (सन् १५८६) में हुआ। (पद्मसिंह शर्मा, हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी, पृ० १९,२५) बाद में शाह मुबारक आबरु, मीर, सौदा, गालिब, जुरअत, कायम आदि ने अपनी भाषा को रेखता कहा है। रेखता, हिन्दी आदि नामों से अभिहित अरबी-फारसी मिश्रित पद्यबद्ध भाषा के लिये 'उर्दू' कबसे प्रयुक्त हुआ, नहीं कहा जा सकता। १७९७ में सैयद अताहुसेन तहसील ने अपने चहार दरवेश के तर्जुमे में, अपनी जुबान को रेखता, हिन्दी और जबान उर्दू-ए-मुअल्ला तीनों कहा है। कबीर. पलटू, तुलसी साहब के कुछ 'रेखता' शीर्षक पद भी मिलते हैं। इस प्रकार निर्गुणियाँ सन्तों ने अपनी भाषा को रेखता कहा। आलम सं० १६४०-८०) ने सुदामा चरित्र को रेखता कहा। सवाई प्रतापसिंह देव ब्रजनिधि ने (१८२१-१८६०) की 'रास का रेखता' कीशीर्षक रचना एवं 'रेखता संग्रह' लिखे।

[1] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १९७

इनकी भाषा अरबी, फारसी मिश्रित हैं। व्रजनिधि की सभा में रेखता कवियों का आदर था [व्रजनिधि ग्रंथावली की प्रस्तावना : हरिनारायण शर्मा पुरोहित] इस प्रकार १८ वीं शती तक कवि और शायर अपनी भाषा को रेखता कहते थे। पीछे फोर्ट-विलियम कालेज के समय योरोपियनों ने इस जन प्रचलित भाषा को हिन्दुस्तानी' कहा।

६.२.५ उर्दू—उर्दू शब्द का मूल अर्थ 'शाही पड़ाव' है और इस अर्थ में सम्भवतः यह शब्द बाबर के साथ भारत में आया। 'उर्दूए मुअल्ला' के रूप में यह शाही महल का वाचक हो गया। दरबार तथा शिविर में प्रचलित एक मिश्रित भाषा 'उर्दू' के नाम से प्रसिद्ध हुई।[१] आरम्भ में इस भाषा का जन साधारण से सम्बन्ध नहीं दीखता। इंशा अल्लाखां ने अपने 'दरियाए लताफत' में लिखा है : 'बहर हाल अपनी समझ और सलीका के बमोजिब बहुत गौर और तायम्मुल के बाद इस हेचमदा को यह मालूम होता है और गालिब है कि यह राय नाकिस दुरुस्त हो कि शाहजहाँबाद की जबान वह है जो दरबारी और मुसहियत पेशा, काबिल, अशखास, खूबसूरत माशूकों, मुसलमान अहल हिरफा, शुहदों और उमरा के शागिर्द पेशा और मुलाजिमों, हत्ता कि उनके खाकरोबों की जबान है।[२] इस प्रकार उर्दू से उच्चवर्गों का ही संबंध था ग्रियर्सन के अनुसार फारसी शब्दों से बोझिल हिन्दुस्तानी ही उर्दू है। और इसीलिए वह केवल फारसी लिपि में ही लिखी जाती है।[३] उर्दू और हिन्दी में अधिकांश अन्तर शब्दावली का ही है, यह बात केलॉग ने भी स्वीकार की है।[४]

आधुनिक युग में उर्दू को जनभाषा और क्षेत्रीय भाषा घोषित करने के प्रयत्न भी चल रहे हैं। पर भाषा शास्त्र की दृष्टि से उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है। भाषा का गठन खड़ीबोली और व्रजभाषा के मिश्रण से हुआ है। मुहम्मद हसन आजाद के अनुसार उर्दू व्रजभाषा से निकली है।[५] कुछ के अनुसार इसका मूल आधार दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली भाषा थी। टी० ग्राहम बली के

---

१ हॉब्सन-जाब्सन, पृ० ४८८। भाषा के अर्थ में इसका प्रयोग, डा० बेली के अनुसार, मसहफीनेकिया था (मृ० १८२४ ई०) शेर यह है—

—खुदा रक्खे जबां हमने सुनी है मीर वो मिरजाकी
कहें किस मुँह से हम ऐ 'मसहफी' उर्दू हमारी है।

२ चन्द्रबली पांडेय, उर्दू की जबान, पृ० ३-४ पर उद्धृत।

3 "The name Urdu can there be confined to that special variety of Hindostani in which Persian words are of frequent occurence and which hence can only be written in the Persian character. लिंग० सर्वे ऑफ इण्डिया, Vol ix, भाग १, पृ० ४७

४ A Grammer of the Hindi Language, Preface, P. xii

५ 'आबेहयात', पृ० ६

अनुसार इसकी उत्पत्ति पंजाब में ही हुई। श्री ब्रजमोहन दत्तात्रेय कैफी ने उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह मत दिया है :[1] शौरसेनी प्राकृत में विदेशी शब्दों के सम्मिश्रण से ही उर्दू की उत्पत्ति हुई। कतिपय भाषा शास्त्रियों के अनुसार खड़ी बोली में फारसी शब्दों के सम्मिश्रण से ही उर्दू की उत्पत्ति हुई।··· व्याकरण की दृष्टि से उर्दू में खड़ी बोली का कुछ भी अन्श नहीं है, किन्तु पंजाबी में शौरसेनी के जो अवशिष्ट रूप वर्तमान हैं वे उर्दू में मिलते है।" ऊपर के मतों में से ब्रजभाषा से उत्पत्ति वाला मत अमान्य है। इसको ठेठ हिन्दुस्तानी का ही विकसित रूप मानना अधिक युक्ति युक्त है। यह वस्तुतः हिन्दी की ही एक शैली है। उर्दू के प्रसार और उसके ऊपर पड़े हुए प्रभावों के विषय में डा० सुनीत कुमार चटर्जी का मत जान लेना आवश्यक है[2] "उर्दू अफगान प्रदेश की सीमा से लेकर बंगाल तक के उत्तरी भारत के सारे शरीफ मुसलमानों की साहित्यिक भाषा है। पूर्वी पंजाब एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा कुछ अंशों में हैदराबाद दक्कन के कुलीन मुसलमान अपने घरों में इसका विशुद्ध रूप बोलते हैं या बोलने की कोशिश करते हैं। शहरों के रहने वालों में बोलने वालों की शिक्षा तथा सामाजिक स्तर के अनुसार इसमें न्यूनाधिक परिमाण में स्थानीय बोलियों का मिश्रण रहता है······हिन्दुस्तानी के इस 'उर्दू' रूप का १७ वीं शती ई० के पूर्व कोई अस्तित्व ही न था। इधर इसकी शब्दावली अत्यधिक फारसीकृत हो गई, यहाँ तक कि कई बार पूरे के पूरे वाक्य केवल एकाध भारतीय अर्थात् हिन्दी शब्द या शब्दांश को छोड़ कर बिल्कुल फारसी तथा अरबी शब्दों से ही बने हुए हैं।····· परन्तु उर्दू की फारसी अरबी शब्दावली एवं फारसी अरबी लिपि······भारतीय मुसलमानों के लिए सबसे बड़े आकर्षण हैं। इसके अतिरिक्त······सारा उर्दू साहित्य मुसलमानी भावना, विचार एवं प्रेरणा पर ही आधारित है। इस दृष्टि से उर्दू बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, पंजाब, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, महाराष्ट्र, गुजरात, सिन्धु, यहाँ तक कि द्राविड़ भाषी दक्षिण के मुसमानों की भी महान सांस्कृतिक भाषा बन गई है।" वैसे पंजाब और उत्तर प्रदेश के हिन्दुओं के घरों में भी उर्दू व्यवहार में लाई जाती है। ईसाइयों ने भी अपने धर्म प्रचार का इसे कुछ सीमातक माध्यम बनाया था। ब्रिटिश सरकार ने तो इसे अंग्रेजी के पश्चात् द्वितीय राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठा दी थी। वैसे उर्दू में कुछ राष्ट्रीय भावनाओं का भी पुट आया था।

वस्तुतः सरल उर्दू और सरल हिन्दी में कोई मौलिक भेद नहीं है। इनके समन्वय की ही आवश्यकता है। फारसी और संस्कृत की तत्समता तथा फारसी लिपि दोनों को अलग बनाए हुई है। दोनों के गठन में साम्य है।

[1] प्रोसिडिंग्स एण्ड ट्रांजेक्शन ऑफ आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस, लखनऊ, १९५१, पृ० २४७

[2] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १७३-१७४

६.२.६ **खड़ी बोली**—खड़ी बोली का अर्थ आज परिनिष्ठित हिन्दी हुआ कि है। इस शब्द का यह भाषार्थक प्रयोग अर्वाचीन ही है। खड़ीबोली दिल्ली मेरठ के आसपास की बोली के लिए प्रयुक्त शब्द था जिसका इस रूप में अर्थ विकास हुआ है। इसका कारण यह हो सकता है कि उक्त बोली के मूल ढाँचे को लेकर ही परिनिष्ठित हिन्दी का अधिकांश रूप गठित हुआ है। इस शब्द के प्रयोग और इसके अर्थ विकास क्रम पर संक्षेप में दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा।

६.२६—१ **'खड़ी बोली' के भाषार्थक प्रयोग का इतिहास**—इस शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग फोर्टविलियम कालिज में हुआ। लल्लूजी लाल, तथा सदल मिश्र ने अपने गद्य ग्रंथों में भाषा के अर्थ में खड़ी बोली का प्रयोग किया।[1] स्वयं डा० गिलक्राइस्ट ने खड़ी बोली शब्द का अपने 'द हिन्दी स्टोरी टैलर[2]', 'द ओरिएँटल फैब्यूलिस्ट[3]' तथा 'द हिन्दी-रोमन आर्थो एपिग्रेफिक अल्टिमेटम',[4] आदि में अनेक बार उल्लेख किया है। इससे पूर्व 'ओरिएंटल लिंग्विस्ट (१७९८ ई०) तथा 'अपेंडिक्स टु गिलक्राइस्ट डिक्शनरी (१७९८) में 'खड़ी बोली' नहीं, हिन्दवी शब्द का प्रयोग मिलता है। हिन्दवी' के उल्लेख से प्रकट होता है कि यह मुस्लिम-पूर्व देश-भाषा थी और अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दुस्तानी का आधार थी।[5] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि हिन्दवी' के स्थान पर 'खड़ी बोली' शब्द का भाषार्थक प्रयोग लल्लू जी लाल से पूर्व प्रचलित नहीं था। इस नए नाम से अभिहित भाषा के आगे के कुछ विद्वानों ने नई बोली या भाषा ही समझा। राजा शिवप्रसाद के कथन से यह

[1] 'श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत १८६० में लल्लू जी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती, सहस्र अवदीच आगरे वाले ने जिसका सार ले यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह नाम प्रेम सागर धरा।' [प्रेम सागर, १८५०, प्रथम संस्करण, पृ० १]

'अब सं० १८६० में नासिकेतोपाख्यान को जिसमें चन्द्रावती की कथा कही है देववाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता इसलिए खड़ी बोली में किया' [नासिकेतोपाख्यान', पृ० २]

'अब इस पोथी को भाषा करने का कारण सिद्ध हैं कि मिस्टर जान गिल.क्रस्त साहब ने ठहराया और एक दिन आज्ञा दी कि अध्यात्म रामायण को ऐसी बोली में करो जिसमें अरबी फारसी न आवे। तब मैं इसको खड़ी बोली में कहने लगा और सं० १८६२ में इस पोथी को समाप्त किया और नाम इसका रामचरित्र रखा।' [रामचरित्र, पृ० २ (हस्तलिखित प्रति) इण्डिया आफिस, हिन्दी अनुशीलन,' पृ० ३४ वर्ष ७, अंक १

[2] The Hindie Story Teller, Vol. II 1803, Calcutta, P. 2

[3] The oriental Fabulist, P. 5, 1803, calcutta.

[4] The Hindee-roman ortbo-epigraphic ultimatum, P. 19 (boat uote) 1804, calcutta

[5] Oriantal Linguist, P. 3, 1798, Calcutta.

स्पष्ट होता है।[१] ग्रियर्सन को भी इसी प्रकार का भ्रम हुआ।[२] सदलमिश्र और लल्लू जी लाल दोनों के कथनों से स्पष्ट होता है कि उन्होंने 'यामनी भाषा या अरबी फारसी शब्दों का अपनी कथा-भाषा से बहिष्कार करके 'खड़ी बोली' में कथा कहीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि विदेशी प्रभावों से मुक्त भाषा को खड़ी बोली माना गया।

इन कथनों ने एक निराधार भ्रांति को और जन्म दिया : उर्दू से ही खड़ी बोली का जन्म हुआ। उर्दू में अरबी-फारसी का मिश्रण रहता था, खड़ी बोली उन तत्वों को उससे अलग करके बनाई गई। डा० अब्दुल हक़ ने यह बात कहीं "फोर्ट बिलयम कालेज के मुंशियों ने (खुदा उनका अरवाह को शरमाए) बैठे-बिठाए बिला वजह और बगैर जरूरत यह शोश: छोड़ा। लल्लूजी लाल ने जो उर्दू के जबादाँ और उर्दू किताबों के मुन्सिफ भी थे, इसकी बिना डाली। वह इस तरह कि उर्दू की बाज किताबें लेकर उन्होंने उनमें से अरबी-फारसी लफ्ज चुन-चुन कर अलग निकाल दिए और उनकी जगह संस्कृत और हिन्दी के नामानूस लफ्ज जमा दिए, लीजिए हिन्दी बन गई।"[3] इस भ्रम के शिकार पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी हुए : "खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान गद्य-पद्य को देख कर यह जान पड़ता है कि उर्दू रचना में अरबी फारसी तत्सम या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बनाली गई।...हिन्दी गद्य भाषा लल्लू जी लाल के समय से आरम्भ होती है... "पुरानी हिन्दी गद्य और पद्य खड़े रूप में मुसलमानी है।....विदेशी मुसलामानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी बोली' को 'खड़ी' बनाकर लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया।[४]" यही बात जगन्नाथदास रत्नाकर ने दुहराई।[५] लाला भगवानदीन के विचार से। 'फारसी में ही कुछ ब्रज और कुछ बांगड़ू का टेल लगा कर बोली को 'खड़ा कर दिया गया है और उसका नाम पड़ गया 'खड़ी बोली'। (खड़ी बोली किसी बोली का नाम नहीं है, वह सिर्फ हिन्दी की तारीफ है) फारसी आर्याई बोली है।[६] भारतेन्दु ने इसको 'नई भाषा' या 'साधु भाषा' नाम से पुकारा है।[७]

डा० गिलक्राइस्ट प्रेमसागर की भाषा को ब्रज से प्रभावित और हिन्दुस्तानी

---

१ Hindi, Selections p. 11, 1867।

२ The modern vernacular liteature of Hindoostan, (Introduction) 1889.

3 उर्दू, पृ० ३८३, अंजुमन तरक्की ए उर्दू, औरंगाबाद (दकन) अप्रैल १९३७

४ पुरानी हिन्दी, पृ० १०८ (काशीनागरी प्रचारिणी सभा)

५ खड़ी बोली का आन्दोलन, पृ० २१ : डा० शितिकण्ठ मिश्र।

६ हिन्दुस्तानी पत्रिका, (१९४६) पृ० २५१।

७ हिन्दी भाषा, पृ० १०।

को ब्रजभाषा पर आधारित मान चुके थे।[१] पीछे कुछ लेखकों ने यह भी कहा कि खड़ी बोली और उर्दू हिन्दी की दोनों शैलियाँ ब्रज भाषा की पुत्रियाँ हैं। बालमुकुन्द गुप्त ने कहा : वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं व्रजभाषा से यह उत्पन्न हुई और वहीं उसका नाम हिन्दी रखा गया।[२] मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद ने उर्दू के इतिहास को यों स्पष्ट किया है : 'इतनी वात हर शख्श जानता है कि हमारी नई जबान विरजभाषा से निकली है और बिरजभाषा खास हिन्दोस्तानी जबान है। लेकिन वो ऐसी ज़ुबान नहीं है के दुनियाँ के परदे पर हिन्दोस्तान के साथ आई हो। उसकी उम्र आठ सौ बरस से ज्यादाह नहीं है और व्रज सब्जाजार उसका बतन है।[३]" पर ये सब भ्रम हैं। यथार्थ सामने आचुका है : 'शौरसेनी-अपभ्रंश प्रसूत पश्चिमी हिन्दी के मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोले जाने वाले एक रूप खड़ी बोली से वर्तमान साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई।"[४] डा० चटर्जी ने इसके 'खड़ी बोली' नाम पर लिखा है : हिन्दी हिन्दुस्तानी या हिन्दुस्तानी या हिन्दुस्थानी और खड़ी बोली वगैरह भिन्न-भिन्न नामों से कही जाने वाली केवल एक मूल भाषा है जो पश्चिमी श्रेणी के अन्तर्गत एक बोली या भाषा या उपभाषा मात्र है...... दिल्ली की बोली 'पाए तख्त' अर्थात राजधानी की बोली थी......मुसलमान राज्यशक्ति तथा उससे सम्बन्धित हिन्दुओं द्वारा व्यवहृत होने के कारण साहित्य की भाषा न होने पर भी बोलचाल की मुख्य अथवा प्रतिष्ठित भाषा होने से पीछे इसका नया नाम पडा, खड़ी बोली'।[५] डा० ताराचन्द के अनुसार 'हिन्दुस्तानी कोई मनगढंत नई भाषा नहीं है, वह वही खड़ी बोली है जिसे दिल्ली और मेरठ के आसपास रहने वाले बहुत पुराने वक्तों से बोलते चले आते हैं[६]" बोम्स ने भी इस भाषा का आधार दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्र की बोली माना है :[७] एलिफस्टन ने लिखा है कि हिन्दी और हिन्दवी में ही हिन्दू तथा मुसलमान बात करते थे।[८] इस प्रकार खड़ी बोली का क्षेत्र और नाम का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। बोलचाल के रूप में यह पहले से चली आरही थी और गद्य-साहित्य के माध्यम के रूप में इसका प्रवेश अर्वाचीन घटना है। न यह ब्रजभाषा से उत्पन्न हुई है और न उर्दू से। स्थान भेद से इसके रूप भी भिन्न हुए और नाम भी। साहित्य-जगत में

१ Proceedings of the council of the college of Fort William. Home miscellaneous Vol. I, P. 62-63.

२ हिन्दी भाषा (भूमिका 'क')

३ आबेहयात, जबाने उर्दू की तारीख, पृ० ६।

४ डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० ६।

५ भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ पृ० ५८

६ हिन्दुस्तानी, १९३८, पृ० २१३।

७ Report on the census of punjab. 162 (Taken on the 17th Feb. 1881)

८ The Hindu Rajas under the Mogals, Calcutta Review, 1871

हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुई, उर्दू रेखता, दखिनी आदि अनेक नामों से यह जानी जाने लगी।

६.२६-२. खड़ी बोली : अर्थ—इसके नाम का विश्लेषण करते हुए अर्थ की दो धाराएँ स्पष्ट होती हैं: खड़ी तथा खरी 'शुद्ध'। ईस्ट इण्डिया कालेज हेलबरी के हिन्दुस्तानी के अध्यक्ष ई० बी० इस्टविक ने प्रेमसागर (नवीन संस्करण १८५१) के हार्ट फोर्ड कोष में इन्हीं दो अर्थों को व्यक्त किया है।[१] केलॉज ने भी 'खड़ी' के स्थान पर 'खरी' का प्रयोग करके उसे शुद्ध भाषार्थक माना है।[२] इसी प्रकार जान प्लेट्स ने भी 'खड़ा'—खरा' में भेद नहीं किया।[3] टीग्राहम वेली ने खरी-खड़ी के विवाद और भ्रम को दूर करके 'खड़ा' को सामान्य अर्थ 'खड़ा' फिर 'प्रस्तुत' 'प्रचलित' और 'स्थापित' निश्चित किए।[४]

कुछ विद्वानों ने ब्रजभाषा से तुलना करके इसको कुछ कठोर और कर्कश माना। इसी से इसका नाम 'खड़ी बोली' पड़ा। कामता प्रसाद गुरु ने लिखा: ब्रज भाषा के ओकारान्त रूपों से मिलान करने पर हिन्दी के आकारान्त रूप खड़े जान पड़ते हैं—बुन्देल खण्ड में भी इस भाषा को ठाठ बोली (या तुर्की) भी कहते हैं।[५] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी कुछ इसी प्रकार की बात कही : ब्रज भाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ी-खड़ी लगती हैं, कदाचित इसी कारण इसका नाम खड़ी बोली पड़ा।[६] पं० किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है : मीठा जाता खाता आदि में जो खड़ी पाई आप अन्त में देखते हैं। वह दिल्ली के अतिरिक्त इसकी किसी दूसरी बोली में न मिलेगी। ब्रज में मींठ और अवधी 'मीठी चलता है······केवल कुरुजनपद में ही नहीं, यह खड़ीं पाई आगे पंजाब तक चली गई है······सो इस खड़ी पाई के आधार पर इसका नाम खड़ी बोली बहुत ही सार्थक है।[७]

---

१ (i) Erect, upright, steep, standing
(ii) Genuine, Pure went it (Krara)
खड़ी बोली—
Khasi Boli, the true geinine lane language i e the puse lauguage 3.
(Prem Sagur, P, 40 (Hertford) 185 l el. P 40

२ "This form of Hindi has also often been termed Khari Boli, or the Pure speech and also by some European scholars, after this analogy of the German High Hindi (A Gr of the Hindi language, Preface to the first Ed. p. xviii (F. N.).

3 A Dictionary of urdu classical Hindi and English (1930) oxford university Press.

४ Buletin of the school of oriental studies (1955-57)

५ हिन्दी व्याकरण, पृष्ठ १५ पाद टिप्पणी।

६ हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० ४१

७ हिन्दी शब्दानुशासन पृ० १५

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने ब्रजभाषा आदि के लिए 'पड़ी बोली' शब्द का भी प्रयोग किया है : हिन्दुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रज-भाषा या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी और गुजराती आदि ही में मिलती है—अर्थात् 'पड़ी बोली' में पाई जाती हैं। 'खड़ी बोली' या 'पक्की बोली' या रेख़ता या वर्तमान हिन्दी के वर्तमान गद्य-पद्य को देखकर यह जान पड़ता है कि उर्दू-रचना में फारसी-अरबी-तत्सम या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बनाली गई—विदेशी मुसलमानों ने आगरा, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी बोली' को 'खड़ी' बनाकर लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया।[1] डा० चटर्जी का मत भी देख लेने योग्य है : अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दुओं का ध्यान दरबार की परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) बोली की ओर गया। उसका नाम तो पड़ा 'खड़ी बोली' और ब्रज भाषा, अवधी आदि शेष बोलियाँ 'पड़ी बोली' कही जाती थी।[2]

लल्लूजीलाल ने 'खड़ी बोली' का ही प्रयोग किया था, 'खरी' का नहीं। पर इसका अर्थ गिल क्राइस्ट ने ही प्योर' स्टर्लिंग', टंग, पर्टिक्यूलर ईडियम। आदि किये। इसी 'प्योर' का संबंध खड़ी के स्थान वर प्रयुक्त 'खरी' से हो गया। जो ब्रजभाषा-प्रेमी थे, उन्होंने शुष्क, कर्कश, आदि अर्थो का आरोप किया। आज भी ब्रज में दिल्ली की तरफ की भाषा को 'ठाड़ी' (खड़ी बोली) कहते हैं। मौलाना अब्दुल हक[3], ग्रियर्सन[4] ने इसको 'गवारी बोली' कहा है। गिलक्राइस्ट द्वारा प्रयुक्त' 'वलगर' शब्द का तात्पर्य गँवारी नहीं, 'प्रसिद्ध', 'आम', मशहूर आदि थे।[5] 'गँवारी' शब्द के साथ 'गाँव-गाँव में प्रचलित' अर्थ उतना नहीं जितना घृणा का भाव लगा है। उर्दू के समर्थकों का इसमें हाथ रहा है। ब्रजभाषा-प्रेमी वर्ग भी इसकी निन्दा में हाथ बटाता था। वस्तुतः भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह पुरानी भाषा थी, जिसका आधार दिल्ली-मेरठ प्रदेश था। लल्लूजीलाल ने इस शब्द का प्रयोग विदेशी प्रभाव से मुक्त भाषा, जो जन-प्रचलित भी थी, के रूप में किया दीखता है।

६.३ हिन्दी का तत्व निरूपण—नव्य भारतीय भाषाओं के विकास क्रम पर पिछले अध्याय में विचार हो चुका है। प्राभाआ, मभाआ और नभाआ भाषाएँ इस विकास क्रम की कड़ियाँ हैं। सभी नभाआ भाषाओं के मूल उपादान और उनका आधार संस्कृत और प्राकृत बोलियों से निर्मित हैं। आर्येतर बोलियों का प्रभाव संस्कृत पर ही पड़ चुका था। अतः अनेक उपकरण आर्येतर बोलियां के भी संस्कृत के माध्यम से आये तथा जो नभाआ भाषाएँ आर्येतर भाषाओं से भौगोलिक समीपता

[1] पुरानी हिन्दी
[2] Indo Aryan and Hindi, P. 189 (1940)
[3] उर्दू जनवरी १९३४, (औरंगाबाद) जिल्द १४, हिस्सा ५३, सफा १६०।
[3] Linguistic Survey of India, Vol. 9 Part I, P. 291.
[5] Hindostani Philology, Vol. I, (1810)

के कारण सम्पृक्त रहीं, उन पर सीधे भी प्रभाव पड़ा मुसलमानों के आगमनसे अरबी फारसी प्रभाव भी आने लगे।

हिन्दी मभाआ भाषाओं के शौरसेनी वर्ग से संबंधित है। यह वर्ग मभासा काल में बहुत व्यापक और सबल वर्ग था। यह संस्कृत के अधिक समीप थी। अतः संस्कृत के अधिक तत्व इसमें सुरक्षित रहे। हिन्दी को इस वर्ग की व्यापकता विरासत में मिली। वैसे हिन्दी के चारों ओर मुख्यतः आर्य-भाषी प्रदेश ही हैं। अतः अनार्य भाषाओं के सीधे प्रभाव इस पर नहीं हुए। पर इतिहास की प्रगति में मुसलमानों और उनकी भाषाओं से आरंभ से ही हिन्दी को प्रभावित होना पड़ा। आधुनिक युग में अंग्रेजी का भी प्रभाव न्यूनाधिक पड़ा ही। इस प्रकार हिन्दी के उपकरण बहुस्रोती हैं। ढाँचा तो प्रभाआ मभाआ भाषाओं से बना है। और शब्दावली अनेक स्रोतों से आगत हैं।

६.३.१ संस्कृत उपकरण—हिन्दी की शब्दावली में तत्सम अर्द्ध तत्सम तथा तद्भव शब्द संस्कृत के प्रभाव के द्योतक हैं। आधुनिक भाषाओं में बंगला सबसे अधिक तत्सम बहुल है। हिन्दी में तत्सम शब्दों की संख्या उतनी नहीं है। किन्तु अब क्षेत्र और प्रयोग की व्यापकता के कारण हिन्दी में भी तत्सम शब्द बढ़ रहे हैं। तत्सम बहुल भाषा के साथ-साथ समानान्तर रूप से एक सामान्य हिन्दी शैली, या बाजारू शैली भी बोलचाल की भाषा के रूप में चल रही है, जिसका क्षेत्र बहुत अधिक है। वैसे अनार्य भाषाओं में भी संस्कृत तत्सम शाब्दों का बाहुल्य है (तमिल को छोड़कर) हिन्दी तत्सम शाब्दों के प्रयोग से उन भाषाओं की शब्दावली के अधिक समीप आ जाती है। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की तत्सम बहुलता का यह एक लाभ भी है। हिन्दी मे तत्सम और तद्भव शब्द साथ-साथ चलते हैं।

संस्कृत तत्सम संज्ञा शब्द तथा विशेषण संस्कृत विभक्ति प्रत्ययों से मुक्त होकर हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। कर्त्ता विभक्ति से रहित संस्कृप रूप हिन्दी में बहुधा प्रयुक्त होते हैं; यत्न, अग्नि, दाता(दातृ) माता (मातृ)। कुछ में और विभक्त्यंश के अतिरिक्त भी कुछ अंश छोड़ दिया गया है:मनस् > मन; चक्षुस > चक्षु। संस्कृत विभक्ति युक्त तत्सम शब्दों की संख्या, अत्यल्प है। जैसे-अर्थात् येन केन प्रकारेण, सुखेन आदि। ऐसे तत्समों का प्रयोग अत्यन्त सीमित हैं कभी कभी तत्सम संख्यवाचक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं: तृतीय, चतुर्थ आदि। हिन्दी की क्रियाएँ तो निरपवाद रूप से तद्भव ही हैं। -त् वाला संस्कृत भूत० कृ० रूप मिल जाता है: कृत (√कृ-) उक्त (√वच्) मोहित आदि भविष्य कर्म वाच्य कृयन्त भी मिलते हैं: कर्तव्य। अनीय वाले तत्सम रूप भी प्राप्त होते हैं: दर्शनीय, ग्रहणीय। संस्कृत के कुछ तत्सम क्रिया विशेषण भी हिन्दी में आ गये हैं। इन सबके होते हुए भी तत्समता की प्रवृत्ति विशेष रूप से संज्ञा के क्षेत्र में ही मिलती है।

अर्द्ध तत्सम—शब्द तत्सम और तद्भव के बीच के हैं। इनका विकास क्रम तद्भवों से भिन्न रहा। तथा इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग विशेषतः पण्डिताऊ वर्ग

में विशेष रहा । कृष्ण का प्राकृतों में स्वभावतः कण्ह हुआ फिर कान्ह । पर उसका एक कसण रूप भी मिलता है जिसे अर्द्धतत्सम कहा जायगा । इसी प्रकार पद्म>पदुम (पौम्म) । इसी प्रकार हिन्दी के किशन चन्दर, लगन आदि शब्द अर्द्धतत्सम हैं ।

हिन्दी में तदभवों की संख्या सबसे अधिक है । तद्भवों का उदय संस्कृत से ध्वनिमूलक परिवर्तनों से उत्पन्न अतंरों के कारणों से हैं। तद्भवों के संबंधमें विचार करना इन्हीं ध्वनि-विकास के नियमों और रूपों पर विचार करना होगा । हिंदी में एक प्रवृत्ति ह्रस्वस्वरों के लोप की है । इससे संस्कृत के अनेक शब्द तद्भव बने हैं : भीगना<अभ्यंजनं; बैठा<उपविष्ट संस्कृत स्त्रलिंग-आ>अ, : वार्ता>वात;नींद । अन्त्य ए>-अ भी : समीप <समीपे अ>ऊ भी है : मूँछ (=सं०श्मश्रु) इसी प्रकार के स्वरों में अनेक परिवर्तन हुए जिनसे संस्कृत शब्द तद्भव होकर हिन्दी में प्रयुक्त होने लगे ऋ के अनेक परिवर्तन हुए : ऋ>रि, इ, अ, उ, ऊ आदि । रिषि (ऋटषि) बिच्छु (=वृश्चिक) गेह (=गृह) रूख (=वृक्ष) आदि । कुछ स्वरों का दीर्घी करण भी हुआ : यह विशेषतः संयुक्त व्यजनों के सरलीकरण से हुआ: चीता (=चित्रक) हाथ (=हस्त) मध्यवर्ती स्वरों के ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति भी अनेक तद्भवों के लिए उत्तरदायी है । बटमार (=बाट+मार) फुलवाड़ी (=फुलवारी) आदि । स्वरागम के भी कारण संयुक्त व्यंजनों से आरंभ होने वाले पदों में हुआ : अस्तुति (=स्तुति) संस्कृत की संधियों के नियमों मे भीं विकास हुआ । इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वर विकास के कारण अधिकांश तद्भव शब्द बने ।

व्यंजनों का विकास भी अनेक तद्भवों का कारण है । अधिकांश स्वर-मध्यवर्ती व्यंजन (कुछ को छोड़ कर) मभाआ में ही लुप्त होने लगे थे । इससे पद के रूपों में अन्तर उपस्थित हुआ : सुई (=सूची) कुआ (=कूप) । यह व्यंजन-लोप अनेक प्रकार से हुआ । ओष्ठ् ध्वनियों के मृदुलीकरण से भी अनेक तद्भवों का जन्म हुआ । बौना (=बामन) चौर (चमर); और (=अपर) आदि । अन्त्य ब्यंजन के लोप की भी प्रवृत्ति है : यश (=यशस्) दस (=दशन्) । पद आरंभ के व्यंजन प्रायः सुरक्षित रहे । इसके अपवाद ऊष्म या हकार के प्रभाव मिलते हैं : भबूत (=विभूति) ; फाँस (=पाश) भाप (=वाष्प) । कठोर अघोष का सघोषों में मृदुलीकरण भी मिलता है : काग (=काक); घोड़ा । (=घोंटक ताव(=ताप) मूर्द्धन्यों के रूप में दन्त्यों का विकास भी मिलता है : डाह (=दाह) टीका (=तिलक) । कहीं कहीं इसका उल्टा भी मिलता है : दबना (=डप्) । अनुनासिक व्यंजनों में भी परिवर्तन हुए । अर्द्धस्वरों में भी परिवर्तन हुए । आदि य—> ज—: जुग (=युग) साथ ही सूरज (=सूर्य) । ख, घ, थ, घ, भ के स्थान पर 'ह' ही रह गया : मुँह (=मुख): मेंह (=मेघ); कहना (कथन) आदि ।

संयुक्त व्यंजनों में भी अनेक परिवर्तन हुए । इनमें सरलीकरण, समीकरण की प्रवृत्तियाँ पहले से चली आ रही थीं । हिन्दी में संयुक्त व्यंजनों के सरली करण और पूर्व स्वर का क्षतिपूरक दीर्घीकरण विशेष मिलता है । संक्षेप में ये ही स्वर

और व्यंजन के विकास की दिशाएँ हैं जो तद्भवों के लिए उत्तरदायी हैं। तद्भव शब्दों की सख्या की अधिकता भाषा की प्रगतिशीलता और शक्ति का प्रतीक है।

६.३.२. **देशी**—भरत ने तत्सम और तद्भवों के अतिरिक्त शब्दों को देशी या देश्य भी कहा है।[1] छटवी शती में चण्ड ने 'देशी—प्रसिद्ध' शब्द का प्रयोग आ—संस्कृत तथा अ—प्राकृत शब्दों के लिये किया है।[2] पीछे 'देशी' शब्द अपभ्रंश वाचक भी हो गया था। हेमचन्द्र की 'देशी नाममाला' देशी शब्दों का कोष है। पर जिन शब्दों को प्राकृत वैयाकरणों ने देशी संज्ञा दी है, उनमें से कुछ की व्युत्पत्ति संस्कृत से ही है[2] और कुछ का स्रोत अनार्य भाषाओं में है। ए० एन उपाध्ये ने कुछ का स्रोत कन्नड़ में बताया है।[3] इस प्रकार 'देशी' शब्दों के रूप में द्राविड़ प्रभाव भी आया है। पर इन शब्दों की व्युत्पत्ति पर सावधानी से अध्ययन होना चाहिए। इस प्रकार के शब्दों में पोट्ट > पेट ; गोड्डु > गोड़ हैं। मराठी में तुप्प > तूप (घी) के लिए मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति कन्नड़ से बताई जाती है। पर संस्कृत में अनार्य स्रोत से आये हुये शब्द भी हिन्दी में चले आये हैं। पूजा, पुष्प, नाना, मयूर, कदलि आदि ऐसे ही शब्द माने जाते हैं। कुछ शब्द प्राकृतों के माध्यम से आये हैं। अधिकांश अनुरणनात्मक शब्दों को देशी शब्दों कह दिया जाता है। मूर्द्धन्यध्वनियों का मूल भी भारत के आदिवासियों की भाषा में माना जाता है।[4] पर यह मत संदिग्ध है।

६.३.३. **अन्य विदेशी तत्व**—अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय आर्यभाषाओं में अनेक विदेशी तत्वों का समावेश होने लगा था। अनेक शब्द सम्भवत: आर्यों की भारत-यात्रा के समय ही उनकी भाषा में आ गये थे आज उनको खोजना भी कठिन है। अनेक शब्द भारत के अनेक देशों से संपर्क-सम्बन्ध के परिणाम स्वरूप आ गये। संस्कृत लौह (=हि० लोहा) की व्युत्पत्ति सुमेरीय रोध से मानी जाती है। हिन्दी मन (तोल) की व्युत्पत्ति बेबीलोनीय मिना शब्द से मानी जाती है।

पीछे भी शक, ग्रीक्स आदि जनों से भारत का संबंध रहा। परस्पर प्रभाव इतिहास सिद्ध हैं। प्राकृतों में अनेक विदेशी शब्द प्रविष्ट हो गये। इनमें से कुछ शब्द नभाआ भाषाओं में भी आ गये हैं। ग्रीक 'द्रख्मे' शब्द संस्कृत में द्रम्य हो गया तथा उसका विकसित रूप हिन्दी में दाम मिलता है। ग्रीक देमिदालिस हिन्दी का सेवइयाँ बन गया। मिश्र, सिरिया आदि देशों के भी अनेक आगत शब्द हैं।

६.३.४. **अरबी-फारसी तत्व**—ऊपर जिन तत्वों की चर्चा की गई है, वे हिन्दी के जन्म से पूर्व ही संस्कृत-प्राकृत में आ चुके थे। हिन्दी के जन्म से ही उस पर अरबी-

---

[1] नाट्य शास्त्र १७।३

[2] पी० एल० वैद्य 'ऑब्जरवेशन्स आन हेमचन्द्र' ज देशी नाम माला; Annals of the Bhandakar lor oriental Research Institute'(Poona)8, PP. 63-71

[3] Kanarese words in Desi Lexicons, ABORI; 12, PP 274-84

[4] Prof Monier-williams, संस्कृत ग्रामर, P. XXIV (foot note)

फारसी का प्रभाव पड़ना आरंभ हुआ। मुस्लिम आक्रमणों तथा उनके द्वारा भारत विजय ने हिन्दी की एक शैली 'उर्दू' के लिए पृष्ठभूमि बना दी : कालान्तर में वह भी एक साहित्य भाषा बनी[१] उक्त भाषाओं का हिन्दी व्याकरण पर कम या बिल्कुल प्रभाव नहीं हुआ। पर शब्द विशेष रूप से हिन्दी में आये। अरबी मिश्रित फारसी तुर्क विजेताओं के साथ सांस्कृतिक भाषा के रूप में भारत में आई। मुसलमान बादशाहों की राजभाषा के रूप में भी यह मान्य हुई। इस प्रकार भारत के शासनीय जीवन में फारसी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। इसी वातावरण में एक ओर उर्दू बनी, दूसरी ओर फारसी शब्द हिन्दी में प्रवेश पाने लगे। पर शब्दों का आगमन स्वाभाविक रूप से हुआ।

हिन्दी में आज तुर्की, अरबी तथा फारसी के शब्द मिलते हैं। तुर्की शब्दों की संख्या बहुत कम है। उर्दू, आका, कलगी, कैंची, काबू, कुली गलीचा, चाकू, चिक तमगा, तोप, दरोगा, बेगम, बकचर आदि शब्द तुर्की के ही हैं। फारसी शब्दों का प्रयोग भी प्रायः सभी नभाआ भाषाओं होने लगा। आदमी, औरत, बच्चा, हवा, जमीन, आहिस्ता, नजदीक, शर्म, हिसाब-किताब, सिराही, फौज, मौज, मुर्दा जैसे फारसी शब्द हमारे दैनिक जीवन में भी प्रविष्ट हो गये हैं। अरबी प्रभाव फारसी के माध्यम से आया। सामान्यतः मुसलमानों में अरबी के धार्मिक शब्द अल्लाह, पैगम्बर, नमाज, रोजा, जैसे शब्द प्रचलित रहे। अरबी शब्दों का फारसीकृत उच्चारण ही हिन्दी में प्रचलित हुआ। अरबी कादी, फारसी की तरह काजी होकर ही प्रचलित हुआ। अरबी फारसी ध्वनियों और हिन्दी में आगत प्रत्ययों का विवरण यथास्थान दिया गया है।

६.३.५. **यूरोपीय भाषाओं के शब्द (क) पुर्तगाली शब्द**—सन् १४६७ में बास्को डिगामा दक्षिण भारत में कालीकट में उतरा। गोवा, गुजरात, महाराष्ट्र तथा बंगाल में इनका प्रभाव बढ़ता गया। इन स्थानों की भाषा भी पुर्तगाली भाषा से प्रभावित हुई। हिन्दी पर यह प्रभाव सीधा नहीं पड़ा। हिन्दी में पुर्तगाली शब्दों की यह सूची दी जाती है : अनन्नास, अलमारी, अचार, आलपिन, आया, इस्पात, इस्त्री, कमीज, कनस्तर, कमरा, काज, काफी, काजू, किरच, गमला, गारद, गोभी, गोदाम, चाबी, तम्बाखू, नीलाम, परात, पादरी, पिस्तौल, पीपा, फीता, बाल्टी, बिस्कुट, बटन, बोतल, मिस्त्री, मेज, लबादा, सन्तरा, सागू, बंडल आदि। इनमें से कुछ शब्द तो सामान्य व्यवहार में इतने प्रचलित हो गये हैं कि उनके स्थान पर अन्य पर्यायवाची शब्द रखना कठिन है।

(ख) फ्रेंच शब्द—फ्रांसीसियों ने भी भारत में अपने उपनिवेश बनाए। फ्रांसीसी[१]

---

१ Kellog, Although this (urdu) is commonly contrasted with Hindi, in the narrower sense of that word, it is essentially merely a dialect of that language, and differs from others chielly in the very great extent to which Arabic and persian words and Phrases have been substituted for those of Sanskrit and Prakritorigin —AGrammar of the Hindi Language; P. 36.

शब्द अत्यल्प मात्रा में ही भारतीय भाषाओं में प्रविष्ट हो सके। हिन्दी में कारतूस, कूपन तथा अंग्रेज शब्द फ्रेंच के हैं।

कुछ शब्द डच के भी हैं। उदय नरायण तिवारी ने पांच शब्द दिये हैं: एक चिड़िया चिड़िया (चिड़ितन), तुरुप, ताश के पत्ते हैं। अन्य शब्द इसक्रू (अं Screw) तथा बम (गाड़ी में प्रयुक्त आगे की लंबी लकड़ी)।

(ग) **अंग्रेजी शब्द**—यूरोपीय भाषाओं में अंग्रेजी ने हिन्दी की शब्दावली को अत्यन्त प्रभावित किया। इसका कारण अंग्रेजों के साथ भारत का दीर्घ संपर्क संबंध है। अंग्रेजी शब्दों की एक लम्बी सूची दी जा सकती है। पर यहाँ कुछ अंग्रेजी 'तद्भवों की सूची ही पर्याप्त होगी जिनका प्रयोग हमारे दैनिक जीवन में अधिक होता है: लालटेन, स्टेशन, टिकट, पल्टन, डाक्टर, डिप्टी, अर्दली, रसीद रपट माचिस, मिनट मोटर, मास्टर, राशन, कार्ड, लाइब्रेरी, बोट, समन, सन्तरी, फेल, फोटो, बिल्टी, बैरंग, बुरुश, मशीन, लेक्चर, सीमेंट, जज्ज, सिगरेट, हारमोनियम, कटफीस, कमेटी अपील, अफसर, इंच, इस्पिरिट; एक्टर, कलट्टर, कमिश्नर, कम्पनी, कलंडर, कम्पोटर, कालर, कन्नस, (कार्निस) कांग्रेस, कानिस्टबल, क्वाटर, किलास, किलर्क, किलफ (किलिपि) कल्तार, कुइला, कोट, कोरट, कौंसिल, गजट, गाटर, गिलास, गिन्नी, गेट, गेटिस, गैस, घासलेटी, चिमनी, चेयरमैन, चैन, जंटलमैन, जंट, जंपर, जाकट, जेलर, टब, ट्रंक, ट्राली, टिमाटर, टिंपरेचर, टीन, टयूब, टैम, टेलीफून, टैर, टौल, ठेठर, डबल, डायरी, डिग्री, डूटी, डेरी, डौन, तारकोल, थरमामीटर दर्जन, दलेल, (ड्रिल) नर्स, नंबर, नेकर, निब, निखलस, नोटिस, नोट, पलस्तर, पतलून, पंचर, पंप, पाकेट, पारक, पालिस, पार्टी, पार्सल, पिलौट, पिसन, पिंसिल, फारम, पिट्रौल, पिपरमेंट, पुल्टिस, पुलिस, पेटीकोट, प्रेस, पैप, पैटमैन, पोसकाट, पौडर, फलालैन, फरलांग, फारम, फीस, फुट, फैसन, बंक, बकस, बनयाइन, बाडीस, बारिक, बुक्सेलर, मनिआर्डर, मफलर, मलेरिया, मनेजर, मास्टर, मारकीन, मिल, मेम, रंगरूट, रबड़, रजिस्ट्री, रेल, रैफिल, रोड, लंपलाट, लंप, लफटंट, लंबर, लाट, लैटर बक्स, बास्कट, वाइल, वारंट, वालहियर, वैसलीन, सरज, सरकस, सार्टीफिक्ट सिलक, सिंगल, सिलीपर, सिलेट, सिट, (set) सेसन, हाईकोर्ट ये शब्द इतने प्रचलित हैं कि गांवों में भी समझे जा सकते हैं।

इस प्रकार हिन्दी भाषा की समृद्धि के अनेक स्रोत हैं। हिन्दी में अन्य प्रादेशिक बोली-भाषाओं के शब्द भी आये हैं। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी प्रादेशिक भाषाओं के आगत शब्दों की संख्या बढ़ती ही जायेगी: इससे भाषा की शक्ति बढ़ेगी उसका समन्वयात्मक रूप अधिक पुष्ट होगा।

७·० **भाषा और बोली: सामान्य सिद्धान्त**—सभी भाषाओं में बोलीगत विभेद मिलते हैं। संसार की छोटी से छोटी भाषाएं भी बोलीगत विभेदों से मुक्त

नहीं हैं।[१] अपने मूल स्थान पर अंग्रेजी में भी बोलीगत भेद हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की भाषा उसकी बोली है।[२] इस प्रकार बोलियों की संख्या अनन्त होगी। पर व्यावहारिक दृष्टि से बोली के ये रूप महत्वपूर्ण नहीं हैं। बैज्ञानिक दृष्टि से इन वैयक्तिक बोली रूपों का भी अध्ययन आवश्यक और मनोरंजक होता है। कुछ समानताओं के आधार पर बोली के पारिवारिक तथा क्षेत्रीय रूप स्थिर किए जाते हैं।

बोलीगत भेदों का कारण ऐतिहासिक, भौगोलिक या जातीय परिस्थितियाँ हो सकती हैं। अन्य समीपवर्ती भाषा या बोली के प्रभाव स्वरूप भी बोलीगत अन्तर उपस्थित हो जाता है। इन परिस्थितियों पर ही किसी भाषा में कम और किसी में अधिक भेद होना आधारित है। बोली घरेलू और क्षेत्रीय हो सकती है। बोलियों में भी कम और अधिक महत्वपूर्ण हो सकती हैं। केन्द्रीय स्थिति, दीर्घ ऐतिहासिक परम्परा, साहित्य-रचना, साम्प्रदायिक या सांस्कृतिक पृष्ठभूमि आदि तत्वों पर बोली का महत्व निर्भर रहता है। उक्त कारणों से बोली को भाषा की प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो सकती है। डा० कैलाशचन्द्र भाटिया ने कुछ उदाहरण दिए हैं : "बंगाल में साहित्यिक श्रेष्ठता से, कलकत्ते की बोली को महाराष्ट्र में मराठी सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र पूना से पूना की बोली को, साहित्यिक तथा धार्मिक केन्द्र के होने से मथुरा की बोली को क्रमशः बंगाली, मराठी, ब्रज की प्रधान बोली होने का गौरव प्राप्त हुआ। मध्यदेशीय समस्त बोलियों मे से खड़ी बोली (मेरठ, मुजफ्फर नगर, मुरादाबाद) जो पश्चिमी क्षेत्र की बोली मात्र थी, 'खड़ी बोली' भाषा बन बैठी, भाषा ही नहीं अनेक कारणों से, परम्परागत अधिकारों से राजनीतिक परिवेश में आकर, राजभाषा के पद पर विराजमान है[3]" इनमें सबसे अधिक पुष्ट आधार भौगोलिक ही होता है।

कभी कभी बोलीगत भेद इतना अधिक हो जाता है कि उनको किसी केन्द्रीय भाषा से सम्बद्ध कर सकना ही कठिन हो जाता है। बोधगम्यता भी कम होते होते समाप्त हो जाती है। अतः बोलियों के विस्तार को किसी भाषा का विस्तार कहना

१ 'In fact, it may be said that no language in the world, however small the extent of country in which it is spoken, is free from dialectic variations. Beams"Outline of Indian Philology and other Philological Paper (Reprinted from Indian Studies, Past and Present, ch. 5., P. 32

२ 'Two individuals of the same ganeration and locality, speaking precisely the same dialect and moving in the same social circles, are never absolutely at one in their speech habits......In a sense they speak slightly divergent dialects of the same language rather than identically the same language.? Sapir, Language, 1949, P. 147.

3 सप्तसिंधु, जुलाई १९६१, पृ० ३९।

संदिग्ध होने लगता है। इसी कारण से कुछ लोग हिन्दी के विस्तार-क्षेत्र को संकुचित करने तथा उसके साहित्य के इतिहास को नवीन सिद्ध करने के लिए हिन्दी की राजस्थानी, बिहारी आदि बोलियों को हिन्दी से नितान्त भिन्न मानते हैं। इन प्रदेशों को इसी आधार पर हिन्दी क्षेत्र से काट देना चाहते हैं। इस समस्या का मुखर रूप दक्षिण में विशेष रूप से मिलता है। मैंने स्वयं इस समस्या पर वक्तव्य सुने हैं। अतः इस पर कुछ विस्तार के साथ यहाँ विचार किया जाता है।

७·१. सामस्यिक—बोलियों को किसी एक भाषा के साथ वर्गीकृत कैसे किया जाय ? इसके लिए परस्पर-बोध गम्यता की कसौटी प्रस्तावित की जाती है। जिन बोलियों का किसी एक भाषा से संबंध है, उनमें कुछ उच्चारणगत विभिन्नता हो सकती है, पर वे सभी बोली-क्षेत्रों में समझी जा सकती हैं। पर यह कसौटी विद्वानों ने उपयुक्त नहीं मानी है। डा० ग्रियर्सन ने भी इसका खंडन किया था।[1] वस्तुतः बोधगम्यता केन्द्र से दूर होने पर उत्तरोत्तर कम होती जाती है। एक विन्दु वह भी आ सकता है जहाँ वह समाप्त भी हो सकती है। किन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह बोली, उस भाषा की नहीं है। डा० कैलाशचन्द्र भाटिया ने ठीक ही लिखा है : "वैसे तो पड़ौसी दो बोलियों में भी हर स्थान पर कुछ न कुछ साम्य व बोधगम्यता होती है और दूर की बोलियों में, चाहे वे एक ही भाषा की उपभाषा क्यों न हों, बोधगम्यता कम रहती है, फिर भी······वे एक ही भाषा के अन्तर्गत स्वीकार की जाती हैं।[2]" बीम्स ने इस कसौटी का घोर विरोध किया था। उनके अनुसार मनुष्य के बौद्धिक स्तरों में पर्याप्त अन्तर रहता है। उच्च स्तरों की भाषा या बोली उसी क्षेत्र के निम्न स्तर के लोगों की समझ में पूर्ण रूप से नहीं आ सकती। कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं, जहाँ शब्दगत समानता मिलती है। दोनों क्षेत्रों के लोग उन शब्दों को समझ लेते हैं। पर व्याकरण गत समानता न होने से उनको एक ही भाषा की बोलियों के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता।[3] इसका उदाहरण बंगाली और हिन्दी की शब्दगत समानता और व्याकरणगत विषमता है। दोनों में समान संस्कृत शब्दों की बहुलता है। अतः दोनों क्षेत्रों के लोग उनके अर्थ बोध में सक्षम हैं। पर व्याकरण के ढाँचे की इतनी भिन्नता है कि दोनों को एक ही भाषा की बोलियाँ नहीं कहा जा सकता। बीम्स ने इस पक्ष की पुष्टि में हिन्दी और पंजाबी का उदाहरण दिया है। पंजाबी और हिन्दी में व्याकरण-गत समानता पर्याप्त मात्रा में है, जबकि शब्दावली में भिन्नता अधिक है। अनेक संस्कृत शब्दों का प्रयोग हिन्दी से उठ गया है, पर पंजाबी में चला आरहा है। इसी प्रकार हिन्दी में

[1] भारत का भाषा सर्वेक्षण खण्ड, १, भाग १, १९५९, पृ० ४२ (हिन्दी अनुवाद)

[2] सप्तसिंधु, जुलाई १९६१, पृ० ३८-३९

[3] 'Outlines of Indian Philology and other philogical papers, P. 33

प्रयोग में आने वाले कुछ संस्कृत शब्द पंजाबी में अप्रयुक्त होगए हैं। साथ ही स्थानीय शब्दों में अन्तर है। विकास की स्थितियों में भी अन्तर है। द्वित्व की प्रवृत्ति पंजाबी में, प्राकृत आदि मध्ययुगीन भाषाओं की शैली पर मिलती है। हिन्दी में यह समाप्त हो चुकी है। इस कारण से दोनों में बोधगम्यता नहीं हैं। पर पंजाबी को हिन्दी की बोली कहा जा सकता है।[1] वस्तुतः मूल भारतीय आर्य भाषाओं की शाखा-प्रशाखाएँ होने के कारण, वर्तमान आर्य भाषाओं में अन्तर करना कठिन है। भाषा और बोलियों का अन्तर भी कठिन हो जाता है।[2]

कुछ बोलियों को तो निश्चित रूप से हिन्दी की बोलियाँ स्वीकृत किया जा सकता है, यद्यपि कुछ विद्वान व्रज, कनौजी, बुंदेली, अवधी आदि को भी हिन्दी की बोलियों के रूप में स्वीकार नहीं करते। पर राजस्थानी, पूर्वी तथा पहाड़ी बोलियों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। इनकी समस्या भी मुख्यतः ग्रियर्सन जैसे भाषा-विज्ञानियों की देन है। डा० विश्वनाथ प्रसाद का मत यह है 'कि देशी भाषाओं का पार्थक्यभाषाविज्ञान की देन है। ग्रियर्सन अथवा अन्य भाषावेत्ताओं ने भाषाओं का जो वर्गीकरण किया है और उसके आधार पर हिन्दी और उसकी बोलियों में जो भेदभाव बना है, वह भाषा वैज्ञानिकों की भूल के कारण है।[3] डा० धीरेन्द्र वर्मा भी ग्रियर्सन के मत से असहमत है।[4] उन्होंने कहा : यदि बाँटना है तो हिन्दी की १८ बोलियों के आधार पर १८ घर कर दिये जायें, पर बिहारी या राजस्थानी के आधार पर पाँच नहीं। बोलियों की एकता के कारण हैं—बोलियों में शब्दावली समान है ही। व्याकरणगत भेद सीमान्त बोलियों में अधिक हैं, पर इतना अधिक नहीं कि हिन्दी परिवार से बाहर की कही जा सकें। खड़ीबोली राजधानी के समीप होने के कारण प्रमुख होती गई। इसीलिए इन सभी बोली क्षेत्रों की एक ही भाषा हिन्दी हमारे संविधान में स्वीकृत है।

वास्तव में ग्रियर्सन के अनुसार हिन्दी के दो रूप पूर्वी और पश्चिमी हैं। राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी वर्ग पृथक हैं। उसी शैली में पीछे भारतीय भाषा-वैज्ञानिकों ने भी सोचना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मिथिला, राजस्थानी बोलियों के बोलने वाले अपने को हिन्दी से अलग समझने लगे। डा० वर्मा के अनुसार राजस्थानी या बिहारी कोई भाषा नहीं कहीं जा सकतीं। वे

---

१ अब पंजाबी को हिन्दी की बोली नहीं समझा जा सकता। पर बीम्स मानते थे। वही पृ० ३४

२ "In the languages of the Aryan family the existence of a well known common origin in the skt renders it unnecessary to enquire closely into the line which separates languages from dialects." वहीं पृ० ३४

३ बनारस में हुए हिन्दी सेमीनार, २६ दिसम्बर १९५८ के भाषण के अनुसार

४ उक्त सेमीनर में ३०-१२-५७ का भाषण

समुदाय हो सकते हैं। राष्ट्रभाषा आगरा और मेरठ के आसपास बोली जाती है। उसका विकास किसी एक संकुचित भू भाग से नहीं हुआ हैं, अपितु समस्त भू भाग से हुआ है। विभक्तियों और कुछ क्रियापदों को लेकर हिन्दी की विभिन्न बोलियों में जो भेद बतलाया जाता है, वह ठीक नहीं है। जो भेदभाव बतलाया जाता है, वह देश में चलती हुई विघटन की शक्तियों के विकास के कारण है। आज तो यह स्थिति जटिल है। बीम्स ने बहुत पहले ही भोजपुरी को हिन्दी की बोली स्वीकार किया था।[1] यद्यपि इसका बँगला से अधिक साम्य है, पर इन लोगों के संबंध हिन्दी क्षेत्रों से अधिक हैं। इस क्षेत्र के शिक्षित लोगों ने हिन्दी को अपना लिया है। इससे बोली भी हिन्दी से रंजित होती जाती है। केलॉग ने राजस्थानी और बनारस के आस पास की बोलियों के अन्तर को तो समझा था[2] पर इन्हें हिन्दी की बोलियों के अन्तर्गत ही रखा था। उन्होंने हिन्दी की बोलियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया था।

राजस्थानी	हिमालय	दोआब	पूर्वी	खड़ी बोली
१. मारवाड़ी	१. गढ़वाली	१. ब्रज	१. अवधी	उर्दू का आधार
२. मेवाड़ी	२. कुमाऊँनी	२. कनौजी	२. रीवई	(परिनिष्ठित)
३. मेरवाड़ी	३. नपाली		३. भोजपुरी	
४. जयपुरी			४. मागधी	
५. हड़ौती			५. मैथिली	

केलॉग ने इनकी सीमाओं के निर्धारण को कठिन बताया था, क्योंकि कोई महत्वपूर्ण प्राकृतिक विभाजक रेखाएँ नहीं हैं।

इस प्रकार पहले पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों के दो वर्ग थे। एक में ग्रियर्सन और हार्नले आते हैं जो राजस्थानी और बिहारी बोलियों को हिन्दी से सम्बद्ध नहीं करना चाहते थे। दूसरे में बीम्स और केलॉग आते हैं जो इनसे सहमत नहीं थे। प्रथम मत को विघटन और विभाजन की शक्तियों के प्रबल होने के कारण महत्व दिया जा रहा है। आगे के पृष्ठों में इन बोलियों के विवरण तथा तत्सम्बन्धी तुलनात्मक तालिकाओं से बोलियों का रूप स्पष्ट हो जायेगा।

[1] It is convenient to range the Bhojpuri as a dialect of Hindi and the Bangali as a distnict language, because although the former differs in grammatical formrs as widely from Hindi as the latter, yet, in the country where it is spoken it is confined entirely to the Peasantry, and every one who possesses a little education drops if for urdu.

[2] While some of these as Braj and Kanauji differ from each other but slightly, others, again as those of Rajputana in the west and of the region about Banaras and eastward, differ so widely that it may at least be regarded as an open question, whether we should not, with Hoernley Grierson and someothers ragrd them rather as distinct languages than as dialects. A Grammer of the Hindi Language, P. 65.

७.०२. **हिन्दी की बोलियाँ**—हिन्दी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। लगभग ढाई लाख वर्ग मील के क्षेत्र में जनसंख्या के बहुत बड़े भाग द्वारा किसी न किसी रूप में हिन्दी बोली जाती है। यह स्वाभाविक है कि इतने बड़े भाषा क्षेत्र में कुछ बोली गत अन्तर प्राप्त हों। ये कुछ ऐतिहासिक कारणों से हैं और कुछ स्थानीय प्रभावों के कारण। कुछ बोलियों में सामान्य अन्तर है। पर राजस्थान स्थित बोलियों और पूर्वी बोलियों में हिन्दी से कुछ अधिक अन्तर मिलते हैं। इन अन्तरों के आधार पर ग्रियर्सन और हॉर्नले ने इनको स्वतंत्र भाषाएँ मानना उचित समझा: इनको हिन्दी की बोलियों के रूप में स्वीकृत नहीं किया। इसी आधार पर एक भ्रम फैला गया है कि हिन्दी क्षेत्र की बोलियाँ परस्पर नहीं समझी जातीं। इसके आधार पर सीमाओं को संकुचित और हिन्दी भाषियों की संख्या को कम सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व समस्त बोलियों के रूपों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

७.१. **हिन्दी की बोलियों का वर्गीकरण**—हिन्दी की बोलियों का दो प्रकार का वर्गीकरण प्रचलित है: ग्रियर्सन वाला वर्गीकरण तथा केलॉग का वर्गीकरण। ग्रियर्सन ने राजस्थानी, बिहारी, तथा पहाड़ी वर्गों को पृथक भाषा-समूह माना है तथा मध्यदेश के शेष भाग को पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी भागों में विभक्त किया है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से यही हिन्दी क्षेत्र है। इन वर्गों के अन्तर्गत बोलियों को इस प्रकार रखा गया है। राजस्थानी वर्ग मे,—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती तथा मालवी को रखा गया है। बिहारी वर्ग में, भोजपुरी, मैथिली, तथा मगधी आती हैं। पश्चिमी पहाड़ी (गढ़वाली) मध्य पहाड़ी (कमाऊमी) तथा पूर्वी पहाड़ी (नेपाली) पहाड़ी वर्ग की बोलियाँ हैं। पश्चिमी हिन्दी, खड़ी बोली, बांगरू, ब्रज, कनोजी तथा बुंदेली का सामूहिक नाम है तथा पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ, अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी मानी गई हैं।

केलॉग ने ग्रियर्सन वाले वर्गीकरण पर कुछ नहीं कहा और अपना वर्गीकरण इस प्रकार किया:[1] हिन्दी का क्षेत्र उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी और विंध्याचल तक, पश्चिम में पंजाब, सिन्घ तथा गुजरात से लेकर पूर्व और दक्षिण पूर्व में बंगाल और छोटा नागपुर तक है। इस क्षेत्र में पश्चिम से पूर्व की ओर चलने से बोली क्रम इस प्रकार मिलता है: (१) राजस्थानी बोलियाँ: मारवाड़ी, मेवाड़ी, मैरवाड़ी, जैपुरी तथा हड़ौती; (२) हिमालयी बोलियाँ: गढ़वाली, कुमाऊनी और नैपाली; (३) दोआब की बोलियाँ: ब्रज तथा कनौजी; (४) पूर्वी बोलियाँ: अवधी, रीवाँई, भोजपुरी, मगही तथा मैथिली। इनमें (५) बैसवाड़ी तथा (६) खड़ी बोली (high Hindi) और सम्मिलित की गई हैं। इस वर्गीकरण में

[1] ए ग्रामर ऑफ दी हिन्दी लैंग्वेज, पृ० ६५

भौगोलिक दृष्टि प्रधान दीखती है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो विभाजन की रूपरेखा इस प्रकार से प्रस्तुत की जा सकती है—

पश्चिमी हिन्दी	खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कनौजी, बुंदेली	← [१] शौरसेनी अप० →	मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी	राजस्थानी वर्ग
पूर्वी हिन्दी	अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी	← [२] अर्द्ध मागधी अप० →	भोजपुरी, मैथिली, मगही	बिहारी वर्ग
पश्चिमी पहाड़ी—गढ़वाली; मध्य पहाड़ी—कमाऊनी		← [३] पहाड़ी →	नेपाली	पूर्वी पहाड़ी
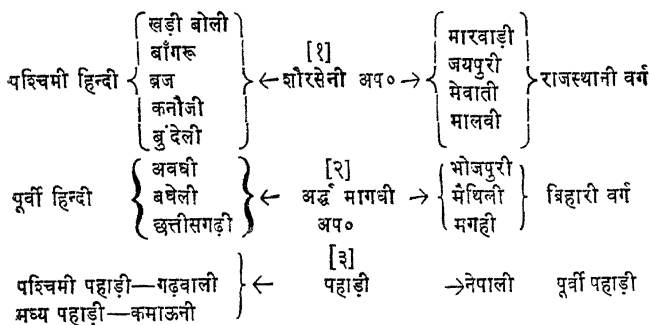
इन दोनों में मौलिक सैद्धान्तिक प्रश्न राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी वर्गों को हिन्दी क्षेत्र में सम्मिलित करने और न करने का है।

७.२ नीचे उक्त बोलियाँ या उपभाषाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। उनका विवरण हमको एक तुलनात्मक दृष्टि दे सकता है।

७.२.१ पश्चिम से चलने पर राजस्थानी वर्ग पहले आता है—इन बोलियों की सुनिश्चित सीमाएँ निश्चित करना कठिन है। मारवाड़ी हिन्दी की पश्चिमी सीमा है, पूर्व में इसकी सीमा अरावली श्रेणियाँ हैं। इसके मुख्य केन्द्र जोधपुर और जयनगर हैं। मेरवाड़ी अरावली के उत्तर मे प्रचलित है। मेवाड़ी अरावली के दक्षिण और पूर्व में, मेवाड़ या उदयपुर केन्द्र पर बोली जाती हैं। पूर्वी राजस्थान के उत्तरी भाग में जयपुरी और दक्षिण में कोटा, बूंदी तक तथा दक्षिण पूर्व में हरौती प्रचलित है। मारवाड़ी के उत्तर और पश्चिम में बीकानेरी तथा उत्तर और पूर्व में अलवरी मानी जाती हैं। हरौती के दक्षिण में उज्जैनी है। इस प्रकार राजस्थानी बोलियों का क्षेत्र काफी बड़ा है।

राजस्थानी वर्ग की बोलियों की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं: ध्वनियों की दृष्टि से न के स्थान पर ण, मिलता है। ब्रज अपनो~अपनौं, हौनौं > मारवाड़ी अपणो, होणो। दूसरी विशेषता स > ह की है : हिं० समझ > मार० हमझ ; साहब > हाब। स्वर मध्यवर्ती ह के लोप होने से जब दो स्वर पास आ जाते हैं, तो य, व जोड़ दिये जाते हैं : कवाबो (< ब्र कहाइबो, हिं० कहाना) सायब < साहिब। साथ ही ळ की ध्वनि मिलती है जो हिन्दी में नहीं है। ब्रज कनौजी, और बुंदेली की भाँति ओकारान्त विशेषण मिलते हैं। खड़ी बोली समूह में ये रूप आकारान्त हैं। ब्रज की भाँति मध्यग-अ-के स्थान पर आ को प्राथमिकता दी जाती है : लागणो (= लगना) मट्टी > राज० माटी, ब्र० माटी। राजस्थानी में ओकरान्तता का विस्तार संज्ञा तक है : घोड़े (= घोड़ा)।

ब्रज में भी ओकारान्त संज्ञाएँ मिलती हैं जो खड़ी बोली में आकारान्त हैं : जैसे तारौ (=ताला) जारौ~जारू(=जाल) । इस प्रकार ब्रज और राजस्थानी बहुत समीप हैं । क्रियार्थक संज्ञा के-ब-तथा-न वाले दोनों रूप ब्रज और राजस्थानी में मिलते हैं : राज० कवाबो = ब्र० कहाइबौ; होणों=बृ० हौनो । यह औकारान्तता प्रायः ब्रज बुँदेली, कनौजी तथा राजस्थानी को जोड़ती है ।

७.२.२. **पहाड़ी वर्ग**—इस वर्ग के बोलने वालों की संख्या लगभग २८ लाख है । पश्चिमी पहाड़ी बोलियों का क्षेत्र शिमला के आसपास है । इस में अनेक बोलियाँ है । इनमें जौनसारी, क्योंथली, कुलुई एवं चम्बाली मुख्य हैं । चम्बाली के अतिरिक्त सभी बोलियाँ टक्करी लिपि में लिखी जाती हैं । मध्य पहाड़ी बोलियों में अल्मोड़ा नैनीताल के प्रदेश की तथा गढवाली बोलियाँ हैं । गढ़वाली गढ़वाल तथा मसूरी के आसपास प्रचलित हैं । साहित्यिक व्यवहार के लिए यहाँ हिन्दी अपना ली गई है । पूर्वी पहाड़ी में नेपाली तथा उसकी बोलियाँ आती हैं । काठमंडू इसका केन्द्र है । टर्नर ने नेपाली का कोष लिखा है । नेपाली में साहित्य भी है : देवनागरी लिपि में यह लिखी जाती है : साहित्यिक हिन्दी की भी यहाँ मान्यता है । इन भाषाओं का सम्बन्ध शौरसेनी से अवश्य रहा और राजस्थानी का प्रभाव भी स्पष्ट है । नेपाली में कर्ता कारक तो है जो पश्चिमी हिन्दी की विशेषता है, पर कुछ रूपों में यह पूर्वी हिन्दी से भी मिलती है ।

पहाड़ी वर्ग की भाषा में दन्त्य न के स्थान पर राजस्थानी की भाँति ण का प्रयोग मिलता है : अपणौ (=हि० अपना) । ह केलोप प्रवृत्ति भी मिलती है कौणो (=हि०कहना), कैबो जैसे मारवाड़ी के उदाहरण भी ह केलोप की प्रवृत्ति रखते हैं । स > ह की प्रवृत्ति भी राजस्थानी और पहाड़ी में समान है: हाखिला (= हि० साँखिला)च>स की प्रवृत्ति इनकी एक विशेषता है: निस्सो (=हि०नीचे)। संज्ञाओं के उकारान्त रूप ब्रज में मिलते हैं जो प्राकृतों के ओकारान्त रूपों के अवशेष हैं। पहाड़ी भाषाओं में उ विभक्ति वाले संज्ञा रूप प्राप्त होते हैं । नैपाली की कुछ प्रवृत्तियाँ पूर्वी हिन्दी से मिलती हैं ड़ के स्थान पर र, ण के स्थान पर न ऐसे ही उदाहरण हैं ।

७.२.३ **बिहारीवर्ग**—इस वर्ग में तीन बोलियाँ हैं: मैथिली, मगही और भोजपुरी । पूर्वी हिन्दी की सीमा का निर्माण भोजपुरी करती है । हिमालय के पाद देश से लेकर, पूर्व में छोटा नागपुर, सोन नदी तथा मुजफ्फरनगर तक भोजपुरी का क्षेत्र है । शुद्ध मगही का क्षेत्र सोन के पूर्व और गंगा के दक्षिण में स्थित एक त्रिकोणात्मक भूभाग है । पटना और गया के आसपास मगही बोली जाती है । इनकी उप बोलियाँ भी हैं ।[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से इन भाषाओं की उत्पत्ति मागध अपभ्रंश से मानी जाती

[1] ग्रियर्सन, सैवन ग्रामर्स आफ दि बिहारी लैंग्वेज, (१८८३)

जिससे उड़िया, बंगाली और असमिया सम्बधित हैं।[१] इनमें से मैथिली और मगही एक दूसरी से बहुत समीप हैं, पर भोजपुरी, गठन में, इनसे भिन्न है। इसीलिए डा० चटर्जी इन तीनों को एक ही सामूहिक नाम (बिहारी) से पुकारने के पक्ष में नहीं हैं।[२] बिहारी उपभाषाएँ मुद्रण में देवनागरी तथा लिखने में कैथी का प्रयोग करती हैं। मैथिल ब्राह्मणों की लिपि एक और है जो बँगला से समानता रखती है। पहले बिहारी भाषाओं की गणना पूर्वी हिंदी की बोलियों के रूप में की जाती थी क्योंकि बिहार का सामाजिक सम्बन्ध उत्तर प्रदेश से अधिक है। हिन्दी बिहार में शिक्षाका माध्यम भी है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से चाहे इन का संबंध मागधी से हो, पर भोजपुरी विशेष रूप से हिन्दी से प्रभावित हुई हैं। बंगाली इसी तरह शौरसैनी से संबंधित होते हुए भी मागधी से प्रभावित है। वस्तुतः बिहारी बोलियाँ हिंदी के क्षेत्र से सभी प्रकार से संबंधित है। आज भी इन दोनों में सहयोग और मैत्री की भावना है।

अब संक्षेप में बिहारी और हिंदी पर एक तुलनात्मक दृष्टि डाल लेना प्रासंगिक ही होगा। हिंदी ड़, ढ़ > बि० र, रह। ड़ > र की प्रवृत्ति ब्रजभाषा में में भी मिलती है। हि० ल् > र् गाली > गारी ब्र० गारी। हि० ल् > न् भी। ब्रज में भी कुछ शब्दों में यह प्रवृत्ति दीखती है। ये प्रवृत्तियाँ बँगला में भी मिलती हैं। पर बृज से जो समानता है, उसे भी नहीं भुला देना चाहिए। विस्मयादि बोधक को छोड़ कर बिहारी और बँगला में य—,व—पद के आदि में नहीं आते। पर पश्चिमी-हिंदी की बृजभाषा में आते हैं।[3] यहाँ इतना कह देना ठीक होगा कि बृज मे खड़ीबोली से प्रभावित भाग में यामे, वामे जैसे रूप मिल जाते हैं पर पूर्वी बृज में जायें, ब्वा से या ग्वामें रूप ही मिलते हैं। बिहारी में ह्रस्व एँ, ऐं, ओ ओ का प्रयोग मिलता है। हिंदी में ये प्रयोग नहीं मिलते, पर बोलियों में कुछ प्रयोग मिल भी जाते हैं। बिहारी के अइ, अउ > हि० ऐ, औ। पश्चिमी हिंदी की विशेषता है।

बिहारी में आकारान्त घोड़ा, भला, बड़ा आदि हिन्दी से आगत हैं। बिहारी में ये व्यंजनान्त या मूक अकारान्त मिलते हैं: घोड़, भल। ब्रज में ये ओकारान्त, औकारांत होजाते हैं। हिन्दी सर्व० जो>बि० जे। उत्तम पुरुष एक० संबंध हि० = म्+एर+ आ। पर बिहारी=म्+ओरा (=ब्र० मेरौ)। हिंदी में केवल कर्त्ता तथा तिर्यक संज्ञा रूप मिलते हैं, बिहारी में करण तथा अधिकरण में है। पर हिन्दी में भी करण मिल जाता है: अपने कानों सुना। पश्चिमी हिंदी में कर्त्ता परसर्ग ने का प्रयोग मिलता है, पूर्वी हिन्दी और बिहारी में इसका अभाव है। बिहारी में आकारान्त

---

१ डा० धीरेंद्र वर्मा, हिंदी भाषा का इतिहास पृ० ५६

२ बेंगाली लैंग्वेज आरिजन ऐन्ड डेवेलपमेंट (१९२६) पृ० ५२

3 डा० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उदगम और विकास पृ० ३००

शब्द का तिर्यक आकारान्त ही रहता है, हिन्दी में एकारान्त हो जाता है : घोड़ा-घोड़े। व्यंजनान्त संज्ञा पदों के तिर्यक रूप बिहारी में—अ, या,—ए के संयोग से बनते हैं : घरे से, हि० घर से। हिन्दी में बिहारी के ल् प्रत्ययांत क्रिया-पदों (मारल, मारला) का अभाव है। अनुसर्गों में भी दोनों पर्याप्त पृथकता रखती हैं। हिन्दी में संबंध कारक 'का' ब्र० 'कौ' हैं। संबंधित वस्तु के लिंग वचन से प्रभावित होकर यह का, के को रूप लेता है। बिहार में—कर रूप अपरिवर्तित रहता है : ओकर घोड़ा, औकर घोड़ी। बिहार की कुछ बोलियाँ संबंधित वस्तु के लिंग के अनुसार इसको परिवर्तित करतीं हैं, पर कर्त्ता और तिर्यक के अनुसार नहीं : ओकरा थोड़ा, ओकरी घोडी।[1] अतः हिन्दी की प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में वहाँ मिलती है।

(बिहारी की कुछ बोलियों में वर्तमान की रूप रचना-ला प्रत्यय से होती है : देखिला। हिन्दी में यह नहीं है। हिन्दी में कृदन्तीय (शतृ प्रत्ययांत) रूपों के साथ सहायक क्रिया का योग करके वर्तमान बनता है, बिहारी की कुछ बोलियों में क्रिया विशेष्य पद + सहायक क्रिया से : हम देखिहि (मैं देखता हूँ) पर ये सब बोलीगत वैविध्य हैं। बिहारी के—ल् प्रत्ययांत अतीतकाल के रूपों का हिन्दी में अभाव है हिन्दी में भूत० कृ० + सहायक क्रिया = पूर्ण वर्तमान या अतीत। सहायक क्रिया पुरुष तथा वचन प्रत्ययों से संयुक्त होकर रूप रचती हैं :—हूँ,—है,—हैं,—हो। ये रूप बिहारी में भी प्राप्त हैं। पर कुछ कालों की रचना भिन्न भी हैं। (बिहारी की एक विशेषता है कि वहाँ क्रिया के अतीतकाल पर वचन का प्रभाव पड़ता है, सहायक क्रिया पर नहीं : हम गिरल है, तो गिरले है। बिहारी के भविष्वत् काल के रूप—ब्, या—अब प्रत्ययों के योग से बनते हैं; ब्रज में—ह—वाले रूप तथा खड़ी बोली में—ग् के संयोग से बनते हैं। करब, करिहौं, करूँगा। पर तुलसी रामायण में—ब वाले रूप मिल जाते हैं। बिहारी में वर्त० कृद० के रूप—एत् >— अत् के संयोग से बनते हैं। हिन्दी में प्रत्यय तो—त्—ही है, पर इसके साथ लिंग वचन प्रत्यय—आ,—ए,—ई—ईं और संयुक्त हो जाते हैं : आता, आते, आती, आतीं। हिन्दी में क्रिया विशेष्य पद का प्रत्यय — ना है और ब्रज में इसके अतिरिक्त — बौ भी है। बिहारी में ब्रज भाषा की भाँति — ब् या — अब् प्रत्ययांत रूप मिलते हैं। — अल् प्रत्ययांत तथा अविकृत धातु रूप क्रिया विशेष्य पद बिहारी की विशेषता है। चलब, चलल्, चल्। बिहारी में प्रेरणार्थक बनाने के लिए क्रिया में — आव — प्रत्यय का योग किया जाता है, पर हिन्दी में — आ का : करावल, हि० कराना। पर द्वितीय प्रेरणार्थक में — वा — भी है : करवाना। अतः — आ — तथा — आव् — में कोई मौलिक अन्तर नहीं दीखता। हिन्दी में सकर्मक क्रियाओं का कर्मणि प्रयोग मिलता है : मैंने घोड़ा देखा ; पर बिहारी कर्मणि : हम

---

[1] वही, पृ० ३०२

घोड़ा देखलीं । हिन्दी और बिहारी में नकारात्मक मत, मति तो समान है। पर जनि, जिन बिहारी की अपनी विशेषता है।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है हिन्दी और बिहारी में ऐतिहासिक स्रोत-गत अन्तर है। पर संबंध-सम्पर्क के कारण हिन्दी का पर्याप्त प्रभाव उस पर है। पश्चिमी हिन्दी उससे अधिक भिन्न है, यद्यपि ब्रज भाषा की कुछ प्रवृत्तियाँ बिहारी में प्राप्त होती हैं। पूर्वी हिन्दी इन भाषाओं से इतनी भिन्न नहीं हैं। कुछ बातों में बंगला से भी इसकी समानता है। यह बिहारी बोलियों की मध्यवर्ती स्थिति का परिणाम है। डा० चटर्जी को भी मागधी की एक शाखा पश्चिमी मागधी मानकर इनको उससे संबंधित कहना पड़ा। इतिहास और परिस्थितियों के प्रभाव और शक्तियों का संघर्ष यहाँ देखने में आता है।

७.२.४. **हिन्दी प्रदेश** —मध्यदेश की मुख्य उपभाषाओं के समुदाय को भाषा-शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी नाम से पुकारा जाता है।[1] इस भूभाग को भाषा-सर्वेक्षण के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है: पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र और पूर्वी हिन्दी-क्षेत्र। खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कनौजी और बुंदेली पश्चिमी हिन्दी की तथा अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ हैं। प्रथम वर्ग की बोलियाँ शौरसेनी प्राकृत से तथा द्वितीय वर्ग की अर्द्धमागधी प्राकृत से सम्बन्धित हैं। मोटे रूप से पश्चिमी क्षेत्र की भौगोलिक विस्तार-सीमाएँ इस प्रकार हैं: इसमें पूर्वी पंजाब, उत्तर-प्रदेश का पश्चिमी भाग, बुंदेलखण्ड उत्तर प्रदेश को स्पर्श करता हुआ सेधिया राज्य, आते हैं। बुंदेली, सीमाएँ मध्य प्रदेश में जब्बलपुर को छोड़ कर छिंदवाड़ा तक जाती हैं। ब्रज और कनौजी एक दूसरी से बहुत संबद्ध है। वास्तव में पश्चिमी बोलियों को भी सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है: आकारान्त विशेषण रूपों वाला वर्ग बाँगरू, खड़ी बोली, तथा औकारान्त, ओकारान्त का विशेषण वाली बोलियाँ (ब्रज, बुदेली, और कनौजी)।

पूर्वी हिन्दी की बोलियों का क्षेत्र पूर्वी उत्तर-प्रदेश, नागपुर को छोड़कर मध्य प्रदेश, तथा पश्चिमी छोटा नागपुर से बना है। अवधी अवध की बोली हैं, जिसकी सीमाएँ दक्षिण में इलाहाबाद और बनारस तक जाती हैं। बघेली रीवाँ, तथा गौड-वाना में बोली जाती है। छोटा नागपुर, बिलासपुर तथा रायपुर जिलों में छत्तीसगढ़ी प्रचलित है। नीचे पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी की विशेषताओं पर एक विहंगम दृष्टि डाली गयी है।

७.२.५. **पश्चिमी तथा पूर्वी हिन्दी**—पश्चिमी की खड़ी बोली तथा बाँगरू पंजाबी से कुछ साम्य रखती हैं और पूर्वी बोलियों में अवधी बिहारी बोलियों से साम्य रखती हैं। पश्चिमी क्षेत्र की ब्रजभाषा खड़ी बोली से इतना साम्य नहीं रखती। वह बीच में स्थित होने के कारण दो प्रभावों से युक्त है। इसी क्रम से कनौजी और

---

[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिंदी भाषा का इतिहास पृ० ६३

बुंदेली पर पूर्वी प्रभाव बढ़ता गया है। अवधी बिहारी बोलियों के प्रभाव से अभिभूत सी दीखती है। प्रभाव और साम्य के इस क्रम को ध्यान में रखना चाहिए। फिर भी पश्चिमी-हिन्दी और पूर्वी हिन्दी में कुछ स्पष्ट अन्तर हैं।

क-ध्वनि:उच्चारण—'अ' का उच्चारण बँगला, असमिया और उडिया में गोलीकृत औ की ओर झुका-हुआ है। भोजपुरी में इसका उच्चारण विवृत हो जाता है। पूर्वी हिन्दी में अ का उच्चारण भोजपुरी से प्रभावित है और पश्चिमी हिन्दी में पंजाबी के प्रभाव से और भी विवृत हो जाता है। ड़, ढ़ > र, र्ह पूर्वी हिन्दी की विशेषता मानी गई है। पर इसके उदाहरण ब्रज-बुंदेली, कनौजी में भी मिल जाते हैं और ड़ की सुरक्षा पूर्वी हिन्दी में भी मिल जाती है: बाढ़। अतः यह अन्तर केवल खड़ी बोली को पूर्वी हिन्दी से पृथक करता है। 'र' > ल वाली मागधी की प्रवृत्ति पूर्वी बोलियों में पूर्ण रूप से नहीं आंशिक रूप से मिलती हैं। इसके विपरीत ब्रज, बुंदेली कनौजी तथा पूर्वी हिन्दी में ल > र की प्रवृत्ति अधिक मिलती है: हि०फल > फर ; हल > हर ; हि० जलै > जरे। ब्रज में रज्जु> लेजु मिलता है, पू० हि० लजुरी (लेजुरी)। अतः यह प्रवृत्ति इनको अलग करने का दृढ़ धरातल नहीं है। पश्चिमी हिन्दी में मध्यग -ह-के लोप की प्रवृत्ति मिलती है। पर पू० हि० में यह अधिकांश सुरक्षित है: देहेसि। साहित्यक बजभाषा में भी यह प्रवृत्ति मिलती है: कहहि, देहहि। एक और अन्तर पू० हि० में य-,व- के पदान्त में मिलने और पूर्वी हिंदी में न मिलने का बताया जाता है। पर बृजभाषा में य- > ज- तथा ब > ब की प्रवृत्ति मिलती हैं। पू० हि० में ये ए-ओ हो जाते हैं। मथुरा जिले के एक भाग में-इ (यह) तथा ऊ (वह) सर्वनाम मिलते हैं। प० हि० ऐ, औ > पू० हि० अइ अउ : कहै > कहइ, और > अउर। यह एक अन्तर अवश्य है, पर ब्रज के साहित्य में ये रूप मिल जाते हैं। खड़ी बोली—बाँगरू के आकारान्त शब्द ब्रज-बुन्देली-कनौजी में औकारांत या औकारांत हो जाते हैं, पर पू० बो० में अकारांत मिलते हैं: ख० बो० बड़ा > ब्र० बड़ौ हि० में आकारांत शब्द तिर्यक में एकारांत हो जाते हैं, पर पू० हि० में यह परिवर्तन नहीं होता। पर यह विशेषता खड़ी बोली की ही है, ब्रज-बुन्देली की नहीं। देखिए

	खड़ी बोली	**ब्रज**	**पू० हिंदी**
कर्ता—	घोड़ा	घोड़ा	घोड़ा
तिर्यक—	घोड़े ने,-से,-पर	घोड़ा नैं,-ते,-पै	घोड़ा

इस दृष्टि से खड़ी बोली को अन्य पश्चिमी तथा पूर्वी बोलियों से पृथक किया जा सकता है। इस आधार पर पूर्वी हिन्दी या पश्चिमी हिन्दी जैसा विभाजन युक्ति-युक्त नहीं है।

ख-सर्वनाम—प० हि० में संबंध वाचक सर्वनाम जो, सो तथा प्रश्नवाचक कौन (ब्र०को) मिलते हैं और पूर्वी० हि० में क्रमशः जवन, जे, तवन से तथा के, कवन रूप मिलते हैं। कवन और कौन में कोई विशेष मौलिक अन्तर नहीं है: यह केवल

ध्वन्यात्मक विकास की दो स्थितियों को द्योतित करता है ।)जवन, से जो होने में भी 'न्' के लोप की स्थिति है । ए वाली प्रवृत्ति अवश्य मागधी के प्रभाव की द्योतक है ।(मूल सार्वनायिक अंग-ज-,-स्-, तथा-क्-दोनों में समान हैं ।) संबंध-वाचक उत्तम० एक० तथा मध्य० एक०, प० हि० में मेरा, (ब्र० मेरो, मेरौ) तथा तेरा (ब्र० तेरौ, तेरो) रूप मिलते हैं तथा पूर्वी हिन्दी में मोर, तोर मिलते हैं । वस्तुतः इनका तात्त्विक विश्लेषण इस प्रकार ज्ञात होता है—

प० हि० सार्वनायिक अंग म्+ऐ र्+आ

=मेरा : उत्तम० संबंध० एक वच०

ब्रज— ,, ,, म्+ऐ र्+ओ, औ

=मेरौ : उत्तम० संबंध० एक वच०

पू० हि०— , , म्+ओर्+अ

=मोर : उत्तम० संबंध० एक वच०

इनमें से आकारान्त वाली प्रवृत्ति में खड़ी बोली पंजावी के समीप है । पर सार्वनायिक अंग सभी में समान हैं । सम्बन्ध वाचक-र्-की व्युत्पत्ति ः एर < केर < कार्य तथा ओर < अर < कर । इस प्रकार यह तत्त्व भी पृथक नहीं । अन्तिम तत्व-आ,-ओ,-अ एक वचन का द्योतक है हो सकता है ब्रज और बोलियों में स्वर-व्यत्यय हो । मो वाला रूप ब्रज में मिलता है । पर, संम्बंध वाचक में नहीं ।[१] इसी प्रकार तोइ 'तुझे' आदि रूप भी ब्रज में मिलते हैं, अतः ब्रज और पूर्वी बोली में केवल संबंध वाचक में अन्तर मिलता है । पश्चिमी हिन्दी में उत्तम० एक० मैं और बहु० हम मिलते हैं । पू० हि० में केवल हम मिलता है : हम लोग बहु० । पूर्वी बोलियों में बहुधा 'तू' का प्रयोग बहुत कम होता है ।

(**ग-परसर्ग**—खड़ी बोली में—ने और ब्रज मैं कर्ता का चिह्न है और अवधी में से मिलता है । ब्रज और खड़ी बोली इस संबंध में पंजाबी के निकट है । कर्म-सम्प्रदान को खड़ी बोली में और कौं या कूँ ब्रज में मिलते हैं : अवधी का, काँ : ब्र० छोरा कूँ तथा अवधी छोरा का । ब्रज में संबंध कारक चिह्न कौ, के की (खड़ी बोली का, के, की) हैं : अवधी में केर,कर् भी मिलते हैं । इस दृष्टि से यह बिहारी और बंगाली के निकट है ।

घ-क्रिया रूप—ब्रज में-नौ अथवा बो, और खड़ी बोली में-ना धातु में संयुक्त करके क्रियार्थक संज्ञाएँ बनाई जाती हैं । पर ब्रज में-बौ (तिर्यक) का योग करके भी ये रूप बनते हैं—जैसे देखिबौ । अवधी में भी-ब वाले रूप मिलते हैं । इस प्रकार खड़ी बोली पंजाबी के निकट है जिसमें—ण्-,णा का योग करके ये रूप बनते हैं । ब्रज में दोनों प्रवृत्तियाँ हैं । बंगाली से इस संबंध में पूर्वी हिन्दी की समानता नहीं है ।)

---

[१] डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० २८२

वर्त० सहायक क्रिया के उत्तम पुरुष में पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी में अन्तर है। खड़ी बोली मैं हूँ, पूर्वी० अहेउँ तथा आहेउँ। अवधी आदि में—उँ उत्तम० पु० का द्योतक है। प० हि० के 'हूँ' में भी—ऊँ उत्तम० पु० पदरूपांश है। अहे— का 'अ' बलाघात न होने से समाप्त हो गया दीखता है। अवधी के पूर्वी भाग में प्रचलित बाटेऊँ भोजपुरी के बाटों, बाँटी आदि से संबंधित है।

अतीतकाल के रूपों में भी कुछ अन्तर पाया जाता है। मूल रूप प० हि० के ही समान हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से मूल रूपों की उत्पत्ति भूत० कृ० के कर्मवाच्य के रूपों से हुई है। किन्तु पूर्वी भाषाओं के समान पूर्वी हिन्दी में पुरुष वाचक अंश संलग्न रहते हैं: मारे—उँ, मारि-स (तूने मारा, उसने मारा)। प० हि० में पुरुषवाचक पदरूपांश नहीं जोड़े जाते: केवल वचन, लिंग द्योतक पदरूपांश—आ, —ए,—ई का संयोग होता है। ऊपर के पूर्वी हिन्दी के उदाहरणों में भी केवल उत्तम० पदरूपांश स्पष्ट है।—स मध्य० अन्य० एक० में प्रयुक्त होने से पुरुषवाचक नहीं, वचन का ही द्योतक रह जाता है। इस प्रकार पूर्वी बोलियों में अतीतकाल काल का एक मिलाजुला रूप दीखता है।—ल् वाला रूप जो मागधी प्रसूत भाषाओं का लक्षण है, नहीं मिलता।

भविष्यत्काल के रूपों में काफी अन्तर है। तुलनात्मक तालिका इस प्रकार है—

खड़ी बोली	साहित्यक ब्रज भाषा	आधुनिक ब्रज	पूर्वी हिंदी (अवधी)
१. एक० मैं मारूँगा	हौं मारि हौं	मैं मारांगो	मार बूँ
बहु० हम मारेंगे	हम मारिहैं	हम मारिंगे	मारब
२. एक० तू मारेगा	तू मारि है	तू मारैगो	मारबेस्
बहु० तुम मारोगे	तुम मारिहौ	तुम मारौगे	मारबो
३. एक० वह मारेगा	बौ मारि है	बु मारैगो	मारि है
बहु० वे मारेंगे	बे मारि हैं	बे मारिंगे	मारि हैं

बंगाल में सभी भविष्यत् रूप-ब-वाले हैं। भोजपुरी में उत्तम० और मध्य० के रूप —ब—वाले हैं और अन्य पुरुष के रूप साहित्यिक ब्रजभाषा के समान हैं। अवधी की भी यही दशा है। 'उन्नाव' में सभी रूपों की ब्रजभाषा से समानता है।[1] खड़ी बोली के —ग—वाले रूपों के साथ पुरुष वाचक अंश नहीं जुड़ता, केवल लिंग वच० अंश जुड़ता है। पर ब्रज के साहित्यिक रूप में उत्तम० एक० तथा मध्य० पुरुष बहु० में पुरुष के अनुसार अन्तर किया जाता है—हौं उत्तम० एक०, हौ मध्य० बहु०। आधुनिक ब्रज में उत्तम० एक० में पुरुष द्योतक अंश—ओ है। अवधी में अन्यपुरुष के अतिरिक्त सभी रूपों में पुरुष वाचक अंश दीखता है।

(ङ निष्कर्ष—ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वी हिन्दी का सम्बन्ध अर्द्ध मागधी

[1] डा० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० २२७।

है जिस पर शौरसेनी और मागधी दोनों का प्रभाव था। खड़ीबोली पंजाबी से अधिक प्रभावित होने के कारण पूर्वी हिन्दी से अधिक अन्तर रखती है। पर बृज, कनौजी, बुन्देली इतना अधिक अन्तर नहीं रखतीं। एक प्रकार से व्रजभाषा, कनौजी और बुन्देली पूर्वी हिन्दी और खड़ी बोली के बीच की क्रमशः कड़ियाँ हैं। साथ ही संज्ञा, सर्वनामों की दृष्टि से पूर्वी हिन्दी मागधी से विशेष प्रभावित हैं: क्रिया रूपों में उसका साम्य बृज से अधिक है। खड़ी बोली से भी अधिक भिन्न नहीं है।)

/ ७.२.६. **पश्चिमी हिंदी की बोलयाँ**—इस शीर्षक के अन्तर्गत पश्चिमी हिन्दी की खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज कनोजी तथा बुंदेली का भौगोलिक विस्तार आदि दिया गया है और अन्त में इन सब का तुलनात्म संक्षिप्त व्याकारण दिया गया है।

(क) सामान्य परिचय—

(अ) खड़ी बोली—आज की परिनिष्ठत हिन्दी और उर्दू, इसी बोली के आधार पर बनी हैं। ईसाई मिशनरियों ने भी प्रायः इसी के परिनिष्ठित रूप के माध्यम से अपना प्रचार कार्य किया।)पश्चिमी हिन्दी के उत्तरी-पश्चिमी कोने में यह प्रचलित हैं।(इसके पश्चिम में पंजाबी अथवा दिल्ली एवं कर्नाल की राजस्थानी मिश्रित उपभाषा बोली जाती है। इसकी उत्तरी सीमा पहाड़ी भाषाएँ बनाती है तथा इसके दक्षिण-पूर्व में ब्रजभाषा का क्षेत्र है। उक्त सीमाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पर पंजाबी और राजस्थानी का प्रभाव है। पश्चिमी रुहेलखण्ड, गंगा का उत्तरी दोआब वाला जिला इसका विस्तार क्षेत्र है। रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून का मैदानी भाग, अंबाला, कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग के गाँवों की घरेलू बोली है। इसके बोलने वालों की संख्या ५३ लाख है। यह इस्लाम के विशेष संपर्क में रही। अतः फारसी-अरबी प्रभाव इस पर विशेष है। बोलचाल की खड़ीबोली तथा साहित्यिक हिन्दी को एक नहीं मानना चाहिए।)

पंजाबी की भाँति मूर्द्धन्य ध्वनियाँ इसमें विशेष हैं। न>ण सामान्य रूप से मिलते हैं; अपना> अपणा। आरभिक न-बहुधा सुरक्षित रहता है।) क>ल उतना नियमित तो नहीं जितना न>ण, पर मिलता अवश्य है। जंगल>जंगल ; बकद > बलद। (उपरी दोआब में ड का उच्चारण स्वरमध्मवर्ती स्थिति में मिलता है जब, कि साहित्यक हिन्दी में इसका उच्चाण प्रायः ड़ हो जाता है: गड्डी, गड्डी= गडी;)चढना =चढ़ना। बलाघात युक्त दीर्घ स्वर के पश्चात् का व्यंजन प्रायः द्वित्व हो जाता है: कभी कभी दीर्घ स्वर ह्रस्व भी हो जाता है: गड्डी, गाड्डी (=गडी) जात्ता (=जाता) बेटा (=बेट्टा) आदि। उक्त ध्वन्यात्मक विशेषताएँ खड़ी बोली को अन्य पश्चिमी बोलियों से पृथक करती हैं। व्याकरण का तुलनात्मक रूप आगे दिया गया है।

(आ) बाँगरू—(इसके नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह बाँगर देश

की भाषा है। इसका प्रचलन करनाल, रोहतक, तथा दिल्ली जिलों में है। सामान्य रूप से दक्षिण पूर्वी पटियाला, पूर्वी हिसार तथा रोहतक एवं हिसार के बीच नाभा एवं झींद में भी प्रचलित है। पूर्व बांगर (उच्चभूमि) को यमुना ऊपरी दोआब से पृथक करती है।)इसके उत्तर में अम्बाला, दक्षिण में गुड़गाँव, पश्चिम में पटियाला तथा दक्षिण में हिसार स्थित हैं। हिसार के पूर्व तथा उसके आसपास का भूमि-भाग हरियाना कहलाता है।'बांगरु के बोलने वाले लगभग २२ लाख हैं। आजकल इसे खड़ीबोली का ही एक रूप माना जाता है।

इसकी ध्वन्यात्मक विशेषताओं में स्वरों की अनिश्चितता महत्वपूर्ण है। कहाउँ > कोहाउँ; रहा > रेहया, जवाब > जुवाब, बहुत > बोहत ऐ, ए; प्राय: आपस में बदल जाते हैं : ने ~ नै (करण) ते ~ तै (अपा०)। खड़ी बोली की भाँति न, ल > ण, ल। पर-ल्ला-का उच्चारण मूर्द्धन्य नहीं होता : चाल्लणा (=चलना) घाल्लणा (भेजना)।)द्वित्व व्यंजनों में यह खड़ीबोली के समान है : चला > चाल्या; राजी > राज्जी। कभी कभी दीर्घ स्वर ह्रस्व भी हो जाता है : भीतर > भित्तर भूका > भुक्का।

(इ) **ब्रजभाषा**—इसमें हिंदी का प्रचार साहित्य उपलब्ध है। यह शौरसेनी की प्रमुख प्रतिनिधि है। इसको राजस्थान में पिंगल नाम से भी जाना जाता है। अतंर्वेदी, भाखा नाम भी इसके प्रचलित रहे। साहित्यिक भाषा के रूप में इसकी सीमाएँ बहुत विस्तृत थीं। समस्त मध्यदेश की साहित्यिक भाषा तो यह थी ही,अन्य प्रदेशों में भी यह प्रचलित थी। ग्रियर्सन ने इसकी सीमाएँ इस प्रकार मानी हैं[१]: मथुरा इसका केन्द्र है।)दक्षिण में यह आगरे तक, भरतपुर के एक बड़े भाग में, धौलपुर तथा करौली में, ब्रजभाषा बोली जाती है। ग्वालियर के पश्चिमी भागों तथा जयपुर के पूर्वी भाग तक यही भाषा है।उत्तर में गुड गाँव के पूर्वी भाग तक ब्रजभाषा प्रचलित है। उत्तरपूर्व में इसकी सीमाएँ दोआब तक, बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा तथा गंगा-पार तक बरेली तथा नैनीताल के तराई परगनों तक जाती है। बुलंदशहर, बदायुँ और नैनीताल तराई में खड़ी बोली तथा एटा मैनीपुरी और बरेली के जिलों में यह कनोजी से प्रभावित है।(डा० धीरेन्द्र वर्मा ने कनौजी और ब्रज को अलग नहीं माना है। इससे ब्रज की सीमाएँ और भी विस्तृत हो गई हैं। ब्रजभाषा बोलने वाले लगभग ७९ लाख हैं।

खड़ी बोली, और बाँगरू में प्राप्त आकारान्त विशेषण तथा संज्ञा शब्द ब्रज में औकारान्त[२] मिलते हैं। अकारांत संज्ञा पद पुल्लिग एक वच० कर्ता में उकारांत हो जाते है : धरमु, करमु गामु, (गाँउँ) अन्य ध्वन्यात्मक विशेषताएँ इस प्रकार हैं : व > ब : दिवस > दिबस (द्यौस) श > स : देश > देस। ल > र : काले

[१] लिंग० सर्वे ऑफ इण्डिया, जिल्द ९, पृ० ६९

[२] ब्रजभाषा, पृ० ३३

> कारे। र > ल भी मिलता है : रेज्जु > लेजु। कहीं कहीं ड़ > र : भीड़ > भीर; थोड़ा > थोरो। ढ़ > र्ह : कढ़ाई > कर्हैया। ण > न : प्राणी > पिरान। क्ष > च्छ ~ ख : लक्ष्मी > लच्छमी; क्षीर > खीरि। खड़ीबोली का व्यंजन द्वित्व यहां नहीं मिलता। स्वर मध्यवर्ती—ड—>—ड़—~र।

ई—**कनौजी**—इसका सम्बन्ध कन्नौज (<कान्यकुब्ज) से है। इसका केन्द्र फर्रुखाबाद है। यदि इसकी सीमाओं को बृजभाषा से पृथक मानें तो दोआब के इटावा फर्रुखाबाद, गंगा के उत्तर में शाहजहाँपुर जिले में प्रचलित है। हरदोई में यह अवधी से प्रभावित है। कानपुर की कन्नौजी एक ओर अवधी से तथा दूसरी ओर बुन्देली से प्रभावित है। पीलीभीत में यह ब्रजभाषा से प्रभावित है। कनौजी के पश्चिम तथा उत्तर पश्चिम में ब्रजभाषा तथा दक्षिण में बुन्देली बोलियाँ हैं। क्षेत्र विस्तृत है। ब्रजभाषा तथा इसकी सीमाओं को पृथक करना कठिन है। इसलिए वैविध्य मिलता है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ४५ लाख है।

इसकी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ बृजभाषा के ही समान है। ओकारान्त और उकारान्त की विशेषता इसे बृजभाषा से संबद्ध करती है।

उ—**बुन्देली**—नाम की दृष्टि से बुंदेली बुंदेलखण्ड की उपभाषा है। पर बुंदेलखण्ड और बुंदेलखण्डी की सीमाएँ एक नहीं हैं। इसका शुद्ध रूप झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नृसिंहपुर, सेओनी तथा हुशंगाबाद में मिलता है। यहाँ के कवियों ने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया था। इसकी भाषागत सीमाएँ इस प्रकार हैं : बुंदेली के पूरब में बघेली, उत्तर तथा उत्तर पश्चिम में कनौजी तथा ब्रज, दक्षिण में मराठी, तथा दक्षिण पश्चिम में राजस्थान की बोलियाँ (मुख्यतः मालवी) हैं। इस बोली के कुछ जातिगत वैविध्य भी मिलते हैं : पंवारी (पंवार राजपूतों की) लोधान्ती (लोधे राजपूतों की) आदि। दमोह जिले की बोली को खटोला नाम से जाना जाता है। मिश्रित बोलियों में पूर्व की बनाफरी कुंड्री, तथा निभट्टा हैं। बुन्देली के बोलने वालों की संख्या ६९ लाख है।

बुंदेली और बृजभाषा में बहुत साम्य है। वस्तुतः ब्रज, कनौजी तथा बुंदेली एक ही उपभाषा के तीन क्षेत्रीय रूप हैं। इसकी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ कनौजी और ब्रज से भिन्न नहीं हैं।

ख—पश्चिमी हिन्दी की बोलियों का संक्षिप्त तुलनात्मक व्याकरण—ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ बोलियों के परिचय के साथ सामान्य रूप से दी जा चुकी हैं। संज्ञाओं सर्वनामों विशेषणों, परसर्गों तथा कृदन्तों का परिचय नीचे की तुलनात्मक तालिकाओं से मिल जाता है।

(a) **संज्ञा रूप**—खड़ी बोली और बाँगरू की आकारांत संज्ञाएँ, ब्रज, कनौजी और बुंदेली में कुछ अपवादों को छोड़कर, कर्ता कारक एक वचन में औकारान्त मिलती हैं—तिर्यक एक० दोनों वर्गों में समान होता है, तिर्यक बहुवचन खड़ी० में—ओं तथा — ब्रज वर्ग में — अन् प्रत्यय से युक्त होते है—

	खड़ी बोली	ब्रज	कनौजी	बुंदेली
एक० वचन कर्त्ता	— ताला	तारो, तारौ	तारो	तारौ, तारो
तिर्यक	— ताले	तारे	तारे, ताले	तारे
बहु वचन कर्ता	— ताले—	तारे	तारे. ताले	तारे
तिर्यक	— तालों	तारेन्	तारेन	तादेन्

कुछ अकारान्त संज्ञाएँ खड़ी बोली वर्ग मे केवल तिर्यक बहु० भिन्न होती हैं, औकारान्त नहीं होतीं—

	खड़ी बोली	बाँगडू	ब्रज	कनौजी	बुदेली
एक वच० कर्ता	—घोड़ा	घोड़ा	घोडा	घौड़ा	घोड़ा
बहु वच० ,,	— घोडे	घोडे	घोड़ा	घोडा	घोड़ा
एक० कर्ता	— घोड़े	घोड़े	घोडा	घौड़ा	घोड़ा
बहु० तिर्यक	— घोड़ों	घोड़ा	घोडन्,	घोडान घोड़न,	घोड़न

व्यंजनान्त या अकारान्त पुल्लिग संज्ञा पद कर्ता एक० में खड़ी बोली में अविकृत रहते हें, बृजवर्ग में उकारान्त हो जाते हैं—

		खड़ी बोली	बाँगडू	ब्रज	कनौजी	बुंदेली
कर्ता	एक०	घर	घर	घरु	घर, घरु	घरु
	बहु०	घर	घर	घर	घर	घर
तिर्यक	एक०	घर	घर	घर	घर	घर
	बहु०	घरों	घराँ	घरन	घरन्	घरन

व्यंजनान्त या अकारान्त स्त्री०संज्ञा पद बृजबर्ग में उकारान्त नहीं होते। पर खड़ी बोली में, कर्ता बहु० मे—एँ प्रत्यय लगता है बृज में नहीं : बात बातें, बृ० बात अन्य संज्ञापद दोनों वर्गों में समान हैं, केवल तिर्यक बृहु० खड़ी०-ओं, ब्र० बहु० अन का अन्तर है।

(b) **सर्वनाम**

(i) **पुरुष वाचक सर्वनाम**

	उच्चहिन्दी	खड़ी बोली	बाँगरू	ब्रज	कनौजी	बुन्देली
उत्तम०एक०						
मू०	मैं	में	मैं	मैं, हौं, हूँ	मैं-	में,- मैं
कर्तृ०	मैं (ने)	में (ने)	मैं (ने)मन्ने,मन्नै	मैं (नै)	मैं (नैं)	मे-(ने)
विकृत	मुझ	मझ-,मुझ-(ए)	मन्ने, मन्ने	मो-,मु-(इ)	मो-	मो-(य,ए)
सम्बन्ध	मेरा	मेरा	मेरा, मरा	मेरौ	मेरौ	मेरो,मोरो
उत्तम० बहु०						
मूल०	हम	हम	हम, हमें	हम	हम	हम
कर्तृ०	हम (ने)	हम (ने)	म्हा-(नैं)	हम-(नैं)	हम-	×
विकृ	हम	हम-(ऐं)	म्हा (ने, नै)	हम्-(ऐं)	हम-(ऐं)	हम-
सम्बन्ध	हमार्-(आ)	हमार्-,म्हार-(आ)	म्हर-(आ)	हमार-(औ)	हमार-(ओ)	हमा-(ओ) हमार(ओ)

मध्यम० एक०						
मूल०	तू	तू	थूँ,तूँ, तौं	तू	तू	तूँ, तैं
कर्तृ०	तू-(ने)	तें-(ने)	तैं-,तन्(नैं)	तैं-(नैं)	तैं-(ने)	तैं-(ने)
तिर्यक	तुझ-	तझ,तुझ (ए)	तन्ने,तन्नै	तो-(इ)	तो-(हि)	तो-
सम्बन्ध	तेर्-(आ)	तेर्-तर्- (आ)	तेर्-तर्-(आ)	तेर्-(औ)	तेर्-(ओ)	तेरो, तोरो
मध्यम० बहु०						
मूल०	तुम-	तम,	थम, तम्हें	तुम	तुम	तुम
कर्तृ०	तुम-(ने)	तम्-(ने)	था-(ने,नैं)	तुम-(नैं)	तुम-	+
तिर्यक	तुम-तुम्ह	तम-(ऐं)	था-(ने,नैं)	तुम-(एँ)	तुम्ह-(एँ)	तुम
सम्बन्ध	तुम्हार् (आ)	तुम्हार् (आ) थार् (आ)	थार् (आ)	तुमार- (औ) तिहार्- (औ)	तुम्हार्- (ओ)	तुमा(ओ) (रो)

(ii) **निश्चयार्थक सर्वनाम (या उल्लेख सूचक)**

समीप वाची						
एक०	यह	यू, यह (पु०) या (स्त्री०)	यूउँह, योह, यू० (पु०)याह (स्त्री०)	जि,जिहं,ई	यहु,यिहु, इहु, ये, जै, जहु, जौ	ऐ, जो (स्त्री० जा)
तिर्यक०	इस-(से)	अस्, इस्-(से)	इस् (ऐ)	जा-,या-	इहि,या-, इस् (ऐ)	जा-
समीप० बहु०						
मूल०	ये-	ये,	ये,	जे-	जे,-जै-	जे
तिर्यक	इन्ह-(एँ) इन्-(को) इन्हों-(ने)	इन्-	इन्-	इन्-	इन्-इन्ह्- (एँ) इन्हों-(ने)	इन्-
दूरवाची० एक०						
मूल०	वह-	ओ, ओह (स्त्री०वा-)	ओह (स्त्री० वाह)	ब्र,बौ,ऊ,गु-	उहि, वहि,वा वा	बो, ऊँ (स्त्री०बा)
तिर्यक	उस्-	उस्	उस्	ब्वा,-बा-,ग्वा-	उस् (ए,ऐ)	ऊ, ऊँ, बा
दूरवाची० बहु०						
मूल०	वे	वे, वै	वैं	बे, ग्वे	बे, बै, बे	बे
तिर्यक	उन-(को) उन्ह-(ऐं) उन्हें-(ने)	उन्-(नैं) उन्ह्'	उन्- उन्ह्	उन-,बिन्-,गुन्-	उन-	उन्-,बिन्-

(iii) अन्य सर्वनाम	उच्च हिन्दी	खड़ी०	बाँगरू	ब्रज०	कनौजी	बुन्देली
(अ) संबंध वाचक						
मूल—	जो—	जो, जौण	जो, जौण	जो	जौन	जौन
तिर्यक—	जिस-(एक०) जिन-(बहु०) जिन्हों—	जस, जिस (एक) (जिन्-) (बहु०)	जिस् जिन्	जा— जिन—	जेहि, जा (एक) जिन, जिन्हौं (बहु०)	जेहि, जा जिन्-. जिन्ह-
(आ) नित्य संबंधी						
मूल—	सो	सो-ओ—	सो,-ओह-	सो,-	सो—	सो
तिर्यक—	उस-, तिस् (एक) उन्, तिन्-(बहु०)	उस,-(एक०) उन्-(बहु०)	ओस-ओह-(एक०) उन्, ओन (बहु०)	ब्वा,-ता (एक०) बिन-तिन (बहु०)	ता (एक०) तिहि (,,) बिन्- तिन्, तिन्हों (बहु०)	ता-(एक०) तिहि-(एक०) तिन्-(बहु०) तिन्हों
३. प्रश्नवाचक						
मूल—	कौन	कोण, के	कौण	को	को	को
तिर्यक—	किस (एक) किन्-(बहु०) किन्हों-(,,)	किस-(एक) किन्हों-(बहु०)	किस् (एक०) किन्-(बहु०)	का-(एक) कौन- किन्-(बहु०)	किहि-(एक) किन-(बहु०) किन्हौं—	किस (एक) किन (बहु०)
४. अनिश्चय वाचक						
मूल—	कोई	को, कोई	को, कोऊ	कोऊ, कौनो	कोऊ, कोउ	कोऊ, कौनो
विकृत—	किसी (एक०) किन्हीं (बहु०)	किसी (एक) किन्हीं (बहु०)	किसी (एक०) किन्हीं (बहु०)	काऊ—(क०) ×	किसू- कौनो	किसू ? कौनो
५. प्रश्नवाचक (क्या)						
मूल—	क्या	के	के	कहा, का	कहा	कहा
तिर्यक—	काहे—	—	—	काए-काहे-	काहे	काहे

(c) **विशेषण**—सार्वनामिक विशेषण खड़ी बोली—बाँगरू में आकारांत होते हैं : इतना, ऐसा, कैसा। ब्रज कनौजी में औकारांत या ओकारांत होते है : इतनौ, इतनो, ऐसौ, ऐसो, आदि। खड़ी बोली के अन्य आकारांत विशेषण भी ब्रज-कनौजी में औकारांत हो जाते हैं—अच्छा > अच्छौ, अच्छो। अन्य व्यजनान्त या अकारान्त विशेषण अधिकृत रहते हैं और दोनों वर्गों में समान हैं।

(d) **परसर्ग**—कर्ताकारक पु० एक० अकारांत या व्यंजनांत संज्ञापद ब्रज, कनौजी तथा बुन्देली में—उ विभक्ति ग्रहण करते हैं : घर्+उ=घरु। खड़ी बोली वर्ग में कर्ताकारक की कोई विभक्ति नहीं है। नीचे अन्य परसर्गों की तुलनात्मक तालिका दी जा रही है—

	उच्च हि०	खड़ीबोली	बाँगरू	ब्रज	कनोजी	बुन्देली
कर्तृ	ने	ने, नें	ने, नै	नैं	ने	ने, नें
कर्म-संप्रदान	को, (तई) के+लिए	के, कूं, को नूँ-नें	ने, नै	कूं, कौं ताई, के+काजे, लै	को	कों, खों लै, लाने
करण अपादान	से	से-त्ती	ते, तैं, ती सिते	ते, सेती सों	सें, सेती करि, करिके	से, सें, सों
संबंध	क+आ, ए. ई कोई	का, के, की	का, के, कौ	कौ, के, की	को, के, की	को, के की
अधिकरण	में, पर, तक	मे, पे, पर	में, मैं, तक	में, पै, तलक तक, लगि	में, मों, पर लौं	मैं, में

(e) **सहायक क्रियाएँ**

(i) **वर्तमान कालिक सहायक क्रिया**

		उच्च हिन्दी	खड़ी बोली	बाँगरू	ब्रज	कनौजी	बुंदेली
एक०	१.	हूँ	हूँ	सूँ, साँ	हूँ, ऊँ, हौं	हूँ	हों, आऊँ, आँव
	२.	है	है	सै, से	है, ऐ,	है, है-गो	हे, आय
	३.	है	है	सै, से	है, ऐ	है, है-गो	हे, आय
बहु०	१.	हैं	हैं	सैं, सें, साँ	है, ऐं	हैं, हैं-गे	हे, आँय
	२.	हो	हो	सो	औ, हौ	हो, हो-गे	हो, आव
	३.	हैं	हैं	सैं, सें	ऐं हैं	है, हैं-गे	हें, आँच

ऊपर की तालिका में ये बातें विशेष रूप से दृष्टव्य हैं : बहुधा ह—वाला रूप ही मिलता है। स्—वाला रूप बाँगरू में मिलता हैं। ऐतिहासिक रूप से—स>ह की प्रवृत्ति यहाँ दीखती है। इन रूपों पर पंजाबी का प्रभाव स्पष्ट है। ब्रज और

बुंदेली में ह्— के लोप की प्रवृत्ति दीखती है। साहित्यिक ब्रज भाषा में उत्तम० एक० हौं रूप मिलता है : आगरे जिले में बोलचाल में भी हैं। बुंदेली उसे सुरक्षित रखे है।

(ii) भूतकालिक सहायक क्रिया

	उच्च हिन्दी	खड़ी बोली	बाँगरू	ब्रज	कनौजी	बुंदेली
एक० पु०	था	था	था	हा, औ, औ	था, हतो	ता, हतो
बहु० पु०	थे	थे	थे	हे, ए	थे, हते	ते, हते
एक० स्त्री०	थी	थी	थी	ही, ई	थी, हती	हती, ती
बहु० स्त्री०	थीं	थीं	थीं	हीं ई	थीं हतीं	हतीं तीं

थ—वाले रूप खड़ी बोली, बाँगरू, और अंशतः कनौजी में मिलते हैं। ब्रज और बुंदेली में ह—की समानता है, पर ब्रज में अगति स्वर की ओर है। ब्रज में हुतौ, हुते, हुती, हुतीं रूप भी मिलते हैं। पर अब इनका प्रयोग सीमित हो गया है।

(f) कृदन्त—

(i) वर्तमान कालिक कृदन्त—वर्तमान कालिक कृदन्त धातु के साथ—त् या—अत् जोड़ कर ही बनते हैं। केवल बाँगरू में त् के स्थान पर—द का प्रयोग मिलता है : मारदा = मारता। ब्रज में एक० पु० में—त्—के साथ—उ का योग हो जाता है : मारतु ~ मार्तु = मारत। कनौजी में मारत, मारतु दोनों मिलते हैं।

(ii) भूत कालिक कृदन्त का ढाँचा यह है : धातु+आ ~ या ; ए ~ ये; —ई—ईं। आकारान्त भूतकालिक एक० कृद० बुंदेली में ओकारान्त, ब्रज में औकारान्त तथा कनौजी में भी ओकारान्त या औकारान्त होता है : मारा, ब्र० मार्यौ, ~ मारौ; कनौजी मारो, ~ मारौ; बुंदेली मारो। अन्य रूप समान हैं।

(g) भविष्यत् काल—खड़ी बोली और बाँगरू में—ग्—प्रत्यय जोड़कर भविष्यत् के रूप मिलते हैं। ब्रज (साहित्यिक) में-ग—तथा—ह—वाले दो रूप मिलते थे। बोलचाल में अब—ग—वाले रूप ही मिलते हैं। यह दुहरा रूप बुंदेली और कनौजी में हैं।

ब्रज	कनौजी	बुंदेली
१ उत्तम० एक०	१ एक०	१ एक०
मारिहौं, मारौंगो, मारूँगो	मारिहौं, मारेहूँ, मारोगो	मरहों, मारूँगो
बहु०	बहु०	बहु०
मारिहौं, मारैंगे, मारिंगे	मारिहैं, मारेंगे	मारहैं, मारिहैं, मारेंगे
२ मध्य० एक०	२ एक०	२ एक०
मारिहैं, मारैगो	मारिहै, मारेगो	मरहे, मारेगो
बहु०	बहु०	बहु०
मारिहौ, मारौगे	मारिहो, मारोगे	मरहौ, मारोगे
३ अन्य० एक०	३ एक०	३ एक०
मारिहै, मारैगो	मारिहै, मारैगो	मरहै, मारैगो
बहु०	बहु०	बहु०
मारिहैं मारेंगे, मारिंगे	मारिहैं, मारेंगे	मरहैं, मारैंगे

७.२.७ **पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ**—पूर्वी हिन्दी की तीन बोलियाँ हैं : अवधी बघेली, छत्तीस गढ़ी। इनका संक्षिप्त परिचय और तुलनात्मक व्याकरण नीचे दिया गया है।

(क) संक्षिप्त परिचय—इस शीर्षक में पूर्वी हिन्दी की बोलियों की भौगोलिक स्थिति उनकी उपबोलियों और ध्वन्यात्मक विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

(अ) **अवधी**—इसका दूसरा नाम कोसली भी है। अवधी को ग्रियर्सन ने बैसवाड़ी के नाम से सम्बोधित किया है। पर बैसवाड़ी अवधी की एक क्षेत्रीय बोली है। अवधी के पश्चिम में कनौजी और बुंदेली का क्षेत्र है। इसके पूरब में भोजपुरी बोली जाती है। इसके विस्तार-क्षेत्र का विवरण डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस प्रकार दिया है[१] : हरदोई जिले को छोडकर शेष अवध की उपभाषा अवधी है। यह लखनऊ उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर खीरी, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़ बाराबंकी, में तो बोली ही जाती है, इन जिलों के अतिरिक्त दक्षिण में गंगापुर, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, मिर्जापुर, तथा जौनपुर के कुछ हिस्सों में भी बोली जाती है। मुजफ्फरपुर तक भोजपुरी के साथ अवधी मिश्रित होकर प्रचलित है, रामरितमानस अवधी और ब्रज के मिश्रित रूप में है। अवधी बोलने वाली जनसंख्या १ करोड़ ४२ लाख है।

कनौजी और बुंदेली में कर्ता का-ने परसर्ग प्रयुक्त होता है पर अवधी में नहीं। साथ ही संज्ञा, विशेषण तथा भूतकालिक कृदन्त ब्रज-बुन्देली-कनौजी में औकारान्त, ओकारान्त है : अवधी में ये आकारान्त। दूसरी ओर अवधी में भोजपुरी के ला प्रत्यय वाले वर्तमान रूप का प्रभाव है। भूतकालिक रूपों में-अल्—इल् प्रत्यय भोजपुरी की विशेषता है, अवधी में ये रूप नहीं मिलते। भोजपुरी में अपादान-से तथा अवधी में-से है।

अवधी का तिरहारी रूप बुंदेली से प्रभावित है। तिरहारी का कुछ रूप शुद्ध बुन्देली के समान है। गहोरा बोली का कुछ भाग तो बुंदेली से अत्यधिक प्रभावित है तथा कुछ भाग शुद्ध अवधी है। जूड़र बोली और भी बुंदेली से प्रभावित है। और भी कुछ उपबोलियाँ इसके अन्तर्गत हैं।

(आ) **बघेली**—यह बघेलखंड की बोली है। बघेले राजपूतों के कारण इसका यह नामकरण हुआ है। इसका एक नाम रीवांई भी है। रीवां ही बघेली का केन्द्र है। यह छोटा नागपुर के चन्दभकार, मध्यप्रदेश के दमोह, जबलपुर, मांडला बालाघाट के जिलों तक विस्तृत है। बाँदा की बोली बुंदेली के अन्तर्गत होते हुए भी बघेली से बहुत साम्य रखती है। इसके उत्तर में इलाहाबाद की अवधी। पूरब में छत्तीसगढ़ी का क्षेत्र है। दक्षिण में बालाघाट की मराठी तथा दक्षिण पश्चिमी में

[१] हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ६५

बुंदेलखण्डी है। बघेली-भाषियों की संख्या ४० लाख के लगभग है। इस पर बुंदेली और अवधी का प्रभाव पड़ा है। विशेषतः सीमावर्ती बोली-रूपों पर। दक्षिण के रूप पर मराठी का भी प्रभाव है।

(इ) **छत्तीसगढ़ी**—इसको लरिया या खल्टाही नामों से भी पुकारा जाता है। जैसा नाम से स्पष्ट है इस भाषा का क्षेत्र छत्तीसगढ़ है। बिलासपुर जिले के कुछ भाग में भी इसका प्रचलन है। बालाघाट के कुछ भागों में भी यह बोली जाती है। मध्यप्रदेश के रायपुर तथा बिलासपुर जिलों, काकेर, नन्दगांव, खैरागढ, रायगढ़ कोरिया, सरगुजा, उदयपुर तथा जयपुर आदि राज्यों के कुछ भागों में छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। पड़ौस के उड़ीसा के कुछ भाग और बस्तर में भी यह बोली जाती है। ग्रियर्सन ने तो इसे मराठी की ही एक उपभाषा माना था पर डा० चटर्जी ने इसे मागधी की ही एक उपभाषा माना है।

नीचे इन तीनों बोलियों का तुलनात्मक व्याकरण दिया जा रहा है।

(ख) **संक्षिप्त तुलनात्मक व्याकरण**—आकारान्त संज्ञाओं के साथ—वा का योग इनकी एक विशेषता है : घोडा=घोड़वा। ईकारान्त के साथ—या का योग भी मिलता है : नारी=नरिया। तिर्यक कर्ता के रूप या तो अविकृत रहते हैं, या—ए का संयोग होता है : घवड़े (बघेली)। तिर्यक बहुवचन प्रत्यय—अन् है : घोड़वन्, घरन, नारिन्। वैसे संज्ञा के रूपों में पर्याप्त वैविध्य प्राप्त होता है। संज्ञाओं के अतिरिक्त अन्य व्याकरण रूपों की तुलनात्मक तालिकाएँ इस प्रकार हैं—

(i) **परसर्ग**—कर्ता—ने का प्रयोग इन बोलियों में नहीं मिलता। अन्य परसर्ग इस प्रकार हैं—

	अवधी	बघेली	छत्तीसगढ़ी
कर्म-संप्रदान	का, काँ, क	का, कहा, कँहँ	का, ला, बर
करण-अपादान	से, सेनी, सेन	से, ते, तार	ले, से
संबंध	केर, कर, के	कर	के
अधिकरण	में, म, पर	में, पर	माँ, पै-पर

ब्रज वर्ग का करण-अपा० ते बघेली में प्राप्त होता है। 'से' की समानता खड़ी बोली से है। पुरानी ब्रज का अधिकरण मँहँ छत्तीस० में माँ रूप में मिलता है। कर्म संप्रदान पश्चिमी हिन्दी में को, कूँ हैं : यहाँ इस रूप का अभाव है।

(ii) सर्वनाम—एकवचन

उच्च हिन्दी		अवधी		बघेली		छत्तीसगढ़ी	
कर्ता	तिर्यक	कर्ता	तिर्यक	कर्ता	तिर्यक	कर्ता	तिर्यक
मैं	मुझ मेर	मैं	मो	मयँ	म्वहि म्वाँ	मे, मे	मोर, मो
तू	तुझ तर-	तैं, तू	तों	तयं	त्वहि, ताँ, त्वा	ते, तं	तो, तोर
आप	आप	आपु	आप	अपना	अपना, अपाने	अपन्	अपन्
यह	इस्-	ई, यु	ए, एह, एहि	या	याहि, या	ये इया	ये, ये-कर
वह	उस्-	ऊ, वै	ओह, ओहि, ओ	वह	वहि, ओ, उन	वो	ओ-(क्रे, कर)
जो	जिस-	जे, जवन जौन	जे	जौन, जउने	ज्यहि, जेहि	ज, जोन जउन	जे, जोन, जउन
सो	तिस् उस्	से, तवन तौन	ते, ते-कर	तौन, तऊनम्	तउनै, त्यहि, ते, तेहि	तो, तोन, तउन	ते, तोन, तउन
कोन	किस्	के, कवन	के, के-कर	कऊन	के, केहि	कोन, कउन	का, कोन, कउन्

बहुवचन

हम	हम- हमार	हम	हम, हमर, हमार	हम्ह	हम्ह, हम्हार	हम, हम्मन्	हम, हमार,
तुम	तुम्हार तुम-	तुम	तुम, तुमरे, तुमार तोहार	तुम्ह	तुम्ह, तुम्हार	तुम्ह तुम्मन (तुह-मन)	तुम्ह, तुम्हार,
ये	इन्	इन्-ऐ	इन्-	ए, ऐन्ह	यन्, यन्ह(कर)	इन, ये-मन	इन, इन्ह
वे	उन्	ओन्, उन् ओ	ओन्, उन(कर)	ओ, उन्ह	उन उन्ह(कर)	उन, वो-मन	उन्, उन्ह
जो	जिन	जे	जेन, जेन्हे(कर)	जेन्ह	जेन्ह, ज्यन,	जिन, जे-मन	जिन, जिन्ह
सो	तिन, उन	ते	तेन् तेन्त(कर)	तेन्ह	तेन्ह, त्यन्	तिन, तेन्मन्	तिन, तिन्ह
कौन	किन	के	केन्, केन्ह(कर)	केन्ह	बयन्, वयन्ह (कर)	कोन-मन	कोन-मन

उक्त तालिका के छत्तीसगढ़ी के बहुबचन रूपों में मन् का योग हो जाने से आदरार्थक रूप बन जाता है। प्रश्नवाचक तथा अन्य रूप ये हैं—

अवधी	बघेली	छत्तीसगढ़ी
'क्या', का, काव् 'कोई' केह, केऊ कोनो 'कुछ' कुछ	काह कउनी कोऊ कुछ	का, काये, काहे कोनो, कउनो कुछ

सर्वनामों की दृष्टि से ब्रजभाषा पूर्वी बोलियों के खड़ी बोली की अपेक्षा अधिक समीप है।

(iii) सहायक क्रिया

(अ) वर्तमान काल

		अवधी		बघेली	छत्तीसगढ़ी
एक०	१ 'हूँ'	पु० अहेउँ ~ बाट्येउँ	स्त्री० अहिउँ ~ बाटिउँ	आँ	हवउँ ~ हौं, आँव
	२ 'है'	प्र० अह, अहेस् ~ बाटे, बाटस्	स्त्री० अहिस् ~ बाटिस	है	हवस ~ हसो
	३ 'है'	पु० अहै, आ, है, आय ~ बाटै, बाटइ	स्त्री अहई ~ बाटई	आ	हवै ~ है, अय
बहु०	१ 'हैं'	अही	स्त्री० अहिन्	हैं	हवन् ~ हन्
	२ 'हो'	अहें. अहेव, अह्यो, अह	स्त्री० अहिव	अहेन्, हो	हवौ ~ ह
	३ 'हैं'	अहै, अहीं, अहई	स्त्री० अहईं	आँ, अँहें, अहेन्	हवैं ~ हैं

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि अवधी के बाट् वाले रूप भोजपुरी के प्रभाव से हैं। साथ ही सहायक क्रियाओं में लिंग-भेद अवधी की अपनी विशेषता है। (बघेली और छत्तीसगढ़ी ब्रज, बुन्देली और कनौजी के निकट आती गई हैं। अवधी के क्षेत्र में रूपों का वैविध्य मिश्रण की प्रगति के कारण है। लिंग-भेद अस्पष्ट और अनियमित सा है।

(अ) भूतकाल

		अवधी	बघेली	छत्तीसगढ़ी
एक०	१ 'था'	पु० रहेउँ स्त्री० रहिउँ	रहे उँ, रहये	रहेंव, रहयौं
	२ 'था'	पु० रहेस्, रहिस् स्त्री० रहिस्	रहा, रहे~ते	रहे, रहेंस्, रहस्
	३ 'था'	पु० रहेस्, रहिस् स्त्री० रही	रहा ~ते,तो,ता	रहिस्, रहै, रहय्
	स्त्री० थी	रहा, रहै		
बहु०	१ 'थे'	रहे, रहा	रहेन्~तें	रहेन
	२ 'थे'	रहेउ, रहा	रहेन~तें	रहेव्
	३ 'थे'	रहेन्, रहिन्, रहे, रहइँ	रहेन~तें	रहिन्,रहैं, रहैय्
	स्त्री० 'थीं'	'रहीं'		

पूर्वी बोलियों में भूतकालिक सहायक क्रियाएँ रह्-धातु से निर्मित हैं। बघेली के-त्-वाले रूप पश्चिमी हिन्दी के-थ-वाले रूप के समान हैं। रूप वैविध्य अवधी में ही विशेष रूप से प्राप्त होता है। ब्रज की कुछ पुरानी पीढ़ी के लोग तथा कुछ नवीन पीढ़ियाँ भी कभी-कभी √ रह्-धातु से उत्पन्न रूपों का प्रयोग करती हैं।

(iv) **क्रिया सूचक संज्ञा**—अवधी मे-ब् तथा बघेली और छत्तीसगढ़ी में ब, तथा-न-दोनों का योग करके क्रियार्थक संज्ञा के रूप बनाए जाते हैं: देखब, देखन्। छत्तीसगढ़ी में केवल धातु रूप भी इस अर्थ में प्रयुक्त होता है: देख।

(v) **कृदन्तीय रूप**—कृदन्तीय रूपों में वर्त० कृद० तीनों में-त्-प्रत्यय के योग से बनाया जाता है: देखत्-। भूतकालिक कृदन्त प्रायः हिन्दी के समान ही हैं। कुछ सामान्य अन्तर है।

(vi) **भविष्यत्काल**—अवधी में-ब् प्रत्यय का संयोग होता है। बघेली में ये रूप मिलते हैं—

एक०	बहु०
१ होत्येउँ	होब, हौवै
२ होइहेस्	होवा
३ होई	होंयिहैं

इससे बघेली पश्चिमी हिन्दी की ब्रज से अधिक समीप दीखती हैं। छत्तीसगढ़ी के रूप ये हैं।

एक०	बहु०
१ देख-हूँ~देखिहौं	देख-बो ~देखिहन्~देखब
२ देख-बे	देखहू~देखिहौ

देखि-वे

२ देखाही ~ देखि है देखहीं ~ देखिहै

ऊपर के रूपों में-व-वाले तथा-ह- वाले रूपों का अद्‌भुत मिश्रण है। इसमें पूर्वी बोलियों तथा पश्चिमी बोलियों के प्रभावों का अनुपात स्पष्ट हो जाता है। साहित्यिक ब्रज में-ह्-वाले रूप प्राप्त होते हैं।

उक्त तुलनात्मक विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अवधी पर भोजपुरी आदि पूर्वी बोलियों का प्रभाव अधिक है। बघेली और छत्तीसगढ़ी पर प्रभाव दोनों ओर का है। छत्तीसगढ़ी पर ब्रज-बुन्देली का प्रभाव अधिक है।

८

हिन्दी का विकास-क्रम

८.१ काल-विभाजन-हिंदी के विकास इतिहास को परम्परा से तीन विभागों में बाँटा जाता रहा है प्राचीन, मध्य और वर्तमान। इन कालों की अवधि के संबंध में कुछ मत नीचे उद्‍धृत किये जाते हैं—

(क) प्राचीन काल—

डा० श्यामसुन्दर दास	: ९९४ ई०[१]	—अन्त	१३१९ ई०[४]
डा० धीरेन्द्र वर्मा	: १००० ई० (११वीं शती)[२]	,,	१५०० ई०[५]
कामता प्रसाद गुरु	: १२०० ई० (१२वीं शती)[३]	,,	१६०० ई०[६]

कामताप्रसाद गुरु ने प्राचीन काल को दो भागों में बाँटा है : वीरगाथा (१२००-१८००) तथा धार्मिक (१८००-१६०० ई०)। राहुल सांस्कृत्यायन सम्भवतः हिंदी काव्य धारा की भूमिका में प्राचीन काल के आरम्भ को और पहले निश्चित करना चाहते हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ में ७६०-११०० ई० के मध्य कालीन कवियों की रचनाएँ प्रकाशित की हैं। उन्होंने लिखा है : हमारे इस युग की भाषा और आज की भाषा में काफी अन्तर है तो भी हम बतलायेंगे कि मूलतः वह भाषा और आज की भाषा एक है।[७] अन्त में वे कहते हैं : 'अपभ्रंश के कवियों को विस्मरण करना हमारे लिए हानि की वस्तु है। वही कवि हिंदी काव्य धारा के प्रथम सृष्टा थे।[८] वस्तुतः पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत के समकक्ष है और पिछली पुरानी हिंदी के। ग्राउज महोदय ने अपभ्रंश का उल्लेख न करके उसके स्थान पर ब्रजभाषा को ही बताया है।[९] बुल्नर के अनुसार इस युग का आरम्भ १२ वीं शताब्दी के हेम-

---

१ हिंदी भाषा पृ० ४१, ४२

२ हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० ४८, ७६

३ हिंदी व्याकरण पृ० १९

४ हिंदी भाषा पृ० ४१, ४२

५ हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० ४८, ७६

६ हिंदी व्याकरण, पृ० १९

७ हिंदी काव्य धारा पृ० ३

८ वही पृ० १२

९ The Non Aryan Element in Hindi Speech, Indian Antiquary जिल्द १, (१८१२) पृ० १०३

चन्द्र के व्याकरण में उल्लिखित अपभ्रंश तथा प्राचीन हिंदी के आदिकाव्य की भाषा के मध्य मे हैं। [1] इनके अनुसार पृथ्वीराज रासो हिंदी का आदिग्रंथ है (लगभग १२वीं शती) वास्तव में अपभ्रंश और आधुनिक आर्य भाषाओं के बीच कोई सुस्पष्ट विभाजक रेखा नही खींची जा सकती। मोटे रूप से हिन्दी के आरम्भ का समय १०वीं शती ही मानना चाहिए। कुछ का निष्कर्ष है कि यह काल ११००-१४०० ई० ही है।[2] यह अवधि ४०० वर्ष की है।

(ख) **मध्य काल**—की अवधि के संबंध में उक्त विद्वानों का मत इस प्रकार है—

डा० श्यामसुन्दर दास : १३१६ — १०६४ ई० (हिंदी भाषा, पृ० ४३)
डा० धीरेन्द्र वर्मा : १५०० — १८०० ई० (हिंदी भाषा का इति० पृ०७३)
कामताप्रसाद गुरु : १६०० — १८०० ई० (हिंदी व्याकरण, पृ० २१)

इस प्रकार मध्यकाल की स्थिति भी संदिग्ध है। आरम्भिक काल के निश्चय पर ही यह काल निर्धारण आधारित है। मध्यकाल का आरम्भ १६वीं शती के प्रथमांश से तथा उसका अन्त १९वीं शती के मध्य ही मानना समीचीन प्रतीत होता है।

(ग) **आधुनिक या वर्तमान काल**—डा० श्यामसुन्दरदास ने १८४४ ई० से अब तक डा० धीरेन्द्र वर्मा ने १८०० ई० से अब तक तथा गुरू ने १८००-१९०० ई० दिया है। पर १९०० के पश्चात् क्या हुआ ? भारत में नवीन युग का आरम्भ सन् १८५७ की क्रांति से ही माना जाना चाहिए। उससे पूर्व आधुनिक युग की भूमिका थी। इस प्रकार १९वीं शती के पूर्वार्द्ध के पश्चात् ही आधुनिक युग का आरंभ मानना उचित दीखता है।

इन तीनों कालों को देखते हुए कहा जा सकता है कि हिंदी ने अपने इतिहास के लगभग १००० वर्ष पार कर लिए हैं। विभिन्न कालों की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों से गुजरती हुई अपनी भिन्न-भिन्न बोलियों के रूप में साहित्यिक रचना और दैनिक व्यवहार का माध्यम बनती हुई, हिंदी आज एक विशाल जन समूह की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है।

८. २. **प्राचीनकाल**—यहाँ हिन्दी के आदिकाल की ऐतिहासिक परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय तथा इस काल की हिन्दी-बोलियों के रूप और उसकी साहित्यिक स्थिति का परिचय दिया जा रहा है।

८. २. १. **हिन्दी के आदिकाल की ऐतिहासिक परिस्थितियां**—राजनैतिक दृष्टि से केन्द्र की शक्ति दुर्बल हो गई थी। सामन्तवादी संस्कृति कुछ निश्चित सीमाओं में बंधने लगी थी। भारतीय सामन्तों के सम्मुख मुसलमान आकर खड़ा

[1] Introduction to Prakrit P. 2
[2] P. A Baranni Kov, on the periodization of the History of the Hindi Language, Hindi Review June 1960, 172

हो गया था—दुर्द्धर्ष, विजयी और धर्म-प्रचार की प्रेरणा से सबल। ११ वीं शती तक समस्त पंजाब तुर्कों के अधीन हो गया। धीरे-धीरे अधिकार क्षेत्र विस्तृत होने लगा। इस मुस्लिम अभियान ने हिन्दू सामन्त को ललकारा। आंतरिक रूप से सामन्त अपने क्षुद्र राजनैतिक संघर्षों में उलझे हुए अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे थे। देशभक्ति का स्थान स्थानीयता ने ले लिया था। मध्यकालीन सामंत इसलिए विदेशी आक्रमणों के सामने घुटने टेक देता था। जनता में देश के राजनैतिक जीवन के प्रति एक उदासीनता व्याप्त हो गई थी। 'कोई नृप होउ हमें का हानी' की प्रवृत्ति वाली जनता ने बिना अवरोध के विदेशी राजवंश को भी स्वीकार कर लिया—दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा। राष्ट्रीयता और देश भक्ति के ह्रास से विदेशी सत्ता को स्थायित्व मिला। राष्ट्र-प्रेम का स्थान स्वार्थ पूर्ण, राजभक्ति और प्रशस्ति, ने ले लिया। सैनिक देश के लिए नहीं राजा के लिये लड़ते थे। राजा के न रहने पर सेना आत्म-समर्पण कर देती थी। इतने पर भी वैयक्तिक वीरता उच्चकोटि की थी। समस्त उत्तरी भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। राजस्थान, मध्य प्रदेश, विंध्य प्रदेश आदि प्रान्तों में प्राचीन राजवंशों के अवशिष्ट रूपों ने धर्म और देश की रक्षा का व्रत लेकर, विदेशी सत्ता के प्रति झंडा उठाया। यह नव जागरण था, जिसकी पृष्ठभूमि में धार्मिक जागरण था। कवि चन्द ने इसको पौराणिक रूप दिया है: म्लेच्छों से त्रस्त पृथ्वी के उद्धार के लिए वशिष्ठ ने अपने यज्ञकुंड से चार योद्धा उत्पन्न किए: परमार, चालुक्य, परिहार, और चहुमान। कान्य कुब्ज में गहड़वाल वंशीय जयचन्द्र, दिल्ली के चाहुमान वंशीय वीसलदेव (विग्रहराज) तथा पृथ्वीराज (शासन काल १२३६—१२५० वि०) का विशेष रूप से इस युग से संबंध है। 'पृथ्वीराज विजय' (जयानक रचित संस्कृत ग्रंथ) तथा चंद कृत पृथ्वीराज रासो में इसी का चरित्र चित्रित है। महोबा के वीरों से इसकी प्रतियोगिता रहती थी। यहाँ के आल्हा-ऊदल भी हिन्दी से संबंधित हैं।

उक्त राजनैतिक वातावरण में किसी केन्द्रीय भाषा की आशा नहीं की जा सकती। विभिन्न राजवंशों ने स्थानीय भाषा बोली को प्रोत्साहन दिया। हेमचन्द्र के द्वारा वर्णित परिनिष्ठित अपभ्रंश की परम्परा जड़ हो गई। पर उसके 'काव्यानुशासन' में 'ग्राम्य' भाषा का उल्लेख है। वह सम्भवतः कथ्य भाषा थी। ११ वीं शती से 'अवहट्ट' विकसित होने लगी। इसी को प्रारंभिक हिन्दी भी कहा जाता है। पश्चिमी अवहट्ठ का रूप 'प्राकृत पैंगलम्' से, और पूर्वी अवहट्ठ का परिचय उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, वर्ण रत्नाकर और कीर्ति लता से जाना जा सकता है। ये चारों ग्रंथ किसी न किसी राज्याश्रय में लिखे गये। इससे अवहट्ठ को राज्याश्रय मिलने की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। अवहट्ठ का प्रसार सिन्ध-मुलतान से बंगाल तक तथा कन्नौज से मान्यखेट तक था। देश भेद से प्रादेशिक प्रभावों से युक्त होकर अवहठ विकसित होने लगी। मध्यदेश में साहित्यिक रूप में क्षेत्रीय बोलियाँ पीछे विकसित हुईं। पहले मैथिली में विद्यापति और ज्योतिरीश्वर का साहित्य रचा गया। उधर राजस्थान में

साहित्यिक भाषा विकसित हुई। पश्चिमी राजस्थानी और गुजराती का एक मिला-जुला रूप विकसित हुआ। पूर्वी राजस्थान मे ब्रज भाषा ग्रहीत हुई। मध्य भाग की खड़ी बोली, ब्रज और अवधी साहित्यिक रूप में कुछ पीछे आई।

ऊपर वर्णित राजनैतिक परिस्थितियों ने एक कृत्रिम भाषा को जन्म दिया। राज्याश्रित भाट और चारणों ने राजस्थान में 'डिंगल' का प्रयोग किया। भाट और चारण स्थायी रूप से किसी दरबार से संबंध कर भी रहते थे और उनमें कुछ घुमन्तु भी थे। घुमन्तु भाट जनता में आदृत थे। इनकी डिंगल भाषा मिश्रित, कृत्रिम भाषा है। यह प्रायः प्रशस्ति-काव्य की भाषा है। कुछ हेर-फेर से यह काव्य प्रत्येक दर-बार में सुनाया जा सकता था। इससे काव्य के रूढ़ रूप का परिचय मिलता है। यह भाषा भी रूढ़ थी। इसमें मुख्यतः पश्चिमी अपभ्रंश के तत्व थे। पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी बोलियों तथा पंजाबी की विशेषताओं से भी यह भाषा युक्त थी। पृथ्वी-राजरासो में इसी भाषा का रूप मिलता है। वर्णों की द्वित्व-प्रवृत्ति इस भाषा की एक प्रमुख विशेषता थी। पर रासो की भाषा का आदि रूप प्राप्त होना कठिन है। परम्परा मौखिक रहने के कारण भाषा भी परिवर्तित होती रही।

राज्याश्रय संबंधित दूसरी कृत्रिम भाषा पिंगल थी। यह १२०० ई० से विकसित होने लगी थी। छोटे-छोटे सामन्तों, पुरोहित वर्ग तथा काव्य शास्त्रियों के मिश्रित वर्ग की सामान्य बोली पर यह भाषा आधारित थी। यह अर्द्ध अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ हुई है। पिंगल शब्द का प्रयोग, ब्रजभाषा' के लिए ही होता था।[१] डा० ग्रियर्सन ने पिंगल की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से बताई है।[२] डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने भी इसी का समर्थन किया है।[३] सूरजमल ने इसकी स्थिति दिल्ली और ग्वालियर के बीच बताई है।[४] पिंगल वस्तुतः पूर्वी राजस्थान और ब्रज प्रदेश की साहित्यिक भाषा थी। कुछ विद्वान पृथ्वीराज रासो को इसी भाषा का ग्रन्थ मानते हैं। यह भाषा राज्याश्रय में भी थी और स्वतन्त्र भी।

दूसरी भाषा धार्मिक प्रगति से संबंधित थी। शंकराचार्य के धार्मिक अभियान ने अवपतित बौद्ध धर्म को प्रायः भूमिसात कर दिया था। इससे एक ओर वैदिक धर्म को बल मिला दूसरी ओर शैव मत का एक रूपनाथ संप्रदाय बल ग्रहण करने लगा। इसके सिद्ध मत या 'योग मार्ग नामों से भी अभिहित किया जाता है। इस मत में दो बातें विशेष थीं : योगाभ्यास की प्रधानता और जाति वर्ण में अनास्था। प्रेममूलक भक्ति से इसका मेल नहीं था[५] इसके प्रचारकों में चार नाम प्रमुख रूप से लिए

---

१. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ. १४
२ लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, भाग १,पृ १२६
३ राज स्थानी भाषा, पृ० ६४
४ पूर दिल्ली और ग्वालियर, बीच ब्रजादिक देस।
पिंगल उपनायक गिरा, तिनकी कथा विसेस ॥
५ तुलसी-गोरख जगायो जोग। भगति भगायों लोग; निगम नियोगतें सो केलि ही छरो सो है—[कवितावली: उत्तरकांड]

जाते हैं : मत्स्येन्द्र नाथ, गोरखनाथ, जलंधर नाथ, तथा कृष्ण पाद (कानुपा)। कौलमार्ग के पूवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ का जन्म स्थान कामाख्या (आसाम) के आसपास माना जाता है। गोरखनाथ ने संशोधित कौल संप्रदाय का प्रचार किया। ये हठयोग के आचार्य थे। इस संप्रदाय के प्रचारकों के द्वारा तत्कालीन भाषा-साहित्य को पर्याप्त बल मिला। यह शाखा राज्याश्रय से मुक्त जन-जीवन से अधिक संम्पृक्त रही। मत्स्येन्द्रनाथ पूर्व के तथा गोरखनाथ पश्चिम के। इससे इस मत की व्यापकता का परिचय मिलता है।

डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' नाम से १३ छोटी मोटी पुस्तकों का प्रकाशन किया है। आगे चलकर यह धारा तीव्र-मंद गति से बहती रही और हिंदी संत कवियों के साहित्य के रूप मे फिर प्रबल हो गई। इन साधु संतों की प्रचार-यात्राओं ने एक ऐसी सधुक्कड़ी भाषा को जन्म दिया जिसमे अनेक तत्वों का मिश्रण था। इस भाषा का प्रयोग भारत के एक बहुत बड़े भूभाग पर किया जाता था। उपदेशों के अतिरिक्त यह भाषा सतों के भजन-दोहों की भाषा भी बनी। दुरुह व्याकरण नियमों से यह भाषा अंशतः मुक्त थी। पंजाब, बिहार, महाराष्ट्र आदि क्षेत्रों में इस भाषा की थोड़े-बहुत अन्तर से कई शैलियां विकसित हो रहीं थी। सिखों के आदि ग्रंथ में सगृहीत विभिन्न संतों की 'बानियों' के अध्ययन से इनका परिचय प्राप्त हो जाता है। नानक और कबीर की भाषा भी इसी सधुक्कड़ी भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। यद्यपि कबीर की भाषा पर पूर्वी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है, फिर भी पंजाबी-खड़ी बोली के मिश्रित प्रभाव से भी यह मुक्त नहीं है इसका कारण यह कि नाथपथ के अधिकांश प्रचारकों का संबंध पंजाबी-खड़ी बोली भाग मे था। नाथपथी अखाड़ों में एक मिली-जुली भाषा विकसित हुई जो क्षेत्रों के अनुसार कुछ परिवर्तित होती हुई एक विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित रही। फिर भी इसमें बोली के तत्व प्रमुख रहे। बिहार-बंगाल के संत कवियों ने एक 'पद-उपभाषा' को जन्म दिया। सहजयानियों की भाषा साध्य भाषा के नाम से जानी जाती थी : एक मिली-जुली भाषा। नाथपंथी सन्तों तथा रामानन्द प्रभृति भक्तों की कृतियों की मौखिक परम्परा रहने के कारण, भाषा भी कुछ परिवर्तित हुई। इससे आज इनकी कृतियाँ जिस रूप में उपलब्ध हैं, वह अविकृत नहीं है। पर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि गुरु वाणी को अविकृत भाषा में सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति इन सम्प्रदायों में मिलती है। अतः बहुत कुछ उसी समय की भाषा का परिचय इन ग्रन्थों से प्राप्त हो जाता है।

भक्त-संतों की एक और मिली-जुली भाषा विकसित हो रही थी। गुजरात, राजस्थान और ब्रज के तत्व इस भाषा में वर्तमान थे। इस भाषा का प्रतिनिधित्व मीरा की भाषा करती है। यद्यपि कबीर मीरा को प्राचीनकाल से संबद्ध नहीं किया जा सकता, फिर भी इनकी भाषा प्राचीनकाल में स्थित इस भाषा के प्रयोग की सूचना अवश्य देती है। रामानन्द, कबीर, मीरा आदि भक्तिकाल से संबंधित होते

हुए भी पुरानी हिन्दी काल की शाखाओं से तथा उन शाखाओं की भाषा से अवश्य संबद्ध हैं।

कुछ जैन कवियों की रचनाएँ भी ऐसी हैं, जिनमें अपभ्रंश की छाया तो अवश्य है, पर वे देशभाषा के अधिक निकट हैं। चर्चरी, रास, तथा फागु काव्यों की भाषा ऐसी ही है। ये वस्तुतः गायन-काव्य हैं: इनका गायन श्रावकों के द्वारा जैन मन्दिरों में होता था। साहित्य की इस प्रकृति के कारण इनकी भाषा जनता के अधिक समीप बनी रही। इस भाषा का संबध भी गुजरात-राजस्थान व्रज के मिले-जुले क्षेत्र से है। शालिभद्र सूरि का बाहुबलिरास अपभ्रंश तथा हिन्दी की देहरी पर स्थित है। रास काव्यों का आधार अपभ्रंश के चरितकाव्य ही हैं। अतः अपभ्रंश का गहरा प्रभाव तो है, पर ढाँचा आदि हिन्दी जैसा है। यह बात चरितकाव्यों की इस साहित्य से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाती है।

मुसलमानों में से भी कुछ लोगों ने विशेष रूप से और अधिकांश ने सामान्य रूप से खड़ी बोली या अन्य किसी भाषा को अपनाया। तुर्कों ने फारसी को ही राजभाषा के रूप मे प्रचलित किया। जब फारसी-तुर्की जन अपनी भाषा के साथ यहाँ प्रतिष्ठित हो गये तो भाषा और रक्त के मिश्रण की गति अधिक तीव्र हुई। कुछ भारतीयों के मुसलमान हो जाने से भी भाषा के इस मिश्रित रूप को गति मिली। मुसलमानों ने पूर्वी पंजाब और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के मिलित क्षेत्र की भाषा को अपनाया। अलबेरूनी जैसे विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया। 'महमूद गजनवी ने अपने सिक्कों पर भारतीय भाषा द्वारा भारतीयों तक पहुँचने का प्रयास भी किया था··· यह सम्पर्क पठान शासक मुहम्मद गोरी ने चालू रखा और उसने अपने व्यक्तिगत नाम मुहम्मद बिनसाम के नाम के सिक्के भारतीय नागरी लिपि में···छाप कर प्रचलित किए।[१] गुलाम वंश के शासन के साथ दिल्ली राजधानी के रूप में महत्व ग्रहण करने लगी: पंजाब का महत्व कम होने लगा। यहाँ एक सामान्य व्यवहारकी बोली धीरे-धीरे विकसित होने लगी, जिसमें पंजाबी के कुछ तत्व थे और अधिकांश हिन्दी के। "इस भाषा को मध्यदेश (हिन्दुस्थान) के स्थानीय जन तथा भारतीयकृत तुर्क एवं ईरानीजन जिनमें बहुत से मुसलमान बने हुए पंजाबी भी सम्मिलित थे, सभी समझ या बोल सकते थे।"[२] यही पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली तथा बाँगरू की पृष्ठभूमि है। इस प्रभाव के कारण ही हिन्दी की ये बोलियाँ व्रज-कनौजी-बुन्देली से भिन्न हो जाती हैं। मुसलमानों में हिन्दी में लिखने वाला सबसे प्राचीन कवि मसऊद इब्नसाद था (११२५-११३० ई० मे मृत्यु)। अमीर खुसरो ने उसके हिन्दी दीवान की चर्चा की है। इसकी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश ही रही होगी। दिल्ली में प्रचलित उस समय की बोली का कुछ आभास अमीरखुसरो की कविता

---

[१] डा० सुनीतकुमार चटर्जी, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १९४-९५

[२] वही पृ० १९६

में मिलता है। पर आज अमीर खुसरो के नाम से प्रचलित अनेक कविताओं में से अमीर खुसरो की वास्तविक कृतियों को अलग करना कठिन है।

७·२ २ **निष्कर्ष**—उक्त विवरण से हिन्दी के आदिकाल की भाषा-स्थिति कुछ इस प्रकार की लगती है। कविता के क्षेत्र में अवहट्ठ का प्रचार विस्तृत क्षेत्र में साहित्यिक भाषा के रूप में था। यह क्षेत्रीय रूपों में विकसित हो रही थी। राजस्थान में डिंगल भाट-चारणों के प्रशक्ति-वीर-काव्य में प्रचलित थी। पिंगल तथा ब्रज के रूप में ब्रजभाषा भी एक साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त थी। सिद्ध-नाथ सन्तों की एक पंचमेल भाषा उनके प्रचार और गीतों की भाषा थी : इसमें पंजाबी, खड़ी बोली, राजस्थानी के तत्वों का मिश्रण था। पूर्वी का प्रभाव भी था। गुजरात-राजस्थान-ब्रज का एक और मिश्रण बन रहा था, जिसका प्रतिनिधित्व मीरा की भाषा करती है। दिल्ली में तुर्कों, पठानों, नवीन मुसलमानों तथा वहाँ की जनता के पारस्परिक व्यवहार की भाषा चल रही थी। इसमें पंजाबी और खड़ी-बोली के तत्वों का मिश्रण था। खुसरो के पश्चात् खड़ी बोली ने दक्षिण की यात्रा की। दक्षिण के शिया राज्यों ने इसे आश्रय दिया। दक्षिण के मुसलमानों की यह भाषा हो गई। लिपि और शब्दावली के अतिरिक्त यह हिन्दी ही बनी रही : नाम 'दक्खिनी' हुआ। दक्खिनी में गद्य और पद्य की रचना हुई। दक्खिनी साहित्य सूफी-दर्शन से प्रभावित है। 'दक्खिनी के सर्व प्रथम लेखक ख्वाजा बंदानवाज गेसूदराज सैयद मुहम्मद हुसेनी (१३७५ वि०—१४७९ वि०) माने जाते हैं जो एक प्रसिद्ध फकीर थे'''दक्खिनी का सर्व प्रथम कवि निजामी (१५१७ वि०) था।[1] यही उर्दू का शिलान्यास था।

८·३· **मध्यकाल**—इसमें तत्कालीन परिस्थितियों का संक्षेप में सर्वेक्षण किया गया है तथा हिन्दी की ब्रज, अवधी, खड़ीबोली आदि के प्रयोग की स्थिति पर विचार किया गया है।

८·३·१· **ऐतिहासिक परिस्थितियाँ**—मुगल-काल में देश की दशा में सुधार भी आया और ऐक्य तथा मेल-मिलाप की स्थितियाँ भी उत्पन्न हुईं। सड़कों तथा आवागमन की सुविधाओं की ओर लोदी बादशाहों का ही ध्यान गया था, उसके पश्चात शेरशाह ने भी इस दिशा में पर्याप्त उन्नति की। शेरशाह तथा उसके पश्चात मुद्राप्रणाली में भी काफी सुधार हुआ। व्यापारी वर्ग को इससे प्रोत्साहन मिला। फलतः भाषाओं का अलगाव कम होने लगा। अन्तर्प्रादेशिक संबंध स्थापित होने लगे। मुगल बादशाह स्वयं व्यापार में रुचि रखते थे। पर हिन्दी क्षेत्र में बोलियाँ पृथक् रही आयीं। वैसे एक सामान्य बाजारू भाषा अपने अस्तित्व की सूचना देने लगी। इस काल की प्रमुख साहित्यिक बोलियों का नीचे सामान्य परिचय दिया गया है।

[1] हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४०९

८·३·२ **ब्रजभाषा**—पिंगल के रूप में ब्रजभाषा हिन्दी के आदिकाल में ही साहित्यिक रुप ग्रहण कर चुकी थी। ब्रजभाषा एक क्षेत्र में बोलचाल की भाषा थी, पर अपने पूर्वी राजस्थानी से मिश्रित साहित्यिक रूप में यह समस्त उत्तरी भारत की भाषा थी। कृष्णभक्ति धारा ने इस भाषा को बल दिया क्योंकि निर्गुण धारा का प्रवाह कुछ मन्द होने लगा था। ब्रजभाषा पश्चिमी अपभ्रंश के औकारांत रूप से संबंधित है। डा० मेनारिया के अनुसार चौदहवीं शती में जब राजस्थानी भाषा का उदय हो रहा था, उसी समय ब्रज में ब्रजभाषा विकसित हो रही थी।[1] डा० चटर्जी के शब्दों में 'ऐसा जँचता है कि अपनी बेटी ब्रजभाषा में शौरसेनी अपभ्रंश को नवीन कलेवर मिला; नए आयुकाल को उसने प्राप्त किया।[2] १६वीं शती के मध्य तक ब्रजभाषा सारे मध्यदेश की साहित्यिक भाषा तो हो ही गई, मध्यदेश से बाहर भी इसका प्रयोग होने लगा। डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है : 'ब्रज की वंशीध्वनि के साथ अपने पदों की अनुपम झंकार मिला कर नाचने वाली मीरा राजस्थान की थी, नामदेव महाराष्ट्र के थे, नरसी गुजरात के थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भोजपुरी भाषा क्षेत्र के थे।...बिहार में भोजपुरी, मगही और मैथिली भाषा क्षेत्रों में भी ब्रजभाषा के कई प्रतिभाशील कवि हुए हैं।[3] इस प्रकार ब्रजभाषा एक बहुत बड़े क्षेत्र की साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा बनी रही।

साहित्यिक ब्रजभाषा वस्तुतः कृत्रिम भाषा ही थी। इसकी लोकप्रियता यहाँ तक बढ़ी कि मुगल बादशाहों ने भी ब्रजभाषा को संरक्षण दिया : रहीम ने ब्रजभाषा में कविता की। अकबर के लिखे हुए कुछ ब्रजभाषा के दोहे बताए जाते हैं। यदि हम उत्तर भारत की उस काल की किसी भाषा को बादशाही बोली कहना चाहें तो वह निश्चय ही बजभाषा होगी।[4] जहाँगीर और शाहजहाँ ने तो बजभाषा का अध्ययन किया। औरंगजेब के समय में मीर्ज़ाखाँ ने फारसी में तुहफतुल हिन्द नाम से ब्रजभाषा व्याकरण की रचना की।

ब्रजभाषा अपने आसपास की अन्य भाषाओं को भी प्रभावित करती थी। मध्यकाल के भक्ति और रीतियुग में ब्रजभाषा में ही प्रचुर साहित्य की रचना हुई। अवधी और ब्रज का मिलाजुला रूप तुलसी के रामचरित मानस में मिलता है। इस प्रकार मध्यकाल में ब्रजभाषा हिन्दी की सर्वप्रमुख बोली रही। अवधी से मिल कर इसका विस्तार क्षेत्र और बढ़ गया। रीतिकाल में ब्रजबुन्देली का संघटन हुआ।

[1] राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १०
[2] पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ८०
[3] नई धारा, पटना, वर्ष ४ अंक ११, पृ० ६
[4] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० २०८

८·३·३ **अवधी**—रामभक्तिशाखा की प्रमुख भाषा अवधी थी। कबीर की भाषा में भी पूरवी भाषा का पर्याप्त पुट था। पर जायसी और तुलसी जैसे महाकवियों से पोषण प्राप्त करके अवधी साहित्य में स्थान पाने लगी। तुलसी के 'मानस' ने सिन्धु तट से लेकर गंगासागर तक लोकप्रियता प्राप्त की। इससे अवधी को प्रामाण्य मिला। जिस प्रकार ब्रजभाषा ने भक्तिकाल के पश्चात रीतिकाल में भी अपनी महत्ता को सुरक्षित रखा, उस प्रकार अवधी नहीं रख सकी। प्रेममार्गी सूफी कवियों, कुतुबन, मंझन, जायसी, नूर मुहम्मद, उस्मान आदि ने इसके साहित्यिक रूप को सुस्थिरता देने मे पर्याप्त योग दिया। तुलसी की दृष्टि कुछ प्रचारात्मक दीखती है। अतः तुलसी की कुछ कृतियों को छोड़ कर सभी में ब्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

८·३·४ **खड़ीबोली**—प्राचीनकाल के वर्णन में 'दक्कनी' का कुछ उल्लेख हुआ है। मराठा कन्नड़ तथा तेलुगु क्षेत्रों में उत्तर भारत से आने वाले मुसलमानों की भाषा, साहित्यिक रूप में प्रयुक्त होने लगी थी।[1] ये मुसलमान पंजाब, बाँगरू या खड़ी बोली प्रदेशों से यहां गये थे। इस भाषा की आकारांतता इस बात की पुष्टि करती है। अन्य बोलियों का मिश्रण हुआ। इसके साहित्यिक रूप के दर्शन मुल्ला बज्ही तथा कुली कुत्बशाह जैसे कवियो की रचनाओं में होते हैं। इस भाषा के रूप के संबंध मे डा० चटर्जी लिखते हैं: "१६वीं शती का अन्त होते न होते ही दक्षिण के उत्तर भारतीय मुसलमान, हिन्दू शैली में हिन्दी देशज छन्दों में तथा अधिकांश संस्कृत एवं प्राकृत शब्दों वाली भाषा में धार्मिक कविता की रचना करने लगे थे, यह सारा साहित्य बिलकुल हिन्दू परम्परा का उसी प्रकार अनुकारी था, जैसे उत्तरी भारत में आरम्भिक अवधीभाषा में रचित मलिक मुहम्मद जायसी का 'पद्मावत'।[2] दक्षिण के मुसलमानों ने हिन्दुस्तानी के इस रूप को पकड़े रखा।

हिन्दुस्तानी ने दक्षिण में बलग्रहण करके फिर उत्तरी भारत की यात्रा की। यहाँ मुस्लिम दरबारों में राजभाषा के रूप में फारसी प्रतिष्ठित थी। परिणामत: दक्षिण में जो भाषा फारसी से अत्यधिक प्रभावित नहीं हुई थी, वह उत्तर के दरबारों में प्रविष्ट होते ही फारसी से बल ग्रहण करने लगी। इस फारसीमय हिन्दुस्तानी के प्रथम कवि वली माने जाते हैं जो दक्कन में भी रह चुके थे। फिर भी ब्रजभाषा के कोमल शब्दों से भी इसने अपना शृंगार किया, यह फारसी से अत्यधिक नहीं लदी, पर धीरे-धीरे इस पर फारसी प्रभाव घना होता जाता था। यही हिन्दी के एक भिन्न साहित्यिक रूप उर्दू की भूमिका बनी। फारसी लिपि के कारण उर्दू राजभाषा पद पर भी बैठने लगी। भारतीय मुसलमानों की सांस्कृतिक धार्मिक भाषा भी

---

[1] इसके उदाहरण लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, भाग ९, खंड १ में संगृहीत हैं।

[2] भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० २१२।

यह बन गई। पहले तो हिन्दू लोग इसके प्रति उदासीन रहे, पर धीरे-धीरे राजभाषा होने के कारण इसकी ओर झुकने लगे। आधुनिक युग में अंग्रेजों ने इसे पर्याप्त पोषण-संरक्षण दिया।

इस प्रकार खड़ी बोली बोलचाल के रूप में भी प्रचलित रही और उर्दू के रूप में साहित्यिक भाषा भी बनी रही। हिन्दुओं में खड़ी बोली मध्यकाल में साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाई। पर आधुनिक काल में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। व्रजभाषा आदि साहित्यिक क्षेत्र में खिसकने लगीं। उर्दू का एक प्रभाव तो यह पड़ा कि मुगल दरबारों में फारसी का प्रभाव कम होने लगा: उर्दू का मान बढ़ने लगा। हिन्दी या खड़ी बोली या उर्दू के माध्यम से काफी प्रचार हुआ। फौज तथा प्रान्तों में भी इसका प्रसार हुआ। उर्दू के प्रसार ने खड़ी बोली की लोकप्रियता में अवश्य वृद्धि की। आगे चल कर हिन्दी का भवन इसी नींव पर खड़ा हुआ।

८·३·५· निष्कर्ष—मध्यकाल में हिन्दी की व्रज बोली का सबसे अधिक बोलबाला रहा। अवधी रामभक्तिशाखा और सूफी कवियों में लोकप्रिय रही। दरबार और राजमहलों में दिल्ली केन्द्र की खड़ी बोली घुसनी रही। दक्षिण में इसने दकनी नाम के साथ साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त की। जब यह उत्तर लौटी तो दरबारों ने इसका स्वागत किया: 'उर्दू' नाम से लोकप्रिय हुई: फारसी के प्रभाव को कम करती हुई यह बढ़ने लगी। इससे खड़ी बोली के प्रचार को भी बल मिलने लगा। आगे चल कर हिन्दुओं ने भी व्रज के मिठास को छोड़ कर खड़ीबोली को ही साहित्यिक प्रतिष्ठा दी। यही नागरी हिन्दी के रूप में विकसित हुई।

८·४· आधुनिकयुग— इस शीर्षक के अन्तर्गत आधुनिक काल की परिस्थितियां आधुनिक हिन्दी के विकास, संसार की भाषाओं में हिन्दी के स्थान, भारत में हिन्दी के महत्व, तथा अन्य समस्याओं पर विचार किया गया है।

८·४·१· परिस्थितियाँ—१८ वीं शती के अन्त तक प्राय: मध्यकालीन परिस्थितियाँ चलती रहीं। कुछ विदेशी शक्तियाँ भारत-भूमि पर पैर अवश्य जमाने लगीं। इन विदेशी शक्तियों के कारण आधुनिक युग की भूमिका प्रस्तुत होती जा रही थी। दिल्ली के सुलतान की शक्ति दुर्बल होती जा रही थी। विघटन की प्रगति तीव्र होने लगी। विदेशी शक्तियों ने समाज में नये प्रश्न उत्पन्न कर दिये थे। पूँजीवादी संस्कृति की छाया यहाँ पड़ने लगी। १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध में एक प्रकार से विदेशी शक्तियों के प्रति देशी शक्तियों की आन्तरिक क्रान्ति का समय है: इतिहास अस्तव्यस्त: परिस्थितियाँ दासत्व से जकड़ी हुईं। स्वतन्त्रता के लिए हुई प्रथम क्रांति (१८५७) में वह घुटन ज्वालामुखी विस्फोट की गति से फूट पड़ी। आगे की स्थितियाँ समाज-सुधार, शक्ति संचयन, राष्ट्रीय आन्दोलनों, तथा स्वतंत्रता प्राप्ति की कड़ियों से निर्मित हैं। यूरोपीय साहित्य के प्रभाव से गद्य और समाचार

पत्रों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। एक जीवन्त, गतिशील तथा व्यावहारिक भाषा की आवश्यकता का अनुभव किया गया जो नवोन्मेष, नवीन विचारों तथा प्रगति की वाहिका बन सके। यहीं कहीं आधुनिक हिन्दी के मूल और प्रश्न उलझे हुए हैं।

८·४·२ **आधुनिक हिन्दी का विकास**—उत्तरकालीन मुगल दरबारों, दक्षिण की सल्तनतों तथा वहाँ के सूफी कवियों ने उर्दू को बल और महत्व प्रदान किया था। उर्दू शासक वर्गों तथा उनके आश्रितों की वर्ग भाषा की भाँति उत्पन्न हुई। यह एक कृत्रिम भाषा थी। खड़ीबोली के ढाँचे, उसके बुनियादी शब्द भंडार तथा व्याकरण पर कुछ अरबी-फारसी शब्द लाद कर तथा फारसी व्याकरण के अत्यल्प नियम अपना कर उर्दू के भवन का निर्माण किया गया। मुसलमानों के भारत में आने के पश्चात किसी भारतीय भाषा के अपनाने की आवश्यकता ने इसकी पृष्ठ-भूमि तैयार की थी। 'रेख्ता' (=मिश्रित) से उक्त मिश्रण की सूचना भी मिलती है।

उर्दू अव्यक्त रूप से खड़ीबोली को उसके प्रकृत क्षेत्र से बाहर ले गई। खड़ीबोली क्षेत्र के बाहर के मुसलमानों ने भी उर्दू को अपनाया तथा उनके प्रभाव से अन्यों ने भी। बंगाल तथा मद्रास के मुसलमानों ने उर्दू को मातृभाषा बताया। इससे खड़ी बोली को प्रेरणा मिली। इस प्रकार एक बोली के ढाँचे का प्रसार-क्षेत्र बढ़ा। उसकी संभावनाएँ उज्ज्वल हुईं और भविष्य आशापूर्ण। जब मुसलमानों के अतिरिक्त लोगों को एक नवीन भाषा की आवश्यकता का अनुभव हुआ, तब इसी ढाँचे की ओर ध्यान गया।

हिन्दू वर्गों में इसका नाम 'खड़ीबोली' हुआ। १९वीं शती के आरम्भ तक इसका सामान्य जीवन में तो व्यवहार होने लगा, और स्वभावतः हिन्दुओं के द्वारा प्रयुक्त होने पर खड़ीबोली उर्दू शब्दों से कुछ मुक्त रहती होगी। साहित्य में प्रयुक्त होने की अभी क्षमता भी नहीं उत्पन्न हुई और सुप्रतिष्ठित ब्रजभाषा से प्रतियोगिता लेने में झिझकती रही। १८ वीं शती के अन्त मे लिखित मुंशी सदासुखलाल के 'सुख-सागर' की गद्य में उच्चकोटि के संस्कृत शब्दों का प्रयोग मिलता है, पर खड़ी बोली के ढाँचे की ओर पंडिताऊपन लिए हुए झुकाव मात्र मिलता है : ब्रजभाषा का जादू उन पर चढ़ा रहा। कलकत्ता फोर्टविलियम कालिज के जेम्स गिलक्राइस्ट से हिन्दुस्तानी गद्य लेखन को प्रोत्साहन मिला। मीरअम्मन का बागोबहार (१८०४) तथा हाफिजुद्दीन अहमद का 'खरीद अफरोज' (१८०३-१८१५) उर्दू गद्य के दो प्रारम्भिक ग्रंथ हैं। नागरी हिन्दी के दो आरम्भिक ग्रंथ लल्लूजी लाल का प्रेमसागर (१८०३) तथा सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान' (१८०३) है। इस प्रकार हिन्दुस्तानी अपने दोनों रूपों-नागरी हिन्दी और उर्दू—में गद्य का माध्यम १८०० के आसपास बनी। इस प्रकार पश्चिमी हिन्दी की आकारान्त बोलियों ने एक सार्वदेशिक भाषा की संभावनाओं से युक्त होकर १९ वीं शती के आरम्भ में

साहित्य के क्षेत्र मे पदार्पण किया। अंग्रेजों ने फारसीयुक्त उर्दू को प्रोत्साहन दिया : यह कचहरियों की भाषा बनी। राजनैतिक कार्यकर्ताओं तथा समाज सुधारकों ने भी इनमें से किसी न किसी शैली को अपनाया। यहाँ कुछ अन्तर उपस्थित हुआ : विरोध की भूमिका बनी। स्वामी दयानन्द ने नागरी-हिंदी के माध्यम मे अपना कार्य किया और मुसलमानों ने उर्दू के माध्यम से भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र ने गद्य के लिए नागरी हिंदी को निश्चित कर दिया। इस प्रकार 'हिंदी नये रूप मे ढली।' बीसवीं शती के आरम्भ के कुछ पूर्व से नागरी हिंदी में काव्य रचना भी होने लगी। सिखों को छोड़ कर पंजाबियों ने ब्रजभाषा, कनौजी, पूर्वी हिंदी बिहारी तथा राजस्थानी बोलने वाली जनता ने अपनी मातृभाषा के साथ साथ शिक्षण तथा सार्वजनिक कार्यों के लिए नागरी हिंदी को अपना लिया है। राष्ट्रीय आन्दोलनों में यह देश-प्रेम वाहिनी बनी। कांग्रेस ने 'हिन्दुस्तानी' को प्रोत्साहन दिया। संस्कृत तद्भवता एक ओर बढ़ती गई तथा फारसी तद्भवता दूसरी ओर। पर सामान्य जनता बोलचाल में यह भेद भाव नहीं करती : इनकी हिंदुस्तानी सर्व सामान्य है : इस सामान्य हिंदी मे भी कुछ प्रयोग हुए। इंशा-अल्लाखा ने कहानी ठेठ हिंदी मे लिखने का प्रयत्न किया (लगभग १८५०) हरिऔध जी ने अपने ठेठ हिंदी के ठाठ (१८६९) तथा 'अधखिला फूल' (१६०५) में संस्कृत-फारसी दोनों से मुक्त भाषा प्रयुक्त की है। पर ये प्रयोग ही होकर रह गये। हिंदी को एक महान् भाषा के रूप में आना था: संस्कृत से मुख्यतः तथा अन्य स्रोतों से सामान्यतः उसे बल लेना था। हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी की समस्याएं और संघर्ष सामने आते रहे, पर स्वतंत्र भारत के विधान में हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद दिया गया। इसकी शक्ति का संवर्द्धन और विकास मुख्यतः संस्कृत तथा सामान्यतः अन्य भारतीय भाषाओं से होना चाहिए।[1]

८.४.३ संसार की भाषाओं में हिन्दी का स्थान—ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी भारोपीय परिवार की, हिन्द-ईरानी शाखा के भारतीय-आर्य भाषा वर्ग की एक महत्वपूर्ण आधुनिक भाषा है। विश्व की भाषाओं में इसके महत्व के सम्बन्ध में डा० चटर्जी ने लिखा है: 'बोलने वाले एवं व्यवहार करने तथा समझने वालों की संख्या की दृष्टि से हिन्दुस्तानी का स्थान जगत की महान भाषाओं मे तीसरा हैं; इसके पहले केवल चीनी भाषा की उत्तरी बोली और अंग्रेजी, ये दोनों ही आती हैं,

विधान ने कहा 'It shall be the duty of the union to promote the spread of the Hindi language to develop so that it may serve as a medium of exprassion for all the elememts of the compsoite culture of India and to secure its enrichment by assimilating without interfeing with its genius, the form style and expressions used in Hindustani and in other languages of India and by drawing wherever necsssary or desirable for its vocabulary Primarily in Sanskrit and secondaily on other languaes of India.'

और इसके पश्चात् अनुक्रम से हिस्पानी, रूसी, जर्मन, जापानी, इन्दोनेसियन, तथा बंगला भाषाएं आती हैं।"[1] इस कथन से संसार की भाषाओं में हिन्दी का स्थान स्पष्ट हो जाता है।

८.४.४ **भारत में हिन्दी का महत्व**—विस्तार क्षेत्र, बोलने वालों की संख्या और भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी भारत की एक प्रमुख भाषा है।

८.४४.१. **विस्तार-क्षेत्र**—केलॉग ने हिन्दी के सम्बन्ध में लिखा है, हिन्दू धर्म के प्रमुख केन्द्रों, बनारस, इलाहाबाद तथा मथुरा, पहाड़ों में गंगोत्री, केदारनाथ तथा बद्रीनाथ में; भारत की प्रमुख स्वतंत्र रियासतों, महाराजा सिंधिया के राज्य, जयपुर राज्य तथा अन्य राज्यों में हिंदी प्रचलित है। संक्षेप में हिंदी का क्षेत्र २४८,००० वर्ग मील है। इन स्थानों पर जहाँ मुस्लिम जनसंख्या अधिक है वहाँ उर्दू बोली जाती है, जो हिंदी की ही एक शैली है।[2] दक्षिण पूर्वी पंजाब पश्चिमी उत्तरप्रदेश. उत्तर-पूर्वी मध्यप्रदेश, उत्तरी ग्वालियर, पूर्वी राजस्थान में हिन्दी घरेलू-व्यवहार की भाषा है। इन क्षेत्रों में हिन्दी की प्रादेशिक बोलियाँ भी प्रचलित हैं। समझने और सामान्य रूप से बोलने वालों की दृष्टि से हिंदी-क्षेत्र की सीमाएं और भी बढ़ जाती है। गुजरात और मराठों के प्रदेशों में हिंदुस्तानी समझी और पढ़ी जा सकती है। राजस्थान और मलावा में नागरी हिंदी को अपना लिया गया है। कुछ सिक्खों को छोड़ कर पंजाब में भी हिंदुस्तानी का व्यवहार होता है इस स्थान की क्षेत्रीय बोलियाँ मातृ भाषाएं अवश्य है। बिहार में भी साहित्यक रूप और व्यवहार में हिन्दी मान्य है। दक्षिण भारत के बड़े बड़े शहरों तथा तीर्थों में हिंदुस्तानी का काम चलाऊ ज्ञान व्यवसायी वर्ग को और पुरोहितों को है। इस संक्षिप्त विवरण से हिंदी के विस्तार-क्षेत्र का परिचय मिल जाता है। इस दृष्टि से हिंदी एक महान भाषा है। भारत से बाहर फिजी, ब्रिटिश गायना. त्रिनीदाद, दक्षिण तथा पूर्वी अफ्रीका, इन्डोनेशिया आदि में भी हिंदी समझने—बोलने वालों की बस्तियाँ हैं।

८.४४.२ व्यवहार करने वालों की संख्या—

सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार भारत की प्रमुख भाषाओं के बोलने वालों के तुलनात्मक आंकड़े इस प्रकार है—

हिंदी	१२,१२,५४,८९८
बंगाली	५,३४,६८ ४६६
मराठी	२,१३ ९१ ३९९
पंजाबी	२,४६,६०,६८०
तामिल	२,०४११ ६५२

---

[1] भारतीय आर्य भाषा और हिंदी, पृ० १६१

[2] Grammar of the Hindi Language, Preface to the first edition, P. xi, xii

कन्नड	१,१२,०६,३८०
तेलुगु	२,६३,७३,५१४
गुजरात	१,०८,५०,०००
मलयालय	९१ ३७,६१५

डा० चटर्जी ने हिन्दी भाषियों की संख्या के सम्बन्ध में लिखा है।"..."यह कथन अतिशयोक्ति न होगा कि हिन्दुस्तानी १५ करोड़ लोगों की सहित्यिक भाषा बनी है। इसके अतिरिक्त इसके बोलचाल में प्रचलित बाजारू हिन्दी-रूप को भारत के तथा भारत से बाहर के करीब साढ़े चौवीस करोड़ लोग थोड़ी सी तकलीफ उठाये समझ सकते हैं।[1] दक्षिण मे भी उत्तरी भारत की भाषाओं में हिन्दी ही सबसे अधिक समझी जा सकती है। इस प्रकार व्यवहार करने वाली जनसंख्या की दृष्टि से भी हिंदी भारत की एक महत्वपूर्ण भाषा है।

८.४४.३. अन्य विशेषताएँ—उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय एकता का महान् साधन यह भाषा बन सकती है। भारतीय आर्यभाषा की एक दीर्घ परम्परा की यह अन्तिम कड़ी है। अनेक स्रोतों से इसने बल ग्रहण किया है। मूल भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधित्व के साथ यह इसकी अनेक शाखा उपशाखाओं का भी प्रतिनिधित्व करती है। इसका वाक्य-विन्यास आदि द्राविड़ और कोल भाषाओं के निकट है। अतः इनके लिए इसके ढाचे को समझना कठिन नहीं है। शब्द क्रम इनमें समान है। सस्कृत, द्राविड़, अंग्रेजी फारसी तत्व इसमें एकत्र होकर, इसे एक शक्ति से सम्पन्न कर देते हैं। अब आवश्यकतानुसार विदेशी पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण करने में भी इसे संकोच नहीं। सरकार द्वारा जो पारिभाषिक सूचियाँ अब बन रही हैं, उनकी प्रवृत्ति उदार दीखती है। साथ ही अनेक वैज्ञानिक अर्थों को व्यक्त करने की सम्भावनाओं से युक्त इस भाषा को माना है। साथ ही अन्य प्रादेशिक भाषाओं की उपयुक्त शब्दावली भी इसमें प्रबिष्ट हो रही है। इस सब से हिंदी की प्रवृत्ति एक सामान्य रूप की ओर है।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से इसकी अभिव्यक्ति की शैलियों में सुरुचिपूर्ण वैविध्य और लोच मिलता है। उपसर्ग और प्रत्ययों की सहायता से इसके शब्द विविध अर्थ-छायाओं को व्यक्त करने में सशक्त हैं। बिना इनकी सहायता के भी काम चलता है। संज्ञाओं के साथ क्रिया जोड़ कर भी रूप बनते हैं: विचार करना, बातें बनाना आदि। इससे भाषा का सीखना भी सरल हो जाता है और अर्थ में स्पष्टता भी आ जाती है। साथ ही हिन्दी की ध्वनियों का वैज्ञानिक वर्गीकरण और उनका सुनिश्चित रूप भी मिलता है। स्वर व्यवस्था की सुस्पष्टता हिन्दी ध्वनि तत्व की एक बिशेषता है। आवश्यक फारसी ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए भी मार्ग निकल आया है: क़ ख़ ग़ ज़ फ़ आदि। हिन्दी के व्याकरणिक रूपों का वैविध्य

---

[1] भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ० १६१

और उनकी जटिलताएँ भी कम हैं। यह भी इसके प्रचार-प्रसार का साधक तत्व है। बाजारू हिन्दी, जिसका प्रचार अत्यधिक है, का व्याकरण तो और भी सरल है।

८.४.५. **निष्कर्ष**—ऊपर हिन्दी के क्रम, महत्व और रूप का निर्देश किया गया है। हिन्दी वस्तुतः एक सार्वजनिक भाषा बनने की सम्भावनाओं से युक्त है। यह एक अत्यन्त प्रगतिशील भाषा है। स्वतंत्रता के पश्चात् ही इसकी प्रगति और इसके विकास के लिए उन्मुक्त क्षेत्र मिला है। इसके पहले यह संघर्ष करती रही और राज्याश्रय से वंचित रही। भारत में एकीकरण की शक्तियों की आवश्यकता है। हिन्दी उस एकीकरण की वाहिनी हो सकती है। प्रादेशिक भाषाओं से इसका संघर्ष नहीं है। उनसे तो सहयोग मिलना चाहिए। प्रादेशिक भाषाओं के दूध से ही राष्ट्र-भाषा का नवनीत मिलेगा। हिन्दी-भाषी भू भाग का विस्तार भी हो रहा है। समृद्धि की दृष्टि से हिंदी के प्रकाशनों की सख्या बहुत बढ़ रही है। समाचार पत्र तथा पत्रिकाएँ हिंदी में सभी भाषाओं से अधिक है। इस क्षेत्र में विश्वविद्यालय भी बढ़ रहे हैं, गोरखपुर, जबलपुर आदि। इससे हिंदी के भविष्य का कुछ अनुमान लगाया जा सकता।

९

देवनागरी लिपि

९·० भारत में लेखन का आरम्भ कब हुआ इस प्रश्न पर पर्याप्त विचार किया गया है : अनेक सिद्धान्त भी निर्धारित किये गए हैं। पौर्वात्य-संस्कृत के आरंभिक अध्येताओं के अनुसार ई० पू० प्रथम सहस्त्राब्दी से पूर्व भारत में लेखन कला का प्रचलन नहीं था। मैक्समूलर के अनुसार ई० पू० चतुर्थ के बाद ही इसका आरम्भ हुआ।[१] बर्नेल (Burnell) भी ४ थी ५वीं शती ई० पू० से पूर्व जाने को तैयार नहीं।[२] इनके अनुसार ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति फोनीशियन लिपि से हुई। डा. बूलर (Biihler) ने ८०० ई० पू० अथवा उससे पूर्व जाने का साहस किया।[३] पर पीछे इस सम्बंध में प्रचुर सामग्री की खोज हुई संस्कृत साहित्य और भाषा के अध्ययन के नवीन वातायन खुले हैं; सिन्धु घाटी की लिपि प्रकाश में आई है; मध्यपूर्व और भारत के ऐतिहासिक और जातीय संबंधों की खोज हुई है।

भारत के स्मृति और पौराणिक साहित्य में लेखन के संबंध में उल्लेख मिलते हैं। नारद स्मृति (लगभग ५०० ई०) में लिखित साहित्य की बात कही गई है।[४] इसकी उत्पत्ति ब्रह्मा ने की। वृहस्पति के अनुसार ६ महीने के अवकाश में स्मृति भ्रमित होने लगती हैं। इसी से जग-सर्जक ने पत्रों पर अक्षर सृष्टि की।[५] कालिदास ने रघुवंश में लिखा है लेखन कला के अभ्यास से मनुष्य विशाल वाङ्मय तक पहुँचता है। जैसे कोई नदी के मुहाने से समुद्र तक पहुँचती है।[६] इसी प्रकार जैन और बौद्ध साहित्य में भी लेखन कला की प्राचीनता के संवंध में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। पुस्तक धारिणी सरस्वती-लेखन कला के मूर्तिकला तथा चित्रकला से प्राप्त प्रमाणों में से एक हैं। अर्द्धनारीश्वर के नारीभाग के हाथ में भी पुस्तक है। (Elephanta caves) ह्वेन-त्सांग भारत में बहुत पहले लेखन-कला के

१ हिस्ट्री आफ ऐंश्यंट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५०७
२ South Indian palaegraphy, p.9
३ Indian palaeorgraphy (Eng. Tr) Indian Antiquary (Append.) 1904 p 17
४ नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तमेयमस्य लोकस्य नाभविष्य च्छुभा गतिः ॥ ४ ।७०
५ मित्र द्वारा 'व्यवहार प्रकाश' पृ० १४१ पर उद्धृत।
६ रघुवश ३ । २८

अविष्कार की बात कहता है।[१] चीनी विश्वकोष में (Ea-wanshu-hi) में भारत में लेखन-कला का कर्ता ब्रह्मा माना गया है।[२] अरब विद्वान अलबेरूनी ने लिखा है : लेखन-कला जब भारत में लुप्त हो गई, तब सब लोग निरक्षर होने लगे। तब पाराशर पुत्र व्यास ने १५ अक्षरी वर्णमाला का ईश्वर की प्रेरणा से अनुसन्धान किया।[३] इसी प्रकार यूनानी विद्वानों ने भी भारतीय लेखन कला की प्राचीनता पर लिखा है। मेगास्थनीज (भारत में ३०५ ई० पू० से २९९ ई० पू०, तक रहा) ने सड़कों के किनारे मील के पत्थरों तथा जन्म-पत्री (horoscopes) की चर्चा की है। उसके द्वारा प्रयुक्त 'स्मृत्यार्थक शब्द से स्मृति साहित्य का ही बोध होता है।[४] संस्कृत के शास्त्रीय साहित्य के युग के भी अनेक उल्लेख मिलते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने भी कुछ उल्लेख मिलते हैं (वृत्तचौल/कर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत १।५।२।) सूत्र साहित्य (२री से ८वीं/शती के बीच रचित) में भी लिखित, प्रमाण की चर्चा है (विष्णु धर्म सूत्र. ६'२३)

वैयाकरणों ने भी लिपि की चर्चा की है अष्टाध्यायी में लिपि, लिबि आदि शब्द इसी के द्योतक हैं।[५] यास्क में भी लेखार्थक शब्द मिलते है। उपनिषदों में अक्षर का संकेत है (हिंकार इतित्र्यक्षरं प्रस्ताव इतित्र्यक्षरं तत्समम्- छान्दोग्य, २। १०) अक्षर के साथ 'वर्ण' शब्द उसके लेखबद्ध होने का प्रमाण है। तैत्तिरीय में वर्ण, स्वर, मात्रा बल आदि की चर्चा है (वर्णः स्वरः मात्रा बलम् १, ६) इस प्रकार भारत के प्राचीन शास्त्रों में लेख संबंधी उल्लेख मिलते हैं। प्रायः अन्य विषयों की ही भाँति लेखन की उत्पत्ति भी दैवी मानी गई है।

९,२. **प्राप्त लिखित प्रमाण**—ऊपर लेख संबंधी उल्लेखों की चर्चा की गई है। पर लिखित प्रमाण ५वीं शती ई० पू० से पहले के प्राप्त नहीं होते। इसका एक कारण 'पत्रों' पर लेखन हो सकता है। यह सामग्री अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रह सकती। केवल प्रस्तरशिला-लेख अधिक समय तक सुरक्षित रहते हैं। ब्राह्मण साहित्य पत्रांकित ही था। अतः प्राचीन लेख-प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। पुरानी पुस्तकों के जीर्ण हो जाने पर नवीन पुस्तकें प्रस्तुत की जाती थीं। विद्यार्थियों को मौखिक शिक्षा तथा सामग्री को कंठस्थ करने की शिक्षण-पद्धति से यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि लेखन था ही नहीं, उसमें दृष्टि शुद्ध उच्चारण की थी। बॉथलिंग ने मानव कल्पसूत्र की अंग्रेजी भूमिका में लिखा है कि साहित्य के प्रचार में लेखन का प्रयोग नहीं था, पर नवीन रचनाओं की सृष्टि

---

१ Beal, si-yu Ki I 77
२ Babylonian and oriental Records, I.५९
३ Sachau, Alberuni, 's India,
४ Dr Rajbali pandey, Indian palaegraphy, ?
५ अष्टाध्यायी, १३।२।२२

में इसका उपयोग था।[१] प्रातिशाख्य जैसे ग्रंथ बिना लेख-साहाय्य के सम्भव नहीं थे।[२] बूलर ने भी माना है कि यह अनुमान किया जा सकता है कि मौखिक शिक्षण तथा अन्य अवसरों पर लेख-बद्ध सामग्री का उपयोग किया जाता था।[३]

जो प्राचीनतम लेख उपलब्ध है वे प्रस्तर-खंडों, धातु-पत्रों, मृण-मुद्राओं हाथीदाँत आदि पर उपलब्ध हैं। इनकी सामान्य क्रम बद्ध शृंखला इस प्रकार है—

६.२.१. सिन्धु-घाटी-लेख—इसकी खोज १९२१ में हुई। इसकी तिथि ई० पू० चतुर्थ सहस्त्राब्दी तक जा सकती है।[४] इससे लेकर छटवीं शती ई० पू० के बीच कोई लेख-प्रामाण्य नहीं मिलता। इसका यह तात्पर्य नहीं कि लेखन कला ही इस बीच लुप्त हो गई थी। वेदों में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय लेखन-कला का इतिहास कम से कम ई० पू० चतुर्थ सहस्त्राब्द से आरम्भ होता है।

६.२.२. मौर्य-पूर्व लेख—कुछ लेख अशोक पूर्व काल के हैं। ऐसी कुछ मुद्रांकित लेख-सामग्री का विवरण कनिंघम ने दिया है।[५] इनमें 'एरन क्वाइन लीजेंड' (ई० पू० ४थी शती से पूर्व) तक्षिला की मुद्राओं के लेख, महास्थान के प्रस्तर-खंड लेख आदि उल्लेखनीय हैं। इस लेख-प्रामाण्य के आधार पर भारतीय-लेखन की तिथि को ई० पू० ५वीं शती तक ले जाया जा सकता है।

६.२.३. मौर्यकालीन लेख—अशोक के लेखों के काल-क्रम के निर्धारण में अब संदेह नहीं रह गया हैं। इनका काल ई० पू० ३री शती है। ये लेख ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में उत्कीर्ण हैं। ये लेख हिमालय से लेकर मैसूर तक, गिरनार (काठिया बाड़) से लेकर दक्षिण-पूर्व में धौली तथा जौगदा तक प्राप्त होते हैं। इन लेखों की अक्षराकृतियों में वैविध्य मिलता है। साथ ही स्थानीय विशेषताएँ भी इनकी लिपियों में दृष्टव्य हैं। इस सबसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अशोक से बहुत पूर्व से ही लेखन-कला भारत में विकसित हो चुकी थी।[६] प्रस्तर खंडों पर लेख अंकित करने का कारण अशोक बताता है: इयं धंमलिपि चिलठिती का होतु (RE. II Kalsi) इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रस्तर माध्यम के अतिरिक्त कुछ कोमल सामग्री भी लेखों के लिये प्रयुक्त होती थी। साथ ही भिक्षुओं को कुछ धर्म-ग्रंथों को भी नित्य प्रति पढ़ने को कहा गया है। (Bhabru R.E. of As'oKa) ये लेख पत्र या बल्कल सामग्री पर ही होंगे।

१ पृ० ६६
२ ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १५ में उद्धृत Roth का उद्धरण।
३ Indian Palaeography, पृ० ४
४ डा० राजबली पांडे, Indian Palaeography, P. २१
५ कनिंघम, Ancient Coins of India,
६ Buhler, Indian Palaeographp, P. ७

इस प्रकार अन्त में लेखनकला की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। इस कला के सम्बन्ध में प्राचीन उल्लेख भी हैं, चीनी, ग्रीक, अरब विद्वानों ने भी इसके संबंध में लिखा है, और ठोस सामग्री भी अत्यन्त प्राचीन काल से प्राप्त होती है।

६. ३. **प्राचीन भारतीय लिपि के प्रकार और नाम**—पाणिन में (८०० ई० पू०) 'लिपि या 'लिबि' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम मिलता है।[1] पर लिपि के प्रकारों के सम्बन्ध में वह मौन है। एक लिपि का नामोल्लेख भी मिलता है: यवनानि (यूनान की लिप)। भारतीय लिपियों का नामोल्लेख उसने आवश्यक नहीं समझा। कौटिल्य ने राजकुमारों के शिक्षाक्रम में लिपि का अध्ययन भी रखा है।[2] अशोक के शिला लेखों में 'लिपि' लिबि तथा 'दिबि तीन शब्द इस अर्थ के मिलते हैं। यद्यपि नामोल्लेख नहीं मिलता, पर उस समय में कम से कम खरोष्ठी तथा ब्राह्मी दो लिपियाँ अवश्य प्रचलित थीं। सबसे पहले जैन सूत्रों में लिपियों की नाम-युक्त सूची मिलती है। इनमें से कुछ में १८ लिपियों की सूची मिलती है।[3] पर भगवती सूत्र में केवल ब्राह्मी को नमस्कार किया गया है: नमो बंभीये लिबिये। बौद्ध ग्रंथ ललित विस्तर (अध्याय १०, १२५.१६) में और भी लम्बी सूची दी गई है। इस सूची में भारतीय लिपियां भी हैं और विदेशी भी। इसमें ब्राह्मी और खरोष्ठी मुख्य है। चीनी विश्वकोष (Fa-Wan-Su.Lin)[4] के अनुसार ब्राह्मी से बाँये दाँए को चलती है और इसकी सृष्टि 'फन (ब्रह्मा) ने की। दूसरी दैवी शक्ति (Kia-lu) खरोष्ठ थी जिसने खरोष्ठी लिपि का निर्माण किया: यह दाएँ से बाँए। को चलती है। तीसरी शक्ति tsam-ki थी जिसने ऐसी लिपि की रचना की जो ऊपर से नीचे को चलती है। साथ ही उस विश्वकोष के अनुसार प्रथम दो शक्तियाँ भारत में उत्पन्न हुई तथा तीचीन में। ब्राह्मी और खरोष्ठी में लिखित अशोक के लेख लगभग इसी समय में मिलते हैं। मनसेरा और शहबाज गढ़ी के लेख खरोष्ठी में है: शेष ब्राह्मी में हैं। भारत में सबसे अधिक प्रचलित ब्राह्मी थी, उत्तर पश्चिम में खरोष्ठी प्रचलित थी। साथ ही दर्दलिपि, खस्यलिपि चीन लिपि, हूण लिपि, असुर लिपि[5] आदि विभिन्न देशों की लिपियां थीं जिनसे भारतीय लोग परिचित थे। ब्राह्मी के कुछ स्थानीय रूप भी होंगे। कुछ जातीय लिपियाँ भी थी गन्धर्व हिमालयी पोलि-थीं विण्ध्य जाति, नागलिपि यक्ष लिपि तथा किन्नर लिपि तथा गरुड़ लिपि आदि। कुछ धार्मिक लिपियाँ भी थी: शैवों की महेसरी, तथा ब्राह्मणों की भौमदेवलिपि। कुछ चित्रलिपियाँ भी प्रचलित थीं: मांगल्यलिपि, मनुष्यलिपि अंगुलीय लिपि आदि।[6]

---

[1] अष्टाध्यायी ३-२-२१

[2] अर्थशास्त्र २। १। २

[3] पन्नवणा सुत्र, समवायांगसूत्र (अध्याय १८)

[4] रचनाकाल ६६८ ई०

[5] ललित विस्तर की सूची के अनुसार

[6] यह वर्गीकरण डा० राजबली पाँडे के अनुसार है। Indian palaeography, २६, २८, २९

६.४ **भारतीय लिपियों की उत्पत्ति**—चीनी और भारतीय परम्परा के अनुसार खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों का आविष्कार भारत में हुआ। जब तक सिन्धु घाटी की लिपि की खोज नहीं हुई थी, तब तक पश्चिमी एशिया मे प्राप्त लेख प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता था कि भारतीय लिपियों की उत्पत्ति किसी पश्चिमी एशिया के देश या यूनान में हुई। कुछ ने उस समय भी कम से कम ब्राह्मी को भारत में ही उत्पन्न माना। खरोष्टी को पश्चिमी एशिया से आगत माना गया। सिन्धु घाटी की लिपि की उत्पत्ति विवादास्पद बनी हुई है।

६.४.१. **सिन्धु घाटी की लिपि की उत्पत्ति**—डा० राजबली पांडे ने इसको मिश्रित लिपि कहा है: यह चित्र या प्रतीक लिपि और ध्वनिलिपि के संक्रान्ति काल का प्रतिनिधित्व करती है।[१] अभी इस लिपि को पढ़ा नहीं जा सका है। इस लिपि को कुछ विद्वान द्राविड मानते हैं।[२] इस सिद्धान्त के मानने मे एक कठिनाई है। सिन्धुघाटी की लिपि के पश्चात् के लेख उत्तर में ही मिलते हैं, दक्षिण मे नहीं जो द्राविड़ों का देश था। इस लिपि के सुमेरी लिपि के साम्य के आधार पर कुछ विद्वान इसे पश्चिमी एशिया से आगत मानते हैं। सर जॉन मार्शल का भी लगभग यही विचार है।[3] हेरैस ने इसको बाँए से दाँए पढ़ा है और तमिल में इसका अक्षरान्तर किया है। पर ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्दी के तमिल-रूप का कोई ज्ञान नहीं हैं। इसलिए इस पठन को निश्चित और वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। आज की तामिल से इसका साम्य देखना असगत प्रतीत होता है।

वाडिल (S. A. Waddel) ने यह स्थापना की है कि ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्द मे सुमेरी लोगों ने सिन्धु-घाटी में अपना उपनिवेश बनाया था।[४] उसी के साथ वहाँ की भाषा और लिपि का आगमन भारत में हुआ। भारतीय-आर्य की उत्पत्ति भी ये सुमेरी से ही मानते हैं। भारतीय आर्य राजाओं के नामों को उन्होंने वहाँ मुद्रांकित माना है। भारतीय विद्वानों में से डा० प्राणनाथ ने भी इनका समर्थन किया है।[५] सिन्धु-लिपि की चित्रात्मकता पश्चिमी एशिया और मिस्र तथा क्रीट

---

१ It is a mixed (विमिश्रित) writing of the transitional period between the age of embryonic writing and the age of phonetic writing. It cosnists of pictographs, ideographs and syllables", Indian Palaeography, P. 29

२ Rev. H. Heras, s I, Mohenjodaro, the people and the Land, Indian culture, iii 1957)

3 Mohan jodaro and the Indus civizilation vol I & II

3 The Indo-Sumerian Seals Deciphered (1925)

४ 'The Script of the Indus Valley seals, Indian Historical qurarterly 1931; Sumero Egyptian origin of the Aryans and the Rgveda, Journal of the Banaras Hnidu Univrsity, vot. I, No. 2, 1937

५ F. E. Pargiter, Anc. Ind. Historical Traditions XXV.

मे भी है । इन देशों का व्यापारिक संबंध भी था । पर यह कहाँ उत्पन्न हुई और आदान-प्रदान किस दिशा से आरम्भ हुआ, यह अन्धकार में है । सुमेरी सभ्यता को लेकर ये जन मेसोपोतामिया में भी कहीं बाहर से आये और कृषि आदि की प्रणाली अपने साथ लाए । अतः यह मत भी मान्य नहीं है ।[१]

तीसरा मत यह है कि यह लिपि कहीं बाहर से नहीं आई । इनके अनुसार सिन्धु-घाटी को जन आर्य या असुर थे, जो आर्यों से जातीय तथा सांस्कृतिक रूप से संबद्ध थे और जो पीछे मेसोपोतामिया तथा पश्चिमी एशिया में गये । इनके द्वारा भारत में ही इसलिपि का आविष्कार हुआ । यह लिपि यहीं से असुरों और पणियों के द्वारा अन्य देशों में ले जाई गई ।[२] नील, फरात, तथा सिन्धुघाटी की सभ्यता में पर्याप्त सम्बन्ध अवश्य रहा हो सकता है । पर किसने आविष्कार किया और किसने लिया, यह कहना कठिन है । अरब तथा मध्यसागर का स्पर्श करते हुए देशों में पूर्व-ऐतिहासिक युग में व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध थे और परस्पर प्रभाव भी पड़ते रहे । भारतीय उत्पत्ति वाला मत भी दुर्बल नहीं है । पुराणों और महाकाव्यों के ऐतिहासिक विवरणों से उत्तर-पश्चिम भारत से आर्य जातियाँ उत्तर और पश्चिम मे गई अवश्य ।[३]

पर निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता ।

९.४.२. **ब्राह्मी की उत्पत्ति**—जैसे नाम से स्पष्ट है इस लिपि का आविष्कार ब्रह्म (=वेद) को शुद्ध रूप में सुरक्षित रखने के लिए भारतीय आर्यों ने किया । ब्राह्मणों ने इसका मुख्य रूप से प्रयोग किया । इस तथ्य को वेद-विरोधी जैन और बौद्ध लेखकों ने भी स्वीकार किया है । आज के विद्वान, जो ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी स्रोत से मानते हैं, भी यह मानते हैं कि ब्राह्मणों ने इस लिपि को पश्चिमी एशिया के व्यापारियो से ग्रहण किया तथा इसे पूर्णता दी । सुमेरियन तथा बेबीलोनिया की भाँति लिपि के आविष्कार की पृष्ठभूमि में व्यापारिक आवश्यकता नहीं थी : धार्मिक भावना थी । अतः यह सम्भव नहीं है कि उन्होंने अपनी लिपि के सूत्र सिन्धु या सौराष्ट्र के बन्दरगाहों से लिए हों इसमें यह कठिनाई है कि ५वीं शती० ई० पू० से पहले को ब्राह्मी लेख प्राप्त नहीं होते । ब्राह्मी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हैं : भारतीय उत्पत्ति तथा विदेशी उत्पत्ति ।

९.५.२.१. **भारतीय उत्पत्ति**—इसके भी दो रूप हैं । कुछ विद्वान इसकी द्राविड़ उत्पत्ति मानते हैं और कुछ वैदिक या आर्य-स्रोत से ही इसकी उत्पत्ति मानते हैं ।

(क) **द्राविड़ उत्पत्ति**—एडवर्ड थॉमस[४] तथा कुछ अन्य विद्वानों ने इस मत

१ Woolley. The Sumerians, P. 189
२ K. N Dikshit: Pre-historic Civilization of the Indus Valley, p. 46
३ F. E. Pargiter Anc. Ind. Historical Traditions xxv
४ Nunrismatic chronicle 1883 No III

को पोषण दिया है। इसका आधार यह है कि आर्य अभियान से पूर्व भारत में द्रविड़ जातियों और उनकी सभ्यता थी। वे लेखन-कला भी जानते थे। पर लेखों के प्राचीनतम रूप उत्तर में मिले हैं; द्रविड़-बहुल दक्षिण देश मे नहीं। आज की तमिल लिपि से इसका स्वभाव नितान्त भिन्न है। अतः यह मत अमान्य ही है।

ख—आर्य उत्पत्ति—कनिंघम, तथा डाउसन के अनुसार आर्य धर्माचार्यों ने ब्राह्मी का आविष्कार किया। कनिंघम ने कुछ आर्य-प्रयुक्त-वस्तुओं से ब्राह्मी के कुछ चिह्नों का साम्य सिद्ध करने की चेष्टा की।[१] बूलर ने इसकी आलोचना भी की। पर मोहेनजोदारो की लिपि की खोज में कनिंघम वाले मत को बल मिला। जब तक सिन्धु-घाटी की लिपि के ध्वन्यशों का पाठ सम्भव नहीं है तब तक ब्राह्मी पर उसके प्रभाव के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों ने देवों के प्रतीक चिह्नों से ब्राह्मी अक्षरों की उत्पत्ति मानी है: इसीलिए देवनगर शब्द प्रचलित है[२] इसके लिए बहुत पीछे के तांत्रिक साहित्य के प्रमाण एकत्रित किए गए है। यही इस सिद्धान्त की दुर्बलता है। फ़िर भी यह सिद्धान्त ब्राह्मी की चित्रात्मक उत्पत्ति वाले सिद्धान्त के समीप हैं। ब्राह्मी शब्द भी इस को पुष्ट करता है।

कुछ विद्वानों ने ब्राह्मी की भारतीय-आर्य स्रोतों से उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक आपत्तियाँ उठाई है[3]। पर इसकी देशी उत्पत्ति का सिद्धान्त उन के द्वारा भी पूर्ण रूप से निराकृत नहीं होता। इसका जन्म किसी पूर्व प्रचलित लेख-प्रणाली से होना संभव है।

६.४२.२ **विदेशी उत्पत्ति का सिद्धान्त**—इसके भी दो रूप हैं: एक वर्ग इसकी उत्पत्ति यूनानी स्रोत से मानता है और दूसरा मत इसकी सामी (Samitic) उत्पत्ति पर बल देता है।

क—यूनानी उत्पत्ति—आरंभिक यूरोपीय विद्वानों की प्रवृत्ति प्रत्येक महान वस्तु की उत्पत्ति ग्रीस से मानने की रही है। लिपि के सम्बन्ध में भी अनेक विद्वानों ने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया।[४] उन्होंने ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति ग्रीक लिपि से मानी। डा० बूहलर ने इस सिद्धान्त का पूर्ण खण्डन कर दिया।[५] ग्रीक वर्णमाला

१ ख की आकृति फावड़े से, य की आकृति यत्र से, द की आकृति दाँत से, ध की धनुष से प की पाणि से म की मुख से, व की वीणा से, र की रज्जु से मिलती है इन्हीं से उक्त अक्षराकृत्तियों की उत्पत्ति हुई है।

२ Rs Shamasastry, Indian Autiquary, Vol. X X X V, p 253-67, 2ˉ0-90 311-24

3 Dr Diringer, The Alphahet, pp. 328-334.

४ Qruoted by David Dirniger in his book Alphabet, p. 335

५ '...it does not agree with the literay and palaeographic evid-dences just discussed, which makes it more than puobeble that the Brahmi was used several centuries before the Mauryan period and had a long history at the time to which the earliest Indian inscriptions belong" R. B. Paude, P 41

फीनीशियन लिपि से बहुत अधिक प्रभावित है। यह भी कहा जाता है कि फीनीशियन (वैदिक पणिस) मूलतः भारतीय थे। इन्होंने ही भारतीय लेखन प्रणाली को पश्चिमी एशिया और यूनान में प्रचारित किया।

ख—सामी उत्पत्ति—इस सिद्धान्त को बहुत विद्वान मानते हैं। पर इस प्रश्न पर सभी एक मत नहीं हैं कि सामी की किस शाखा से इसका सम्बन्ध है। कुछ फीनीशियन उत्पत्ति की बात कहते हैं और कुछ दक्षिणी सामी या उत्तरी सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं।

वैबर, वैनफ, जन्सन बूलर आदि विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी की उत्पत्ति फीनीशियों की लिपि से हुई है।[१] फोनीशियन वर्णमाला के ⅓ अक्षर चिह्न ब्राह्मी के प्रचीन अक्षरों के समान हैं और ⅓ एक से तो नहीं पर समान हैं। तथा शेष भी अधिक भिन्न नहीं है। इसके विरोध में यह कहा जाता है कि ब्राह्मी जिस समय में प्रकट हुई, उस समय फीनिशियनों का भारत से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। साथ ही पश्चिमी एशिया की लिपियों पर प्रभाव नगण्य था पर १५०० ई० पू० से ४०० ई० पू० तक इन दोनों जनों में सम्बन्ध तो रहा ही होगा। दोनों लिपियों की की समानता स्पष्ट है ही। पर इनमें किसने दूसरी से प्रभाव ग्रहण किया! ग्रीक इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया है कि फीनीशियन जन पूर्व से भूमध्य सागर (Mediterranean) के पूर्वी तट पर समुद्रीमार्ग से पहुँचे।[२] वैदिक प्रमाणों के आधार पर भी इनकी भारतीय उत्पत्ति सिद्ध की जाती है। (ऋ० ६। ५१। १४)। फोनिशियन लिपि तथा पश्चिमी एशिया की सामी अक्षराकृत्तियों की भिन्नता भी यही सिद्ध करती है कि फोनीशियन लोग कहीं बाहर से आये थे। यही सम्भावना दीखती है कि फोनीशियन लिपि भारत से भूमध्य सागरीय तटों पर पहुँची।

टेलर, रीके (Reeke) तथा केनन का विचार यह था कि ब्राह्मी लिपि दक्षिण सामीलिपि से उत्पन्न हुई।[३] अरब और भारत के सम्बन्ध संभावित हैं क्योंकि अरब की स्थिति हिन्द महासागर और भूमध्यसागर के बीच में है। पर इस्लाम के भारत में प्रविष्ट होने से पूर्व भारत पर अरब-प्रभाव कुछ था, इसके प्रमाण नहीं मिलते। साथ ही दक्षिण सामी और ब्राह्मी की अक्षराकृतियों में साम्य इतना कम है कि यह सिद्धान्त किसी प्रकार मान्य नहीं हो सकता।

उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन बूह्लर ने किया।[४] उत्तरी फोनीशिया और मेसोपोटामिया में एक से ही अक्षर हैं। इन्होंने

---

१ Dav'id Diringer, Alphabet, P. 335, Buhler Indian palaeography PP. 9-11

२ Herodotos II, 44

३ David Diringer, Alphabet, P. 335

४ Indian Palaeographp, PP 9-11

ब्राह्मी लिपि की बनावट-संबंधी प्रवृत्तियों की तुलना फोनीशियन अक्षरा कृतियों की प्रवृत्तियों से की है। इसके आधार पर बूलर ने २२ अक्षरों की उत्पत्ति उत्तरी फोनीशियन से मानी। शेष अक्षरों में कुछ परिवर्तन करके उनको ग्रहण किया गया है। डिरिंगर ने भी इस मत का समर्थन किया।[१] इनके अनुसार अरमाऐन (Aramaean) व्यापारी ही सर्व प्रथम भारतीय व्यापारियों के सम्पर्क में आये। उन्हीं के माध्यम से भारत में उनकी लिपि का आगमन हुआ। इसमें भारतीयों ने बहुत परिवर्तन किये। दूसरा प्रमाण यह दिया जाता है कि प्रारंभिक भारतीय लेखन चित्रात्मक था। चित्रात्मक लेख से ध्वन्यात्मक लिपि विकसित नहीं हो सकती। और सबसे प्राचीन ध्वन्यात्मक लिपि सामी ही है। अतः अर्द्ध अक्षरात्मक ब्राह्मीलिपि सामी स्रोत से ही उत्पन्न हुई। प्रारंभ में ब्राह्मी दाँए से बाँए लिखी जाती थी। ५ वीं शती ई० पू० से पहले के लिपि-प्रमाण प्राप्त नहीं होते।

इसमें संदेह नहीं कि उत्तर-पश्चिम एशिया की फोनीशियन अरमाइक लिपियों से ब्राह्मी की कुछ समानता है। पर क्या इससे ब्राह्मी की उत्पत्ति इनसे सिद्ध होती है? यह समानता फोनीशियन लोगों की भारतीय उत्पत्ति के कारण से हो सकती है। सामी लोगों से घिरे होने के कारण उनकी लिपि में बहुत से परिवर्तन हो गये। फोनीशियन लिपि का प्रभाव अर्मेइक लिपि पर भी पड़ा। दूसरा प्रमाण यह कहा गया है कि चित्रात्मक लिपि से ध्वन्यात्मक लिपि का विकास नहीं हो सकता। यह बात ठीक नहीं (प्रारंभिक लेख प्रणालियाँ चित्रात्मक ही थीं। साथ ही भारत के प्राचीनतम लेख (सिन्धु घाटी लेख) मिश्रित लिपि में है) उनमें ध्वन्यात्मक अंश ही अधिक हैं। बहुत सी चित्रात्मक अक्षरा कृतियाँ भ्रम से चित्रात्मक मानली गई हैं। यह कहना कि आरंभ में ब्राह्मीलिपि दाँए से बाँए लिखी जाती थी, ठोस प्रमाणों पर आधारित नहीं है। अशोक के लेखों के कुछ अक्षर, तथा जब्बलपुर जिले में कनिंघम के द्वारा प्राप्त कुछ सिक्कों के लेखाक्षर हैं। तथा कर्नूल में प्राप्त लेख प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किये जाते हैं। पर ये अक्षर आकस्मिक और अल्प हैं। कुछ अक्षरों की अनियमितता सिद्धान्त को सिद्ध नहीं करती। मुद्रालेख ढालने की भूल से भी उलट सकते हैं। कर्नूल के लेख में पहली पंक्ति बाँए से दाँए तथा दूसरीं दाँए से बाँए चलती है। इससे प्रतीत होता है कि लेखक एक निश्चित पद्धति के अनुसार नहीं लिख रहा है। साथ ही दाँए से बाँए जो पंक्तियाँ लिखी गई हैं अक्षरों की स्थिति ही बदल गई है, उनकी आकृति में कोई अन्तर नहीं है। इससे यह एक कृत्रिम लेख शैली दीखती है। इसका ब्राह्मी की उत्पत्ति से कोई संबंध नहीं है। चौथा तर्क ई० पू० चतुर्थ सहस्राब्दी और ४ वीं शती ई० पू० तक कोई लिपि-प्रमाण न मिलने का है। असल में समस्त प्राचीन नगरों की पुरातात्विक खोज नहीं हुई है। अतः कुछ इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। कोमल सामग्री पर लिखे हुए लेख नष्ट

१ Alphabet pp. 336, 337

हो गये होंगे। साथ ही साहित्य में लेख सम्बन्धी उल्लेख पूर्व-बौद्ध काल में भी पर्याप्त मिलते हैं। इन पर पहले विचार किया जा चुका है। इन तर्कों के आधार पर ब्राह्मी की उत्पत्ति विदेशी लिपियों से सिद्ध नहीं हो सकती है।

६.४२.३ **निष्कर्ष**—ब्राह्मी लिपि की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं: प्रत्येक उच्चरित भाषा ध्वनि के लिए पृथक चिन्ह है। उच्चरित और लिखित ध्वनि चिन्हों के मूल्य की समानता है। स्वर और व्यंजनों की संख्या ६४ है: यह संख्या पूर्णता की द्योतक है। ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के लिए स्वतन्त्र चिन्ह हैं। अनुस्वार ं अनुनासिक ँ तथा विसर्ग : एक विशेषता है। उच्चारण स्थानों के अनुसार ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। मध्यवर्ती चिन्हों की सहायता से स्वर और व्यजनों का योग किया जाता है। सामी लिपि में उक्त विशेषताओं का अभाव है। अतः सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। उत्तरी सामी में १८ ध्वनियों के लिए २२ लिपि चिन्ह हैं। उच्चरित और लिखित ध्वनि में साम्य नहीं है। दीर्घ और ह्रस्व स्वरों के लिए पृथक चिन्ह नहीं हैं। स्वर और व्यजनों का एकीकरण नहीं है: स्वर व्यजनों के पश्चात् लिखे जाते हैं। वहाँ ध्वनियों का वैज्ञानिक वर्गीकरण भी नहीं मिलता। ब्राह्मी लिपि के वैज्ञानिक विधान में भारतीय वैयाकरण और ध्वनिवैज्ञानिकों की खोजों का भी प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार ब्राह्मी का विकास पंडितों द्वारा प्रतीत होता है। जहाँ व्याकरण और ध्वनि विज्ञान उच्चकोटि पर पहुँच गया हो, वहाँ के पंडित लिपि किसी अन्य अपूर्ण पद्धति से उधार लें, यह बात समझ में नहीं आती।

इस प्रकार ब्राह्मी के उत्पत्ति भारतीय जन की भाषा वैज्ञानिक प्रतिभा से हुआ। यह चित्रलिपि, भाव प्रतिभा लिपि (ideographs) तथा ध्वन्यात्मक चिन्हों से विकसित हुई है। इसका उत्पत्ति की दृष्टि से, सिन्धु-घाटी की लिपि से सम्बन्ध अवश्य है।

६, ४. ३ खरोष्ठी की उत्पत्ति

६ ४३. १ **नामकरण**—यह पहले कई नामों से इसे पुकारा जाता था: बैक्ट्रियन, इन्डो-बैक्ट्रियन, आर्यन, बैक्ट्रो-पालि, उत्तर-पश्चिम भारतीय, काबुली, खरोष्ठी आदि। चीनी लेखकों के प्रमाणों से खरोष्ठी नाम ही अधिक प्रचलित हो गया।

६ ४३ २ **नाम की व्युत्पत्ति**—इस लिपि का आविष्कारक खरोष्ठ नामक व्यक्ति था[1]: खर=गधा+ओष्ठ। दूसरा मत यह है कि यह किसी असभ्य जाति (खरोष्ठ) द्वारा प्रयुक्त होती थी: यह जाति भारत के उत्तर पश्चिम में बसी थी। जैसे यवन, शक (Scythians) तुषार (कुषाण) तीसरा मत यह है कि खरोष्ठ काशगर का संस्कृत रूप है। काशगर मध्य एशिया का एक प्रदेश है और यही खरोष्ठी लिपि

[1] चीनी विश्वकोष, Fa-wan-Shu-lin.

का अन्तिम केन्द्र था।[1] स्टेनकोनो ने अपना मत इस प्रकार दिया है: खरोष्ठी के लेख चीनी तुर्किस्तान में प्राप्त हुए हैं। खरोष्ठी हस्तलिखित लेख खोतान में मिले हैं। सर्वत्र इसका प्रयोग भारतीय भाषाओं के लेखन में हुआ है। सम्भवत: भारतीय प्रवासी इसे तुर्किस्तान ले गये। अशोक के खरोष्ठी शिलालेख ३री शती ई० पू० के हैं। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में एक और मत यह है कि ईरानी शब्द खरोष्ठ या खर-पोस्त (गधे की खाल) का भारतीय संस्करण है। सम्भवत: यह लिपि गधे की खाल पर लिखी जाती थी। अर्माइक शब्द भी खरोष्ठ है जो इस लिपि के लिए प्रयुक्त होता है। यही संस्कृत में खरोष्ठ हो गया है।

चीनी परम्परा सबसे प्राचीन है। पर यह एक दन्त कथा है अथवा सत्य पर आधारित, यह कहना कठिन है। दूसरे मत बिना पुष्ट प्रमाणों के मात्र अनुमानों पर निर्भर हैं। खरोष्ठ भारतीय शब्द है, जो संस्कृत खरोष्ठ का अल्प विकृत रूप है। 'खरोट्ठ' इसी का प्राकृत रूप है। अक्षरों की आकृति खरोष्ठ—वत होने के कारण इसका यह नाम पड़ा हो सकता है।

६. ४३. ३. आरमाइक (Aramaic) **उत्पत्ति-सिद्धान्त**—इसकी उत्पत्ति अधिकांश विद्वानों द्वारा आरमाइक लिपि से मानी गई है।[2] इसका आधार दोनों लिपियों में मिलने वाला आकृति-साम्य है। दोनों लिपियाँ दाएँ से बाएँ को लिखी जाती हैं। दोनों में दीर्घ स्वरचिह्नों का अभाव है। खरोष्ठी लिपि भारत के उन्हीं भागों में प्रचलित थी जो ई० पू० छटी शती के उत्तरार्द्ध से ई० पू० चतुर्थ शती तक ईरानियों के अधिकार में रहे। शहबाजगढ़ी और मनसेरा के अशोकीय लेखों में लेखन के लिये 'दिपि' शब्द है, जो ईरानी है। ईरानी अभियान के पश्चात ही इस लिपि का प्रचार भारत में हुआ। पहले अरमाइक लिपि पश्चिमी एशिया और ईजिप्ट में प्रयुक्त होती थी। ईरानियों ने इसे अपनी शासकीय लिपि के रूप में स्वीकृत किया। ईरानी इसे भारत में लाए अरमाइक लिपि भारतीय भाषाओं के लेखन में परिवर्तनों के साथ प्रयुक्त हुई। इन आधारों पर खरोष्ठी की उत्पत्ति आरमाइक लिपि से मानी गई।

पर आरमाइक लिपि से समानता ऊपरी स्तर की है। आकृतियों में विशेष साम्य नहीं है। दाएँ से बाएँ को लिखना सामी लोगों की ही एकमात्र विशेषता नहीं थी। एक देश में दो प्रणालियों का प्रचलित होना असम्भव नहीं है। दीर्घस्वरों की अनुपस्थिति का कारण यह हो सकता है कि इस लिपि का उपयोग उन प्राकृतों के लिखने में हुआ जिनमें दीर्घस्वर प्रयत्न नहीं होता था। लम्बे संयुक्त रूपों का अभाव

१ सिलवेन लेवी ने इसकी व्युत्पत्ति चीनी शब्द kia-lu से मानी है: इसका मूल रूप खरोष्ठ था। कुछ ने इसका विरोध भी किया है।

२ Bühler gudian Palaeography pp 19 20

था। ईरानियों का अधिकार वहाँ चाहे रहा हो पर ईरानी सम्राटों का कोई लेख प्राप्त नहीं होता। वैसे ईरानी उपनिवेश की कल्पना भी अत्यन्त दुरूह है। 'दिपि' शब्द दिपि (=प्रकाशित होना) धातु से भी उत्पन्न हो सकता है। पश्चिमी एशिया में अरमाइक लिपि का प्रचार था, पर भारत में नहीं। भारत सम्भवतः सीधे ईरानी शासन मे नहीं रहा।[1]

६. ४३. ४ **भारतीय उत्पत्ति का मत**—खरोष्ठी का प्राचीनतम लेख-प्रमाण भारत के उत्तर पश्चिम में मिला है। पश्चिमी एशिया के किसी देश में इसके लेख नहीं मिले। फारसी सम्राटों ने भी आरमाइक या खरोष्ठी का प्रयोग शासकीय कार्यों में कभी नहीं किया। बिलोचिस्तान, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया में प्राप्त लेख अशोक के लेखों (३री शती ई० पू०) से पीछे के हैं। साथ ही बाहर भी इस लिपि का प्रयोग भारतीय भाषाओं के लेखन में होता था। आकृति भारतीय ही है।

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि खरोष्ठी भारत में ही उत्पन्न हुई। चीनी परम्परा इसी को सिद्ध करती है। ईरानी का प्रभाव इस पर अवश्य पड़ा हो सकता है। अशोक के बाद ग्रीक, शक, आदि जातियों द्वारा भारतीय भाषाओं के लेखन में ग्रीक लिपि के साथ खरोष्ठी भी चलती रही। खरोष्ठी का विदेशियों से इतना सम्बन्ध हो जाने से सम्भवतः भारत में इसके प्रति उपेक्षा का भाव आ गया हो गुप्तकाल में खरोष्ठी भारत मे नहीं रही: सर्वत्र ब्राह्मी का प्रचार हो गया।

६-४२-४-**ब्राह्मी का प्रसार**—अशोक के शिला लेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मी पूर्ण हो चुकी थी। द्वित्वव्यंजनों के लेखन में कुछ शिथिलता दीखती है। हो सकता है इसका कारण प्रस्तर-खंड पर लिखना हो। भारतीय संस्कृति और भाषा के साथ इस लिपि का भारत से बाहर भी प्रसार हुआ। गुप्त युग में यह मध्य एशिया में भी पहुँची। गुप्त युग में एक 'प्रसिद्ध मात्रिक लिपि' भी विकसित हुई। बूलर ने इसे न्यूनकोणीय लिपि कहा है।

गुप्त साम्राज्य के पश्चात् उत्तरी भारत की लिपि शारदा, नागर तथा कुटिल इन तीन रूपों में विभक्त हो गई। इन्हीं तीन लिपियों से आर्य भारत की आधुनिक लिपियों का विकास हुआ।

अ-शारदा—इसका क्षेत्र उत्तरी पश्चिमी भारत था। काश्मीर, पंजाब तथा सिन्ध में यह प्रयुक्त होती थी। इसके तीन स्थानीय अभेद हुए: टक्की, लहँडा तथा गुरुमुखी। ग्रियर्सन ने इन तीनों का कोई एक ही स्त्रोत माना है। बूलर ने टक्री की उत्पत्ति शारदा से मानी है: यह स्यालकोट से सम्बन्धित टक्क जाति के लोगों की लिपि थी। व्यापारियों में इसका प्रचलन है। स्वर-विघान अपूर्ण है। जम्मू राज्य के आसपास डोग्री लिपि एक उपशाखा के रूप में है। चमेआली लिपि का प्रयोग

---

[1] Dr R.C. Majemdar, Indian Historical Quarterly, vol. XXv, No 3 (sept. 1949)

चम्बा प्रदेश की पश्चिमी पहाणी भाषा, चमेआली के लेखन में होता है। टक्की के समान इसका स्वर विधान अपूर्ण नहीं है। मंडे आली लिपि का प्रयोग मंडी तथा सुकेत के राज्यों में होता है। टक्की लिपि की एक शाखा सिरमौरी लिपि है। यह देवनागरी से बहुत प्रभावित है। सिरमौरी लिपि से मिलती जुलती जौनसारी लिपि है, जिसका क्षेत्र उत्तर-प्रदेश का पहाड़ी प्रदेश-जौनसार बाबर है। शिमला-पर्व की पश्चिमी पहाड़ी भाषाओं के लेखन में टक्की की एक उपशाखा कोछी लिपि है। कुल्लई लिपि कुल्लू की घाटी में प्रचलित है। इस प्रकार शारदा की शाखा टक्की की कई उपशाखाएँ थोड़े बहुत अन्तर के साथ प्रचलित हैं। कश्मीर की कश्टवारी लिपि भी इसी की शाखा है।

लहँडा लिपिका प्रचार पंजाब और सिन्ध में है। इनका सबसे अधिक प्रचलन व्यापारियों में है। यह पठन में दुरूह है। इसके भी कई स्थानीय भेद हैं: लहँदा की २२ बोलियों में मुल्तानी लिपिका प्रयोग होता है। सिन्धी लिपि भी इसी की शाखा है। गुरुमुखी लहंदा का परिष्कृत रूप है। गुरु श्री अंगद [१५३८-५२] ने इसका रूप निश्चित किया। इसका प्रयोग सिक्ख लोग करते हैं। पंजाबी के लेखन में भी इसका उपयोग होने लगा है।

आ-नागर लिपि – इसी को नागरी या देवनागरी कहते हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश, गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र में इसका प्रचलन था। लिपियों की एक लम्बी सूची दी गई।[1] उसमें नागरी या देवनागरी का उल्लेख है कुछ लोग उसमें सूचित नागलिपि से नागरी का सम्बन्ध बताते हैं। पर 'नागलिपि' एक जातीय लिपि थी, इसलिए इसका और नागरी का कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ विद्वानों ने देवों के प्रतीक चिह्नों से ब्राह्मी के अक्षरों की आकृति का विकास माना है। अतः उस वर्णमाला को 'देवनगर' (=देवताओं का नगर) कहा गया।[2] कुछ के अनुसार नागर ब्राह्मणों से इसका संबंध जोड़ते हैं। वैसे 'नागरी' शब्द चतुर या नगर निवासी शिष्ट के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। अतः यह शिष्टों की लिपि थी, ऐसा अनुमान किया जाता है। संस्कृत-लेखन होने के कारण 'देव' शब्द इसके साथ और जुड़ गया। ११ वीं शती तक यह लिपि पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। गुजरात, राजस्थान, तथा महाराष्ट्र में देवनगारी के ताड़पत्रीय हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। मध्यदेशोद्भावा इस लिपि का सर्वाधिक प्रचार है। संस्कृत, हिन्दी, मराठी, तथा नैपाली भाषाएं इसी में लिखी जाती हैं। बिहार में भी साहित्यिक व्यवहार में इसी का उपयोग है। गुजरात में भी अब इसे मान्यता प्राप्त होती जा रही है। कुछ अनार्य भाषाओं के लेखन में भी इसको स्वीकार किया गया है: मुंड़ा, संथाली आदि। तेलुगु आदि लिपि भी इससे सम्बन्धित हैं। गोलाकृति और लंबाकृति का अन्तर है।

१ अध्याय १०/ १२५/ १९

२ R. Shamasastri, Indian Antiquary, Val. xxxv. PP. 253-67

इसलिपि की वैज्ञानिकता पर प्राय: सभी यूरोपीय विद्वान मुग्ध रहे हैं। इसके प्रथम ज्ञान के साथ ही ध्वनियों का भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण-विवरण स्वत: आ जाता है। इसकी प्रशंसा करते हुए एक बार सर विलियम जोन्स ने यहाँ तक कहा था कि देवनागरी की पूर्णता के सम्मुख अंग्रेजी लिपि उपहासास्पद है।[1]

इसके साथ कुछ उपलिपियाँ भी हैं। गुजराती लिपि की तीन शाखाएँ हैं: पहले पुस्तकों की छपाई में प्रयुक्त देवनागरी, गुजरात की स्वीकृत तथा राज काज की वर्तमान लिपि तथा बनियई या सराफी या बोडिया लिपि, जिसका प्रयोग व्यापारी करते हैं। राजस्थान में पुस्तक-मुद्रण आदि में देवनागरी का ही प्रयोग होता है। पर मारवाड़ी, महाजनों की एक महाजनी लिपि भी प्रचलित है। महाराष्ट्र में भी देवनागरी ही प्रचलित है। किन्तु वहाँ एक मोड़ीलिपि भी है, पर प्रयोग की सीमाएँ अत्यन्त संकुचित हैं। मोड़ीलिपि के आविष्कर्ता शिवाजी के चिटणीस, बाला जी आवाजी (१६२७-१६८०) बताए जाते हैं। पर इसके पहले भी इसके प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं।

(ग) **कुटिललिपि**—इसका प्रचार पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, मनीपुर तथा नेपाल में हुआ। देवनागरी के साथ बिहार में एक कैथी लिपि भी प्रचलित है। इसके भी तिरहुती कैथी, भोजपुरी कैथी, मग ही कैथी-तीन स्थानीय भेद हैं। मिथिला में देवनागरी तो है, ही साथ ही मैथिलीलिपि का प्रयोग मैथिल ब्राह्मणो के द्वारा होता है। यह बंगला से मिलती-जुलती है।

बंगला लिपि भी मूलत: देवनागरी ही है। बूलर ने इसकी उत्पत्ति १७ वीं शती में भारत के पूर्वी भाग में प्रचलित, नागरी लिपि से हुई। श्री एस० एन० चक्रवर्ती के अनुसार सातवीं शती के उत्तरी भारतीय लिपि से हुआ।[2] यह लिपि जौहरियों में प्रचलित थी। १० वीं शती में यह नागरी लिपि से प्रभावित हुई। प्राचीन बंगला लिपि में भी कुछ हस्तलिखित ग्रंथ मिलते हैं।

असमिया लिपि, बंगला के ही समान है। केवल र, और व, की आकृतियों में अन्तर है। उड़िया लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। बीरस ने

[1] अरबी के सम्बन्ध में कहते हुए कहा—Not a letter could be added or taken away without uranifest in convenience. The same way induditably be said of this Devanagari system, which, as it is more naturally arranged then any other, shall here be the standard of my particular observativis on Asiatic letters. Our english alphabet and orthography are disgracefully and almost ridiculously imperfect. (Asiatic society bengal में orthography of Asiatic words in Letters 'पर बोलते हुए)

[2] रायल एशियाटिक सोसाइटी (बंगाल) जनरल, पर भाग ४. (१९३८) पृ० ३५१-३९१

उड़िया लिपि का विकास मध्यभारत की लिपि से माना है। उड़िया अक्षर बंगाल में प्रचलित कुटिलाक्षरों से नहीं, अपितु मध्यभारत में प्रचलित कुटिलाक्षरों से निकले हैं।[1] कुछ का विचार है कि यह लिपि बंगाल से ली गई। इसके अक्षरों की वर्तुलाकार आकृति का कारण ताड़पत्रों का लेखन सामग्री के रूप में प्रयोग तथा तेलुगु लिपि का प्रभाव माना जाता है। इसके तीन उपभेद है : ताड़पत्रों पर धार्मिक ग्रंथों के लेखन में ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त ब्राह्मनी, कायस्थों द्वारा प्रचलित दस्तावेज लेखन में प्रयुक्त करनी, तथा तेलुगु से अधिक प्रभावित, अधिक वर्तुलाकार गंजाम की उड़िया लिपि।

प्राचीन बंगला लिपि से मनीपुरी लिपि और प्राचीन नेपाली या नेवारी लिपि की भी उत्पत्ति मानी जाती है। मनीपुरी का प्रयोग आजकल बहुत कम है। नेवारी भाषा तिब्बती हिमालय की एक उपभाषा है। इसमें बौद्धधर्म का साहित्य है। अब नेपाल की गोरखाली राजभाषा नागरी में ही लिखी जाती है।

(घ) **दक्षिणात्यलिपियाँ**—दक्षिण की लिपियों की उत्पत्ति भी काल्डवेलने प्राचीन देवनागरी से या अशोक के लेखों की लिपि से मानी है।[2] पर कुछ विद्वानों ने तमिल लिपि की उत्पत्ति अन्य स्रोतों से या अपने निजी स्रोत से मानी है। पर वहाँ की मौलिक लिपि के साथ ब्राह्मणों के माध्यम से देवनागरी के कुछ रूप संयुक्त हुए और एक 'ग्रंथ'-लिपि का मिश्रित रूप विकसित हुआ। और इस मिलित लिपि से ही वर्तमान तमिलाक्षर निकले हैं।[3]

तेलुगुकन्नड लिपि का ऐतिहासिक सम्बन्ध देवनागरी से अवश्य है।[4] इनका वर्गीकरण देवनागरी के समान है। अक्षरों के ध्वन्यात्मक मूल्य भी समान हैं। ह्रस्व एँ, ओं तथा कठोर 'ई' का भेद है। ल तो देवनागरी के रूपों में मिलता ही हैं। अक्षरों की गोलाकृति तालपत्रों पर लेखन के कारण हो गई है।

सिहल की सिहली लिपि का विकास भी ब्राह्मी से स्वतंत्र रूप से हुआ। इस लिपि से हिन्दचीन, हिन्देशिया आदि की लिपियों का भी ऐतिहासिक सम्बन्ध है। इन पर दक्षिण की लिपियों का भी प्रभाव पड़ा है। कम्बोडिया, स्यामी, जावा सुमात्रा का सम्बन्ध भी देवनागरी के दक्षिणात्य रूप से माना जाता है।

१ Comparative Gv of this Modern Aryan Languages of India PP. ६२-६६।

२ Comparative Gv. of Dravidian Lauganges, P P १२३ २४

३ वही, पृ० १२५ पर एलिस का मत उद्धत है।

४ Among the Dravidians races of South India the Tamils alone made use of the Vatteeuttu alphabet from time immemorial. whilst their Telugu and kauarese neighbours have so for as epigraphical researdes reveal been using some alphahabet or other which had its orign from the Brahmi of upper India M. Srini vas Aiyangar (1914) Tamil studies.

१०

हिन्दी ध्वनितत्व : विवरण और इतिहास

१०.०. **प्रस्तावना**—इस अध्याय में हिन्दी की ध्वनियों का विवरण और इतिहास दिया गया है। इतिहास की क्रमानुगत कड़ियाँ तो संस्कृत से ही जोड़ी गई हैं, पर आरंभ में भारतीय आर्य भाषा के पूर्व की दो स्थितियों-मूल भारोपीय भाषा तथा हिन्द-ईरानी शाखा—के ध्वनि-विधान को भी संक्षेप में दे दिया गया है। यह रुचिपूर्ण भी है तथा विकास की प्रवृत्ति और दिशा के बोध के लिए आवश्यक भी। इन दो स्थितियों के ध्वनि विवरण को 'प्रागैतिहास' कहा गया है। संस्कृत से हिन्दी तक इतिहास है। विवरण में आधुनिक विवरणात्मक ध्वनितत्व की शैली को अपनाने की चेष्टा की गई है।

१०.१.०. **प्रागैतिहास**—भारोपीय मूल व्यंजनों का बहुमान्य वर्गीकरण इस प्रकार है—

	अघोष				सघोष			
	अल्प प्राण		महाप्राण		अल्पप्राण		महाप्राण	
कण्ठ्योष्ठ्य	क्व	(Kw)	रव्व	(Kwh)	ग्व	(gw)	घ्व	(gwh)
कण्ठ्य[1]	क	(K)	ख	(Kh)	ग	(g)	थ	(gh)
तालव्य[2]	क	(Q)	ख़	(Qh)	ग़	(g)	घ़	(gh)
दन्त्य—	त्	(t)	थ्	(Th)	द्	(d)	घ	(dh)
ओष्ठ्य—	प्	(प)	फ	(ph)	ब	(b)	भ	(bh)

नासिक्य—म, न, ङ

---

[1] डा० चटर्जी ने इन्हें पश्चात् कण्ठ्य (Postvelar) संज्ञा दी है। या केवल कण्ठ्य कहा है।

[2] डा० चटर्जी ने इन्हें तालव्य कहना उचित नहीं समझा है <भरतीय आर्य भाषा और हिंदी, (पृ० ३०) इनको पुरः कंठ्य या केवल कण्ठ्य नाम से अभिहित किया है।

ऊष्म—स, ज़, हो सकता है कि स् ही सघोष ध्वनियों के साथ प्रयुक्त होने पर ज़ हो जाता हो।

अन्तस्थ—ल्, र

पूर्ण महाप्राण ह ध्वनि के संबंध में विद्वानों में मतैक्या नहीं है। हिन्दी भाषा के संबंध की खोजों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसकी स्थिति आदि भारोपीय में सिद्ध करने की चेष्टा की है क्योंकि हित्ती में यह ध्वनि सुरक्षित है। ख, घ, थ, ध, (अरबी के खे , गैन तथा थाल तथा भ ध्वनियों की कल्पना को न बल मिला और न प्रामाण्य अधिकांश में इनकी अनुपस्थिति ही मानी जाती है।

भारोपीय स्वर ध्वनियों का विधान इस प्रकार दिया जा सकता है—तीन मौलिक स्वर थे : अ (a) ए (e) (ओ)[१] दो गौण स्वर : इ (i) टया उ (u) थे। इनके ह्रास्व और दीर्घ दोनों रूप थे। इनका रूप अभी अर्द्ध स्वर य (y) तथा व (w) के समान होता था। ये रूप संध्यक्षर की परिस्थिति में हो जाता था। इनके अतिरिक्त भी और स्वर थे। एक स्वर अर्द्ध मात्रिक अ (ə) माना जाता है। साथ ही संयुक्त स्वर (diphthougs) कई प्रकार के थे।

१०.१.१. विकास की दिशा—उक्त व्यंजन ध्वनियों में से निम्नलिखित ध्वनियाँ संस्कृत तथा भारोपीय परिवार की अन्य भाषाओं में अविकल रूप से सुरक्षित रहीं; प; पंञ्च; अप (दूर); त्; तनु 'पतला' वर्तते 'घूमता है'; द्: दीर्घ, वेद 'मैं जानता हूँ'; क् : कक्ष; ग् : युग्म, स्थग् (ढकना); न्: नव, दानम्; म्: मातर्, मा 'मुझे'; ल्. लुभ्यति, लघु; र्: रुधिर-, राजन्, भरति; य्: युवन् 'युवक', यकृत 'जिगर'; व्: नव्-, स्: सम् पुरातन'- अंस, अस्थि। ये ध्वनियाँ प्राय: सभी भारोपीय परिवार की भाषाओं में पाई जाती है : अपवाद अत्यन्त विरल हैं। शेष ध्वनियाँ कुछ भाषाओं में मिलती हैं, कुछ में नहीं; कुछ में उनका विकसित रूप ही प्राप्त होता है।

सघोष महाप्राण ध्वनियाँ के केवल संस्कृत में ही सुरक्षित बतायी जाती है। भः, भ्र् भरति। धः दधाति 'रखना' धूम, मधु; घः मेघ—। कहीं कहीं सघोष—महाप्राण > ह् की प्रवृत्ति भी मिलती है : ध > हः वैदिक धित्—(धा—) के स्थान पर हित्—का प्रयोग भी मिलता है; इह—'यहाँ=पालि दूध—; भ्>हः ग्रह, वैदिक ग्रभ् भी; ककुह=ककुभ। अघोष महाप्राण भी भारत ईरानी में सुरक्षित हैं; फः सं० स्फूर्ज—, फाल्—'हल'; थः स्था—, रथ—; खः शंख, शाखा। कुछ विद्वान इनका विकास अन्य मार्गों से भी मानते हैं। उनके अनुसार मूल भारोपीय ध्वनियाँ ज्यों की त्यों नहीं ले ली गई हैं।

क़ (q) ग़ (g) घ़ (gh) के विकास में भारतीय आर्य और भारत-ईरानी शाखाएँ भिन्न रहीं। संस्कृत श, ज, ह=अवेस्तन स ज, ज़: सं० श्वान=अवे० स्पन

[१] ह्रस्व 'ए' तथा 'ओ' भी सम्भवतः थे। इस प्रकार * e/e o/o का क्रम होगा। स्वर और व्यंजन दोनों रूपोंमें प्रयुक्त अर्द्ध स्वर भी थे y* w*, r* l, n*, m* इनमें से प्रथम चार भारत में भी अन्तस्थ रहे।

'कुत्ता'; स० जानु=अवे०जाने घुटने'; सं, हिम=अवे० ज़िम। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत-ईरानी में सामान्य परिवर्तन श, ज़, भ़ हुआ। दूसरा परिवर्तन इन दोनों के अलग हो जाने पर हुआ।

कण्ठ्योष्ठ्य ध्वनियों का विकास शतम वर्ग की भाषाओं में प्रायः कण्ठ्य ध्वनियों के रूप में हुआ है। इनमें ओष्ठ्यांश लुप्त हो गया है। इसके विपरीत कैन्टुम वर्ग की भारोपीय भाषाओं में सम्भवत. पहले कण्ठ्योष्ठ्य ध्वनियों को सुरक्षित रखा गया। पीछे ओष्ठ्यांश ही अवशिष्ट रहा : सं० क—'कौन' लैटिन—quis (अंग्रेज़ी who)।

शुद्ध कण्ठ्य ध्वनियाँ तो संस्कृत में प्राप्त होती हैं पर क, ग, घ, ध्वनियाँ यदि ए $\left(\frac{\text{v}}{\text{e}}\right)$, ई$\left(\frac{\text{v}}{\text{i}}\right)$ तथा अर्द्धस्वर य् से पूर्व प्रयुक्त होती थीं तो च, ज, झ में परिवर्तित हो जाती थीं—सं० च् और'=लैटिन—que; सं० चत्वारस् 'चार' लैटिन quatuor; स० ज्या 'प्रत्यंचा'= लिथुअनियन giji 'धागा'। घ पीछे ईरानी में ज हो गया और संस्कृत में ह : सं० हन्ति=अवे ǧainti—तालव्यीकारण की यह प्रवृत्ति काफी पुरानी है।

दो तालव्य ध्वनि वर्गों को ईरानी से सुरक्षित रखा। स, ज़, ज, च, ज ज; भारतीय आर्य भाषा में वे वज्र केवल च—स् में तो सुरक्षित है; ज—ज़ में नहीं। साथ ही सघोष महाप्राण तथा अल्पप्राण तालव्य भी संस्कृत में सुरक्षित नहीं रहे ज=Z g तथा ह=Zh, झ। उदाहरण ज: सं० य ज्=अवे० यज़ 'यज्ञ'; सं० निज=अवे० naeǧ 'धोना'; ह: सं० वह्—=अवे० वज़ (vaZ—) 'ढोना; दह—=अवे० dozaiti)।

भारोपीय स् यदि आदि व्यंजन गुच्छ का प्रथमांश होता था, तो संस्कृत में स् > O की प्रवृत्ति मिलती है : सं० तारा (स्तृ—) अवे० Star—(अंग्रे० Star) साथ ही क, र, ड़, इ, (य) उ (ब) के पश्चात् प्रयुक्त होने पर स> श। ईरानी में स> ह् भी इसी प्रकार का विकास है।

पुरानी ईरानी में भारोपीय र, ल्> र की प्रवृत्ति मिलती है। आधुनिक फारसी में इसके अपवाद भी हैं : लब् , ओष्ठ'। ऋग्वेदीय भाषा में भी बहुधा यही प्रवृत्ति मिलती है। क्लासीकल संस्कृत में दोनों ध्वनियाँ मिलती हैं, पर उनके प्रयोग की स्थितियाँ भारोपीय से भिन्न हैं। नाटकों में प्रयुक्त मागधी में र, ल् >ल् की प्रवृत्ति मिलती है। संस्कृत में भारोपीय का ल कहीं कहीं र में परिवर्तित हो जाता है (सं० रिणक्ति=लैटिन-linguit) और कहीं सुरक्षित है लुम्बति=लेटिन Lubet) इस प्रकार आदि भारोपीय की ध्वनियों में विकास भी हुआ और कुछ ध्वनियाँ सुरक्षित भी रहीं।

१०.१.२. **निष्कर्ष**—शुद्ध कंठ्य ध्वनियां संस्कृत से सुरक्षित रहीं। महाप्राण ध्वनियों की सुरक्षा संस्कृत की एक विशेपता रही। दो तालव्य ध्वनि-वर्ग हिन्दू-ईरानी के सम्मिलित काल तक रहे। ईरानी में वे आज भी सुरक्षित हैं। संस्कृत में केवल एक वर्ग सुरक्षित रहा। ल र के सम्बन्ध में अव्यवस्था रही। संस्कृत और वैदिक में भी र/ल का विकास-भेद बना रहा, इस पर आगे कुछ दृष्टि पात किया गया है। (९.०.३) साथ ही कुछ मूर्द्धन्य ध्वनियाँ भी संस्कृत में मिलती हैं, जो भारोपीय में अज्ञात मानी जाती हैं।

१०.२. **इतिहास**—हिन्दी ध्वनियों का विधिवत् इतिहास संस्कृत से आरम्भ होता है। संस्कृत (प्राभाआ=प्राचीन भारतीय आर्य भाषा) ध्वनियां, मध्यकालीन आर्य भाषा (भाषाओं) में होती हुई, हिन्दी तक विकसित हुई हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत संस्कृत और प्राकृत ध्वनियों की संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

१०.२.१. **संस्कृत ध्वनियाँ**—संस्कृत ध्वनियों की एक तालिका १७२ पृष्ठ पर दी जा रही है—

इस प्रकार ध्वनियों का वर्गीकरण स्थान और प्रयत्न के अनुसार संस्कृत ध्वनि वैज्ञानिकों ने किया व का उच्चारण दन्त्यौष्ठ्य (Labio-dental) होने पर भी उसे ओष्ठ्य के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। ल़ का प्रयोग केवल वैदिक संस्कृत में होता था पीछे की संस्कृत से उसका प्रयोग उठ गया। लृ का प्रयोग संस्कृत में नहीं मिलता, केवल वर्णमाला में उसकी स्थिति मिलती है। शुद्ध तालव्य स्पर्श ध्वनियाँ आज पूर्वताल्य स्पर्श-संघर्षी के रूप में मिलती हैं।

उक्त वर्गों के स्थान (Place of articulation) तथा करणम् (articulation पर हिन्दी की ध्वनियों के साथ विचार किया गया है। यहाँ संस्कृत की मूर्द्धन्य ध्वनियों और र/ल पर विचार कर लेना संगत होगा।

१० २ २ **संस्कृत की मूर्द्धन्य ध्वनियाँ**—मूर्द्धा 'सिर' को इन ध्वनियों का स्थान और जिह्वाग्र को करणम् माना गया है।[1] पाणिनीय शिक्षा में मूर्द्धा के स्थान पर 'शिरस' का प्रयोग मिलता है। जिह्वाग्र के स्थान पर उपजि ह्वाग्र शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[2] प्राभाआ के आदिकाल से ही मूर्द्धन्य ध्वनियों की स्थिति मिलती है। दन्त्य ध्वनियों से इनका अंतर यह है कि इनके उच्चारण में जिह्वाग्र 'मूर्द्धा' की ओर मुड़ता है। यह भारतीय आर्य भाषा की ही विशेपता है। आर्यों के भारत में प्रविष्ट होने के पश्चात् ही सम्भवत: ये ध्वनियाँ संस्कृत ध्वनि-विधान में प्रविष्ट हुई। द्रविड़ भाषाओं में इन ध्वनियों का प्रयोग बहुल और प्राचीन है। मुण्डा भाषाएँ भी इनका प्रयोग करती हैं। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने इन ध्वनियों को आर्येतर स्रोत से आगत माना है। यह सम्भावना निराधार नहीं है। पर कुछ विशेप ध्वनियों के संयोग

---

[1] मूर्धन्याना जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम्, अथर्व० प्रातिशाख्य, १/२२

[2] जिह्वोपाग्रेण मूर्द्धन्यानाम् : जिह्वोग्रात्रः करणं वा आपिशालि प्रातिशाख्य, २।६-७

संस्कृत ध्वनियाँ—

व्यंजन			कंठ्य Velar	तालव्य Palatal	मूर्द्धन्य Retroflex	दन्त्य Dental	ओष्ठ्य Labial
स्पर्श Plosives	अघोष Voiceless	unaspirated अल्प प्राण	क kə	च cə	ट tə	त tə	प pə
		espirated महा प्राण	ख khə	छ chə	ठ thə	थ thə	फ phə
	सघोष Voiced	अल्पप्राण unaspirated	ग gh	ज jə	ड qə	द də	ब bə
		महाप्राण aspiration	घ ghə	झ jhə	ढ qhə	ध dhə	भ bhə
	नासिक्य (nasal)		ङ nə!	ञ nə	ण nə	न nə	म mə
अन्तस्थ (Semi voweb)				य y	र rə	ल lə	व və
ऊष्म (Sibilat)				श sə	ष sə	स se	
प्राण ध्वनि (Aspirate)			ह hə				
पार्श्विक (Lateral)					ल lə		
स्वर [व्यंजन वर्गों से सम्बन्धित]			अँ ə अ a	i इ e ए ii ई ऐəi	ऋ r ॠ rr	ऌ l ॡ ll	उ (u) ऊ (uu) ओ (o) औ (əv)
विकार (Modification)			अनुस्वार : अं (—m), विसर्ग : (—h)				

ये हैं : त, थ + (ष) = ट, ठ : वृष्टि, वष्टि 'इच्छा'। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि आरम्भिक दन्त्य न ष, र, ऋ के पश्चात प्रयुक्त होने पर 'ण' हो जाता था। आरम्भिक *ष > * ट्ष > ट। ज़ (z) से पूर्व प्रयुक्त होने पर द, ध > ड, ढ (वैदिक ल, ल्ह) हो जाते थे : नीड, ऊढ़। पर प्राकृतों में मूर्द्धन्यीकरण की प्रवृत्ति का बढ़ना आर्येतर प्रभाव की भी सूचना देता है। पर भारोपीय से यह एक नया वर्ग ही प्रकाश में आया।

१०.२१.२ वैदिक और संस्कृत में ल। र—वैदिक और पीछे की संस्कृत में इन ध्वनियों में अन्तर दीखता है। इस सम्बन्ध में कुछ बात मनोरंजक है—

(अ) कुछ उदाहरणों में शास्त्रीय संस्कृत और अन्य भारोपीय की शाखाओं में ल का प्रयोग मिलता है, तथा वैदिक में र का : सं० लघु = वै० रघु = लैं० levis; सं० लिप् = वै० रिप् 'लीपना'; सं० लिह् = वै० रिह् 'चाटना'

(आ) शास्त्रीय संस्कृत के आदि भारोपीय ल को सुरक्षित रखने वाले शब्द वैदिक में अधिकांशत: नहीं मिलते।

(इ) कुछ व्युत्पन्न शब्द जो अपनी मूलधातुओं से विलग हो गये हैं, ल को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति के द्योतक हैं। सामान्यत: इन स्थानों पर भी ल > र हो जाना चाहिए था : श्लोक, (√श्रु) विपुल (√पृ०)[१]

इस प्रकार शास्त्रीय संस्कृत में ल को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति मिलती है और वैदिक में ल > र की। वैदिक भाषा का रूप उत्तर-पश्चिम में विकसित हुआ और पश्चिमी ईरानी की भाँति वहाँ ल > र की ओर झुकाव है। शास्त्रीय संस्कृत मध्य देश में विकसित हुई और उसमें पश्चिम से पूर्व की ओर चलने पर मिलने वाली ल की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा। फलत: ल सुरक्षित है। ऋग्वेद का भी पीछे जब मध्यदेश में लेखन या अध्ययन हुआ तो एक मिश्रित प्रवृत्ति का जन्म हुआ : कहीं ल् कहीं ल > र।

आदि भारोपीय की र ध्वनि भारतीय आर्यभाषा के इतिहास की प्राय: सभी स्थितियों में बनी रही : रुधिर। र > ल की प्रवृत्ति के उदाहरण अत्यन्त विरल हैं। लोहित (रोहित भी)। लुप-'फाड़ना' (रुप भी) लैं० rumpo। ये भारत के और पूर्वी भागों में विकसित हुए होंगे, जहाँ र > ल की प्रवृत्ति मिलती है। संस्कृत ने इन रूपों को भी अपनाया। इस प्रकार संस्कृत में प्रवृत्तियों का साम्मिलन हो गया।

१०. २१. ३ स्वर विधान—स्वरों का वर्गीकरण ह्रस्व और दीर्घ के अनुसार दीखता है। वर्गीकरण में मात्रा पर विशेष बल है, स्वरों के उच्चारण क्रम पर कम। आज के ध्वनि विज्ञान में उच्चारण-क्रम पर अधिक बल दिया जाता है। ह्रस्व दीर्घ युग्म को एक ही नाम से पुकारा जाता था : अवर्ण = अ, आ (अ + अ) इवर्ण = इ, ई (इ + इ) तथा उ वर्ण = उ, ऊ (उ + उ)। पर प्राचीन विवरणों से ज्ञात होता है कि इनमें काल (= मात्रा) का ही भेद नहीं था, प्रयत्न भेद भी था : विवाद-भिन्नता भी

१. बरो, संस्कृत लैंग्वेज, पृ० ८२

थी। अ अ को पहले ग्रन्थों में विवृत माना गया है और अ को संवृत।[1] पर पाणिनि इस अन्तर को मानता नहीं दीखता : जब एक ह्रस्व-स्वर के पश्चात वही ह्रस्व स्वर आये तो उनके स्थान पर उसी वर्ग का दीर्घ स्वर प्रयुक्त होगा।[2] विवृत स्वरों को कंठ्य कहा गया है जो विचित्र-सा लगता है। इसका तात्पर्य केवल यह दीखता है कि अवर्ण के उच्चारण में करणाभाव रहता है।

उच्चारण अवयव उदासीन रहते हैं। अग्र, संवृत इ का वर्गीकरण तालव्यों के साथ किया गया है।[3] इसके उच्चारण में जिह्वा का मध्यभाग तालू की ओर उठता है।[4] संवृत पश्चस्वर उ को ओष्ठ्य[5] नाम देने से यह ज्ञात होता है कि जिह्वा प्रयत्न की अपेक्षा इसमें ओष्ठ्याकृति को विशेष महत्व दिया गया है। ओष्ठों की स्थिति को कहीं गोलीकृत[6] और कहीं दीर्घ[7] बताया गया है।

ए, ओ, ऐ, औ की स्थिति संयुक्त स्वर जैसी है। ए, ओ का ध्वन्यात्मक मूल्य इस प्रकार है: ए, ओ=अ+इ। उ और ऐ, औ=आ (अ+अ)+इ/उ। सन्धि नियमों से यह विधान पुष्ट है। ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से इनको संध्यक्षर कहा गया है। पाणिनी ने ऐ / औ को क्रमशः कंठतालव्य और कंठ-ओष्ठ माना है।[8] ऐ और औ में प्रथमांश कंठ्य तथा उत्तरांश तालव्य याकंठ्य है।[9] यद्यपि ये संध्यक्षर हैं, फिर भी ये एक वर्ण के समान माने जाते थे।[10] इस प्रकार की संध्यक्षर परम्परा चलती गई। पीछे ए। ओ सध्यक्षर न रह कर दीर्घ स्वरों के रूप में मान्यता प्राप्त करने लगे और ऐ। औ संध्यक्षर या संयुक्त स्वर बने रहे। ए। ओ के एकोच्चारण की कुछ स्वीकृति ऋक० प्राति० में भी मिलती है : वे ऐ। औ के समान पृथक क्रम में सुनाई नहीं देते : दोनों ध्वनियाँ 'क्षीरोदकवत्' मिल जाती हैं। ये स्वर आगे विकास में भी चलते रहे, आज भी। ऐ। ओ गुण तथा ऐ। औ वृद्धि स्वर हैं।

१ आपिशलि प्रातिशाख्य ६।३२; वाजसनेयी प्रातिशाख्य १।७२ [उवट्-संवृतास्य प्रयत्न अकार : विवृतास्य-प्रयत्ना इतरे स्वरा]

२ अक :सवर्णे दीर्घ : अष्टा० ३।१।१०१

३ इ-चु-य शास् तालव्याः ; पाणिनीय शिक्षा, १७

४ तालौ जिह्वा-मध्यम इवर्णे, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, २ । २२

५ ओष्ठोजाव् उ-पू, पा० शि० १७

६ ओष्ठोपसंहार उवर्णे, तैत्ति० प्राति० २ । २४

७ उवर्णे प्रकृतेर ओष्ठौ दीर्घौ, व्यासशिक्षा, २८४

८ ए-ऐ कण्ठ-तालव्य ओ-औ कण्ठोष्ठ जौस्मृतौ, पा० शि० १८

९ ऐकारौ कारयोः कण्ठ्या पूर्वा मात्रा तालव-ओष्ठयोर उत्तरा। वाज० प्रा० १ । ७३

१० अथर्व० प्रा० १ । ४०

ऋ । लृ का विवरण अधिक स्पष्ट विवरण नहीं मिलता। इनमें र । ल् का । व्यंजनत्व भी सम्मिलित है।[२] कुछ विद्वानों ने इसीलिए इन ध्वनियों को शुद्ध स्वर-विधान के अन्तर्गत भी नहीं माना। (कैय्यट की पाणिनि १ । १ । ९ तथा महाभाष्य १ । १ । ४ पर टीका) आगे की स्थितियों में कभी इनके व्यंजनांश का विकास हुआ और कभी स्वरांश का। लृ घिसकर समाप्त हो गई। दीर्घ ऋ का प्रयोग सामान्यतः नहीं मिलता : ऋकारान्त शब्दों के बहुवचन में इसका प्रयोग मिलता है।

१० २१.४ **स्वराघात** (tone)—यह वैदिक भाषा की विशेषता थी। तीन स्वर होते थे : उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित।[3] उच्च स्वर उदात्त, निम्न अनुदात्त तथा 'आक्षिप्तम्' (=गिरता हुआ) स्वरित कहलाता है। स्वरित का पूर्वार्द्ध उदात्त होता है।[४] वाजसनेयी प्रातिशाख्य में स्वरति को दोनों का मिश्रण माना है। पूर्वार्द्ध उदात्त तथा उत्तरार्द्ध गिरता हुआ (प्रणिहन्यते)।[५] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्वरित का उदात्त स्वर से आरम्भ तथा अनुदात्त में अन्त माना है।[६] कुछ इसे निरन्तर गिरता मानते हैं।........इस प्रकार स्वराघात का भी बड़ा वैज्ञानिक विवरण प्राप्त होता है। ऋक्० प्राति० के अनुसार स्वरित का प्रथम ½ या ¼ भाग उदात्त से कुछ ऊंचा तथा शेषांश अनुदात्त होता है। इसको यों व्यक्त किया जा सकता है ....। वैदिक साहित्य में इनको व्यक्त करने के लिए कुछ चिह्नों का भी प्रयोग मिलता है।

संस्कृत में स्वराघात समाप्त हो गया था। मभाआ और नभाआ में इसके प्राप्त होने की आशा ही नहीं की जा सकती। वैदिककाल में इसके परिवर्तन से अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता था। यह स्वर विधान आदि भारोपीय में था। ग्रीक में भी इसके चिह्न मिलते हैं।

१०.२९.५ अपिश्रुति (Ablaut)—प्राचीन आचार्यों ने गुण, वृद्धि और संप्रसारण नाम से स्वर-परिवर्तन की इस प्रक्रिया को अभिहित किया है। स्वर परिवर्तन के कई रूप प्राप्त होते हैं : स्वरयुक्त प्रकृत दीर्घ स्वरों का स्वर-रहित ह्रस्वी करण, (ए, औ, अर्, अल्>इ, उ, ऋ, लृ) प्रकृत वृद्धि स्वरों का ह्रस्वस्वरों में परिवर्तन, स्वरयुक्त (Accented) प्रकृत सम्प्रसारण स्वरों का स्वरहीन ह्रस्वीभूत स्वरों में परिवर्तन, ह्रस्वीभूत-क्रम में 'अ' का लोप आदि।

१०. २१.६ निष्कर्ष—लृ का ह्रासोन्मुख रूप स्पष्ट है। मूर्द्धन्य ल संस्कृत में ही लुप्त हो गया। र>ल तथा ल>र दोनों प्रवृत्तियों जा मिश्रण संस्कृत में

२ संस्पृष्ट-रेफम् ऋवर्णम'''सलकारम् लृवरणम्। अथर्व० प्रा० १ । ३७,३९

3 उदात्तश्चानुदात्तश् च स्वरितश् स्वरास्त्रयः। पाणिनीयशिक्षा, ११

४ अथर्व० प्रा० १ । १४-१७

५ उच्चैर उदात्तः नीचैर अनुदात्तः उभयवान्त स्वरितः (१ । १०८-१०)

६ १ । ३८-४०,४६-४७

प्राप्त होता है। र—युक्त अनेक वैदिक शब्द शास्त्रीय संस्कृत में ल-युक्त हो गये। इस प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में भौगोलिक ऐतिहासिक कारण थे। स्वराघात का महत्व भी शास्त्रीय संस्कृत में समाप्त हो गया।

१०. २. २. मध्यकालीन आर्य भाषा काल की ध्वनियाँ—ध्वनि-विकास इस युग में बहुत हुआ। पर स्वर और व्यंजनों की संख्या और उनके रूपों में थोड़ा ही अन्तर पड़ा।

१०. २२. १. स्वर—पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में स्वर-विधान एक सा है। केवल संस्कृत के ऋ, लृ विभिन्न रूपों में विकसित हो गये। ऐ, औ>ए,[1] ओ की प्रवृत्ति के फलस्वरूप ऐ, औ समाप्त हो गये। पर ए, ओ के ह्रस्व रूप एँ, ओं का विकास हुआ : ये प्रभाआकाल में अज्ञात थे। इस प्रकार इस काल में ये स्वर मिलते हैं : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ (एँ, ओं, भी) अपभ्रंश में कहीं-कहीं ऋ भी सुरक्षित मिलती है, पर अत्यन्त विरल रूप में, संस्कृत तत्समों में ही और वह भी बहुधा दक्षिणी अपभ्रंश में।

ऋ के अतिरिक्त सभी स्वरों का नासिक्यीकृत रूप भी प्राप्त होता है। संवृत और विवृत 'अ' ध्वनि को यद्यपि संस्कृत में स्वीकार किया गया था।[3] पर प्राकृतों की स्थिती में इनको व्यक्त करने के पृथक चिह्न नहीं है। पर इनके अस्तित्व की सम्भावना अवश्य है। अ ध्वनि के ये रूप कोंकणी, बंगाली तथा अवधी में अब भी अवशिष्ट हैं। विभिन्न स्वर-विकास के रूपों पर हिन्दी स्वर विकास के साथ किया गया है। वैसे स्वर-व्यत्यय आदि कई दिशाएं विकास की रहीं।

१०. २२. २. व्यंजन—मभाआ-काल के व्यंजनों की संख्या में भी कुछ विघटन हुआ। व्यंजन तालिका इस प्रकार हो सकती है—

[1] A. Woolner, Introduction to Prakrit; प्राकृत प्रकाश १/३५; प्राकृत व्याकरण १।१४८, ऐ>अइ भी है।

[2] प्राकृत व्याकरण १।१५६ : औ>अउ भी है।

[3] पाणिनि, अष्टाध्यायी ८।४।६८ तथा महाभाष्य में शिव-सूत्र पर भाष्य।

व्यंजन			कंठ्य	तालव्य	मूर्द्धन्य	दन्त्य	ओष्ठ्य
स्पर्श	अघोष	अल्पप्राण	क	च	ट	त	प
		महाप्राण	ख	छ	ठ	थ	फ
	सघोष	अल्पप्राण	ग	ज	ड	द	ब
		महाप्राण	घ	झ	ढ	ध	भ
नासिक्य				ञ	ण	न	म
अन्तस्थ					र	ल	व
ऊष्म				श		स	
महाप्राण			ह				
पार्श्विक						ळ	

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि संस्कृत का कण्ठ्य नासिक्य व्यंजन समाप्त हो गया। तालव्य अन्तस्थ 'य' भी प्रयोग से उठ गया। तालव्य श् केवल पूर्वी बोलियों में बना रहा : स, ष > श। पश्चिम में प्रवृत्ति श, ष > स की रही। ळ संस्कृत में लुप्त हो गया था। पर मभाआ काल में मूर्द्धन्यीकरण की प्रबलता के कारण फिर आ गई। कुछ हस्तलिखित ग्रंथों में यह प्राप्त होती है। अनुमानतः बोलचाल में यह प्रचलित था। य के लोप की प्रवृत्ति भी दीखती है। अशोक के शिलालेखों में य

सुरक्षित मिलता है ।[1] कुछ लेखों में य>ज की प्रवृत्ति भी दीखती है । कहीं-कहीं लोप भी है । फिर भी य मध्यकाल में लड़खड़ा कर गिर ही पड़ा । व का विकास भी हुआ और यह सुरक्षित भी रहा ।

१०.२२·३ **व्यंजन-विकास की मुख्य प्रवृत्तियाँ**—इन प्रवृत्तियों को मोटे रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है—

(a) अन्त्य व्यंजन (प्राभाआ) > प्रा० O > अप० O

(b) प्रारम्भिक व्यंजन (प्राभाआ) > प्रा० सुरक्षित > अप० सुरक्षित

(c) प्राभाआ स्वर मध्यवर्ती व्यंजन

(i) प्राभाआ अघोप > प्राकृत सघोप > सम्भवतः अप० Spirent

(ii) प्राभाआ अघोप महाप्राण > प्राकृत सघोष महाप्राण या—ह— > अप० सघोप महाप्राण या—ह

(d) प्राभाआ संयुक्त व्यंजन > समीकरण के द्वारा द्वित्व व्यजन (प्राकृत) > अप० या तो द्विन्व व्यंजन या पूर्व स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण से असयुक्त व्यंजन ।

१०·२२·४ **मूर्द्धन्यीकरण**—यह प्रवृत्ति इस काल की एक विशेपता है । अपभ्रंश तक प्राभाआ दन्त्य ध्वनियों के मूर्द्धन्यीकरण की प्रवृत संक्षेप में इस प्रकार रही ।[2]

(१) ऋ के पश्चात् प्रयुक्त दन्त्य ध्वनियाँ > मूर्द्धन्य : वड्ढ < वृद्ध ।

(२) र के पश्चात् ,, > मूर्द्धन्य : पढम < प्रथम

(३) र के पूर्व[3] ,, > मूर्द्धन्य : चण्डउन्त > चन्द्रगुप्त

(४) असयुक्त तथा स्वर मध्यग ,, > मूर्द्धन्य : पड < पत्—, निवड < निपट

(५) द्वित्व तथा स्वर मध्यग ,, > मूर्द्धन्य : अट्टि < अस्थि

(६) प्रारम्भिक ,, > मूर्द्धन्य : V डह < दह्—

(७) प्रारम्भिक या स्वर मध्यग न, ल > मूर्द्धन्य : इस सम्बन्ध में अव्यवस्था है ।[4]

इससे मूर्द्धन्यीकरण की प्रवृत्ति की गति का परिचय मिल जाता है । दन्त्य-ध्वनियाँ तो सुरक्षित रहती थीं या उनका मूर्द्धन्यीकरण हो जाता था ।

[1] एम० ए० महिन्दले, हिस्टारीकल ग्रामर आफ इंस्क्रिप्शनल प्राकृत स (१९४८) पृ० १३

[2] तगारे, हिस्टारीकल ग्रामर आफ अपभ्रंश. पृ० ७०

[3] इस स्थिति में दन्त्य ध्वनियो के सुरक्षित रहने के कारण उदाहरण अधिक हैं ।

[4] णंगल> लांगल ।

१००. २२ ४. ल र—अशोक के शिलालेखों में क्षेत्रीय रूप से र > ल के उदाहरण मिलते हैं। मागधी में र > ल की प्रवृत्ति पूर्ण रूप से मिलती है। दूसरी बोलियों में भी कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति मिलती है विशेष रूप से हैं। हलिद्दा < हरिद्रा चलणो < चरण:; वलुणो < वरुण:, इंगलो < अंगार:; चढ़ लं < जठरं। महाराष्ट्री अर्द्ध मागधी, तथा शौर सेनी में इनका मिलना मागधी प्रभाव का द्योतक है। ल > र तथा ल > न की प्रवृत्ति भी अन्य प्राकृतों में मिलती है।

१०-२-३ हिन्दी ध्वनियाँ—हिन्दी को वर्णमाला का संगठन और वर्गीकरण ऊपर वर्णित ऐतिहासिक वर्णसमाम्नाय पर ही मुख्य रूप से आधारित हैं। मभाआ काल में कुछ ध्वनियां लुप्त हो गई थीं; तत्समता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप वे भी पुनरुज्जीवित हो उठीं, पर कुछ न लौट सकीं। कुछ नवीन ध्वनियाँ अरबी-फारसी स्रोत से आगत हैं, इनका प्रयोग शिक्षित-शिष्ट वर्ग अरबी-फारसी तत्सम शब्दों के लेखन और उच्चारण में करता है। अंग्रेजी ने भी हिन्दी ध्वनि विधान को प्रभावित किया है। ध्वनि तत्व की दृष्टि से हिन्दी के ध्वन्यांश ये हैं=स्वर—अ, अँ, आ, आँ; इ, इ ई, उ, उ, ऊ, एँ, ऐ, ओ, ओं, औ; व्यजन—क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ, ण, न, न्हँ, म, म्ह, ल, ल्ह, र | र ह | ड़, ढ़ ह, ख़ ग़ श़ स़ ज़ फ़ ब़ य़ व़ ह। इसके अतिरिक्त एक अनुनासिक (ं) तथा अर्द्धचन्द्र (ँ) हैं, जो ध्वनियों मे कुछ परिवर्तन प्रस्तुत करते है।

१०-२३-१ हिन्दी-स्वर-विवरण—प्रधान आठ स्वरों (cardinal vowels) के माध्यम से हिन्दी के स्वर-ध्वन्यांशों (vowel segments) की स्थिति इस प्रकार समझी जा सकती है—

आकृति १. प्रधान आठ स्वर

आकृति २. हिन्दी स्वर

क— उक्त हिन्दी स्वर ध्वन्यांशों का विवरण—इस प्रकार है—

(अ) प्राचीन भारतीय ध्वनि वैज्ञानिकों ने इसे कंठ्य माना है।[१] इसको संवृत भी कहा गया है।[२] कहीं कहीं अवयवों की तटस्थ स्थिति भी मानी गई है : क्योंकि इसके उत्पादन में आभ्यन्तर प्रयत्न नहीं होते। महाभाष्य में पूर्ण मुख ही इसका स्थान माना गया है।[३] सघोष व्यंजनों में घोषत्व के रूप में इसकी व्याप्ति बताई गई है।[४] अकार के रूप में स्वतन्त्र रूप से भी प्रयुक्त होता है या स्वयं अक्षर (Syllable) के रूप में स्थित रहता है।

आधुनिक दृष्टि से इसका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—जीभ की ऊँचाई—अर्द्धविवृत; जीभ का भाग—मध्य अथवा जिह्वा के पश्चभाग का अग्रांश × होंठ—प्रसारित (Spread) जबड़े—कुछ खुले। स्वर तंत्रियों में संघर्ष होता है, जिससे यह घोष बन जाता है। कोमल—तालु कुछ उठा हुआ रहता है। जीभ की नोंक नीचे दाँतों के मूल से संस्पृष्ट रहती है। जिह्वा की यह स्थिति स्वर-प्रकार में कोई भेद उपस्थित नहीं करती।

(अं) अंग्रेजी में इसे उदासीन (neutral) स्वर कहा जाता है (ə)। जीभ की ऊँचाई की दृष्टि से यह भी अर्द्ध विवृत है जीभ का मध्य भाग (अ) की अपेक्षा कुछ अधिक ऊंचा रहता है। स्थान पश्चभाग की ओर नहीं अग्र की ओर है। होंठ—विस्तीर्ण (Spread) ही रहते हैं। जबड़े (अ) की अपेक्षा कुछ संकुचित रहते हैं। पंजाबी में भी यह सुनाई पड़ता है।[५]

(आ) प्राचीन आचार्यों ने अ+अ=आ का सिद्धान्त रखा था तथा अ।आ के युग्म को अवर्ण नाम से अभिहित किया था। पर मात्रा काल-भिन्नता के अतिरिक्त दोनों के उच्चारण में विवार-भिन्नता भी है। इसको विवृत माना गया है।[६] आधुनिक दृष्टि से इसका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है; जीभ की ऊँचाई की दृष्टि से पूर्ण विवृत है। जीभ के पश्चभाग का मध्य बिन्दु ऊपर उठता है। होंठों की स्थिति उदासीन रहती है। जबड़ो की स्थिति कुछ चौड़ाई लिए रहती है। जीभ की नोंक नीचे के दांतों से सटी रहती है।

(ऑ) यह ध्वनि हिन्दी में अंग्रेजी से आगत है। इसका प्रयोग अंग्रेजी के तत्सम शब्दों के उच्चारण में किया जाता है। इसके उच्चारण में जीभ की ऊँचाई विवृत और अर्द्ध विवृत के बीच में है और जीभ का पश्चभाग ऊँचा उठता है।

---

[१] कण्ठ्योऽकारः ऋ० प्रा० १।३८
वाज० प्रा० १।७२

[३] महाभाष्य १।१।१४

[४] ऋक० १३।१५

[५] बेली, पंजाबी फोनेटिक रीडर पृ० xiv

थर्व० प्रा० ९।३२, वाज० प्रा० १।७२

सामान्य गोलीकरण के साथ बन्द और खुलने के बीच में होठों की स्थिति रहती है। जबड़े चौड़े खुले होते हैं। इसके प्रयोग के उदाहरण : कॉङ्ग्रेस, कान्फ्रेंस, लार्ड।

(ओ) प्राचीन आचार्यों ने इसको संध्यक्षर माना था । अ+उ=ओ। पाणिनि ने भी इसकी संध्यक्षर स्थिति को बनाए रखा। इसके आरंभिक अंश को कंठ्य और १/२ माना, जबकि औ में यह मात्रा (१) है।[१] पर औ से इसका उच्चारण विभिन्न माना गया है। औ में दोनों अंश क्रमशः श्रव्य होते हैं, पर ओ में नहीं। ओ में ध्वनियों का संसर्ग घनिष्ट होता है।[२] दोनों क्षीरोउदक वत घुले-मिले रहते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में होठों के अ की अपेक्षा अधिक गोलीकरण की बात इसके उच्चारण में कही गई है।[3]

आधुनिक दृष्टि से इसका विवरण यों दिया जा सकता है : जीभ की ऊँचाई की दृष्टि से यह अर्द्ध संवृत है। जीभ का पश्च भाग ऊपर उठता है। प्रधान स्वर से इसका स्थान कुछ नीचा है। होंठों की स्थिति गोल रहती है। आजकल इसे संध्यक्षर नहीं कहा जा सकता ; यह दीर्घ स्वर है।

(ऑ) यह अर्द्ध विवृत ह्रस्व पश्चस्वर है । अर्द्ध विवृत पश्च प्रधान स्वर की अपेक्षा इसका स्थान कुछ ऊपर और अन्दर की ओर दबा हुआ है। होंठ खुले-गोल रहते हैं। इसका प्रयोग हिन्दी की बोलियों में भी होता है और भाषा में सस्वन (alloPhone) के रूप में भी।

(औ) जीभ की ऊंचाई की दृष्टि से यह अर्द्ध विवृत है, जीभ का पश्चभाग ऊपर उठता है : होंठ गोल-खुले रहते हैं : यह सामान्य दीर्घता से युक्त है। पश्चिमी हिन्दी की यह एक विशेषता है। व्रजभाषा में इसका प्रयोग बहुल है। पूर्वी बोलियों में यह नहीं मिलता।

(उ) पाणिनि ने इसे ओष्ठ्य माना है।[४] इससे यह प्रतीत होता है कि जिह्वा के प्रयत्न की अपेक्षा ओष्ठ्य प्रयत्न को अधिक महत्त्व दिया गया है। ओष्ठों की स्थिति गोली कृत मानी गई है।[५] कहीं-कहीं होठों का दीर्घीकरण भी माना गया है।[६]

आधुनिक दृष्टि से जीभ की ऊँचाई अर्द्ध संवृत और संवृत के बीच में है। जीभ के पश्च भाग का अग्रांश ऊपर उठता है। होंठ संकुचित गोल रहते हैं।

---

१ अर्द्ध-मात्रा कण्ठ्यस्य एकारौकार योर भवेत
एकारौकार योर मात्रा, [घोस, Recoustructed text १३]

२ मात्रा-संसर्गाद् अवरे' पृथक्-श्रुति, ऋक० प्रा० १३।४०

3 २/१३-१५

४ ओष्ठ जाव् उ-यू, पा० शि० १७

५ ओष्ठोपसंहार उ वर्णे, तैत्ति० प्रा० २।२४

६ व्यास शिक्षा, २८४ उ वर्णे प्रकृतेर ओष्ठौ दीर्घौ

(ऊ) यह फुसफुसाहट वाला स्वर है। इसका प्रयोग बोलियों में तथा संस्वन के रूप में होता है।

(ऊ) प्राचीन ध्वन्याचार्यों ने उ, ऊ में केवल मात्रा भेद मानकर और सन्धि की दृष्टि से उ+उ=ऊ की स्थापना की थी। यह भी उ वर्ण में था। आधुनिक दृष्टि से जीभ की ऊँचाई लगभग संवृत रहती है। जीभ का पश्चभाग ऊँचा उठता है। होठों की स्थिति बन्द गोल रहती है। नीचे के दाँतों के पास साधारणतः जीभ की नोंक रहती है। कोमलतालु कुछ उठा हुआ रहता है।

(ई) प्राचीन ग्रंथों में इाई में मात्रा भेद करके, संधि-नियम को आधार बना कर इ+इ=ई का सिद्धान्त मान्य था और दोनों को इवर्ण नाम से अभिहित किया जाता था।

आधुनिक दृष्टि से जीभ की ऊँचाई लगभग संवृत की होती है। जीभ के अग्रभाग का मध्यांश ऊपर उठता है। होठों की स्थिति फैली हुई या उदासीन रहती है। जबड़ों की खुलावट संकुचित रहती है। जीभ की पेशियों में उच्चारण के समय काफी तनाव माना जाता है। जीभ की नोंक नीचे के दाँतो से संस्पृष्ट रहती है। इसके संरचनात्मक रूप भी हैं।

(इ) प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में इसका वर्गीकरण तालव्य ध्वनियों के साथ किया गया है।[1] इसके उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग तालू की ओर उठता हुआ बताया गया है।[2] आधुनिक दृष्टि से जीभ की ऊँचाई संवृत से अर्द्ध-संवृत की ओर रहती है। जीभ के अग्रभाग का पश्चांश ऊपर को उठता है। होठ प्रसारित या उदासीन रहते है। जीभ की नोंक नीचे के दान्तों का स्पर्श करती रहती है।

(ई) इसका फुसफुसाहट वाला रूप है।

(ए) प्राचीन आचार्यों ने ओ के समान इसे भी संध्यक्षर माना : अ+इ=ए साथ ही यह भी कहा गया है कि यद्यपि संध्यक्षर स्वरों के संयोग हैं, फिर भी उन्हें एक वर्ण के समान माना जाता है।[3] उसके एकोच्चारण (monopthougal) की बात भी मानी जाती थी। इस प्रकार ध्वनितात्विक दृष्टि से यह ऐकोच्चारित ध्वनि थी और संधि के अनुसार अ+इ।

आधुनिक युग में इसका संध्यक्षरत्व सिद्ध नहीं होता। यह दीर्घ स्वर ही है। जीभ की ऊँचाई की दृष्टि से इसका स्थान अर्द्ध संवृत और अर्द्ध विवृत के बीच में है। जीभ का अग्रभाग ऊपर उठता है। ओष्ठ संम्प्रसारित या तटस्थ रहते हैं।

(ऐ) इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ए की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा तथा

---

[1] पा० शि० १७

[2] तैति० प्रा २।२२

[3] अथर्व० प्रा० १।४० ; वा ज० प्रा० ४।१४५

बीच की ओर झुका हुआ रहता है। बोलियों और संस्वनों में इसकी स्थिति पाई जाती है।

(ए़) यह (एं) का फुसफुसाहट वाला रूप है। इसमें घोष नहीं होता। अवधी में इसका प्रयोग माना जाता है।

(ऎ) इसके सम्बन्ध में डा० धीरेन्द्रवर्मा ने लिखा है: 'वास्तव में हिन्दी ऎ साधारणतया संयुक्त स्वर है, किन्तु जल्दी बोलने में कभी-कभी मूल ह्रस्व स्वर एँ के समान इसका उच्चारण हो जाता है[१]।" कादरी ने ऐ को असंयुक्त स्वर माना है[२] जो ऐ, ब, कैर जैसे शब्दों में है। डा० चटर्जी ने बंगाल में इसे मूल स्वर ही माना है।[३] बेली ने भी पंजाबी में इसकी स्थिति मूल स्वर की मानी है।[४] यह पश्चिमी हिन्दी की विशेषता है। पूर्वी हिन्दी में इसका उच्चारण संयुक्त स्वरवत् होता है। एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य है :-ह-के वातावरण में अ >ऐ का प्रवृत्ति हिन्दी उच्चारण में दीखती है। लहर (leher) शहर (seher) पंजाब में शैर मिलता है। साथ ही ब्रज मे कौआ (kʌua:) तथा पैसा (pʌisa:) जैसे अपवाद उच्चारण भी मिलते हैं. इसका उच्चारण (kɔa:) या (pesa:) जैसा नहीं है। पश्चिमी हिन्दी पर यह पंजाबी का प्रभाव भी माना जा सकता है। बंगाली में संध्याक्षर का विकास एकोच्चारित रूप में हो गया दीखता है।

(ऐं) यह (ऐ) का ह्रस्वोच्चारित रूप है।

इनके अतिरिक्त अनुस्वार (ं) तथा अर्द्धचन्द्र (ँ) भी स्वरों से संबंधित है।

(ख) हिन्दी के स्वर ध्वनिग्राम—ऊपर जिन ध्वनियों का विवरण दिया गया है, वे सभी ध्वनिग्राम नहीं हैं : कुछ की स्थिति संस्वनात्मक है। हिन्दी के स्वर ग्राम ये हैं :

प्रथम वर्ग। इ अ उ।

द्वितीय वर्ग। ई ए ऐ, आ औ ओ ऊ।

तृतीय वर्ग। ऐ औ।

प्रथम वर्ग ह्रस्व स्वरों का है। दूसरे वर्ग में दीर्घ स्वर है। तीसरा वर्ग शुद्ध संध्यक्षर स्वर हैं (Pure diphthougs)। स्वर-ध्वनि ग्रामों का वितरण इस प्रकार है—

१ हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १०७

२ Hindi Phonetics, पृ० ५१

३ वैं० लैं पृ० १४०

४ Punjabi phonetic Reader, ५० XIV

(अ)=[अ़], [अ़], [अ][1]

=[अ़]—उच्चारान्त होने पर 'अ' की समयावधि में कमी आ जाती है। पर यह सुनाई पड़ता है। यही बात व्यंजन गुच्छ कान्त शब्दों के साथ है। (ब् आ त् अ़) 'बात' (र् अ थ् अ़) 'रथ' (अ न् त् अ़) 'अन्त'

[अ़]—(अ़) जब उच्चारान्त न होता : या इसके पश्चात् पर सर्ग आदि आते हैं तब यह अघोष हो जाता है और श्रव्य भी नहीं होता। (ब् आ त् अ़ क् ओ) 'बात को' (र् अ थ् अ़ म् ऐ) 'रथ में।'

[अ]—का प्रयोग पदारम्भ या स्वर मध्यवर्ती स्थिति में होता है। (अ प् अ ना आ) 'अपना' (घ् अ र् अ़) 'घर'

(आ) [आ़]—पदान्त प्रयुक्त होने पर इसकी दीर्घता का यत्किंचित ह्रास हो जाता है। (यह मध्य विवृत दीर्घ स्वर है) विशेषरूप स जब यह व्यंजन गुच्छ के पश्चात् आता है अथवा पूर्वाक्षर भी दीर्घ हो! जैसे (ग् आ य् आ़) 'गाया' तथा (इ क् क् आ़) 'इक्का।'

[आ]—पद के आदि और मध्य में प्रयुक्त।

---

[1] डा० अरुण ने इसके केवल दो रूप ही माने है : (Λ) तथा (ə)। इनमें से प्रथम का प्रयोग बलाघात युक्त अक्षरों के साथ तथा द्वितीय का स्वराघातहीन अक्षर होता है (Comparative philology of Hindi and Panjabi, panjabi Sahitya Akademi, Ludhiana, p, २) डा० कैलाशचन्द्र भाटिया ने भी इसके दोही मुख्य रूप माने हैं : एक अर्द्ध विवृत मध्य ह्रस्व स्वर (अ) तथा इससे कुछ अधिक विवृत (अ) इसकी अन्त्य स्थिति के विषय में उन्होंने पाद-टिप्पणी यह दी है : अन्त्य स्थिति में अ के उच्चारण के सम्बन्ध में पर्याप्त मत वैभिन्य है।···मैं ने इस स्थिति के उच्चारण का विशेष अध्ययन कर निम्नलिखित तीन कोटियां मानी हैं : (अ) वे शब्द जिनके अन्त में समस्थानीय दो व्यंजन ध्वनियों का गुच्छ हो। इसमें अन्त्य—अ नहीं होता। (आ) वे शब्द जिनके अन्त में भिन्न स्थानीय व्यंजन ध्वनियों का गुच्छ हो। इस स्थिति में अन्त्य 'अ' इन उच्चारणों में सुनाई पड़ता है जहाँ बहुत सम्हल कर बोला जाता है, अन्यथा पर 'अ' का अस्तित्व नहीं है। (इ) वे शब्द जिनके अन्त में अर्द्ध स्वर के साथ व्यंजन गुच्छ हो। इस स्थिति में अन्त्य—अ कुछ न कुछ अवश्य सुनाई पड़ता है। डा० विश्वनाथ प्रसाद, निदेशक, हिन्दी निदेशालय, अन्त्य स्थिति में स्वरत्व स्वीकार नहीं करते हैं। आप इस स्वरत्व ध्वनि को 'राग' की संज्ञा देते हैं। (भाषाशास्त्र की रूप रेखा, उदय नारायण तिवारी इलाहाबाद, सं० २०२० पृ० २०८, २०९) लेखक की दृष्टि में लघु-ड्रा तथा अघोष—अ़ की स्थिति अन्त में रहती है। अघोषत्व के कारण यह ध्वनि श्रव्य नहीं होती। साथ ही उच्चारान्त होने पर यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। उच्चारान्त न होने पर नहीं। वैसे भाटिया जी के विवरण से लेखक सहमत हैं।

इ[1]—अग्र संवृत ह्रस्व तथा (ई) की अपेक्षा निम्न स्थानीय स्वर। इसका प्रयोग पद के आदि, मध्य, अन्त में सम्भव है। पर (अ) की भाँति अन्त्य स्थिति में इसके दो संस्वन ह्रसित समयावधि वाले तथा अघोष होते हैं—

[इ] का प्रयोग उच्चारान्त होता है (ग् अ न् इ) (म् म न् इ) 'गनिमनि'

[इ] का प्रयोग उच्चारान्त न होने पर होता है (ग् अ न् इ प् अ र् अ) 'गनि पर'।

ई—अग्र, संवृत. दीर्घ। अन्त्य स्थिति में इसके भी संस्वनात्मक रूपान्तर प्राप्त होते हैं।

[ई]—ह्रसित दीर्घता वाले इस सस्वन का प्रयोग या तो उच्चारान्त होना है। या ऐ पर आधारित अक्षर से पूर्व यह प्रयुक्त होता है (इ म् अ ल् इ) 'इमल', (र् अ ह् ई ह् ए) 'रही है।'

[ई]—अन्य स्थितियों में इसकी सामान्य दीर्घता अक्षुण्ण रहती है।

उ०—पश्च सवृत ह्रस्व स्वर। अन्त्य स्थिति में अन्य ह्रस्व स्वरों की भाँति इसके भी संस्वनात्मक रूपान्तर होते हैं।

[उ]—ह्रसित समयावधि वाले इस संस्वन का प्रयोग उच्चारान्त (Speech-final) होता है। जैसे (भ् आ न् उ) 'भानु'

[उ]—इस अघोष संस्वन का प्रयोग तब होता है जब यह पदन्त तो हो, पर उच्चारान्त न हो। जैसे (भ् आ न उ म् एँ) 'भानु में'

[उ]—का प्रयोग अन्यत्र होता है

ऊ—पश्च संवृत दीर्घ स्वर < उ की अपेक्षा उच्चतर है।

[ऊ]—उच्चारान्त न होने पर, केवल पदान्त होने पर तथा विशेषतः दीर्घाक्षर से पूर्व इसकी सामान्य दीर्घता ह्रसित हो जाती है जैसे (ख् आ ऊ ह् ऐ) खाऊ है, खाने वाला है।'

[ऊ]—अन्य स्थितियों में दीर्घता अक्षुण्ण रहती है।

(ए)—अग्र अर्द्ध संवृत दीर्घ स्वर। पदान्त प्रयुक्त होने इसका भी (ए) संस्वन घटित हो जाता हैं। जैसे (न् अ ए) 'नवीन' (क् अ ड् ए) कड़े। शेष स्थितियों में [ए] का प्रयोग होता है।

---

[1] अरुण विद्याभास्कर तथा डा. भाटिया ने इस ध्वनि के संस्वन नहीं दिए हैं। भाटियाजी ने एक पाद टिप्पणी यों दी है : 'प्रायः अन्त्य' 'इ' का उच्चारण या तो दीर्घ हो जाता है या फुसफुसाहट मात्र होता है। (डा. उदय नारायण तिवारी, भाषाशास्त्र की रूप रेखा, पृ २०८) फुसफुसाहट वाला तत्व मान कर भाटियाजी ने अघोषत्व ही स्वीकार किया है। दीर्घ होने की स्थिति को उन्होंने स्पष्ट नहीं किया।

(ऍ) अग्र अर्द्ध विवृत दीर्घस्वर। 'ह' की परिस्थिति में इसका ह्रसित-दीर्घ संस्वन उपस्थित होता है। पद के मध्य में (ह) के पूर्व या पश्चात् इस संस्वन का प्रयोग होता है। जैसे (क् ऍ ह ऍ न् आ) 'कहना' (ल् ऍ ह ऍ र् अ) 'लहर' उच्चारान्त होने पर भी लगभग इसी संस्वन का प्रयोग होता है। (ऍ) का प्रयोग अन्य स्थितियों में होता है।

(ऑ)—उच्चारान्त होने पर इसकी भी दीर्घता का ह्रास होता है। (ऑ) का प्रयोग यह है : (क् अ र् ऑ) 'करो !' अन्यत्र (ओ) का प्रयोग होता है। यह पश्च अर्द्ध संवृत दीर्घस्वर है।

(औ)—इसका प्रयोग पद के अन्त में सामान्यतः नहीं होता। अतः इसके ह्रसित संस्वन की सम्भावना नहीं रहती। केवल (ह) से पूर्व इसका ह्रसित संस्वन मिलता है, जब कि (ह) के पश्चात् दीर्घाक्षर हो। जैसे [च् औ ह अ र् आ] 'चौहरा, चारतह वाला' तथा [च् औ ह अ् त् त् र् अ] '७४' (औ) का प्रयोग अन्यत्र होता है। निष्कर्ष-हिन्दी के दीर्घ स्वरों की दीर्घता अन्त्य प्रयुक्त होने पर प्रभावित हो जाती है। अन्त्य ह्रस्व स्वरों का घोषत्व प्रभावित होता है और समयावधि भी। (ह) की परिस्थिति में (ए) तथा (औ) के संस्वनों के लिए उत्तरदायी है।

नासिक्य स्वर—नासिक्य स्वर ध्वनिग्राम उक्त स्वरों से भिन्न है। नासिक्य व्यजनों के प्रभाव से कभी-कभी आस-पास के स्वरों का कुछ नासिक्यीकरण हो जाता है। पर वह महत्वपूर्ण नहीं है। यह अन्तर हिन्दी में अर्थ-भेद भी उत्पन्न करता है। अतः नासिक्य स्वरों को ध्वनिग्राम की स्थिति प्राप्त हो जाती हैं। इसको सिद्ध करने के लिए स्वल्पान्तर युग्म (Miniual Pairs) भी मिल जाते हैं।

आ—आँ : काटा—काँटा बास—बाँस ई—ईं : रही—रहीं दाई—दाईं ऊ—ऊँ : करू 'करने वाला—करूँ, पूछ—'पूछना'—पूँछ। ओ | ऐ के नासिक्यी-करण से इनका उच्चारण ऐं, औं हो जाता है। इसके ध्वनिग्राम औ—औं और ऐ—ऐं के प्राप्त : चौकी—चौंकी; पैठ—पैंठ। ए | ओ के साथ भी स्वल्पान्तर युग्म मिलते हैं : गोद—गोंद: भरे—भरें। जितना स्पष्ट ध्वनिग्रामात्मक स्थिति दीर्घ स्वरों की है, उतनी ह्रस्व स्वरों की नहीं। वैसे कुछ स्वल्पान्तर युग्म मिल जाते है : उ—उँ : 'उघाई चन्दा इकट्ठा करना' —उँघाई 'उँघना' नासिक्य संस्वनों के रूप में ह्रस्व नासिक्य स्वर भी प्राप्त होते हैं : अँधेरा, अँगरखा, सिंचाई। इस प्रकार हिन्दी स्वरों के स्वतन्त्र नासिक्य ध्वनिग्राम भी प्राप्त होते हैं। और संस्वन भी। स्वरों की सानुनासिकता ई, ऐ, तथा औ पर पूर्ण विन्दु द्वारा तथा शेष स्वरों पर अर्द्ध चन्द्र (ँ) के द्वारा व्यक्त होती है। घ **सँयुक्त स्वर** प्राभाआ में ए (अ+इ) ओ (अ+उ) ऐ (आ+इ) तथा औ (आ+उ) संध्यक्षर माने जाते थे। पश्चिमी हिन्दी में इन चारों का विकार मूल दीर्घ स्वर के रूप में हो गया। पूर्वी हिन्दी में

प्रथम दो का विकास तो मूल दीर्घ स्वर में हुआ, पर दूसरे दो सयुक्त स्वर के रूप में बने रहे। पर वे भी पारिभाषिक रूप से संध्यक्षर न होकर सम्पर्कित स्वर हो गये। संपर्कित या संयुक्त स्वरों की हिन्दी में स्थिति इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है।[१]

प्रथम वर्ण \ तृतीय वर्ण	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ
अ			●	×	●	×	×		●	
आ			●	×	●		×		×	●
इ		×					×		×	
ई	●	×			●					●
उ		×		×			×		×	
ऊ		×								
ए		×		×						
ऐ										
ओ		×	●	×	●		×			
औ										

[१] इस तलिका में × चिह्न परिनिष्ठत हिन्दी के स्वर-संयोग का सूचक है और चिन्ह बोलियों के स्वर संगम का।

उदाहरण (५) कई, नई; गऊ; गए; नए; राई; दाई; भाई; खाऊ; टिकाऊ, आए; राए [=चूल्हे का]; लाओ; आओ; लिआ; दिआ (=लिया, दिया) लिए, दिए; घीआ; जुआ; चूआ; सुई; रुई; कुए; चुए मावुओ पूआ; गेरुआ, खेआ; लेई; सेइ; खोआ; लोआ; लोई; कोई, खोए, रोए ।

अब सउ 'सौ' पूर्वी ब्रज-लाओ, दओ 'लिया, दिया' पू० ब्र० अइसो (ऐसा) सहाइ ।

'=सहायता' आ इ '=जावे' ब्र० आउ '=आ' मुटाउ '=मोटापा' कोउ ब्र० '=कोई' सोई '=वही' ब्र० आयो, आओ; जीउ '=जीव' ब्र० हीओ '= 'हृदय' ब्र० धीअ '=बेटी ब्र० खोइ '=खोट ।

तीन स्वरों का संयोग

[v : v v :] : । आइए ।, । एइए ।, । ओइए ।, । आइओ ।-जैसे । खाइए ।, । खेइए । 'कृपया नाव खेइए' । सोइए ।, । भाइओ । 'भाइओ !'

[v v v :] : इस संयोग में मध्य स्वर के विषय में मतभेद है । कुछ इसे ह्रस्व मानते हैं, । लेखक की दृष्टि में यह दीर्घ ही है ।। अईआ । ~ । अइआ । जैसे । तईआरी । 'तैयारी' । भईआ । 'भैया' । यह ढांचा बोलियों में तो विशेष मिलता है । परिनिष्ठित हिन्दी में इसके रूप कम है ।। अउआ । जैसे । कऊआ । 'कौआ' । अऊए । जैसे । कऊए । 'कौए' :

[v v : v :] : । इआऊ । जैसे । पिआऊ । 'प्याऊ' । वस्तुतः यह श्रुति के उदाहरणों में है । डा० कैलाश चन्द्र भाटिया ने इसे तीन व्यंजनों के संयोग मे दिया है । डा० भाटिया ने इनको इस चित्र से स्पष्ट किया है ।

प्रथम स्वर	द्वितीय स्वर	तृतीय स्वर		
		आ	ऊ	ए
इ	आ			
अ	इ	+		
	उ	+		
आ	इ			+
ओ	इ			+

ऐतिहासिक दृष्टि से इन स्वर संयोगों का विकास अधिकांशतः व्यंजन-लोप और स्वर बहुलता की प्रवृत्ति का परिणाम है ।

ह० श्रुति : (य) (व)—कुछ स्वरों के संयुक्त होने पर ये श्रुतियाँ आ जाती हैं। (य) श्रुति इ। ई के साथ, तथा (व) श्रुति उ।ऊ के साथ संबद्ध है।

(i) (य) श्रुति : इ+आ : दिआ (दि^{य}आ) 'दीपक'

इ+ए : दिए (दि^{य}ए)

इ+ओ : वियोग (वि^{य}ओग)

ई+आ : घीआ (घी^{य}आ)

(ii) (व) श्रुति : उ+आ : जुआ (जु^{व}आ)

उ+ई : रुई (रु^{व}ई)

उ+ए : कुए (कु^{व}ए)

ऊ+आ : पूआ (पू^{व}आ)

इस प्रकार इ।ई स्वरों के साथ दीर्घ स्वरों के संयुक्त होने पर [य] तथा उ।ऊ के साथ दीर्घ स्वरों के संयुक्त होने पर [व] श्रुति आ जाती हैं।

१०.२३.२. **हिन्दी स्वरों का इतिहास**—अपभ्रंश के व्याकरणों ने स्वर। परिवर्तन की अव्यवस्था, अनिश्चितता और अनियमिता की बात कही है।[१] पर प्राकृत और अपभ्रंश के स्वर-परिवर्तन की भी कुछ प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे स्वर-विकास को बद्ध किया जा सकता है। साथ ही कुछ हेर-फेर से वही प्रवृत्तियाँ नभाआ भाषाओं में भी परिलक्षित होती हैं। स्वर की पद में स्थिति में स्वर-विकास की दिशा निश्चित करती है। इन प्रवृत्तियों के साथ ही हिन्दी-स्वरों के विकास-पथ का सर्वेक्षण समीचीन होगा।

६.२३.२.१—नभाआ-भाषाओं के विकास की मुख्य प्रवृत्तियाँ ये मानी जाती है—

(i) कुछ अपवादों को छोड़ कर, अन्त्य स्वरों के ह्रास और लोप की प्रवृत्ति;
(ii) उपान्त्य स्वर की मात्रा (Quantity) को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति;
(iii) आरम्भिक अक्षर के स्वर को छोड़ कर, उपान्त्य से पूर्व प्रयुक्त स्वरों के लोप की प्रवृत्ति,

[१] पुरुषोत्ताम, अज्झ लउ च बहुलम्, (प्राकृतानुशासन, १।३।१७) हेमचन्द्र, स्वराणां स्वरः प्रायोऽपभ्रंशे (सिद्धहेम ८।४।३२९)

(iv) आरम्भिक स्वर के प्रकार (Quality) को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति; तथा

(v) दित्व व्यंजनों के सरलीकरण के फलस्वरूप, पूर्व स्वर के दीर्घीकरण की प्रवृत्ति।[1]

(i) **अन्त्यस्वर**—प्राभाआ-काल में अन्त्य अक्षर के शिथिल उच्चारण अथवा उसे स्वराघात हीन रखने की प्रकृति दीखती है। अन्त्य स्वर का विघटन अति-प्राचीन काल से ही आरम्भ हो गया था। वै० यत्रा, तत्रा > सं० यत्र, तत्र। मभाआ—काल में व्यंजनांत रूप समाप्त हुए। फिर भी अन्त्य दीर्घ स्वरों के ह्रस्वीकरण के उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं। अशोक के पूर्वी अभिलेखों मे आकारान्त शब्द अकारान्त लिखे गये हैं। ह्रस्वीकरण की यह प्रवृत्ति नभाआ काल तक चली आई है और ह्रस्व अन्त्य स्वरों के लोप की प्रवृत्ति दीखती है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

क ● —अ,—आं तथा इनसे युक्त अन्त्याक्षर के लोप या ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति खेती<खेती<क्षेत्रिन ओझा<झा<उपाध्याय। मिट्टी<भट्टिआ< भृत्तिका।

ख ● —आ,—आं.—आ,—आनि>अ>O की प्रवृत्ति—पराई<पराइय <परकीया; साँझ<संझ<सन्ध्या; भूक<भुक्ख<बुभुक्षा। चेत<चेतना। अन्तिम उदाहरण में अन्त्याक्षर—ना भी लुप्त हो गया है।

ग ● —ई,—इन्—इणी>—इ,—अ>O—गाभिन<गर्भिणी। हाथी <हत्थि<हस्तिन"। इस अन्तिम उदाहरण में—ई का मिलता द्वित्व व्यंजन के सरलीकरण के परिणाम स्वरूप है।

घ ● —ऊ,—ऊम्>अप०—उ,—अ—की प्रवृत्ति अपभ्रंश में तो मिलती है पर हिन्दी में ऊ के सुरक्षित रहने के भी उदाहरण मिलते हैं: गेहूं<गोधूम्; बहू<बधू।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अन्त्य दीर्घस्वर का ह्रास हो रहा है। यह मभाआ काल में ही यह आरम्भ होगया था। अन्त्य—अ का मभाआ में बहुविध विकास हुआ। हिन्दी में प्रवृत्ति लोप की ओर ही विशेष है।

(ii) **उपान्त्य स्वर**—मभाआ में उपान्त्य स्वर प्राय: सुरक्षित रहे, यद्यपि उनकी मात्रा मे कभी-कभी परिवर्तन हो जाता है: पोखर् <पोक्खर< प्रष्कर: उपांत्य स्वर की मात्रा में परिवर्तन या तो द्वित्व व्यंजन के कारण है अथवा अकारण है। पाहन<पाषाण इसमें कोई स्पष्ट कारण नहीं दीखता कपूर<अप० कप्पूर<कर्पूर; जमुना<यमुना।

---

[1] नभआ भाषाओं में पंजाबी मभाआ के द्वित्व व्यंजनों को बहुधा सुरक्षित रखती है। सिन्धी स्वर का दीर्घीकरण नहीं करती: स्वर की मात्रा को सुरक्षित रखती है।

अन्त्य स्वर-मध्यग व्यंजन के लोप हो जाने से अन्त्य और उपान्त्य स्वर समीपवर्ती होकर मिल भी जाते हैं : मिट्टी< मृत्तिका, पानी< पाणिअ पानीय; खेती<खेत्तिआ<क्षेत्रिता।

कहीं कहीं उपान्त्य स्वर के प्रकार में भी भेद हो जाता है। इसका कारण बलाघात का अभाव, या समीकरण हो सकता है। जैसे—गेरु <गैरिक, कुछ<किंचित अन्धेरा<अन्धकार। इस प्रकार उपान्त्य स्वर के सुरक्षित रखने की सामान्य प्रवृत्ति मिलती है पर उसकी मात्रा में अधिकांश तथा प्रकार में विरल रूप से परिवर्तन हो जाता है।

(iii) **उपान्त्य से पूर्व स्वर**

आरम्भिक अक्षर के स्वर—आरम्भिक अक्षर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति में स्वराघात का कारण दीखता है। वैसे मात्रा और प्रकार गत विकास के उदाहरण भी मिल जाते हैं। इस सम्बन्ध की प्रावृत्तियाँ मभाआ विकास-प्रवृत्तियों से साम्य रखती हैं। अ—>प्रभाआ अ—: तलाव<मभाआ तलाउ<तडागः, थन<स्तनः बहुत<अप० बहुत्त<बहुत्व। आ—>आ—: गाम<ग्रामः थान<अप० थाण< स्थान; डाह< दाह। हि० अ—<अ—. महँगा<महार्घ। अ—<सं० उ: कबरा<कर्बुर।

बन्द अक्षरों (heavy syllable) में प्रभाआ प्रारम्भिक अ>आहि० आ० के उदाहरण भी मिल जाते हैं : दाहिना<अप० दाहिण<दक्षिण; लाभ<लभ्यते। ऐसे उदाहरणों के पीछे समीकरण जन्य क्षतिपूरक दीर्घीकरण की प्रवृत्ति दीखती है।

खुले अक्षरों (Close syllables) में यह प्रवृत्ति दीखती है। बाहर< बहि; पायक<पाइक<पदातिक या पादिक।

कहीं कही हि० अ—<प्रभाआ आ—के भी उदाहरण मिलते हैं। जैसे—बनारस<वाराणसी; बखान<अप० बक्खाण< प्राभाआ-व्याख्यान, मग<अप० मग्ग<मार्ग। पर ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं।

इ उ को प्राय : सुरक्षित रखा जाता है। इनका दीर्घीकरण व्यंजन द्वित्वों के सरलीकरण के साथ सबद्ध है। कभी-कभी अकारण दीर्घीकरण भी मिलता है। हि०ई<प्रभाआ इ+संयुक्त व्यंजन : जीभ<अप० जीहा>जिह्वा। चीता<चित्रक ऐसे भी उदाहरण मिल जाते हैं, जहाँ प्रभाआ दीर्घ ई—हि० इ—में परिणित हो गई है : दिया<दीपक दिवाली<दीपावली। ये परिवर्तन एक नियम से परिचालित दीखते हैं : दिया<दी अअ। पीछे अ+अ=आ हुआ और पूर्व का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गया। इसी प्रकार दीआउली में आ+उ=वा हुआ और पूर्व स्वर ह्रस्व हो गया। अपभ्रंश में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ प्रभाआ के असंयुक्त व्यंजन को द्वित्व करके उससे पूर्व के व्यंजन को ह्रस्व कर दिया गया है : णिच्चु<नीच; खिल्लहिं <क्रीडन्ति। पर इस प्रकार के उदाहरण हिन्दी में नही मिलते।

ये ही प्रवृत्तियाँ उ—के विकास में मिलती हैं। प्राभाआ उ—>हि० उ—:

उजला < उज्वल; कुंजी < कुञ्चिका (कूची भी)। प्रभाआ उ—>हि० अ—: ऊन < ऊर्ण। हि० अ—< प्रभाआ उ—+संयुक्त व्यंजन : दूसासन < दुःशासन, ऊपर < उप्परि < उपरि कहीं कहीं अकारण ऊ—< प्राउभाआ—की प्रवृत्ति भी मिलती है : मूसल < मुसल। कहीं कहीं हि० उ—< प्राभाआ ऊ—की प्रवृत्ति भी मिलती है : सुन्न < सुण्ण < शून्य

ए, ओ—इनको भी आरम्भ में प्रायः सुरक्षित रखा जाता है : मेह < मेघ; एक < एक; जेठ < ज्येष्ठ। जोग < योग; घोड़ा < घोटक; कोइल < कोकिल; होंठ < ओष्ठ। हि० ए—< प्राभाआ इ—+संयुक्त व्यंजन : बेल < बिल्व; सेम < शिम्बा।

हिन्दी ओ—< प्राभाआ ऊ—के उदाहरण भी मिलते हैं। पोथा < पुस्तक हिन्दी ओ—प्राभाआ के उदाहरण विरल हैं : होना < भो < ^भू—य—न।

ऐ, औ—का उच्चारण पश्चिमी हिन्दी में असंयुक्त और पूर्वी हिन्दी में संयुक्त स्वर (अ+ई) तथा (अ+ऊ) के रूप में होता है। संस्कृत ऐ और औ—को आरम्भ में सुरक्षित भी पाते हैं : बैर < वैर, चैत < चैत्र। हि० ऐ < प्राभाआ अ+तालव्य स्पर्श या स्पर्श संघर्षी अथवा अर्द्ध स्वर—य की भी प्रवृत्ति मिलती है : पैंसठ < पंचषष्ठि; रैन < रजनी; समै < समय; ऐन < अयन। हिन्दी औ—का विकास इस प्रकार हुआ है : औ—< प्राभाआ अव—: लौंग < लवंग; औ—< प्राभाआ अप—(> अव > अउ > औ) सौत < सपत्नी (> सवत्ती > सउत्ती > सौत) कौडी < प्राभाआ कपर्दिका। कुछ मध्य स्वरों के लोप से भी दो स्वर पास आकर ओ—को जन्म देते हैं : चौथा < चतुर्थ; चौदह < चतुर्दश।

आरम्भिक स्वर तथा अक्षर संस्कृत, पालि, तथा प्राकृतों में स्वरघात के अभाव में लुप्त भी हो जाते थे। हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति दीखती है। भीतर < अप० भितर प्राभाआ अभ्यन्तर; हि० भूखा < अप० भुक्खिय < बुभुक्षित; ढीला < अप० ढिल्ला < प्राभाआ शिथिल। ऊपर की स्थितियों में हिन्दी स्वरों का जो विकास हुआ है, संक्षेप में उसे यों दिखाया जा सकता है : हि० अ < सं० अ, आ, इ, ई, उ, ऋ; हि० आ < सं० आ, अ, ऋ; हि० इ < सं० इ, अ, ड, ऋ; हि० ई < सं० ई, अ, उ, ऋ; हि० उ < सं० उ, अ, अ, ऋ, उ व; हि० ऊ < सं० अ, ऊ, इ, उ, ऋ; हि० ए < सं० ए, अ, इ, उ, ऊ, ऋ, ए, ओ : ऋ का विकास हिन्दी के सभी स्वरों के रूप में हुआ है। ऋ के विकास की यही स्थिति अपभ्रंश में भी थी। संस्कृत के तत्सम शब्दों के लेखन में ऋ का प्रयोग होता है; पर उच्चारण में रि के समान ही होती हैं।

IV—**सम्पर्कित स्वर**—प्राभाआ के स्वर मध्यग अघोष स्पर्शों, ग, च, ज, त, द, प के उच्चारण की शिथिलता के कारण पहले इनका ऊष्मीकरण (Spirantigation) हुआ और अन्त में उनका व्यंजनत्व ही लुप्त हो गया। इस प्रकार उद्वृत्त स्वर परस्पर सम्पर्कित होने लगे। इसका विकास मभाआ में त्रिविध हुआ—

(१) विवृत्ति (hiatus) सुरक्षित रही।

(२) स्वरों को सुरक्षित रखने के लिए—य—,—व—,—ब—,—ह्—तथा कभी कभी—र—श्रुतियों को उनके बीच में रख दिया गया।

(३) दो स्वरों का एकीकरण।

हिन्दी की स्थिति में विवृत्ति को सुरक्षित प्रायः नहीं रखा गया। —य, -व-श्रुतियाँ अवशिष्ट रह गई (९.२.३ ङ) हिन्दी की इन श्रुतियों का विकास इसी कारण मे है। विकास के रूप को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

अ+अ : केवड़ा<मभाआ केवअ, के अ अ< के त क

उ+आ : जुआ[जु^{व}आ]<जुव,जुअ<धूत।

इ+अ : नारियल [नारि^{य}अल]णारि एल<नारिकेल

आ+अ : घाव [घा^{व}अ]<घाव, आअ<घात।

इ+आ : सियार [सि^{य}आर]<सियाल<शृगाल।

ऊ+अ,आ : पूआ [पू^{व}आ]<पूअ, पूव<पूप

आ+उ : बावल [बा^{व}उला]<बाउल, बाबुल<वातुल।

यह प्रमुख प्रवृत्ति स्वरों के एकीकरण (Contraction) की मिलती है। इस प्रवृत्ति के विकास को इस प्रकार देखा जा सकता है :—

के—जब प्रथम स्वर अ। आ होता है।

(१) अ+इ>ऐ : बैठ् <मभाआ बिइठ <प्राभाआ, उपविष्ट।

(२) अ+उ>औ : चौथ<चोत्थि <चतुर्थी : अप>औ। और<अपर।

(३) आ+अ>आ : भाण<भाजन; खाना<खाण<खादन (—आद)।

(४) अ+आ>आ : सुनार<सोण्णार<स्वर्णकार (—अका)

(५) आ+आ>आ : आर<आकार (—आका)।

(६) प्राभाआ-अय>ऐ : उज्जैन<उज्जेणि<उज्जयनी

(७) ,, अव>औ : नौन<लोण<लवण

(८) ,,-अक> आ : चम्पा<चम्पक। (इसमें [य] श्रुति नहीं)

(९) ,,-अद>आ : केला <कदली। (ऐ—[च] के कारण है)

ख-जब प्रथम स्वर इ हो—

(१)—इ+—ई—>—ई— : तीज<तृतीया

(२)—इ—+उ—>—ऊ : दूना<द्विगुण

ग—जब प्रथम स्वर उ—हो—

(१)—उ—+अ—>—उ : सुनार सोण्णार <सुवर्णकार ।

(२)—उ—+—ऊ— ऊ: अखल <उक्खल <उदूखल ।

V-सानुनासिक स्वर—उत्तर मभाआ—युग की प्रमुख विशेषताओं में स्वरों के नासिक्यीकरण की प्रवृत्ति एक है। यही प्रवृत्ति नभाआ तक विकसित हुई और हिन्दी को भी उसका भाग मिला। नासिक्यीकरण कभी स्वत: या अकारण कभी क्षतिपूरक और कभी नासिक्य ध्वनियों के प्रभाव से होता रहा। नीचे इसके कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

(१) स्वत: नासिक्यीकरण—कुछ स्थलों पर सानुनासिकता द्वित्व या संयुक्त व्यंजनों के सरली करण के पश्चात् क्षतिपूर्वक रूप में आई है। ऐसे स्थलों पर मभाआ-काल में सानुनासिक और अनासिक्य दोनों रूप मिलते हैं। साँप <सप्प < सर्प; ऊँट < उष्ट्र। आँख < अक्खि <आँख; आँच <अच्चि <अर्चिप; ऊँचा < उच्च, काँख < कक्ष; माँच < मर्जय (मृज् काणिजन्त) आँसू <अश्रु।

(२) हि ँ < प्राभाआ अनु-व्यंजन या अनुस्वार—अपभ्रंशों में मध्यम—म—>—वँ-की प्रवृत्ति मिलती है। इससे कभी—वँ—से पूर्व का स्वर सानुनासिक हो जाता है: कुंवर <कुवंर <कुमार; सांवला <सावँलअ <श्यामल। कहीं कहीं —वँ—>—उँ—होकर पूर्व—अ—से मिलकर-औं-हो गया है: भौंरा < भवँर < भ्रमर; चौंर < चवँर < चामर।

ऊपर की नासिक्यीकरण की प्रवृत्ति के साथ-साथ अनासिक्यीकरण की प्रवृत्ति भी मिलती है: बीस <विंशति; तीस <त्रिंशत; दाढ़ < डाढ़ <दंष्ट्रा।

(vi) अनुस्वार का विकास—अनुस्वार का तात्पर्य है 'पीछे की ध्वनि।' यह स्वर के पीछे की ध्वनिमानी जानी चाहिए। प्राभाआ में स्वर के साथ नासिक्य ध्वनि के स्वतंत्र संयोग के रूप में अनुस्वार का प्रयोग होता था। पर व्यवहारिक रूप में इसका प्रयोग इस प्रकार होता था—

(a) अन्त्य स्थित म् प्रत्यय की स्थिति अन्य स्थितियों में अनुस्वार के द्वारा व्यक्त की जाती थी योंग—(=योगम्) येतां—(=येताम्)

(b) वर्गीय व्यंजनों से पूर्व, मध्य मे प्रयुक्त अनुस्वर वर्गीय नासिक्य ध्वनि के रूप में उच्चरित होता था: अंक=अंक, पंच=पञ्च; पिंड=पिण्ड; इंदु=इन्दु; कंप=कम्प।

(c) जब अनुस्वार का प्रयोग अन्तस्थ या ऊष्म ध्वनियों के पूर्व होता है, तो इसका उच्चारण उन ध्वनियों के उच्चारण-स्थान के अनुसार बदलता रहता है। आज इसके उच्चारण के कई वैविध्य मिलते हैं—

य से पूर्व : ङ, म्, न्, या यँ : सङ्योग, सम्योग, सन्योग या सयँयोग।

र से पूर्व : ङ, म्, न्, या वँ : सङ राग, सम्राग, सन्राग, सवँराग।

ल से पूर्व : ङ, म्, न्, या लँ : सङलय, सम्लय, सन्लय, सलँलय।

व से पूर्व : ङ, म्, या वँ : सङ्वाद, सम्वाद, सवँवाद।

श से पूर्व : ङ, म्, न्, या वँ : अङ्श, अम्श, अन्श, अवँश।

ष से पूर्व : ङ, म्, स्वर का नासिक्यीकरण या, वँ : हवीङ्षि, हवीम्षि, हविंइषि, या हवीवँइवँषि।

स से पूर्व : ङ, म, न, या वँ : सङ्सार, सम्सार, सन्सार, सवँसार।

ह् से पूर्व : ङ, म, न, या वँ : सिङ्ह, सिम्ह, सिन्ह, सिवँह।

भारत के विभिन्न भागों में यह त्रैविध्य आज भी संस्कृत के उच्चारण के साथ मिल जाता है। हिन्दी में इसका रूप इस प्रकार मिलता है।

(a) वर्गीय व्यंजनों से पूर्व प्रयुक्त होने पर अनुस्वार का उच्चारण उस वर्ग के नासिक्य व्यंजन के समान होता है: पंख (=पङ्ख) कंठ (=कण्ठ) परंतु (=परन्तु), कंजूस (=कञ्जूस), संपति (=सम्पत्ति) सामान्यत: इस प्रकार के शब्द व्यंजनांत उच्चरित होते हैं, पर अनुस्वार के प्रभाव से अन्त्य अकार उच्चरित होता है। कुछ उदाहरणों में नासिक्यी कृत स्वर भी मिलता है: रँग (=रङग) ऐसे उदाहरण बोलियों में विशेष मिलते हैं।

(b) संस्कृत तत्सम शब्दों में अन्तस्थ और ऊष्म से पूर्व प्रयुक्त होने पर अनुस्वार का उच्चारण, संस्कृत से भिन्न है। भारत के भिन्न-भिन्न भागों के संस्कृत उच्चारण की भिन्नता से भी वहाँ का हिन्दी उच्चारण प्रभावित हुआ है। सामान्यत: य, र, ल, श, स, तथा ह से पूर्व इसका उच्चारण न् के समान होता है: संयोग (=सन्योग) संराग (सन्राग) संलग्न (=सन्लग्न) संशय (=सन्शय) अहिंसा (अहिन्सा) हिंस (=सिनह) व से पूर्व प्रयुक्त होने पर इसका उच्चारण म् के समान होता है: संवाद (=सम्वाद)। कुछ उदाहरण नासिक्यीकृत स्वर के साथ मिलते हैं: कुंवारी (कुँवारी)।

(xii) विसर्ग का विकास—संस्कृत विसर्ग का उच्चारण भी भारत के भिन्न-भिन्न भागों में एकसा नहीं है।—

(a) जिस अक्षर के साथ यह प्रयुक्त होता है, उसके उच्चारण के पश्चात् शुद्ध महाप्राण के समान इसका उच्चारण मिलता है. देव: (devah) गुरु: (guruh)। मध्य में भी हकार के समान इसका उच्चारण मिलता है: दु:ख (duhkh) तप:सु (tepeshsu)

(b) अन्त्यस्थिति में इसके हकार जैसे उच्चारण के पश्चात कभी कभी इसके पूर्व स्थित स्वर के अति लघ्वच्चरित रूप की आवृति भी मिलती है। गुरु: ($guruh^{u}$) कवि: ($kavih^{i}$)

हिन्दी में इसका प्रयोग प्राय: समाप्त हो गया है। संस्कृत तत्समों के लेखन में विसर्ग का प्रयोग किया जाता है। मध्य के अक्षर के पश्चात् प्रयुक्त होने पर अधिकांश, इसके प्रभाव से इसके बाद का व्यंजन द्वित्व उच्चरित होता है: दु:ख (=दुक्ख)

अन्तःकरण (=अन्तक्करण या अन्तह् करण) अन्त्य प्रयुक्त होने पर विसर्ग=हः पुनः (=पुनह्) अतः (=अतह्)। एकाध उदाहरण में इसका उच्चारण या तो समाप्त हो जाता है या ऐ के समानः छः (=छै) :

(viii) **हिन्दी स्वर-परिवर्तन के अन्य रूप**—इस शीर्षक में स्वरागम के रूपों पर विचार किया गया है।

(क) **आदि स्वरागम**—आदि स्वरागम की प्रवृत्ति मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल में विशेष विकसित नहीं थी। क्योकि उस स्थिति में स्क, स्त, स्प, स्म, स्न का या तो समीकरण हो गया था, या ख, थ, (ठ), फ, तथा न्ह् में विकसित हो गये। कभी-कभी समीकृत रूपों से पूर्व स्वरागम हो जाता था : अप इत्तिय<स्त्रीक। हिन्दी में संस्कृत तत्समों में उक्त संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण से पूर्व पढ़े लिखों के द्वारा अत्यल्प मात्रा वाला तथा अपढ़ लोगों के द्वारा स्पष्ट स्वरागम सुनाई पड़ता है। स्कन्ध (=इस्कन्ध) स्तुति (=इस्तुति) स्पर्श (इस्पर्श) स्मरण (इस्मरण), स्नान (इस्नान)।

(ख) **मध्यस्वरागम** (Anaptyxis) यह प्रवृत्ति साहित्यिक प्राकृतों और अपभ्रंश में पर्याप्त मिलती है। वहाँ इसके उदाहरण बहुधा अर्द्ध तत्समों के रूप में प्राप्त होते हैं। इसके उदाहरण विशेषतः ऐसे स्थलों पर मिलते हैं जहाँ व्यंजन-गुच्छ के=द्वितीय वर्ण-ल या-र होते हैं। इसके कुछ चिन्ह वैदिक भाषा में भी मिलते हैं : इन्दर (=इन्द्र) दरशत (दर्शत्) जैसे उच्चारणों का उल्लेख प्रातिशाख्यों में मिलता है। संस्कृत में भी पृथिवी (पृथ्वी) और सुवर्ण (स्वर्ण) जैसे शब्द मिल जाते हैं। पुरानी हिन्दी में ऐसे पर्याप्त शब्द मिलते हैं : रतन (रत्न) धरम (धर्म) धनिया (धन्या) आदि। व्यंजन गुच्छों के सरलीकरण की प्रवृत्ति ने स्वरभक्ति या विप्रकर्ष को रोका, पर तत्सम शब्दों के आकर्षण ने इसकी आवश्यकता बनी रहने दी। कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं—अ—का आगमन करम् (=कर्म) बजरंग (बज्रांग) सनेह (स्नेह)। विदेशी शब्दों में भी—अ—का आगमन मिलता है गरम (गर्म) तखत् (तख्त) बकस (बक्स)।—इ—का आगमन : किरिया (क्रिया) तिरिया (त्रिया) —उ—का आगमन : सुवरन (स्वर्ण) सुमिरन (स्मरण)।

१०.२३.२. हिन्दी-व्यंजन—भारोपीय भाषा से लेकर अपभ्रंश तक के विकास पर संक्षेप में विचार किया जा चुका है (९.१.१, तथा ९.२) यहाँ हिन्दी-व्यंजनों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्गीकरण दिया जा रहा है। भारतीय आचार्यों ने व्यंजनों का वर्गीकरण कण्ठ से आरम्भ किया था, पर नीचे ओष्ठ्य ध्वनियों से यह आरंभ किया गया है—

			द्व्योष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	वर्त्स्य तालव्य	मूर्द्धन्य	कोमलतालु कण्ठ्य	जिह्वा मूलीय	स्वरयंत्र-मुखी
स्पर्श	अघोष	अल्प प्राण	प		त			ट	क	(क़)	
		महा प्राण			थ			ठ			
	सघोष	अल्प प्राण	ब		द				ग		
		महा प्राण	भ		ध			ढ	घ		
स्पर्श संघर्षी	अघोष	अल्प प्राण									
		महा प्राण					छ				
	सघोष	अल्प प्राण									
		महा प्राण					झ				
संघर्षी	अघोष			फ़		स	श			(ख़)	
	सघोष			[व़]						(ग़)	ह् (:) ह्
अनुनासिक [सघोष]	अल्प प्राण		म			न		[ण]		[ङ]	
	महा प्राण		[illegible]			न्ह					
पार्श्विक [सघोष]	अल्प प्राण										
	महा प्राण					[ल्ह]					
लुंठित [सघोष]	अल्प प्राण					र					
	महा प्राण					[र्ह]					
उत्क्षिप्त [सघोष]	अल्प प्राण							[ड़]			
	महा प्राण							[ढ़]			
[illegible] अर्द्धस्वर			[ब]				य				

उक्त तालिका के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ आवश्यक है । ओष्ठ्य ध्वनियाँ संस्कृत के समान हैं : केवल अनुनासिक म का महाप्राण रूप म्ह नवीन विकसित ध्वनि है । दन्तध्वनियों में भी विशेष अन्तर नहीं है : केवल न, न्ह का उच्चारण वर्त्स्य हो गया है । वर्त्स्य-तालव्य अनुनासिक ञ परम्परामुक्त वर्णमाला में सम्मिलित किया जाता है, पर इसकी स्थिति स्वतंत्र ध्वनि ग्राम जैसी नहीं रही । मूर्द्धन्य ध्वनियाँ ज्यों की त्यों हैं : केवल उत्क्षिप्त ड़/ढ़ नवीन विकसित ध्वनियाँ हैं । कण्ठ्य अनुनासिक—ङ भी स्वतंत्र ध्वनिग्राम नहीं रहा । ऊष्म मूर्द्धन्य ष लिखा तो जाता है, पर उसका उच्चारण श जैसा हो गया है । क़, ख़, ग़, ज़, ध्वनियाँ फ़ारसी से आगत हैं : इनका प्रयोग फ़ारसी-तत्समों के उच्चारण में शिष्टों के द्वारा होता है । नीचे इन ध्वनियों का विवरण दिया जा रहा है । ( ) इस कोष्ठक में बद्ध ध्वनियाँ आगत हैं तथा [ ] कोष्ठक बद्ध ध्वनियाँ संस्वनात्मक स्थिति में हैं ।

(i) हिन्दी की व्यंजन ध्वनियों के ध्वनिग्रामों की सुनिश्चिति के लिए नीचे स्वल्पान्तर युग्म दे देना समीचीन होगा—

फल बात कुमार फलक ताली दान सर (सिर) काना लात
फ़ल भात कुम्हार फ़लक थाली बान ज़र (सोना) कान्हा रात
टाट डाल काल कडाई गाम यार साल सजा-(ना) नाता
ठाट ढाल खाल कढ़ाई घाम वार हाल सज़ा माता

कुछ विदेशी ध्वनियों के स्वल्पान्तर युग्म नहीं मिलते । न । ण के स्वल्पान्तर युग्म भी सम्भवतः अप्राप्य हैं । ड । ड़, ढ । ढ़ के संबंध में आगे विचार किया गया है । क़ । क, ग । ग़ का स्वतंत्र-वैविध्य (free Variation) । शेष ध्वनिग्रामों का विवरण और संस्वनात्मक वैविध्य (Allophonic Variations) क्रमशः नीचे दिये जा रहें हैं ।

(ii) स्पर्श ध्वनिग्राम

(क) ओष्ठ्य—प्राचीन आचार्यो ने इनका उच्चारण स्थान होंठ ही माना है ।[1] ऊपर के होंठ को स्थान के रूप में निरूपित किया गया है । इनके उच्चारण में होंठों के स्पर्श और कोमल तालु के ऊपर उठने से पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता है । फेफड़ों से श्वास के आने से हवा का दबाव बढ़ जाता है । फिर मार्ग को झट खोलने से स्फोट होता है : फलतः ओष्ठ्यध्वनियाँ उच्चरित हो जाती हैं ।

(प)—यह अघोष, अल्पप्राण, ओष्ठ्य स्पर्श ध्वनि है ; (फ) यह अघोष, महाप्राण, ओष्ठ्य स्पर्श ध्वनि हैं,

(ब) सघोष, अल्पप्राण, ओष्ठ्य स्पर्श; (भ) सघोष, महाप्राण, ओष्ठ्य स्पर्श । इनकी संस्वनात्मक स्थिति इस प्रकार है—

[1] तैत्ति० प्रा० २-३६

(प्)=[प्]—अरेचक, द्वयोष्ठ्य, अघोष, स्पर्श। इसका प्रयोग उच्चारान्त होता है : (चुप्) 'चुप' व्यजन द्वित्व में भी प्रथम [प्] अरेचक होता है [चप्प<ल] 'चप्पल'।

(प्<)—रेचक, द्वयोष्ठ्य, अघोष, स्पर्श। इसका प्रयोग अन्यत्र होता है : (प<अत्र) 'पत्र' (कप्<अड़ा) 'कपड़ा'।

(ब)=[ब्]—आतत (Tense) द्वयोष्ठ्य सघोष स्पर्श। इसका प्रयोग पदारम्भ में, द्वित्व के द्वितीय अंश में, तथा अन्य संयुक्त रूप मे प्रयोग होने पर होता है : बात (ब् आत) घब्बा (घ ब् ब् आ) लम्बा [ल म् ब आ] यह रेचन युक्त ही होता है।

=[ब्]—शिथिल (lax) द्वयोष्ठ्य, सघोष, स्पर्श : इसका प्रयोग, बहुधा पद के मध्य में होता है (खब्< र) 'खबर'। यह भी रेचन युक्त होता है।

=[ब्]—अरेचक द्वयोष्ठ्य, सघोष, स्पर्श: इसका प्रयोग उच्चारान्त होता है : सब (सब्<अ)

(फ)=[फ]—द्वयोष्ठ्य, अघोष, महाप्राण, स्पर्श तथा सघोष महाप्राणत्व के साथ। इसका प्रयोग पद के आरम्भ तथा मध्य मे उच्च अग्र स्वरों के पूर्व होता है : फूल (फऊल) सफल (सफअल)

=[फ्]—द्वयोष्ठ्य, अघोष, अघोष महाप्राण से युक्त। इसका प्रयोग अन्यत्र होता है, बहुधा पदान्त में : साफ (साफ्)

(भ)=[भ]—द्वयोष्ठ्य, सघोष, सघोष महाप्राणत्व से युक्त स्पर्श व्यंजन। इसका प्रयोग पदारम्भ में भात (भ आ त) तथा मध्य में उच्च-अग्र स्वरों से पूर्व लोभी (लो भ ई) होता है।

[भ्]—द्वयोष्ठ्य, सघोष, अघोष महाप्राणत्व से युक्त, स्पर्श व्यंजन। इसका प्रयोग पद के अन्त में होता है : लाभ (लाभ्)

(ख) दन्त्य—प्राचीन आचार्यों ने इसका स्थान दन्त माना है। जिह्वाग्र इनका करण माना गया है[1] अथर्व प्रातिशाख्य में जिह्वाग्र के प्रस्तीर्ण होने की बात कही है। अत: इन ध्वनियों के अग्रदन्त्य पश्चदन्त्य, तथा पूर्ण दन्त्य संस्वनों की स्थिति सिद्ध हो जाती है। आधुनिक उच्चारण में ये संस्वनात्मक भेद मिलते है। नीचे इनका विवरण दिया गया है।

(त्)=[त]—अग्र-पूर्णदंत्य, अघोष अल्पप्राण स्पर्श। इसका प्रयोग द्वित्व में तथा।थ्। के पूर्व होता है : पत्ता [पत्ता] जत्था [जत्थ्आ] 'जत्था'

=[त्]—पश्चदन्त्य, अघोष, अल्पप्राण, स्पर्श व्यंजन। इसका प्रयोग।न्। के पश्चात् होता है। अन्त [अन्तअ] सन्त [सन्तअ]

[1] वाज० प्रा० १-७६

उक्त तालिका के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ आवश्यक हैं। ओष्ठ्य ध्वनियाँ संस्कृत के समान हैं : केवल अनुनासिक म का महाप्राण रूप म्ह नवीन विकसित ध्वनि है। दन्तध्वनियों में भी विशेष अन्तर नहीं है : केवल न, न्ह का उच्चारण वर्त्स्य हो गया है। वर्त्स्य-तालव्य अनुनासिक ञ परम्परामुक्त वर्णमाला में सम्मिलित किया जाता है, पर इसकी स्थिति स्वतंत्र ध्वनि ग्राम जैसी नहीं रही। मूर्द्धन्य ध्वनियाँ ज्यों की त्यों हैं : केवल उत्क्षिप्त ड़/ढ़ नवीन विकसित ध्वनियाँ हैं। कण्ठ्य अनुनासिक—ङ भी स्वतंत्र ध्वनिग्राम नहीं रहा। ऊष्म मूर्द्धन्य ष लिखा तो जाता है, पर उसका उच्चारण श जैसा हो गया है। क़, ख़, ग़, ज़, ध्वनियाँ फ़ारसी से आगत हैं : इनका प्रयोग फारसी-तत्समों के उच्चारण में शिष्टों के द्वारा होता है। नीचे इन ध्वनियों का विवरण दिया जा रहा है। (   ) इस कोष्ठक में बद्ध ध्वनियाँ आगत हैं तथा [   ] कोष्ठक बद्ध ध्वनियाँ संस्वनात्मक स्थिति में हैं।

(i) हिन्दी की व्यंजन ध्वनियों के ध्वनिग्रामों की सुनिश्चिति के लिए नीचे स्वल्पान्तर युग्म दे देना समीचीन होगा—

फल बात कुमार फलक ताली दान सर (सिर) काना लात
फ़ल भात कुम्हार फ़लक थाली बान जर (सोना) कान्हा रात
टाट डाल काल कडाई गाम यार साल सजा-(ना) नाता
ठाट ढाल खाल कढ़ाई घाम वार हाल सज़ा माता

कुछ विदेशी ध्वनियों के स्वल्पान्तर युग्म नहीं मिलते। न। ण के स्वल्पान्तर युग्म भी सम्भवत: अप्राप्य हैं। ड। ड़, ढ। ढ़ के संबंध में आगे विचार किया गया है। क़। क, ग। ग़ का स्वतंत्र-वैविध्य (free Variation)। शेष ध्वनिग्रामों का विवरण और संस्वनात्मक वैविध्य (Allophonic Variations) क्रमश: नीचे दिये जा रहे है।

(ii) स्पर्श ध्वनिग्राम

(क) ओष्ठ्य—प्राचीन आचार्यों ने इनका उच्चारण स्थान होंठ ही माना है।[1] ऊपर के होंठ को स्थान के रूप में निरूपित किया गया है। इनके उच्चारण में होंठों के स्पर्श और कोमल तालु के ऊपर उठने से पूर्णत: अवरुद्ध हो जाता है। फेफड़ों से श्वास के आने से हवा का दबाव बढ़ जाता है। फिर मार्ग को झट खोलने से स्फोट होता है : फलत: ओष्ठ्यध्वनियाँ उच्चरित हो जाती हैं।

(प)—यह अघोष, अल्पप्राण, ओष्ठ्य स्पर्श ध्वनि है ; (फ) यह अघोष, महाप्राण, ओष्ठ्य स्पर्श ध्वनि हैं,

(ब) सघोष, अल्पप्राण, ओष्ठ्य स्पर्श; (भ) सघोष, महाप्राण, ओष्ठ्य स्पर्श। इनकी संस्वनात्मक स्थिति इस प्रकार है—

[1] तैत्ति० प्रा० २-३६

(प्)=[प्]—अरेचक, द्वयोष्ठ्य, अघोष, स्पर्श। इसका प्रयोग उच्चारान्त होता है : (चुप्) 'चुप' व्यजन द्वित्व में भी प्रथम [प्] अरेचक होता है [चप्प<ल] 'चप्पल'।

(प्<)—रेचक, द्वयोष्ठ्य, अघोष स्पर्श। इसका प्रयोग अन्यत्र होता है : (प<अ त्र) 'पत्र' (कप्<अड़ा) 'कपड़ा।

(ब)=[ब्]—आतत (Tense) द्वयोष्ठ्य सघोष स्पर्श। इसका प्रयोग पदारम्भ मे, द्वित्व के द्वितीय अश में, तथा अन्य संयुक्त रूप मे प्रयोग होने पर होता है : बात (ब् आत) धब्बा (ध ब् ब् आ) लम्बा [ल म् ब आ] यह रेचन युक्त ही होता है।

=[ब्]—शिथिल (lax) द्वयोष्ठ्य, सघोष, स्पर्श : इसका प्रयोग, बहुधा पद के मध्य में होता है (खब्<र) 'खबर'। यह भी रेचन युक्त होता है।

=[ब्—अरेचक द्वयोष्ठ्य, सघोष, स्पर्श: इसका प्रयोग उच्चारान्त होता है : सब (सब्<अ)

(फ)=[फ]—द्वयोष्ठ्य, अघोष, महाप्राण, स्पर्श तथा सघोष महाप्राणत्व के साथ। इसका प्रयोग पद के आरम्भ तथा मध्य मे उच्च अग्र स्वरो के पूर्व होता है : फूल (फऊल) सफल (सफअल)

=[फ्]—द्वयोष्ठ्य, अघोष, अघोप महाप्राण से युक्त। इसका प्रयोग अन्यत्र होता है, बहुधा पदान्त में : साफ (साफ्)

(भ)=[भ]—द्वयोष्ठ्य, सघोष, सघोष महाप्राणत्व से युक्त स्पर्श व्यंजन। इसका प्रयोग पदारम्भ में भात (भ आ त) तथा मध्य में उच्च-अग्र स्वरों से पूर्व लोभी (लो भ ई) होता है।

[भ्]—द्वयोष्ठ्य, सघोष, अघोष महाप्राणत्व से युक्त, स्पर्श व्यंजन। इसका प्रयोग पद के अन्त में होता है : लाभ (लाभ्)

(ख) दन्त्य—प्राचीन आचार्यों ने इसका स्थान दन्त माना है। जिह्वाग्र इनका करण माना गया है[१] अथर्व प्रातिशाख्य में जिह्वाग्र के प्रस्तीर्ण होने की बात कही है। अत: इन ध्वनियों के अग्रदन्त्य पश्चदन्त्य, तथा पूर्ण दन्त्य संस्वनों की स्थिति सिद्ध हो जाती है। आधुनिक उच्चारण में ये संस्वनात्मक भेद मिलते है। नीचे इनका विवरण दिया गया है।

(त्)=[त]—अग्र-पूर्णदंत्य, अघोष अल्पप्राण स्पर्श। इसका प्रयोग द्वित्व में तथा । थ्। के पूर्व होता है : पत्ता [पत्ता] जत्था [जत्थ्आ] 'जत्था'

=[त्]—पश्चदन्त्य, अघोष, अल्पप्राण, स्पर्श व्यंजन। इसका प्रयोग ।न्। के पश्चात् होता है। अन्त [अन्तअ] सन्त [सन्तअ]

---

[१] वाज० प्रा० १-७६

=[त्]—अग्र दन्त्य, अघोष, अल्पप्राण, स्पर्श। इसका प्रयोग अन्यत्र होता है : तलवार [त्अलवार] अन्त में यह अरेचक (unreleased) हो जाता है।

(थ्)=[थ]—अग्र पूर्ण दन्त्य, अघोष, महाप्राण, स्पर्श। इसका प्रयोगा।त्। के पश्चात् होता है। पत्थर [पत्थ्र]कत्था [क त् था]।

=[थ]—पश्च दन्त्य, अघोष, महाप्राण, स्पर्श। इसका प्रयोग न-के पश्चात् होता है : पन्थ[पन्थ]

=[थ्]—अग्र दन्त्य, अघोष, महाप्राण, स्पर्श। इसका प्रयोग अन्यत्र होता है।

(द) =[द]—अग्र पूर्ण दन्त्य, सघोष, अल्पप्राण, स्पर्श। इसका प्रयोग द्वित्व में अथवा ध से पूर्व होता है : गद्दा (गद्द्आ) सिद्ध (सि द् ध)

=[द]—पश्च दन्त्य, सघोष, अल्पप्राण, स्पर्श। इसका प्रयोग न्- के पश्चात् होता है। गन्दा (गन्दआ)

=[द्]—अग्र दन्त्य, सघोष, अल्पप्राण स्पर्श। इसका प्रयोग अन्यत्र होता है। अन्त्य प्रयुक्त होने पर अरेचक रूप भी रहता है।

(ध)=[ध]—अग्र पूर्ण दन्त्य, सघोष, महाप्राण, स्पर्श। इसका प्रयोग द के पश्चात् होता है : अद्धा (अद्धआ) गिद्ध (गि द् ध)

=[धृ]—पश्च दन्त्य, सघोष, महाप्राण, स्पर्श इसका प्रयोग न्- के पश्चात् होता है। अन्धा (अन्ध आ)

=[ध्]—अग्र दन्त्य, सघोष, महाप्राण, स्पर्श। इसका प्रयोग अन्यत्र होता है।

[ग] मूर्द्धन्य—मूर्द्धा का अर्थ है सिर। इन ध्वनियों का स्थान मूर्द्धा बताया गया है तथा करण जिह्वाग्र।[1] पाणिनिशिक्षा (१३) में मर्धा के स्थान पर 'शिरस' का प्रयोग भी मिलता है। साथ ही करण के रूप में उपजिह्वाग्र शब्द भी आया है।[2] उपजिह्वा से जिह्वा की नोंक या उसके नीचे का भाग अर्थ लिया जा सकता है। वस्तुतः जीभ की नोंक का उलटकर, उसके नीचे के भाग से कठोर ताल के मध्यभाग के निकट स्पर्श करके इन ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है। इनका संस्वनात्मक विवरण नीचे दिया जा रहा है—

(ट)=[ट]—अग्रवर्त्स्य, मूर्द्धन्य, अघोष, अल्पप्राण स्पर्श, व्यंजन। इसका प्रयोग स् के पश्चात् होता है : मास्टर (मा स् ट्र अ र)

---

[1] मूर्धन्याना जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम् अथर्व० प्रा० १।२२

[2] आपि० प्रा० २।६-७

=[ट]—पश्चवत्सर्य-मूर्द्धन्य, अघोष, अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन। इसका प्रयोग ण् के
>
पश्चात होता है। कण्टक (क ण् ट्र अ क)

=[ट्]—वत्सर्य मूर्द्धन्य, अघोष, अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन। इसका प्रयोग अन्यत्र होता है।

(ठ)=[ठ]—पश्च वत्सर्य-मूर्द्धन्य, अघोष, महाप्राण स्पर्श व्यंजन। इसका प्रयोग ण् के
>
पश्चात् होता। कण्ठ (क ण् ठ)

=[ठ्]—वत्सर्य-मूर्द्धन्य, अघोष, महाप्राण स्पर्श व्यंजन। इसका प्रयोग अन्यत्र होता है।

(ड)=[ड]—पश्च-वत्सर्य-मूर्द्धन्य, सघोष, अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन इसका प्रयोग ण् के
>
पश्चात् होता है। ठण्डा (ठं णा ड आ) झण्डा (झ ण् ड् आ) इसके उच्चारण में जिह्वा सीधी रहती है।

=[ड्]—वत्सर्य-मूर्द्धन्य सघोष, अल्प प्राण स्पर्श व्यंजन। उच्चारण में जीभ सीधी रहती है।

[ड] तथा [ड़]=—वत्सर्य मूर्द्धन्य, सघोष, अल्पप्राण उत्क्षिप्त है। उच्चारण में जिह्वा फल क मुड़ता है।

इन दोनों को स्वतंत्र ध्वनि ग्राम मानने में एक कठिनाई तो यह है कि इनके स्वल्पान्तर युग्म नहीं मिलते। दूसरी बात यह है कि सभी प्रयोग स्थितियों में इनका परिपूरक वितरण मिलता है। केवल कुछ संस्कृत और अँग्रेजी के आगत शब्दों के आधार पर ही इनको स्वतंत्र ध्वनिग्राम माना जाना है। संस्कृत के आगत शब्दों के सम्बन्ध में तो कुछ नियम भी निर्धारित्त किए जा सकते हैं। इनके प्रयोग की परिपूरक परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं :

= श्री विद्याभास्कर अरुण इसको स्वतंत्र ध्वनिग्राम मानते हैं (A comparative Phonology of Hindi and Panjabi p. 6) डा० कैलाशचन्द्र भाटिया ने इसे संस्वन ही माना है (डा० उदयनारायण तिवारी भाषा शास्त्र की रूप रेखा पृ.२१६) डा. उदयनारायण तिवारी ने लिखा है सोड़ा तथा रेडियो आदि शब्दों के प्रचलन के पूर्व । ड़। तथा । ड। एक ही ध्वनिग्राम के सहस्वन थे (वही, १२२) अतः अब वे इसे स्वतंत्र ध्वनिग्राम मानते हैं। किन्तु उपयुक्त दो शब्दों के प्रचलन के फलस्वरूप । ड । तथा । ड़ । पृथक-पृथक ध्वनिग्राम हो गए क्योंकि उनका वितरण व्यतिरेकी हो गया।

हिन्दी की बोलियों में ये शब्द । ड़। से युक्त करके ही बहुधा बोले जाते हैं। तिवारी जी इन शब्दों के अतिरिक्त निडर आडम्बर जैसे शब्द भी मिल सकते थे। पर यह बलाघात की स्थिति है।

(१) [ड्] का प्रयोग पद के आरम्भ में होता है : । डर । पर [ड़] का प्रयोग इस स्थिति में नहीं होता है ।

(२) [ड] का प्रयोग पद के मध्य में इन स्थितियों में होता है : । ड । तथा । म् । के पूर्व । जैसे । बुड्ढा ।, । कुड्मल ।; । ण् । के पश्चात् । पंडित ।; कुछ सानुनासिक स्वरों के पश्चात् : । नँडेरी । तथा । मूँडना । ~ । मूँढ़ना ।; द्वित्व के रूप में । गड्डी । या । कबड्डी । पर इन परिस्थितियों में [ड़] का प्रयोग नहीं हो सकता । इनके अतिरिक्त अन्य परिस्थितियों में [ड़] का प्रयोग मध्यम में हो सकता है । ये परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं : (a) अघोष स्पर्शों तथा तथा [न] से पूर्व । हड़ताल ।, । उड़ना । आदि (b) [म] तथा अघोष तथा सघोष स्पर्शों के तथा । न् । के पश्चात् । नम्डा ।. अक्ड़ा । ~ । । छकडा ।: । झगड़ा । ~ । झगड़ा ।. । पल्ड़ा । । पल्डा ।. (c) स्वर मध्यवर्ती । उड़ाना ।, लड़ना । आदि ।

(३) [ड] का अन्त्य स्थिति में मूर्द्धन्य नासिक्य व्यंजन के पश्चात् तथा दीर्घ सानुनासिक स्वर के पश्चात् होता है । सानुनासिक स्वर के पश्चात् स्वतंत्र वैविध्य मिलता है । । दण्ड् ।; । खाँड् ' ~ । खाँड़ । [ड़] का प्रयोग अन्त में इन स्थितियों में नहीं होता है । इसका प्रयोग पद के अन्त में केवल ह्रस्व या दीर्घ स्वर के पश्चात् होता है : (भेड़), (मोड़) (रगड़) आदि ।

संस्कृत से आगत तत्सम शब्द ये हैं : । आडम्बर ।, विडम्बना ।,

इनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इन शब्दों का प्रयोग बहुधा उच्च वर्गों या साहित्य में ही मिलता है । साथ ही इन पर बलाघात । ड । पर है । इससे सहारा पाकर । ड । का पद के मध्य में स्वर मध्यवर्ती प्रयोग हो रहा है । । निडर ।, । सुडौल । जैसे सामान्य शब्दों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये संयुक्त शब्द हैं : नि+डर, तथा सु+डौल, अ+डिग आदि । संयुक्त होने के कारण बीच में अत्यल्प अवकाश (Pause) का अनुमान लगाया जा सकता है ।

कुछ शब्दों में । ड । तथा (ड़) का स्वतंत्र वैविध्य मिलता है । । गडरिया । ।~। गड़रिया ।, । लाड । ।, स्वतंत्र वैविध्य शब्दों के मध्य तथा अन्त में मिलता है । यह इन उदाहरणों से स्पष्ट है ।

अँग्रेजी के आगत शब्दों से परिपूरक वितरण कुछ बाधित होता है । जैसे । सोड़ा । ~ । रेडियो । आदि । पर इनकी संख्या इतनी अधिक नहीं है । साथ ही कुछ कम पढ़े लिखे लोगों से लेखक ने इन शब्दों के उच्चारण में (ड़) ही सुना है ।

। ढ । = [ढ]—वर्त्स्य-मूर्धन्य, सघोष, महाप्राण, स्पर्श व्यंजन । इसका प्रयोग केवल पद आरम्भ में होता है; पद के मध्य में केवल ड से युक्त होकर यह प्रयुक्त हो सकता है, असंयुक्त रूप में नहीं । इसके उच्चारण में जिह्वा फलक सीधा रहता है: ढाल, गड्ढा (गड्ढा)

= [ढ़]—वर्त्स्य-मूर्धन्य, सघोष, महाप्राण उत्क्षिप्त व्यंजन । इसका प्रयोग केवल पद के मध्य और अन्त में होता है: चढ़ाई, बढ़ना । बढ़ दृढ़ ।

(घ) **कण्ठ्य**—नाम के इन ध्वनियों का स्थान कण्ठ् लगता है। कई हिन्दी-व्याकरणकारों और भाषाविज्ञानियों ने शिक्षा ग्रंथों[१] तथा सिद्धान्त कौमुदी[२] का अन्धानुकरण करके इन ध्वनियों का स्थान कंठ मान लिया है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में इसका स्थान जिह्वामूल बताया गया है। पर वस्तुतः जिह्वामूल स्थान नहीं, करण है। इसका स्थान हनुमूल (कोमल तालु का पिछला भाग) है।[३] प्रातिशाख्य में कोमल-तालु को भी जिह्वामूल कह दिया गया है।[४] तमिल वैयाकरण पवणन्दि ने अपने व्याकरण 'नन्नूल' में भी जिह्वा के पश्चभाग के तालु के पश्चभाग से संस्पृष्ट होने के परिणाम स्वरूप कवर्ग-ध्वनियों की उत्पत्ति माना है।[५] इस प्रकार जिह्वामूल, हनुमूल से संस्पृष्ट होकर इन ध्वनियों का उत्पादन करता है। इन ध्वनियों का संस्वनात्मक विवरण इस प्रकार है।

(क)=(क)—जिह्वा-हनु-मूलीय, अघोष अल्पप्राण व्यंजन। इसका प्रयोग पदारम्भ, पद—मध्य, तथा पदान्त हो सकता है: काम, शकर, नाक। केवल अन्त्य प्रयोग अरेचक (unreleased) हो सकता है। अतः यह एक संस्वन हो सकता है।

(ख)=(ख)—जिह्वा-हनु-मूलीय अघोष, महाप्राण व्यंजनः सघोष महा प्राण से युक्त, इसका प्रयोग पद के आरम्भ और मध्य में होता है: खीर (ख ई र) रखैल (र ख ऐ ल)।

=(ख्)—जिह्वा-हनु-मूलयी, अघोष, महाप्राण (अघोष महाप्राण से युक्त) व्यंजन ध्वनि। इसका प्रयोग पदान्त में होता है। साख (साख्)

(ग्)=(ग्)—जिह्वा-हनुमूलीय, सघोष अल्पप्राण व्यंजन। इसका प्रयोग पदारम्भ, पद-मध्य तथा पदान्त में होता है: गरम, पागल, आग।

(घ)=(घ)—जिह्वा हनुमूलीय, सघोष महाप्राण व्यंजन: सघोष महाप्राणत्व से युक्त इसका प्रयोग पद के आरम्भ और मध्य में होता है: घर (घ अ र) सघन (स घ अ न)

---

१ आपिशलि शिक्षा २।७

२ अकुह विसर्जनीयानां कंठ।

तैत्ति० प्रा० २। ३५

जिह्वामूल, जिह्वामूलेन् क वर्गं स्पर्शयन्ति। वही २।३७

डा० सिद्धेश्वर वर्मा द्वारा उद्धृत हिन्दी अनुशीलन डा० धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक पृ० ५२।

=(घ्)—जिह्वा हनुमूलीय सघोष, महाप्राण व्यंजन : अघोष महाप्राणत्व से युक्त इसका प्रयोग पदान्त में होता है : घाघ (घ आ घ्) [वाघ बा घ् अ्]

(iii) **स्पर्श संघर्षी**—प्राचीन आचार्यों ने इन ध्वनियों का उच्चारण स्थान तालू और करण जिह्वा मध्य माने गये हैं।[१] आजकल इस वर्ग की ध्वनियों का उच्चारण पूर्व-तालव्य स्पर्श संघर्षी माना जाता है। (Prepalatal offricates) पूर्वाचार्यों ने इन्हें स्पर्श ही माना है। वस्तुतः इन ध्वनियों का उच्चारण भी स्पर्श ध्वनियों के समान ही है। अन्तर केवल इतना है कि स्पर्शों के उच्चारण की भाँति इन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ झटके के साथ स्पर्श-स्थान से अलग न होकर धीरे-धीरे अलग होती है। फलतः कुछ रगड़ होती है और कुछ संघर्ष श्रव्य होता है। इस प्रकार इन ध्वनियों के उच्चारण में दो प्रयत्नों का मिश्रण रहता है। आजकल स्पर्श-संघर्षी ध्वनियों का उच्चारण ट वर्गीय व्यंजनों की अपेक्षा कुछ आगे की ओर होता है। किन्तु प्राभाआ-काल में सम्भवतः कुछ पीछे की ओर होता था। इसीलिए इनकी स्थिति वर्ण-वर्गीकरण में मूर्द्धन्यों से पहले होती थी। इन ध्वनियों का संस्वनात्मक विवरण इस प्रकार हैं।

(च)=[च] पूर्वतालव्य, अघोष, अल्प प्राण, स्पर्श संघर्षी व्यंजन। इसका प्रयोग पद, के आरंभ, मध्य और अन्त में हो सकता है : चोर, कच्चा, सच।

(छ)=[छ्] पूर्वतालव्य, अघोष, महाप्राण, स्पर्श संघर्षी व्यंजन। इसका प्रयोग पद के आरंभ, मध्य और अन्त में होता है : छापना, बीछ्, कुछ।

(ज)=[ज्] पूर्वतालव्य, सघोष, अल्पप्राण, स्पर्श संघर्षी व्यंजन। इसका प्रयोग भी पद में प्रत्येक स्थिति में संभव है। जाड़ा. काजल, अनाज।

(झ)=[झ्] पूर्वतालव्य, सघोष, महाप्राण, स्पर्श संघर्षी व्यंजन। इसका प्रयोग प्रत्येक स्थिति में होता है : झगड़ा, मुरझाना, साँझ।

(iv) **संघर्षी**—इन ध्वनियों के उच्चारण में श्वास-मार्ग को इतना संकुचित किया जाता है कि श्वासवायु संघर्ष करती हुई निःसृत होती है। घर्षण श्रव्य भी होता है। श्रव्य घर्षण के परिणाम में अन्तर भी हो सकता है। सामान्यतः अघोष ध्वनियों की अपेक्षा सघोष ध्वनियों में श्रव्य घर्षण की मात्रा कम होती है। हिन्दी में विदेशी संघर्षी ध्वनियों के अतिरिक्त, जिनका विचार आगे किया गया है, तीन संघर्षी ध्वनियां है : स, श, ह। मूर्द्धन्य संघर्षी ष संस्कृत तत्समो में लिखा तो जाता है, पर उच्चरित श के समान होता है। इसके विषय में भारत के प्राचीन ध्वनि शास्त्रियों

---

[१] प्रा० २।३६

कहा है : चाहे स्वतंत्र हो, चाहे मूर्द्धन्य व्यंजनों के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों से संयुक्त हो, ष का उच्चारण ख की भाँति होता है।[१] अन्य शिक्षा ग्रंथों में भी इस वक्तव्य की आवृत्ति मिलती है। हिन्दी की बोलियों में इसका विकास ख के रूप में मिलता है। परिनिष्ठित हिन्दी में ष > श है। महाराष्ट्री में ष का उच्चारण सुरक्षित दीखता है। इसके अतिरिक्त अन्य संघर्षी ध्वनिग्रामों का संस्वनात्मक विवरण नीचे दिया जा रहा है

(स)=[स्] जिह्वा की नोंक या फलक वर्त्स्य (teeth ridge) के प्रति प्रक्रिया में जीभ का अग्रांग भी कठोरतालू की ओर थोड़ी उठी हुई स्थिति मे रहता है। दाँत विशेष खुले हुए नहीं रहते। मुख को अधिक खोलकर इसका उच्चारण सम्भव नहीं है। जीभ की नोंक और वर्त्स के बीच का मार्ग अत्यन्त संकुचित रहता है और कोमल तालु उठी हुई स्थिति में रहता है। इसका प्रयोग पद के आदि, मध्य और अन्त में हो सकता है : साग, रस्सी, रास्। संक्षेप में यह वर्त्स्य, संघर्षी, अघोष ध्वनि है : करण जीभ की नोंक है।

(श)=[श्] यह अघोष संघर्षी, तालव्य ध्वनि है। जीभ नोंक वर्त्स के पिछले भाग या कठोरतालू के अग्र-भाग के प्रति उठकर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करती है। जीभ का प्रायः समस्त भाग कुछ उठी हुई स्थिति में रहता है। मुँह को अधिक नहीं खोला जा सकता। जीभ और कठोर तालू के बीच की दूरी (स) की अपेक्षा अधिक होती है। तालू के नीचे का श्वास मार्ग स् की अपेक्षा कुछ संकुचित होता है। इसका प्रयोग पद के आदि, मध्य, अन्त में हो सकता है—शीशा, देवेश।

(ह)=प्राचीन ध्वनि वैज्ञानिकों ने इसे 'उरस्य, कहा है। इसका उच्चारण-स्थान फेफड़ों को भी माना गया है तथा स्वर-यंत्र को भी।[२] कुछ के अनुसार नासिक्य या अर्द्ध स्वरों से पूर्व प्रयुक्त होने पर ही ह को 'उरस्य' (=उर का) कहा जाना चाहिए।[३] पाणिनि की वर्ण—योजना के अनुसार उरस्य ह, तथा विसर्ग को ष वर्ग के साथ रख कर, इसको कंठ्य कह दिया गया है।[४] विसर्ग और ह् का उच्चारण स्थान एक ही माना गया है : पर विसर्ग अघोष है और यह सघोष।

१ अथो मूर्धन्योष्मणो संयुक्तस्य टुम ऋते संयुक्तस्य च खकारोच्चारणम्, प्रतिज्ञा सूत्र, १८

२. ऋ क० प्रा० १ | ३९-४०

३. पाणिनि शिक्षा, १६

४. आपि० शि० में लिखा है : अ-कु-ह विसर्जनीयानाम कण्ठ :। १ । ७ ।

यह वस्तुतः प्राचीन समय में भी दो संस्वन माने गये हैं। विसर्ग =शुद्ध श्वास, जो स्वतन्त्र रूप मे विसर्ग के रूप में प्रयुक्त हो सकता है तथा अघोष व्यंजनों को आवश्यक श्वास भी प्रदान करता है। ह= श्वास+घोष, जो ह-कार के रूप में स्वतन्त्र रूप से भी प्रयुक्त होता है तथा सघोष महाप्राण व्यंजनों को आवश्यक श्वास—वायु प्रदान करता है। ह का विवरण यों दिया जा सकता है : यह स्वर यंत्र मुखी, सघोष संघर्षी ध्वनि है। मुख-स्थिति इसके उच्चारण में स्वर के उच्चारण से भिन्न नहीं रहती। पर इसका उच्चारण इतनी तीव्र और बल के साथ होता है कि श्वास वायु स्वर-यंत्र में घर्षण भी प्रयत्न करती है और स्वर तंत्रियों मे संघर्ष भी। इसके संस्वन ये हैं :—

=[ह] कंठ द्वारीय या स्वरयंत्र मुखी सघोष संघर्षी ध्वनि है। इसका प्रयोग
V

शब्द के आदि और मध्य में होता है : हाथ (ह आ थ् अ) बाहर (बा ह अ र् अ)।
V

=(ह्) कंठ द्वारीय या स्वर यंत्र मुखी अघोष संघर्षी। इसका प्रयोग उच्चारान्तर होता है : (सा ह् अ)=साह, माह (मा ह अ)। लिखने में दोनों संस्वनों के रूप मे कोई अन्तर नहीं किया जाता।

v **अनुनासिक ध्वनिग्राम**—कोमल तालु के नीचे झुक जाने मुखविवर के पूर्ण रूप से अवरुद्ध हो जाने और श्वास के नासिका विवर में अबाध प्रवाहित होने के परिणाम स्वरूप अनुनासिक व्यंजनों का उत्पादन होता है। श्वास मार्ग को मुख-विवर में जिस स्थान पर रोका जाता है, वही उसका स्थान है। प्राभाआ में पांच अनुनासिक ध्वनियाँ थीं : ङ, ञ्, ण, न्, तथा म्। हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से केवल तीन प्रयुक्त होती हैं म, न, ण,। स्वतंत्र रूप से प्रयोग अत्यन्त सीमित है : संस्कृत तत्समों में केवल पद्य के मध्य और अन्त मे प्रयुक्त होता है—रणन, चरण।

(म)और(न्) अनुस्वर तीन ध्वनिग्राम हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

(म्)=(म्) यह द्वयोष्ठ्य नासिक्य है। इसका प्रयोग पद के आदि, मध्य और अन्त में हो सकता है : मन, मत, माला, कमर, काम।

(न्)=(न्) यह अल्पप्राण, वर्त्स्य, अनुनासिक ध्वनि है। इसके उच्चारण में वर्त्स स्थान पर जीभ की नोंक से बहिर्गत श्वास का मार्ग पूर्ण रूप से अवरुद्ध कर दिया जाता है। कोमल तालु नीचे झुक जाता है। स्वरतंत्रियों के साथ संघर्ष होने से घोषत्व उत्पन्न होता है। प्राभाआ-काल में इसका वर्गीकरण दन्त्य ध्वनियों के साथ किया गया था, पर आजकल इसका

उच्चारण वर्त्स्य हो गया है।[१] इसका प्रयोग स्वतन्त्र रूप में पद के आदि, मध्य और अन्त में होना है : नाथ नर. किनारा. तन।

(न्) यह ।न्। का अरेचक रूप है जिसका प्रयोग दन्त्य ध्वनियों स, ल, र के साथ प्रथम अंश के रूप में संयुक्त होने पर होता है अन्त ध्वंस, संलाप संराग=(अन्त्अ) (सन् लापअ) (सन् रागअ)

(न्) यह ।न्। का किंचित तालव्यीकृत रूप है जो श तथा य से पूर्व प्रयुक्त होता है : संशय (सन्शय) संयोग (सन्योगअ)

(न्) यह ।न्। किंचित कण्ठीकृत रूप है, जो ह में पूर्व प्रयुक्त होता है— सिंह (सिन्ह्)

-)=(ङ)[२] सघोष कण्ठ्य, अनुनासिक व्यंजन। जिह्वा का पश्च भाग कोमल-तालु के अग्रांश को स्पर्श करके मुख-विवर को बहिर्गत श्वास के लिए पूर्ण अवरुद्ध कर देता है। कोमल तालु कौवा सहित नीचे झुक जाता है। फलस्वरूप श्वास नासिका विवर से प्रसारित होती है : स्वर तंत्रियों में संघर्ष होता है। इसका प्रयोग सस्वर रूप में हिन्दी में नहीं होता : कवर्गीय ध्वनियों से पूर्व इसका प्रयोग मिलता है। गंगा (गङ्गा) कंगाल (कङ्गाल्) उच्चारान्त होने पर भी (ङ्ग्) आदि केवल (ङ) सुनाई पड़ता है। जैसे ।संग।=(सअङ) 'संग' (र्अङ्)='रंग'

=(ञ) सघोष, च वर्गीय, अनुनासिक। तालव्य अवरोध होता है। च वर्गीय ध्वनियों से पूर्व अस्वर रूप में इसका प्रयोग होता है : चंचल (चञ्चल) मंच (मञ्चअ) डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस स्थिति में भी (न्) की ध्वनि मानी है।[३]

डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० १२०

श्री विद्याभास्कर अरुण ने भी (ङ) को स्वतंत्र ध्वनिग्राम नहीं माना है (A comparative Phonology of Hindi and Panjabi P, 5) डा. भाटिया इसे संस्वन ही मानते हैं, (भाषा शास्त्र की रूपरेखा, पृ० २१६) डा० उदयनारायण तिवारी ने उसी पुस्तक में इसे स्वतंत्र ध्वनिग्राम माना है : 'यह केवल कंठ्य ध्वनियों के पूर्व ही संयुक्त व्यजन के रूप में आता है। यही कारण है कि यह पृथक ध्वनिग्राम है। कंठय ध्वनियों के पूर्व ।न्। का भी संयोग मिलता है। जैसे तिन्का 'तिनका' (वही पृ० १२२) भाटिया जी ने इसे ।न। का संस्वन माना है। डा० तिवारी का उक्त मत भी इसी दृष्टि पर आधारित दीखता है। मेरे विचार से इसे अनुस्वार का संस्वन मानना चाहिए। तब इसकी स्थिति संस्वनात्मक हो जाती है। इसके अन्त्य प्रयोग पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

वही, ११६

(ण)=(ण्) सैद्धांतिक रूप से यह मूर्द्धन्य अल्पप्राण, सघोष अनुनासिक है। संस्कृत तत्सम शब्दों में इसके सस्वर रूप का प्रयोग मिलता है तथा ट वर्गीय ध्वनियों से पूर्व हलन्त रूप में प्रयुक्त होता है : कंटक (कण्टक अ) सस्वर रूप में इसका उच्चारण ड़ँ जैसा हो गया है। अतः इस ध्वनि की ध्वनिग्रामात्मक स्थिति अत्यन्त संदिग्ध है। हलन्त ण् अनुस्वार का संस्वन माना जा सकता है।

। म्ह।, । न्ह। सम्भवतः पहले संयुक्त व्यंजन म् + ह् तथा न् + ह माने जाते थे। अब इनको मूल महाप्राण अनुनासिक सघोष व्यंजन माना जाता है।[1] म्ह= द्वयोष्ठय, महाप्राण, अनुनासिक व्यंजन। इसका प्रयोग पद के मध्य में होता है: तुम्हे, न्ह=वर्त्स्य, महाप्राण, सघोष अनुनासिक व्यंजन, इसका भी प्रयोग पद के आदि मध्य में ही होना है: न्हाना, उन्हें न्हौं (नख)

(vi) **पार्श्विक**—श्वास मार्ग के मध्य में बाधा उपस्थित करके, बाधा के एक या दोनों पार्श्वों से श्वास—वायु को निकलने देने से पार्श्विक ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है। हिन्दी में ।ल्। ध्वनिग्राम प्राप्त होता है। ल्ह का प्रयोग केवल बोलियों में मिलता है : सल्हा, (=सलाह)। कादरी तथा डा० सक्सेना ने इसे भी महाप्राण मूल व्यंजन मान लिया है।[2] इसका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

।ल्।=यह पार्श्विक, अल्पप्राण, सघोष, वर्त्स्य। जीभ की नोंक वर्त्स्य या पूर्व—दन्त स्थान का स्पर्श करती है। इससे मुख विवर के मध्य में श्वास—मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। जीभ से पार्श्वों से श्वास—वायु प्रवाहित हो उठती है। कोमल तालू उठी हुई स्थिति में रहता है तथा ध्वनितंत्रियों में संघर्ष की स्थिति होती है। अन्त्य प्रयुक्त होने पर इसका अघोष रूप प्रस्तुत हो जाता है।

[ल̥]—वर्त्स्य, अल्पप्राण, अघोष, पार्श्विक व्यंजन। इसका प्रयोग पद के अन्त में होता है—चाल्(चाल अ) अथवा द्वित्वरूप के प्रथम अंश में होता है : बल्लभ (ब ल ल भ)

(ल्) वर्त्स्य, अल्पप्राण, सघोष, पार्श्विक व्यंजन। इसका प्रयोग पद के आदि या मध्य में असंयुक्त रूप से होता है : लाभ कली, मैला।

[1] डा० बाबूराम सक्सेना एवोल्यूशन आफ अवधी, ६१। ६२। तथा कादरी, हिन्दी फोनेटिक्स पृ० ८७, ८६

[2] हिन्दी फोनिटिक्स, पृ० ६० तथा एवोल्यूशन आफ अवधी, ७५।

(vii) लुंठित—प्राचीन विवरण के अनुसार यह अन्तस्थ या अर्द्ध स्वर है। इसका उच्चारण स्थान कहीं मूर्द्धा[१] और कहीं दंतमूल[२] बताया गया है। प्रातिशाख्यों में इसे वर्त्स्य भी कहा गया है।[3] यही उच्चारण स्थान आज भी मिलता है। जिह्वाग्र के मध्य और दन्तमूल के पश्चभाग के संसर्ग से इसका उच्चारण होता है।[४] हिन्दी में र अर्द्धस्वर नहीं लुन्ठित ध्वनि है। इसका महाप्राण रूप। र्ह। भी स्वतन्त्र महाप्राण, लुंठित, व्यंजन मान लिया गया है।[५] पर इसका प्रयोग परिनिष्ठित हिन्दी में नहीं होता।

(र)—लुंठित, अल्पप्राण, सघोष, वर्त्स्य, लुंठित व्यंजन है। जीभ की नोंक दो-तीन बार वर्त्स्य को शीघ्रता से छूती है। लगातार स्पर्श करने की सक्रम प्रक्रिया मे ही इसका उच्चारण होता है। इसके उच्चारण में जिह्वाफलक कुछ मुड़ता है। यह पद के आदि, मध्य तथा अन्त में प्रयुक्त हो सकता है। रथ, गरम, तीर।

(viii) उत्क्षिप्त (Flapped)—उत्क्षिप्त ध्वनियों का विवरण पीछे मूर्द्धन्य स्पर्श ध्वनियों के साथ दिया जा चुका है। लेखक (ड़)—अल्पप्राण, सघोष, मूर्द्धन्य, उत्क्षिप्त तथा (ढ़)—महाप्राण, सघोष, मूर्द्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनियों को क्रमशः। ड। ।, । ढ। के संस्वन मानता है। इनके उच्चारण में जीभ की नोंक उलट कर, नीचे के हिस्से से एक बार मूर्द्धा का स्पर्श करके झटके के साथ अलग हो जाती है।

(ix) अर्द्धस्वर—प्राचीन ध्वनि वैज्ञानिकों ने इनको अन्तस्थ कहा है। इनका उच्चारण स्वर और व्यंजनों के बीच का है। इन ध्वनियों के उच्चारण ध्वनि-अवयव पहले एक शिथिल मुखरता वाले स्वर का उच्चारण करते हैं, तत्क्षण एक उसी के समान अथवा अधिक मुखरता वाली ध्वनि का उच्चारण करते हैं। यह सघोस श्रुति का रूप है। कुछ के अनुसार। य। और। व। क्रमशः। इ। तथा। उ। के संस्वन मात्र हैं। इनको उक्त स्वरों का संस्वन मानना बहुत सुविधाजनक है। पद-विज्ञान की दृष्टि से इनको संस्वन मानना अधिक उपयुक्त है √यह। और। इस। में प्रथम भाग। इ। ही है जो ह के पूर्व (य) के रूप में उच्चरित है। यह मानने से सन्धि-नियमों का विवेचन भी सरल हो जाता है। नीचे इनका विवरण दिया जा रहा है, पर लेखक की दृष्टि में इनको। इ। ,। उ। का संस्वन मानना ही अधिक सुविधाजनक है।

१ स्युर मूर्धन्या ऋ—टु—र—षा : (पा० शि० १७)

२ रो दन्तमूल स्थानम् एकेषाम् आपि० शि० १।१४

3 अथर्व प्रा० १।२८

४ रे फे जिह्वाग्र मध्येन प्रत्यग दन्त मूलेभ्याः , तै० प्रा० २।४१

५ कादरी, हिन्दी फोनेटिक्स, पु० ९२, तथा डा० सक्सेना, एवोल्यूशन आफ अवधी, पृ०। ७२

य्—इसको तालव्य सघोष, अर्द्धस्वर माना जाता है। इसके उच्चारण में जीभ पहले ऊपर उठती है। जिस प्रकार इ के उच्चारण में, पीछे आगे की ओर गतिशील हो जाती है। स्वर से पूर्व प्रयुक्त होने पर यह शिथिल श्रुति के रूप में ही रहता है : जाइए (जा इ य ए) पर व्यजन से पूर्व प्रयुक्त होने पर श्रुति अधिक स्पष्ट हो जाती है : गायक (गा य् क) अन्त में प्रयुक्त होने पर भी यह स्वर-वत् दीखती है : समय=सर्ऐ (समयअ)। उच्च स्वरों की अपेक्षा निम्न स्वरों (Lows vowels) से पूर्व इसकी मुखरता बढ़ जाती है : गया, आया। किन्तु यदि इ—आ की स्थिति में इसका प्रयोग होता है तो श्रुति मात्र रह जाती है : किया=किआ।

इसके उच्चारण की प्रक्रिया इस प्रकार है : जीभ का अग्र भाग कठोर ताल की ओर उठता है। होठ प्रसृत रहते हैं। कोमल तालू उठी हुई स्थिति में रहता है। स्वरतंत्रियों में संघर्ष होता है। प्राचीन ग्रंथों में इसका संबंध च वर्ग तथा इ। ई से माना गया है।

व्—ऐसा प्रतीत होता है कि पहले इसका उच्चारण द्वयोष्ठ्य होगा। पर शिक्षा और प्रातिशाख्यों की रचना तक सम्भवतः इसका उच्चारण सर्वत्र नहीं तो कुछ भागों में दन्त्योष्ठ्य हो गया था। पाणिनि शिक्षा में इसे दन्त्योष्ठ ही कहा गया है : दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुद्धैः (१८)। इसको उच्चारण में निम्नोष्ठ का मध्य भाग ऊपर के दांतों के सम्पर्क मे आता है। हिन्दी में प्रवृत्ति द्वयोष्ठ्य उच्चारण की ओर है। इसको द्वयोष्ठ्य, सघोष, अर्द्ध-स्वर कहा जा सकता है। वैसे हिन्दी व की स्थिति अंग्रेजी (v) तथा (w) के बीच की है।

इसके उच्चारण में पहले जीभ ऊपर उठती है फिर पीछे की ओर गतिशील हो जाती है और आरंभ की अपेक्षा उच्चारण के अन्त मे होठ अधिक गोलीकृत हो जाते हैं। ओठ गोल रहते है। जीभ का पिछला भाग कोमल तालू की ओर उठता है, पर उसका स्पर्श नही करती। स्वरतंत्रियाँ घोष की स्थिति मे रहती है। इसका संबंध पवर्ग, तथा उ। ऊ से माना गया है।

X· **विदेशी व्यंजन ध्वनियाँ**—अरबी-फारसी से क़, ख़, ग़, ज़ और फ़ ध्वनियाँ हिन्दी में आ गई है। इनका प्रयोग शिष्टताभिमानी वर्ग के द्वारा फारसी के तत्सम शब्दों के उच्चारण में होता है। सामान्य हिन्दी भाषी इनका उच्चारण क, ख, ग, ज, तथा फ जैसा ही करते है। इन ध्वनियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क़)—(क़ ∽ क)—यह अल्पप्राण, अघोष, जिह्वामूलीय स्पर्श व्यंजन है। इसका उच्चारण जिह्वामूल को कौवे के निकट कोमल तालू के पश्च भाग से स्पर्श करके किया जाता है। इसका स्थान जीभ तथा तालू का सबसे पीछे का भाग है। क़लम, मुक़ाम।

(ख़)—(ख ∽ ख़)—यह जिह्वामूलीय, अघोष, महाप्राण संघर्षी व्यंजन ध्वनि है जिह्वामूल को कौवे के इतना निकट ले जाया जाता है कि

स्पर्श न हो कर, संघर्ष की स्थिति बनी रही। श्वास वायु रगड़ खाती हुई निकलती है। खासी, बुखारा।

।ग़।—(ग़ ~ ग़) जिह्वा मूलीय, सघोष, अल्पप्राण संघर्षी व्यंजन। उच्चारण की प्रक्रिया ।ख़। जैसी ही है। गलत, कागज़, दाग़।

।ज़।—(ज़ ~ ज़) वर्त्स्य, सघोष, अल्पप्राण, संघर्षी व्यंजन है। इसका उच्चारण स्थान और इसकी प्रक्रिया स जैसी है। ज़मीन, गुज़रना, साज़।

।फ़।—(फ़ ~ फ़)—यह दन्त्योष्ठ्य अघोष, महाप्राण, संघर्षी ध्वनि है। नीचे के होठ को ऊपर के दांतो को पास लाकर, दोनों अवयवों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करके, श्वास वायु को निकाला जाता है। फ़ारसी, वफ़ा, माफ़।

४।. **संयुक्त व्यंजन**—संयुक्त व्यजनों का अर्थ है, बिना किसी स्वर को बीच में लाए हुए दो या अधिक व्यजनों का उच्चारण करना। नीचे हिन्दी के संयुक्त व्यजनों की परिस्थिति और उनके वर्गीकरण पर विचार किया गया है।

अ परिस्थितियाँ और उनका ऐतिहासिक कारण—

(१) कुछ शब्द तत्सम या तद्भव रूप मे संयुक्त व्यजन से युक्त हैं : इच्छा, अग्नि, स्त्री० आदि।

(२) कुछ शब्द व्याकरणिक प्रक्रिया के फलस्वरूप संयुक्त व्यंजन से युक्त हैं।

क-धातु + प्रत्यय : √भज् — + — त् = भक्त; √गम् — + — य = गम्य।

ख-अन्य व्युत्पन्न शब्द : दिव् से दिव्य; शरर से शार्य।

ग-उपसर्ग तथा प्रत्यय से बने अन्य शब्द : उत् — + तम = उत्तम; उत् + गम = उद्गम। अभि + आस = अभ्यास; वि — + आधि = व्याधि।

घ-संयुक्त शब्दों में : ऋ क् + वेद = ऋग्वेद; भगवत् + गीता = भगवद्गीता।

मुख्य रूप से हिन्दी संयुक्त व्यंजनों की ये ही परिस्थितियाँ हैं। तत्समता के कारण हिन्दी और संस्कृत के संयुक्त व्यंजनों मे विशेष अन्तर नहीं है।

आ-संयुक्त व्यंजनों का वर्गीकरण : इनको दो वर्गों में बांटा जा सकता है, दीर्घ व्यंजन[1] तथा व्यंजन-गुच्छ। इनमें से प्रथम में समान व्यंजनों का तथा दूसरे में भिन्न व्यजनों का सयोग होता है।

दीर्घ-व्यंजन—दीर्घ व्यंजन हिन्दी में मध्यवर्ती होते हैं। इनकी परिस्थितियाँ ये हैं : कि ह्रस्व स्वर—ह्रस्वस्वर, तथा ह्रस्वस्वर—दीर्घ स्वर। सुविधा के लिए दीर्घ व्यजनों को नीचे द्वित्व के रूप में लिखा गया है। उदाहरण :—

।क् क्। [क्ː] :।चक्करा।, ।चक्की। ; ।ग् ग्। [गː] : ।डुग्गी। ; ।च् च्। [चː] : ।बच्चा। ; ।ज् ज्। [जː] : ।लज्जा। ; ।ट् ट्। : [टː] : ।पट्टी। ; ।ड् ड्। [डː] : ।लड्डू। ; ।त् त्। [तː] : ।पत्ता। ; ।द् द्। [दː] : ।गद् द् आ। ; ।प् प्; [पː] : ।छप्पर। ;

[1] इनको परम्परागत दृष्टि से द्वित्व (Gemminates) कहा जाता है।

।ब् द्। [ब:] : ।डिब्बा। ; ।न् न्। [न:] : ।गन्ना। ; ।म् म्। [म:] : ।सम्मति। ; ।य् य्। [य:] : ।न्याय्य। ; ।ल् ल्। [ल: : ।बिल्ली।; ।र् र्। [र:] : ।थर्राना। ; ।व् व्। [व:] ; ।नव्वे। ; ।श् श्। [श:] : । दुश्शील।; ।स् स् [स:] : ।रस्सा।

(२) व्यंजन गुच्छ : ये पद से आदि, मध्य और अन्त मे प्रयुक्त होते हैं।

(क) आदि स्थित व्यंजन गुच्छ—आदि में प्रयुक्त होने वाले व्यंजन-गुच्छ दो व्यंजनों के संयुक्त रूप ही होते हैं। तोन व्यंजनों के आदि स्थित व्यंजन गुच्छ अत्यन्त विरल हैं। इनकी पूर्ण सूची देना आवश्यक नहीं है।[१] यहां केवल संरचना की दृष्टि से वर्गीकृत उदाहरण दिए गए हैं। इन उदाहरणों से एक बात स्पष्ट है : इन गुच्छों के द्वितीय व्यंजन य, र, ल, व, श ही हो सकते हैं। दो व्यजनों के गुच्छों की संरचना इन रूपों में हो सकती है :

(a) स्पर्श+लुंठित अथवा पार्श्विक : ।च। तथा ।ज। के अतिरिक्त सभी अघोष और सघोष अल्पप्राण स्पर्श तथा तथा ।झ। तथा ।ढ। के अतिरिक्त सभी सघोष महाप्राण लुंठित ।र। के पूर्व आकर व्यंजन गुच्छों की सरचना कर सकते हैं। जैसे—

।क् र्। : ।क्रूर। ; ।ग् र। : ।ग्रन्थ। ; ।घ्र। : ।घ्राण। ; ।ट् र्। : ।ट्रक। ; ।ड् र्। : ।ड्रामा। ; ।त् र्। : ।त्राण। ; ।द्रव्य। ।घ् र्। : ।ध्रुव। ; ।प् र्। : ।प्रसिद्ध। ; ।ब् र्। : ।ब्रह्मा। ; ।भ् र्। : ।भ्रम। ;

।ल्। अल्पप्राण कंठ्य स्पर्शों तथा ओष्ठ्य अल्पप्राण स्पर्शों के पश्चात् आकर व्यंजन गुच्छों की रचना करता है। जैसे ।क् ल। : ।क्लेश। ; ।ग् ल्। : ।ग्लानि। ; प् ल्। : ।प्लावन।

(b) नासिक्य+लुंठित, पार्श्विक या संघर्षी : ।म्। का प्रयोग ।र्, ल्। से पूर्व तथा ।म्, न्। का प्रयोग ।य्। से पूर्व होता है। जैसे ।म् र्। : ।म्रग।, म्रियमाण। ; ।म् ल्। ।म्लान। ; ।न् य्। : ।न्याय। तथा ।म्यान।

(c) संघर्षी+लुंठित या पार्श्विक : सभी अघोष संघर्षी (। ख् । को छोड़कर) । र् । के पूर्व प्रयुक्त हो सकते हैं। जैसे: । स् र् । : । स्रोत । ; श् र् । : ।श्रेणी। ; । फ् र् । : । फ्रांस । ; । । ह् र् । : । ह्रास । ; । व् र् । : । व्रत ।

। ल् । का प्रयोग केवल । श् । के पूर्व होता है : । श्लोक । , । श्लाघा ।

(d) संघर्षी+स्पर्श, नासिक्य या संघर्षी व्यजनों में से केवल । स् । स्पर्श व्यंजनों के पूर्व आ सकता है। केवल । स्, श । नासिक्यों तथा । व् । के पूर्व प्रयुक्त हो सकते हैं तथा केवल । स्, श्, व् । का प्रयोग । य् । के पूर्व हो सकता है।

(क) अघोष दन्त्य संघर्षी । स् । का प्रयोग केवल अघोष कंठ्य, दन्त्य तथा ओष्ठय स्पर्शों के साथ होता है। ये अल्पप्राण और महाप्राण दोनों ही हो सकते हैं। जैसे । स् क् । : । स्कन्ध । स् ख् । : । स्खलित । ; । स् त् । : स्तन् । ! । स् थ् ।

---

[१] डा० कैलाशचन्द्र भाटिया ने एक लम्बी सूची दी है। (भाषाशास्त्र की रूपरेखा, पृ० २२१, २२२, २२३)

। स्थान । ; । स् प् । : । स्पर्श । ; । स्फूर्ति । : अंग्रेजी से आगत शब्दों में । स् । । ट् । के पूर्व भी आ सकता है : । स् ट् । : । स्टेशन ।

(ख) । न्, म् । का प्रयोग । स् । से पूर्व प्रयुक्त हो सकते हैं । । श् । का प्रयोग केवल । म् । के पूर्व प्रयुक्त हो सकता है । म् न् । : । स्नान । स्मृति ; । श्मशान ।[1]

(ग) । य्, व् । दोनों ही । स्, श् । के पश्चात् प्रयुक्त हो सकते हैं । स् य् । । स्याही । ; । स् व् । : । स्वर । ; । श् य् । : । श्याय । : । श् व् । : श्वान ।

।य्। ही । व् । के पश्चात् प्रयुक्त हो सकता है : । व्यवहार ।

(e) स्पर्श + संघर्षी: केवल ।य् व। जो अर्द्ध स्वर हैं, स्पर्श ध्वनियों के पश्चात् आकर व्यंजन-गुच्छ बनाते है । । क्ष । इसका अपवाद है ।[2] इसके उदाहरण । क्षमता । जैसे शब्द है । शेष गुच्छों की परिस्थितियों का विवरण इस प्रकार है ।

(a) - ।ख। का प्रयोग । य । के पूर्व तथा ।घ। का प्रयोग ।य्, व्। दोनों के पूर्व हो सकता है । शेष अघोष या सघोष महाप्राण अर्द्ध स्वरों के पूर्व आकर व्यंजन गुच्छ नहीं बना सकते । उदाहरण ।ख्याति।, ।घ्यान।, ।घ्वनि। ।ड्य्। : ड्योढ़ा ।

मूर्द्धन्य ध्वनियां इनके साथ आकर गुच्छ नहीं बना सकती । । ट्यूशन ।, । ट्वीड । जैसे अंग्रेजी शब्द अपवाद् हैं ।

(b) कंठ्य अघोष तथा सघोष अल्पप्राण स्पर्श + । य, व । : । क्या ।, । ग्यान । 'ज्ञान', । क्वारा । 'अविवाहित' । ग्वाला ।, आदि ।

(c) तालव्य ध्वनियों मे से केवल सघोष अल्पप्राण स्पर्श । य, व । से पूर्व आकर गुच्छ-रचना कर सकता है : । ज्योति ।, । ज्वाला ।

(d) । थ् । के अतिरिक्त सभी दन्त्य स्पर्श ध्वनियाँ । य, व । के पूर्व आकर गुच्छ-रचना कर सकती हैं । । त्याग ।, । द्युति । । ध्यान ।, । त्वरित ।, । द्वारा ।, । ध्वनि ।

(e) ओष्ठ्य ध्वनियों का संयोग । व् । के साथ नहीं हो सकता । पर, । य् । के साथ इनका प्रयोग सम्भव है : । प्यार ।, । ब्याह । तीन व्यंजनों का भी एक गुच्छ आदि स्थिति में मिलता है : स् त् र् : स्त्री : पर ये अत्यन्त । विरल प्रयोग हैं ।

(ख) मध्यस्थित व्यंजन गुच्छ—पद के मध्य में दो तथा तीन व्यंजनों के गुच्छ आ सकते हैं ।

(ख१) दो व्यंजनों के गुच्छ—इनके वर्ग निम्नलिखित हो सकते हैं ।[3]

---

[1] इन सभी शब्दों में अग्र स्वरागम सुन पड़ता है । यह अधिकांश में ।इ। है । पर सम्हल कर बोलने में इसका परिहार भी सम्भव है । अग्रस्वरागम के फलस्वरूप इस प्रकार के व्यंजन गुच्छों की आदि स्थिति नहीं रह जाती ।

[2] प्राभाओं में यह [ष] से युक्त था । अब इसके स्थान पर ।श्। आ गया है ।

[3] ये नियम श्री विद्याभास्कर अरुण ने 'A Comparative Phonology of Hindi and Panjabi पृ० ६, १० पर दिये हैं ।

(a) **स्पर्श + स्पर्श**—इस वर्ग के सम्बन्ध में कुछ नियम निर्धारित किये जा सकते हैं।

एक—सघोष स्पर्श स्वर्गीय अघोष स्पर्श के पूर्व नहीं आ सकता।

दो—कोई सघोष स्पर्श (। द्।, तथा । व्। को छोड़कर) अघोष स्पर्श के पश्चात् नहीं आ सकता।

तीन—दो महाप्राण साथ साथ आकर गुच्छ नहीं बना सकते।

चार—महाप्राण ध्वनियों के गुच्छों में अघोष महाप्राण, उसी वर्ग या अन्य वर्ग के अघोष अल्पप्राण के पश्चात प्रयुक्त होते हैं।

पाच—सघोष महाप्राण, उसी वर्ग के या अन्य वर्ग के सघोष अल्पप्राण स्पर्श के पश्चात् आता है।

छः—महाप्राण के पश्चात् सघोष स्पर्श नहीं आ सकता।

डा० कैलाशचन्द्र भाटिया ने मध्य स्थित व्यंजनों के सम्बन्ध में लिखा है: 'मध्य स्थिति में विशेष रूप के व्यंजनानुक्रम या दो व्यंजनों का संयोग रहता है। प्रायः व्यंजनगुच्छ की स्थिति नष्ट हो जाती है। व्यंजन गुच्छ में विशेषता यह होती है उसका पूरा भाग रहता है, जबकि व्यंजनानुक्रम में दो व्यंजन लिखित कि एक अक्षर के साथ रूप में साथ साथ रहते हुए भी उसका एक व्यंजन प्रथम अक्षर के साथ चला जाता है और दूसरे अक्षर के साथ आ जाता है।'[1] अन्त में उन्होंने लिखा है: 'बहुत से लोग इसमें भ्रमवश भेद नहीं करते और इन दोनों प्रवृत्तियों को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रख देते हैं।' पर मध्य-व्यंजन गुच्छों पर विद्वानों ने विचार किया है। श्री अरुण ने एक सूची दी है। डा० उदयनारारण तिवारी ने भी एक सूची दी है। बहुत से शब्दों के लिखित रूप में दो व्यंजनों के बीच ह्रस्व स्वर आता है। पर बोलने में वह गुच्छ बन जाता है। अतः हिन्दी में मध्य स्थित व्यंजन अभी सुनिश्चित अवस्था में नहीं हैं। नीचे अरुण जी के द्वारा दिए मध्य व्यंजन गुच्छों की सूचना दी गई है।

। क्। का प्रयोग स्वर्गीय व्यंजनों तथा । ज्, ड, ढ । को छोड़कर सभी अघोष-सघोष स्पर्शों के पश्चात् हो सकता है। हिच्की ।, । खट्का ।, उत्कण्ठा । । सद्मा । वध्काना ।, । झप्की । डुबकी ।, । भभ्की । आदि। पर कुछ व्यक्तियों के द्वारा इनका उच्चारण ऐसा भी हो सकता है कि गुच्छ [अ] अथवा [अ] से विभाजित रहें।

। ख्। का प्रयोग । क्, ट्, त् । के पश्चात् ही होता है। मक्खी ।। अट्खेली । । उत्खनन ।

। ग्। का प्रयोग केवल । ज्, द् । के पश्चात् ही हो सकता है। गजगा। 'हाथी का एक गहना'। उद्गम्।

। घ्। का प्रयोग । ग्, द् । के पश्चात् ही होता है। बग्घी ।, । उद्घाटन ।

---

[1] 'भाषाशास्त्र की रूप रेखा', पृ० २२५

। च् । का प्रयोग । क्, ग् । के पश्चात् ही सम्भव है । बुक्चा । a bundle of clothes, । देग्चा ।

(छ्) का प्रयोग । च् । के पश्चात् होता है । । गुच्छा ।

(ज्) का प्रयोग । ब् । के पश्चात् होता है । । सब्जी ।, । कुब्जा ।

(झ्) का प्रयोग । ज् । के पश्चात् ही होता है । झज्झर ।

(ट्) का प्रयोग । क्, ख्, ग्, घ्, च्, प्, ब् । पश्चात् होता है । डाक्टर ।, । चोख्टा ।, । प्रग्टाना । । उघ्टा । 'ऊलजलूल बातें करने वाला' । । उच्टाना ।, । डिप्टी ।, । कप्टी ।, उब्टना । आदि ।

(ठ्) का प्रयोग । ट् । के पश्चात् होता है । गट्टर ।, । पट्ठा ।

(ड्) का प्रयोग स्पर्श के पश्चात् नहीं होता है ।

(ढ्) का प्रयोग । ड् । के पश्चात् होता है । । गड्ढा ।, बुड्ढा ।

(त्) का प्रयोग । फ् । के अतिरिक्त सभी स्पर्शों के पश्चात् होता है । शक्ति ।, । दुख्ती ।, । उग्ता ।, सूँघता ।, । नाच्ती । । पछ्ताना ।, ।गरज्ता ।, । समझ्ता ।, । लौट्ता ।, उठ्ती ।, । मूँड्ता ।, । ढूँढ्ता ।, गूथ्ती ।[१] । कूद्ता ।[२], । बाँधता ।[३], । कप्तान ।. । फब्ती ।, ।चुभती ।,[४] आदि इनमें से अधिकांश उदाहरणों में । त् । वर्तमान कालिक कृदन्त का द्योतक पदग्राम है ।

(थ्) का प्रयोग । त् । के पश्चात् होता है । ।गुत्थी ।

(द्) का प्रयोग । क्, ग्, ज्, ब् । के पश्चात् होता है । ।नकदी ।, लुग्दी ।, 'एक गोला' । सज्दा ।, 'झुकाना' । शताब्दी । आदि ।

(ध्) का प्रयोग । ग्, द्, ब् । के पश्चात् होता है : । मुग्धा ।, बुद्धि ।, ।उपलब्धि ।

(प) का प्रयोग । क्, च्, ज्, ड्, ट्, त् । के पश्चात् होता है । ।लड़क्कपन ।, । बच्पन ।, । राज्पूत ।, । चट्पटा ।, 'चटपटा' । उत्पन्न । आदि ।

(फ्) का प्रयोग ।त्। के पश्चात् होता है । ।उत्फुल्ल।

(ब्) का प्रयोग ।क्, ज्, द्। के पश्चात् होता है ।अक्बर।, ।मज्बूर।, ।बुद्बुद।

(भ) का प्रयोग ।द्। के पश्चात् होता है । ।अद्भुत।, ।उद्भव।

(b) **स्पर्श+लुन्ठित या उत्क्षिप्त या पार्श्विक**—निम्नलिखित स्थितियों के अतिरिक्त या उत्क्षिप्त व्यंजन किसी भी स्पर्श व्यंजन के पश्चात् आ सकते हैं—

एक—।र्। का प्रयोग ।छ् झ; ढ। के पश्चात्, नहीं हो सकता ।

---

[१] इसका उच्चारण । गुत्थी । जैसा भी सुन पड़ता है ।

[२] इसका उच्चारण । कूत्ता । भी मिलता है ।

[३] इसका उच्चारण । बान्ता । भी है ।

[४] इसका उच्चारण । चुब्ती । भी है ।

दो—।ल्। का प्रयोग ।घ, ढ, भ। के पश्चात् नहीं हो सकता।

तीन—।ड़। का प्रयोग सघोष महाप्राण तथा ।ड। के पश्चात् नहीं हो सकता।

शेष गुच्छों के उदाहरण ये हैं—

क-स्पर्श+लुण्ठित—।क्र्। ।:।बक्री। 'बकरी' ।ख्र्। : ।बिख्राना।, ।घाग्रा। 'स्त्रियों का एक अधोवस्त्र' ।घुँघ्राले। ; ।कच्रा। 'कूड़ा' ।ज्र्।—।गज्रा। ; ।त्र्। —।खत्रा।; ।थ्र्।—।पथ्रीला।; ।द्र्।—।पाद्री। 'पादरी', ।घ्र्।—।चौध्री। 'चौधरी' । ट्र् ।— । पट्री । 'पटरी'; । ठ्र् ।— । 'गठरी' । ड्र् । — । मड्राना ।[1]; । प्र् । — । खप्रैल । ; । फ्र् । — । अफ्रा । ; । ब्र् । — । घब्राना । 'घबराना'; । भ्र् । — । — । अभ्रक । आदि ।

ख—स्पर्श+पार्श्विक—। क्ल् । — । तक्ली । ; । ख्ल् । — । ओख्ली । ; । ग्ल् । — । पग्ली । ; । च्ल् ।—। मच्ला ।[2], । छ्ल् ।—। मछ्ली ।, । ज्ल् । —। बिज्ली ।; । झ्ल् । — । मझ्ली । ; । ट्ल् । — । पोट्ली । ; । ठ्ल् । — । गुठ्ली । ; । ड्ल् । — । लाड्ली । ; । त्ल् । — । पत्ला । ; । थ्ल् । — । उथ्ला । ; । द्ल् । — । बद्ला । — । ; । घ्ल् । — । घुँध्ला । ; । प्ल् । — । उप्ला । , । फ्ल् । — । डफ्ली । ; बल् । — । दुब्ला ।[3]

ग—स्पर्श+उत्क्षिप्त—। क्ड़् । — । छक्ड़ा । ; । ख्ड़् । — । मुखड़ा । ; । ग्ड़् । — । झग्ड़ा । ; । च्ड़् । = । खिच्ड़ी । , । छ्ड़् । — । बछ्ड़ा । ; । द्ड़् । — । गूद्ड़ी । , । प्ड़् । — । पप्ड़ी । ; । फ्ड़् । — । फेफ्ड़ा । ; । ब्ड़् । — । रब्ड़ी ।

घ—स्पर्श+संघर्षी—कुछ अपवादों को छोड़ कर अघोष संघर्षी, अघोष स्पर्श व्यंजनों के पश्चात्, तथा घोष संघर्षी, घोष स्पर्शो के पश्चात् प्रयुक्त होते हैं। दन्त्य या तालव्य संघर्षी कभी-कभी । द् । के पश्चात् आ जाते है। उदाहरण । बक्फा । 'अवकाश' । नुकसान । , । नकशा । , । उत्साह । , । कब्जा । , । बाद्शाह ।[5]

। य् , व । अर्द्ध स्वर अघोष तथा सघोष स्पर्शो के पश्चात् आ सकते हैं। उदाहरण । हत्या । विद्या । , । विख्यात् । , । विग्यान । 'विज्ञान' । सत्वर । , अद्वैत् ।

[1] इसका उच्चारण ।ड । के साथ भी है ।

[2] स्पर्श संघर्षी ध्वनियों से युक्त ऐसे गुच्छ संदिग्ध हैं ।

[3] इनमें से । ल् । से पूर्व महाप्राण व्यंजनों के आने से गुच्छ स्पष्ट नहीं हैं । कभी तो ये ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाती हैं और कभी इनके पश्चात् कुछ स्वरत्व (Vocalic release) आ जाता है ।

[4] इसके उच्चारण में भी कुछ स्वरत्व सुनाई पड़ता है ।

[5] इस उदाहरण में । द् । का घोष संदिग्ध है ।

ङ—संघर्षी+स्पर्श—अघोष संघर्षी के पश्चात् अघोष स्पर्श, तथा सघोष संघर्षी के पश्चात् सघोष स्पर्श आ सकते हैं। एक अपवाद। स्व्। है।। ह्। अघोष स्पर्शों के पहले अघोष तथा सघोष स्पर्शों से पूर्व सघोष होता है। उदाहरणः।किस्का। 'किसका' ; ।खस्खस् 'खसखस' बस्ती, प्रस्थान, दिलचस्पी, विस्फोट।, । कस्बा।, । लश्कर। 'फौज।' ।पश्चाताप्।, । दृष्टि।, दृष्टि:। निस्ठा।,। रिश्ता।, 'संबंध'। निष्पत्ति। 'निष्पत्ति'। निश्फल। 'निष्फल'। सस्ती,।। दफ्तर,। । मज्दूर। 'मजदूर'। मज्बूत। 'मजबूत'।'। ह+स्पर्श के गुच्छों को लेखक स्वीकार नहीं करता। इनके बीच में स्वरत्व श्रव्य है। अरुणजी ने बहकाना, महगा, पहचान, कहना, मेंहदी उदाहरण इसी प्रकार के गुच्छों को सिद्ध करने के लिए दिए हैं।

च—संघर्षी+पार्श्विक, लुंठित। अरुण जी ने। स्र्,। स्ल,।। ज़र्।, । श्र्।,। श्ल,। फर्,।व्र्, ! व्ल्,।। ह्र्,।। ह्ल्,।। व्ड्। गुच्छ माने हैं।[१] उनमें से अन्तिम तीन लेखक को मान्य नहीं हैं। इनका विभाजक स्वरतत्व स्पष्ट रूप से श्रव्य है। उदाहरण। सुस्राल।, । मुस्लिम।, । हज़्रत।, । विश्राम।, । विश्लेषण।, । नफ़्रत्।. । तीव्रता।, । बाव्ला।[२] 'बावला'।

छ—पार्श्विक+स्पर्श : । बिल्कुल।, । शल्गम।, । लाल्ची। 'लालची' । उल्झन।, । उल्टा।, । डाल्डा।, । गल्ती।, । पाल्थी। (बैठने की एक मुद्रा)। जल्दी। । शिल्पी।, । बुल्बुल।, इस गुच्छ-वर्ग के सम्बन्ध में यह नियम हो सकता है : कि सभी अल्प प्राण अघोष तथा सघोष स्पर्श। ल्। के पश्चात् आ सकते हैं। इसका अपवाद।। ज।। है।[3] महाप्राणों में केवल। झ् थ्। इसके पश्चात् प्रयुक्त होकर गुच्छ घटित कर सकते हैं।

ज—लुंठित+स्पर्श—। ठ, ढ, फ,। के अतिरिक्त सभी स्पर्श। र। के पश्चात् आ सकते हैं।। ट्, ड्। अंग्रेजी के आगत शब्दों में। र्। के पश्चात् प्रयुक्त हो सकते हैं।। चर्का। 'घोखा'। चर्खा। 'चरखा'। निर्गत।, । मर्घट। 'मरघट' । चर्चा। 'चरचा'। दर्जन। '१२'। मुर्झाना।। बर्तन।, । सार्थक।, । सर्दी। । परिवर्धन।, । पार्टी।, । बोर्डिङ।, । सर्पट।, 'बहुत तेज (दौड़ना)।; । शर्बत।,, । गर्भिणी।[४]

झ—उत्क्षिप्त+स्पर्श—केवल अघोष स्पर्श [ङ] के पश्चात् आकर गुच्छ बना सकते हैं।। खिड़की।, । कड़्खा।, 'एक प्रकार का युद्ध गीत;। हड़ताल। आदि।

[१] A comprative phonology of Hindi and Panjabi P. 14

[२] यह गुच्छ भी सदव स्पष्ट नहीं है।

[3] कुछ लोग। इल्जाम। तथा। मुल्जिम। जैसे शब्दों में। ल्ज्। का गुच्छ बोलते हैं।

[४] । सिर्फ। शब्द में। र्फ। का उदाहरण भी मिल जाता है। पर इसका उच्चारण इसी रूप में निश्चित नहीं है।

ञ—पार्श्विक+संघर्षी—सभी अघोष तथा सघोष संघर्षी पार्श्विक के पश्चात् आ सकते हैं। केवल। ल्श्। गुच्छ अत्यन्त विरल है।। गुल्शन। जैसे आगत शब्द ही इस गुच्छ के विरल प्रमाण हैं। अन्य उदाहरण :। तुल्सी। 'तुलसी'। इल्ज़ाम। 'अपराध'। मूल्यांकन।, ।कुल्फ़ी। । सिल्वट। 'सिलवर'। दुल्हन।[1]

ट—लुण्ठित+संघर्षी—सभी संघर्षी लुण्ठित के पश्चात् गुच्छ के द्वितीय सदस्य के रूप में आ सकते हैं। जैसे— । कुर्सी।, । कर्ज़ा।, । वार्शिक। 'वार्षिक' ।पर्याप्त।, बर्फ़ी।, । पर्वत।, । गर्हित।, आदि।

ठ—पार्श्विक+उत्क्षिप्त—ये शुद्ध गुच्छ नहीं है। इनको एक स्वर ध्वनि पृथक कर देती है।[2] यही दशा पार्श्विक+लुण्ठित की है। अतः इनको यहाँ देना अनावश्यक है।

ड—लुंठित+पार्श्विक—इसके उदाहरण अत्यन्त विरल हैं। जैसे। पर्ला। 'उस ओर का'। बिर्ला। बहुत कम।

ण—संघर्षी+संघर्षी—[3] इस संरचना के गुच्छ ये हैं : । ह्व्।। आह्वान। ।स्य। —। तपस्या। , ।स्व। —। तपस्वी।, । श्य। —। आवश्यक। । श्व्। —। ईश्वर।, । स्ख। —। नुस्खा। आदि।

त—नासिक्यों के साथ व्यंजन गुच्छ—नासिक्य प्रायः सभी प्रकार के व्यजनों के साथ गुच्छ बना सकते हैं। इन गुच्छों के ये प्रकार मिलते हैं : नासिक्य+स्पर्श, स्पर्श+नासिक्य, नासिक्य+नासिक्य, नासिक्य+संघर्षी, संघर्षी+नासिक्य, नासिक्य+पार्श्विक, लुण्ठित या उत्क्षिप्त तथा पार्श्विक, लुण्ठित या उत्क्षिप्त+नासिक्य। इनके उदाहरण नीचे दिए गये हैं।

(a) सभी नासिक्य स्पर्शों से पूर्व प्रयुक्त हो सकते हैं।। न्। का प्रयोग।क्, ख्, ग्, च्, त्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, त्, थ्, द्, ध्, प्, फ्, ब्, । के पूर्व हो सकता है। ।ण। का प्रयोग। ट्, ठ्, ड्, ढ्, के पूर्व होता है। ओष्ठ्य नासिक्य। म्। का प्रयोग। क्, ग, च, भ, ट, त्, द्, प, ब्, भ्। के पूर्व होता है। अनुस्वार के संस्वनों का प्रयोग वर्गीय स्पर्शों के साथ होता है : [ङ] का प्रयोग कंठ्य स्पर्शों, [ञ] का प्रयोग च वर्ग, से पूर्व होता है। इनके उदाहरण नीचे दिये गये हैं।

। न्। —। सन्की। 'सनकी'। कन्खी।, 'आँखों की कोर'। खान्गी। 'प्रवाह' ।सन्तान।, । पन्थी। 'पथिक', । बन्दी।, । गन्धी।, । अन्पढ़।, ।'अन्बन।, । कुछ मूर्द्धन्य और तालव्य ध्वनियों के पूर्व भी इसी नासिक्य व्यंजन को माना जाता है। जैसे। खजान्ची।, । भान्जा।, । इन उदाहरणों में। न्। स्पष्ट

---

[1] यह उदाहरण संदिग्ध है।

[2] 'In all cases a vocalic relaese intervenes between the cluster'- Arun, A comparative Phonology of Hindi and panjabi', p. 15.

[3] अरुण जी ने। ह्स।, ।हश्।, । ह्फ़। गुच्छ भी माने हैं। पर लेखक इनसे सहमत नहीं है।

सुनाई पड़ता है। मूर्द्धन्यों से पूर्व इसके प्रयोग के उदाहरण हो सकते हैं। इन उदाहरणों में दन्त्य नासिक्य के स्थान पर मूर्द्धन्य नासिक्य ही सुनाई पड़ता है। अतः इनको यहाँ नहीं लिखा गया है।

। ण् । — । कण्टक । , । कुण्ठित । । पण्डित । , । ठण्डा ।[1] 'शीतल ।'

। म् । — । चम्कीला । , । ठम्गा । पदक' ।चम्चा । 'बड़ी चम्मच', । सम्झाना । , । चीम्टा ।, । जम्ता । , । नम्दा । 'एक प्रकार का कपड़ा' । चम्पा । 'एक फूल' । तम्बू । 'डेरा' । सम्भव । । ं शका । , । पंखा । , । । नंगा । , । कंघा । ,[2] । चचल । , । पञ्छी । , । गजा । , । झंझा । उदाहरणों में [ञ] का प्रयोग है।

(b) क—स्पर्श+नासिक्य—(क) दन्त्य । न् । का प्रयोग किसी स्पर्श ध्वनि के साथ हो सकता है। पर जब इसका प्रयोग महाप्राण स्पर्शों के पश्चात् होता है तो एक स्वरत्व इनको पृथक कर देता है। अतः अल्पप्राण व्यंजनों के पश्चात् ही इसका स्पष्ट प्रयोग मिलता है। जैसे । रोक्ना ।, । उग्ना । 'उगना' । कित्ना । 'कितना' । प्रयत्न ।, । अ रना ।

(ख) ।म्। का प्रयोग भी अघोष, सघोष दोनों के पश्चात् हो सकता है, किन्तु महाप्राण स्पर्श के पश्चात् प्रायः नहीं होता। साथ ही स्ववर्गीय व्यंजनों के पश्चात् इसका प्रयोग नहीं मिलता। उदाहरण: । चक्मा । 'चकमा' । जग्मग ।, । खट्मल ।, । कुड्मल ।, 'कली' । आत्मा ।, । सद्मा । 'हार्दिक चोट' सघोष के पश्चात् जब इसका प्रयोग होता है तो गुच्छ कुछ शिथिल होता है: । अज्मेर । 'एक शहर का नाम'

(C) नासिक्य+नासिक्य

क—। न् । तथा । म् । दोनों ही दीर्घव्यंजन के रूप में तथा एक दूसरे के पश्चात् प्रयुक्त हो सकते हैं। उदाहरण: । गन्ना । [ग् अ न्: आ], । अ म् मा ।

[अ म्: आ] मा'; । उन्माद । 'पागलपन', । साम्ने । 'सामने' आदि ।

(ख) । ण । न दीर्घ व्यंजन के रूप में प्रयुक्त होता है और न । न्, म् । के पूर्व या पश्चात् ही प्रयुक्त होता है। जैसे इसके दीर्घत्व या द्वित्व के उदाहरण लिखने की दृष्टि से मिलते हैं : ।विपण्ण। । अक्षुण्ण । पर इनमें उच्चरित द्वित्व की स्थिति स्पष्ट नहीं है। पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि द्वित्व का आभास भी नहीं मिलता।

(d) नासिक्य+संघर्षी—संघर्षी ध्वनि से पूर्व । ण । के अतिरिक्त सभी नासिक्य व्यंजन प्रयुक्त हो सकते हैं।

[1] इसका उच्चारण । ठण्ड । भी सुन पड़ता है ।

[2] इन उदाहरणों में [ङ] प्रयुक्त है।

। न् । । इन्सान ।, । मन्जिल ।, । मन्शा । 'इच्छा' । मान्यता ।, 'सुन्वाई' 'सुनवाई'

।ं। । संसार ।, । मंजिल ।, । संशय ।, । संयम् ।, संवाद ।

। म् । । घम्सान । 'घमासान' । रम्ज़ान । 'मुस्लिम महीना' । शम्शेर । 'शमशेर' । ग्राम्यता ।

। ज़ । से पूर्व । न् । और ।ं। में स्वतन्त्र वैविध्य है । दन्त्य या ओष्ठ्य नासिक्य के पश्चात् आने पर । य् । अर्द्धस्वर के रूप में रहता है । ।ं। के पश्चात् इसमें अन्तर प्रस्तुत हो जाता है ।

(e) संघर्षी+नासिक्य—। न् । और । म् । अघोष तथा सघोष संघर्षी ध्वनियों के पश्चात् आकर गुच्छ-रचना करते हैं । । ण । केवल । श् । [ष] के पश्चात् आता है । । कस्ना । 'कसना' । कास्नी । 'कासनी' 'एक प्रकार के 'बीज' । चाश्नी । 'चाशनी', । दफ्नाना । 'मृत शरीर को गाड़ना' । टख्ना । 'गुल्फ' । विस्मित । विस्मित' । दुश्मन ।, । ज़ख्मी ।, । हाज्मा ।, 'पाचन' । ।ब्राह्मण ।[1] (इसका उच्चारण 'ब्राह्मण' जैसा हो गया है) । वैष्णव । । । ह् न् । गुच्छ लेखक को स्वीकृत नहीं हैं । । ह् न् । कहीं । न्ह । हो गये है, अन्यथा बीच में स्वरत्व मुखर रहता है । । व्म् । भी अत्यन्त शिथिल गुच्छ हैं जैसे । नव्मी । 'नवमी' ।

(f) नासिक्य+पार्श्विक, लुंठित या उत्क्षिप्त – इस प्रकार के ये गुच्छ हिन्दी में मिलते हैं । म्ल, म्र, म्ड़,ंल,ंर । उदाहरण: । गम्ला । 'गमला' । कम्रा । 'कमरा' । चम्ड़ा । 'चमड़ा' । संलाप ।, । संरक्षण । आदि ।

(g) पार्श्विक, लुंठित या उत्क्षिप्त+नासिक्य—। न् । का प्रयोग । ल् र्, ड़ । के पश्चात्, ।म्। का प्रयोग ।ल्, र्। के पश्चात् तथा । ण । का प्रयोग । र् । के पश्चात् होता है । उदाहरण : । जल्ना । 'जलना' । मर्ना । 'मरना' । सड़्ना ।, । चिल्मन । 'घूँघट' । गर्मी ।, । वर्णन । आदि ।

(ख) मध्यस्थित तीन व्यंजनों के गुच्छ—इनकी संख्या विरल है । सामान्यत: ये व्यंजन गुच्छ । र् । मे अन्त होने वाले हैं । इससे पूर्व स्पर्श+स्पर्श, नासिक्य+स्पर्श, या संघर्षी+संघर्षी गुच्छ रहते हैं । इनके उदाहरण ये है ; । उत्क्रिष्ट । 'उत्कृष्ट' । । उत्प्रेक्षा । (एक अलंकार) ।उच्छ्रिखल। 'उच्छृंखल' ।उद्धित। 'उद्धृत' ।उद्भ्रान्त। 'उद्भ्रान्त' ।सन्क्रान्ति। 'संक्रान्ति' ।मनत्री। 'मंत्री' ।पन्द्रह। '१५' ।सन्श्रित्। 'आश्रित' ।सन्श्लइष्ट। 'संश्लिष्ट' ।सम्भ्र्आन्त। सम्भ्रान्त ।मस्ख्रआ। 'मस्खरा । उच्छ्व्आस। 'उच्छ्वास' ।

(ग) अन्त्य व्यंजन-गुच्छ—ये गुच्छ हिन्दी में कम हैं । अधिकांश उदाहरण संस्कृत, फ़ारसी, तथा अंग्रेजी के आगत शब्दों के मिलते हैं इनकी सूची इस प्रकार है ।

(१) नासिक्य+स्वर्गीय स्पर्श व्यंजन वाले गुच्छ मिलते हैं । इसके अपवाद हैं : । न्फ ।, । ण्ठ । । साथ ही । न्व ।, ।ं स।, ।ं श।, ।म्र।, तथा ।म्ल। भी मिलते हैं । जैसे । । रंका ।, । रंग । शंख।, । संघ । । मंच ।, निकुंज।, ।चण्ट। 'चालाक

।कण्ठ।, ।दण्ड। सन्त। ।बन्द। ।रन्य। ।गन्ध। ।पम्प। ।अवलम्ब। ।गुम्फ। 'बुनना' ।प्रारम्भ। ।कन्व। ऋषि का नाम ।हंस। ।वंश। नम्र ।अम्ल।

(२) ऐसे गुच्छ जिनमें नासिक्य दूसरा व्यंजन हो, ये हैं : । क्म ।, । ग्न ।, । ग्म ।, । घ्न ।, । त्म ।, । त् न् ।, । प्न ।, । क्ष्म ।, ष्ण ।, । श्ग । [ष्ण], । र्म् ।, । फ् न् ।, । ल्म । । गण । इनके उदाहरण इस प्रकार हैं : । हुक्म ।, । मग्न ।, । युग्म । क्रितघ्न । 'कृतघ्न' । अध्यात्म ।. । यत्न ।, । स्वप्न ।, । पद्म ।, सूक्ष्म ।, । तीक्ष्ण । । ग्रीश्म । 'ग्रीष्म' । उश्ण । 'उष्ण' । गर्भ ।, । वर्ण ।, । दफ़्न ।, । गुल्म । । रुग्ण ।

(३) व्यंजन + र् : । तर्क ।, । वर्ग ।, । अर्घ ।, । खर्च ।, । दर्ज ।, । शर्त ।, । अर्थ ।, । मर्द । दर्द ।, । अर्ब । 'अर्द्ध', । दर्प ।, । गर्भ ।, । बर्फ ।, । पर्व ।, । कर्ज । । वर्श । 'वर्ष' । आश्चर्य ।, । मर्त्य ।, । ऊर्ध्व ।, । वर्त्स्य ।, । वर्ण्य । इनमें से अंतिम चार त्रि-व्यंजन-गुच्छ के उदाहरण हैं । । र्ण ।, । र्म । के उदाहरण ऊपर दिए गए हैं ।

(४) र + व्यंजन—उदाहरण । चक्र ।, । अग्र ।, । पत्र । । समुद्र ।, । वज्र । । क्रिच्छ्र । 'कठिन' । शुभ्र । । मह्त्र । तया । मिश्र । इस प्रकार के केवल ये ही गुच्छ मिलते हैं ।

(५) ल् + व्यंजन—। शुल्क । । जिल्द ।, । अल्प ।, ।प्रगल्भ।, ।गुल्फ।, ।मूल्य। । गुल्म । केवल ये ही व्यंजन—गुच्छ इस प्रकार के मिलते हैं । । ल् । द्वितीयांश के रूप मे केवल एक ही शब्द में गुच्छ बनाता है । शुक्ल । 'श्वेत' ।

(६) स्पर्श + स्पर्श—ये गुच्छ मिलते हैं : । क्त ।, । प्त ।, । ब्त ।, । ब्द ।, । ग्ध ।, । द्ध । उदाहरण : । रक्त ।, । प्राप्त ।, । जब्त ।, । शब्द ।, । लब्ध ।, दग्ध । । युद्ध । आदि ।

(७) स्पर्श + संघर्षी—ये गुच्छ इस प्रकार हैं : । क्स ।, । क्ष ।, क्य ।, । क्य । । क्व । ख्श ।, । ख्य ।, । ग्य ।, । च्य ।, । ज्य ।, । ट्य ।, ठ्य ।, । ड्य ।, । त्य ।, । त्व ।, । ध्य ।, । द्य ।, । ध्य ।, । प्य ।, । म्य ।, । त्स । । ब्ज । इनके उदाहरण इस प्रकार हैं : । नुक्स । 'दोष' । दक्ष ।, लक्ष्य ।, । वाक्य ।, । परिपक्व । बख्श । माफ़ । । सख्य ।, भाग्य ।, । सूच्य ।, । । स्वराज्य । । अकाट्य । । पाठ्य । । जाड्य । 'मूर्खता' । सत्य । तत्व । । पथ्य । । पद्य ।, । साध्य । । प्राप्य । । सम्य । । वत्स । । कब्ज । आदि ।

(८) संघर्षी + स्पर्श—। स्त । । फ़्त । । श्त । । स्त । । श्ट । (ष्ट) श्ठ (ष्ठ) । श्क । उदाहरण । तख्त । । मुफ़्त । । बलश्त । । अभ्यस्त । । कश्ट । [कष्ट] । कुश्ठ । कुश्ठ । 'कुष्ठ' ।शुश्क । (शुष्क) आदि ।

इस प्रकार हिन्दी में व्यंजन-गुच्छों की स्थिति महत्वपूर्ण है । लिखने में जहाँ ह्रस्व स्वरों, विशेष रूप से । अ । की स्थिति रहती है, बोलने में कभी-कभी वह समाप्त हो जाती है । परिणामतः व्यंजन-गुच्छ घटित हो जाते हैं । अहिन्दी भाषी क्षेत्रों की उच्चारण-समस्या का एक कारण यह भी है । अहिन्दी-भाषी विशेष रूप से दक्षिण का हिन्दी भाषी इन गुच्छों को नहीं बोलता । इससे उसका उच्चारण हिन्दी के

परिनिष्ठित उच्चारण से भिन्न हो जाता है। हिन्दी-भाषा विज्ञान की पुस्तकों में भी व्यंजन-गुच्छों पर पर्याप्त विचार नहीं किया गया है। इसीलिए ऊपर गुच्छों की समस्त सम्भावनाओं को दिया गया है। गुच्छ शिथिल हैं। पर प्रवृत्ति गुच्छों के घनत्व की ओर है।

१०-२३-३—**हिन्दी की व्यंजन ध्वनियों का विकास क्रम**—संस्कृत से हिन्दी तक व्यंजन-विकास की कई प्रवृत्तियों और स्थितियों का परिचय मिलता है। अपभ्रंश तक इस विकास की कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय पीछे दिया जा चुका है। उनमें से कुछ प्रवृत्तियाँ हिन्दी तक सुरक्षित मिलती हैं और कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है। व्यंजन विकास पद में उसकी स्थिति के अनुसार हुआ है। अत. स्थितियों के अनुसार ही व्यंजन-विकास को नियोजित किया गया है। पर पहले व्यंजन-विकास की सामान्य प्रवृत्तियों को देख लेना समीचीन होगा।

(i) **आदि असंयुक्त व्यंजनों की सुरक्षा**—पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में शब्द के आदि में स्थित व्यंजन यद्यपि सुरक्षित रहता था फिर भी कुछ उच्चारण-स्थान के परिवर्तन के उदाहरण भी मिल जाते हैं : कुन्द > पा० चुन्द ; दाह > डाह। कुछ अपवादों को छोड़ कर अपभ्रंश मे अनुनासिक व्यजन ङ, ञ पद के आरम्भ में नहीं मिलते। साहित्यिक अपभ्रंश में आरभिक न—> ण—की प्रवृत्ति भी प्रबल है। हिन्दी में आरंभिक न—सुरक्षित है : ण का पद के आरंभ में प्रयोग नहीं हो सकता। म—भी प्रारंभ में सुरक्षित है।

आदि में प्रयुक्त अर्द्धस्वर य—विरल अपवादों को छोड़ कर अपभ्रंश में ज—हो गया था। हिन्दी की बोलियो में य—>—ज की प्रवत्ति मिलती है। परिनिष्ठित हिन्दी में य—की सुरक्षा भी मिलती है। कुछ शब्द दोनो रूपो में प्रयुक्त मिलते हैं : यमुना > अप० जमुणा ∽ जउँणा > हि० यमुना ∽ यमुना, योगी > अप० जोइ > हि० जोगी ∽ योगी। इस प्रकार अपभ्रंश में य—की ध्वनिग्रामात्मक स्थिति नहीं मिलती। अर्द्ध स्वर व ही सुरक्षित रहता है। कहीं-कहीं व > ब: बहू < वधू अपभ्रंश में आरंभिक श, ष > स की प्रवृति मिलती है। हिन्दी में श— का प्रयोग पद के आदि में भी हो सकता है। पर ष—का नहीं। संस्कृत आदि स्—सुरक्षित मिलता है: ष > छ: छः < षट,

प्राभाआ क्ष—हि० ख में भी बदल जाता है—क्षीर > खीर और सुरक्षित भी मिलता है : क्षमा, क्षमता। क्ष > छ के उदाहरण भी हैं। छूरी < क्षुरिका।

आरंभिक त— >—ट की प्रवृत्ति भी मिलती है : टेढ़ा < तिर्यक आदि में प्रयुक्त प—का महाप्राणीकृत रूप फ भी मिलता : फरसा < फरसु < परशु। महाप्राणी करण की प्रवृत्ति कुछ अन्य व्यंजनों मे भी देखी जा सकती है—क > ख:

कर्परक > खप्परउ > खप्पर ; √ क्रीड़ > √खेल—ज > झ: ज्वल > √झल—। इसके साथ ही ह—कार का लोप भी मिलता है—भ > ब: बहन > भगिनी। कुछ उदाहरणों में ल— > न—की प्रवृत्ति है, नोन < लोण < लवण। आदि में प्रयुक्त ऋ का विकास हिन्दी मे र—के रूप में हुआ है : रिण '' रिन < ऋण।

इस प्रकार हिन्दी के आरंभिक असंयुक्त व्यंजन के विकास में एक मिश्रित प्रवृत्ति मिलती है। एक प्रवृत्ति स्वाभाविक विकास-क्रम की कड़ी है जो प्राभाआ से मभाआ-काल मे होती हुई नभाआ तक चली आई है। दूसरी कृत्रिम है, जिसका संबंध बढ़ती हुई तत्समता से है। इसके परिणाम स्वरूप संस्कृत के व्यंजन सुरक्षित रहते हैं।

(ii) आदि संयुक्त व्यंजनों का विकास—आदि में प्रयुक्त संयुक्त व्यंजनों की सुरक्षा कम मिलती है। यहाँ समीकरण की प्रवृत्ति क्रियाशील है। इसके परिणाम स्वरूप आदि में प्रयुक्त संयुक्त व्यजन, सरल व्यंजन हो जाता है। ऐसे विकास की सूची नीचे दी जा रही है—

।क। < प्राभाआ क्र : कोस < कोश
< प्रभाआ क्व : काढ़ा < क्वाथ ; कढ़ी < मभाआ कढिआ < प्राभाआ कथित < प्राभाआ स्क: कधा < स्कंध

।ख। < क्ष: खार < क्षीर ; खार < क्षार ; खेत < क्षेत्र । ख < स्क: खभा < स्कम्भ—।

।ग। < ग्र : गाँठ < √ग्रन्थ्— ; गाँव <ग्राम

।छ। < क्ष : छुरी < क्षुरिका ; छार < क्षार ।

।ज। < ज्य : जेठ < ज्येष्ठ ; ज < ज्व : √जला < ज्वाल् । ज < द्य—जआ <द्यूतम्

।त्। <त्र- : तीस<तीसा<त्रिंश ।

।थ्। <स्त-: थन <स्तन; थ< स्थ : थाली<स्थालिका, स्थाली ।

।द्। <द्र : दोना<दोण<द्रोण । द <द्व: दो<द्वौ;

।ट। <त्र :/ट्ट—</त्रुट् ।

।ठ। <स्थ-: ठग<स्थग ।

।प् <प्र : पहर <प्रहर; पगहा<पग्गह<प्रग्रह ।

।फ्। <स्फ : फुर्ती<स्फुरति,√ फोड़:<√स्फोटय । फ<स्प: फाँस< स्पाश ।

।ब। <ब्र : बाम्हन<बम्हण<ब्राह्मण; ब<द्व: बारह<द्वादश; ब<व्य: बाघ <वग्घ<व्याघ्र; बखान<व्याख्यान ।

।न्। < ज्ञ : नाता < पा० ञाति, प्रा०णाइ < सं० ज्ञाति । नैहर < प्रा०णा इहर-, णइहर < ज्ञाति-गृह । न < स्न: √नहा < स्नाति, स्नापयति । नेह < स्नेह

।म्। < म्र : मक्खन < मक्खण < म्रक्षण ।

इस प्रकार संस्कृत शब्दों के आदि में प्रयुक्त संयुक्त ध्वनियों का प्रायः सरलीकरण हो गया । तत्सम शब्दों में ये संयुक्त व्यंजन प्राप्त भी होते हैं । कुछ संयुक्त व्यंजनों से युक्त रूप हिन्दी में प्रयुक्त ही नहीं होते: जैसे क, क्व—, स्क—, स्थ—, आदि ।

(ii) स्वर मध्यग व्यंजन—मभाआ में प्राभाआ के मध्य व्यंजनों का विकास बहुविधि हुआ । इन प्रवृत्तियों पर नीचे विचार किया गया है, तथा हिन्दी में भी उन सूत्रों की स्थिति देखी गई है ।

(अ) लोप—पालि में स्वर मध्यग अघोष स्पर्शों के लोप या उनके स्थान पर—य—,—व—हो जाने की प्रवृत्ति मिलती है : शुक > सुव; खादित > खायित । प्राकृत वैयाकरणों ने, प्राकृतों में क, ग च, ज, त, द, प, ब, य, व के लोप की बात कही है ।[1] हिन्दी में भी अंशतः यह प्रवृत्ति देखने को मिल जाती है । तुलनात्मक सूची देखिए—

सं,	प्रा०	हि०
नकुल	णउल	न्योला
सूची	सूई	सुई
नयन	णअणं	नैन
जीव	जीअ	जी

(अ) स्वरमध्यग अघोष स्पर्श > सघोष स्पर्श—प्राकृत वैयाकरणों ने इस प्रवृत्ति को स्वीकार किया है ।—क—,—त—,—प— > —ग—,—द—,—ब— ।[2] साथ ही—ख—,—थ—,—फ— > —घ—,—ध—,—भ— ।[3] अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति का विकास दो प्रकार से हुआ:—क—,—ग,—च | ,—ज—,—त—,—द—तथा—प— लुप्त ही हो जाते थे ।[4] साथ ही कभी-कभी, सघोषी करण भी मिलता है । —प— > —व—भी मिलता है । हिन्दी में तत्समता की प्रवृत्ति इन्हें सुरक्षित भी रखती है और कहीं-कहीं मभाआ के अनुसार विकास मिलता है । बोलियों में विकास की स्वाभाविक गति ही मिलती है । नीचे उदाहरणों की एक सूची दी जाती है—

[1] प्राकृत प्रकाश २।२; प्राकृत व्याकरण १।१७७
[2] पुरुषोत्तम, प्राकृतानुशासन १७।६ १३; सिद्धहेम, ८।४।३९६
[3] पुरुषोत्तम, वही, १७।७।१३; सिद्धहेम, वही ।
[4] तगारे, ७८

सं०	अप०		हि०	उदाहरण
—क—	>—ग—	=	—ग—	: शुक>सुग, सुग, सुग्ग> हि० बो० सुग्गा, बक> बगला।
	>—क—	=	—क—	: एक>इक, एक, एक्कु> हि० एक
	>—०—	=	—०—	: स्वर्णकार > सोन्नार> सुनार
—त—	>—द—	=	—त—	: आगतः>आगदो> आगत
	>—०—	=	—०—	: चतुर्थ> चउत्थ >चौथ
—प—	>—व,व—	=	—य—	: दीप> दीव > दिया, दीवा।; सपत्नी>सउत्ति, सौत।

अन्य उदाहरण है :

ट>ड : कटु>कडु>कडुवा

ठ>ढ : मठ>मढ>मढ़

ट>ड़ : कपाट>किवाड़

वापी>बावडी

(इ) **महाप्राण स्पर्श व्यंजनों का विकास**—पालि में सघोष महाप्राण व्यंजन >-ह की प्रवृत्ति मिलती है : सधिर>सहिर, साधु>साहु। अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति चलती रही। अघोष महाप्राण सघोष में बदल जाते थे और फिर व्यंजनत्व का लोप होकर ह-कार शेष रह जाता था। हिन्दी में तत्समता से बचकर कुछ रूप इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं—मुख>मुँह; मेघ<मेह; नैहर<नाइघर< ज्ञातिगृह; कथानक>कहानी; बधिर>बहिरा; मुक्ताफल>मुक्ताहल; गभीर>गहरा।

(उ) **महा प्राणीकरण**—स्वर मध्यग महाप्राणीकरण की प्रवृत्ति मभाआ में भी बहुत कम थी और हिन्दी में भी अत्यन्त विरल है। धन्धा<द्वन्द्व (?)

(ऊ) **-ह-कार का लोप**—यह प्रवृत्ति प्राभाआ, मभाआ, तथा नभाआ तीनों स्थितियों में मिलती है। अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति कुछ मन्द पड़ गई। हिन्दी में भी इसके उदाहरण मिलते हैं : शृंखला>साँकल। यह प्रवृत्ति अन्त्य व्यंजन के विकास में विशेष रूप से मिलती है।

(ए) **मूर्द्धन्यीकरण**—अपभ्रंश में दन्त्य ध्वनियों के मूर्द्धन्यीकरण की प्रवृत्ति मिलती है। हिंदी में भी कुछ कुछ इसके चिह्न मिलते हैं। —ऋ+त>ट : मिट्टी< मृत्तिका; बड़ा<वृद्ध; —र+दन्त्यः ढीला<शिथिर। —र+द : कौड़ी>कवड्डिय <कपर्दिका। कभी कभी असंयुक्त स्वर—मध्यम दन्त्य भी मूर्द्धन्य हो जाते हैं :

√पड़ < √पड़ < पत् — ; बड़ (बड़ाना) < प्राभाआ बद् । तवर्ग की इन स्थितियों में सुरक्षा भी मिलती है ।

(ई) **समीकरण**—हिन्दी के अधिकांश स्वर मध्यग असंयुक्त व्यंजन संस्कृत के संयुक्त व्यजनो के मध्यकालीन समीकृत रूपों के सरलीकृत रूप हैं । मध्यकाल के प्रारम्भिक भाषा रूपों में समीकरण की प्रवृत्ति चलती रही । अपभ्रंश में स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण के साथ या वैसे ही समीकृत व्यंजनो का सरलीकरण होने लगा था । हिन्दी में यह प्रवृत्ति और अधिक विकसित हो गई । नीचे संयुक्त व्यंजन की विकास-दिशाओं का निर्देश किया गया है ।

क्ष—पूर्वी अपभ्रंशों में इसका विकास—क्ष—>—ख—;क्ख—रूप में मिलता है । पश्चिमी अपभ्रंशों में दो दिशाएँ मिलती हैं '—क्ष—>—ख—, —क्ख तथा —क्ष—>—छ—हिन्दी में ये दोनों प्रवृत्तियाँ मिलती हैं : आँख<अक्षि; रीछ<ऋक्ष ।

स्पर्श+स्पर्श—इसमें द्वितीय व्यंजन के साथ मभाआ में समीकरण हुआ और हिन्दी में सरलीकरण ने प्रथम को लुप्त कर दिया । दूसरा शेष रहा : दूध <दुग्ध; सात<सप्त ।

स्पर्श+अनुनासिक—में स्पर्श प्रायः सुरक्षित मिलता है : आग<अग्गि<अग्नि ।

ज+ञ (ज्ञ)—>ग्य : आग्या<आज्ञा; ज्ञ>न : रानी<राज्ञी ।

अनुनासिक+स्पर्श—इसमें प्रायः सरलीकरण के फल स्वरूप पूर्व स्वर के दीर्घीकरण के साथ ही, नासिक्यीकरण भी मिलता है । जाँघ<जङ्घ; काँटा<कण्टक; चाँद<चन्द्र; काँपना<कम्पन ।

स्पर्श+य—तत्समों में यह संयोग सुरक्षित मिलता है । अन्य स्थलों पर-य का लोप हो जाता है : योग्य>जोग (ब)

स्पर्श+र—(अ) क्+र=क्र>ख : खेन<क्रीड—; क्र>क : चाक<चक्र; क्र> ङ्क : ँक : बंक, बाँक<वक्र । (आ) ग्+र=ग्र>ग : आगे< अग्ग<अग्रे; (इ) घ्+र=घ्र>घ : बाघ<व्याघ्र; (ई) त्र>त : खेती<क्षेत्रित । इस प्रकार र के लुप्त होने और स्पर्श के सुरक्षित रहने की प्रवृत्ति मिलती है । र यदि पहले है तो भी विकास ऐसा ही मिलता है : दुबला<दुब्बल<दुर्बल

स्पर्श+व्—में भी व का लोप ही मिलता है : पका<पक्व

उक्त स्थितियों में स्पर्श व्यजन की सुरक्षा तथा अन्तस्थ का लोप मिलता है । पर अन्तस्थ लुप्त होने के साथ ही स्पर्श को अपने स्थान का स्पर्श बना देता है । दन्त्य स्पर्श य> च वर्ग; दन्त्य स्पर्श+र>ट वर्ग तथा दन्त्य स्पर्श+व>ध । जैसे सत्य > सच साँच; वन्ध्या>बाँझ ; वर्तिक > बटेर ; कपर्दिका > कौड़ी ; गंत्री> गाड़ी ; वृद्धत्व> बुढ़ापा ।

स्पर्श+ऊष्म—इस स्थिति में ऊष्म के लोप और स्पर्श व्यंजन की सुरक्षा की प्रवृत्ति मिलती है। ऊष्म से पूर्व के अल्प प्राण व्यंजन का महाप्राणीकरण हो जाता है। पश्चिम > पच्छांव ; अक्षि < आंख ; स्तन > थन ; हस्त > हाथ ; जिह्वा > जीभ ; ग्रह्न्य > गुझिया।

अनुनासिक+अन्तस्थ—अन्तस्थ लुप्त हो जाता है। शून्य > सूना ; कर्ण > कन्न > कान ; कर्म > काम।

अनुनासिक+ऊष्म—प्राभाआ के इस प्रकार के संयुक्त व्यंजनों का विकास ह+अनुनासिक के रूप मे हुआ है। फिर ध्वनि विपर्यय से अनुनासिक+ह हो जाता है। दक्षिणी अपभ्रंशो मे—ष्न—>ट्ठ मिलता है : विन्टु < विष्णु। सामान्यत: ष्ण > ण्ह : कण्ह < कृष्ण (हि० कान्हा, कन्हैया) स्न—का विकास भी मभाआ में—ह्न—होता हुआ—न्हा—हो गया। मध्यग—ज्योत्स्ना > जुन्हैया (बो०)—स्म—> म्ह भी मिलता है।

स्वर—भक्ति—संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के साथ साथ स्वर भक्ति की प्रवृत्ति चलती रही। के वर्ग का सघोष स्पर्श आ जाता है : ताम्र > तांबा ; कर्म > करम ;

(iii) **व्यंजनों का इतिहास**—ऊपर स्वर मध्यग संयुक्त और असयुक्त व्यंजनों के विकास की प्रवृत्तियों का सामान्य परिचय दिया गया है। अब हिन्दी के समस्त व्यंजनों के इतिहास की सूची दी जा रही है।

अ—कठ्य स्पर्श—

(क)—(i) आदि . क् < प्रभाआ क : कपूर < कर्पूर ; काम < कर्म क् < प्राभाआ क्ष— : कोस < क्रोश। क् < प्राभाआ क्व : कढ़ा < कढ़ीआ < क्वथिता। क् < प्रभाआ स्क— : कन्धा < स्कन्ध (मभाआ—खन्ध)

(ii) अन्यत्र—क्— < प्राभाआ क् : एक् < एक ; —क्— < —क्क— : चिकना < चिक्कण ; क् < त्क : √ चूक < मभाआ √ चुक्क < प्राभाआ च्युत—कृ ; क्— < प्राभाआ —र्क— ओक < अक्क < अर्क ; मकड़ी < मर्कटक। क्— < प्राभाआ —ष्क—: चौक् < चउक्क < चतुष्क —क्— < —क्र : चाक < चक्क < चक्र। —क्— < —क्व— : पका < पक्क < पक्व।—क्— < प्राभाआ—क्य— : मानिक < माणिक्क < माणिक्य। विदेशी शब्दों में सुरक्षित है।

(ख)—(i आदि : ख— < ख्— : खजूर < खज्जूर < खर्जूर। ख < प्राभाआ क्ष— : खीर < क्षीर ; खेत < खेत्त < क्षेत्र। ख— < स्क— : खभा < स्कम्भ। ख— < क— खप्पर < प्राभाआ कर्पर।

(ii) अन्यत्र : —ख्— < —क्ष— : पाख < पक्ख < पक्ष। —ख— < —ष— भाखा (बो०) < भाषा। —ख्— < —ष्क—

: पोखर < पुष्कर ; सूखा < शुष्क । — ख् — < ख्य : बखान < व्याख्यान ।

(ग)—(i) आदि— — ग् — < ग् — : गाल < गल्ल < गल्लः ; ग्वाला < गोपाल: । ग — < ग्र— : गाहक < ग्राहक ।

(ii) अन्यत्र—ग् — < —ग्र् — , — ग्न ; — ग्य — ; द्ग— , र्ग— , — ल्ग — : पगहा < परगह < प्रग्रह । नंगा < णग्ग < नग्न ; सोहाग < सौभाग्य ; मूंग < मुद्ग ; गागर < गर्गर फागुन < फाल्गुन ; बाग < बल्गा । — ग्— < — क् — : सगुन < शकुन । ज्ञ का उच्चारण ग्य के समान हो जाने से यग्य < यज्ञ । विदेशी शब्दों मे ग < ग़ : बाग < बाग़ ।

(घ)—(i) आदि : घ— < घ — घोड़ा < घोटक ।

(ii) अन्यत्र :— घ — < — ग्घ —, —द्घ : बाघ < बग्घ < व्याघ्र । < उघाड़ — < √ उग्घाड < √ उद्घाटय ।

आ—मूर्द्धन्य स्पर्श—

। ट् ।— (i) आदि : ट्— < प्राभाभा ट— : टकसाल < टङ्कशाल । ट् — < त— : टेढ़ा < तिर्यक । ट्— < त्र — : √टूट— < त्रुट्—

(ii) अन्यत्र : ट् — < प्राभाआ—ट्ट—, —ण्ट —, — र्त— ष्ट—, ष्ट्र—, ष्ठ्— : लगोट < लिंगपट्ट ; कांटा < कण्टक ; काटना < कर्तनं ; केवट < कैवत ; ईंट < इष्टकः । ऊंट < उष्ट्र ; कोट < कोष्ठ, कटहल < काष्ठफल ।

। ठ् ।—(i) आदि-देशी शब्दों के आदि मे आता है : ठेलना, ठूँठ । ठ्— < स्थ— : ठग < स्थग ।

(ii) अन्यत्र—ठ— < ठ —,—न्थ— ष्ठ—ष्ट—: कंठी < कण्ठिका ; गाँठ < गंठि < ग्रन्थि, काठ < काष्ठ ; मीठा < मिष्ट ।

। ड ।—(i) आदि—देशी शब्दों मे मिलता है। डोंगी, डगर ड— < प्राभाआ ड— : डर ।

(ii) अन्यत्र—। ड ।=[ड] : [ड़] < — ट् —,—ड्य—, स्थ—,— ड्ड—,—ण्ड—,—न्द—। कड़ाही ∽ कढ़ाई < कडाह < कटाह ; जाड़ा < जड्डा < जाड्य ; हाड़ < हड्ड < अस्थि ; बड़ा < बड्ड < वड्ड ; भाड़ < भ्राष्ट्र ; सँड़ासी < सन्दाशिका ।

। ढ ।—(i)आदि—देशी शब्दों में मिलता है : ढँग, ढाँचा ; ढ — < — धृ : ढीठ < ढिट्ठ < धृष्ट ।

(ii) अन्यत्र — । ढ ।= [ढ़] : — ढ़ < —र्ध —,— ढ् —ड्ढ ढेढ़ < द्वि-अर्द्ध ; √ पढ़ — < √ पठ्—; बूढ़ा < वृद्ध ।

।त्। दन्त्य स्पर्श—(i) आदि : तेल < तेल्ल < तैल ; तमोली < तम्बोलिअ < ताम्बूलिक । त् — < त्र — : तीस < त्रिंश √तोड़ < । √ तोड़ — त्रोटय ।

(ii) अन्यत्र—त्— < —त्र—, —तं—, —क्त—, —त्त—, —प्त—, क्त्र— : खेत < क्षेत्र , बात < बत्ता < वार्ता, मोती < मोत्तिअ < मौक्तिक मत (वाला) < मत्त , (माता में) सात < सत्त < सप्त । नाती < नत्तिअ नप्तृ + क्, जोत < जोत्त < योक्त्र ।

।थ। (i) आदि-थ्— < स्त ; स्थ— , थन < स्तन ; थाली < स्थालिका कुछ देशी शब्दों में भी प्रयुक्त होता है । थूनी, थप्पड़ ।

(ii) अन्यत्र—थ— < —स्त— , —स्थ— , —र्थ— , —न्थ— , त्थ —पोथी = पुस्तिका ; हाथ = हत्थ = हस्त । चौथ < चउत्थ < चतुर्थ । मथनी < मन्थनिका । कैथ < कइत्थ < कपित्थ ।

।द्।—(i) आदि— < द— द्र—, —द्व : दही < दहि < दधि ; दाम् < दम्म = द्रम्म ; दो = दो = द्वौ ।

(ii) अन्यत्र—ग— < —द्र— , —र्द— , —न्द्र— , : भादों < भद्दवअ भाद्रपद ; हल्दी < हलिद्दा < हरिद्रा । ; चाँद < चन्द्र ।

।ध्—(i) आदि—ध— < ध— : < धान < धन्न = धान्य ; धूर < धूलि < धूलि : ।

(ii) अन्यत्र—ध— < ग्ध— , —ध्र— , —र्ध—द + महाप्राण : दूध < दुद्ध < दुग्ध ; गिद्ध (गीध) < गृध्र ; आधा < अर्ध + क् । गधा < गर्दभ ।

ई—ओष्ठ्य स्पर्श

।प। (i) आदि—प— < प— , —प्र— , : पान < पर्ण, पूत < पुत्र । पहर < पहर < प्रहर ।

(ii) अन्यत्र—प्— < —त्प—, —ल्प— , —म्प—, — , त्म्—र्प— : उपजे < उप्पज्जइ = उत्पद्यते । पीपल < पिप्पल । काँप < कम्प— । अपना < अप्पण < आत्मन । साँप < सप्प < सर्प ।

।फ्।—फ्— —फ—, स्फ — प —,ल्प— : फागुन < फाल्गुन , फुरइ < स्फुरति, फोड़—(ना) < फोड़ < स्फोटय । फरसा < परशु । फाँस < स्पाश् ।

।ब्।—(i) आदि—ब्— < ब— , ब— , द्व— , व्— , व्य— , भ— : बहिरा < बधिर ; बम्हन < बम्हण < ब्राह्मण ; बारह = द्वादश ; बहू < वधू ; बाघ < व्याघ्र ; बहिन < भगिनी ।

(ii) अन्यत्र—ब्— < — द्व —, — म्ब —र्व,— र्व —, — भ्र —, : छब्बीस < षड्विंशति ; नींबू < निम्बुक ; दुबला < दुब्बल ; दूब < दुब्बा < दूर्वा । ताँबा < ताम्र ।

। भ ।—(i) आदि—भ— < भ, भ्य—, भ्र—, म + ह—; ह—; भीख <

भिक्खा < भिक्षा ; भीतर < भितर < अभ्यन्तर ; भाई < भ्रातृ ; भैंस < महिस < महिष । भेस < वेष ।

(ii) अन्यत्र—भ—<—र्भ—,—ह्व—,—भ—: गाभिन < गब्भिणि < गर्भिणी । जीभ < जिह्वा ; शुभ । आदितत्समों में

उ—स्पर्श संघर्षी—

। च ।—(i) आदि च—< च— : चोर < चोर ; चीता < चित्तअ < चित्रक ।

(ii) अन्यत्र—च—< च्च—,—च—,—त्य—,—य—,—र्च—। ऊंचा < उच्च ; पाँच < पञ्च ; नृत्य < नाँच ; लालच < लालसा ; कूची < कूचिका ।

। छ ।—(i) आदि—छ—< छ्—, ष—, क्ष—, श— : छाता < छत्र छः < छह < षट् ; छुरी < क्षुरिका ; छकड़ा < शकट ।

(ii) अन्यत्र—छ—< च्छ—.—श्च्—,—त्स—,—क्ष—। कछुआ < कच्छुव < कच्छपः : बिच्छू < विच्छिअ, बिच्छुअ < वृश्चिकः । बछ (ड़ा) < बच्छडअ < वत्स ; मूँछ < म्हच्छु < श्मश्रु ।

। ज । (i) आदि—ज—< ज्—,—ज्य—, ज्व—, द्य—, य—। जामुन < जम्बुल ; जेठ < ज्येष्ठ; √जला—< पा० जलेति, प्रा० जलावण, < √ ज्वाल्—(ज्वालयति) ; जुआ < जूअं < द्यूतम् । जुआ < जुअं < युगम ; जूँ < जूआ < यूका ।

(ii) अन्यत्र—ज—< ज—;—ज्ज—, ज्ज्व—,—ज्य—,—द्य—ञ्ज—,—द्य—,—र्ज—,—र्य— भौजाई < भ्रातृ—जाया ; काजल < कज्जल ; उजला < उज्ज्वल ; राज् < राज्य ; बाजा < वाद्य ; पिंजरा < पञ्जर ; सेज < सेज्ज < शय्या ; खजूर < खज्जूर < खर्जूर ; काज कज्ज कार्य ।

। झ । (i) आदि—झ—< मध्यगा झ : झगड़ < झगड ; झगड़ा अनुरणनात्मक शब्दों में झंकार ।

(ii) अन्यत्र—झ—< ध्य ओझा < उपाध्याय, √ बूझ (ना) < बुज्झ < बुध्य ; √ समझ < सम् √ बुध्-य ।

ङ—अनुनासिक—[ङ] संस्कृत के कवर्ग से पूर्व प्रयुक्त होता था । कहीं-कहीं इसका लोप होकर पूर्व स्वर के नासिक्यीकरण के रूप में इसका अवशेष रह गया है उँगली < अंगुल । कहीं-कहीं सुरक्षित है : कंगाल < कंगाल । इससे पहले इसको ध्वनि ग्राम नहीं माना है । [ञ] भी च वर्ग से पूर्व मिलने वाला एक संस्वन है—चंचल=चञ्चल । [ण] या तो मूर्द्धन्य ध्वनियों से पूर्व मिलता है, या संस्कृत के तत्सम शब्दों में : चरण मरण ।

। न् (i) आदि—न—< न—ज्ञ—, ल—। नाई < पा० नहापितो, प्रा० ण्हाविअ, णाविद < नापित । नाता < णाइ < ज्ञातिः । नोन < लवण ।

(ii) अन्यत्र—न—, <—न्न—,—र्ण—,—ण—,—न्न—,—ण्य—,—

बिनती < विण्णत्तिअ < विज्ञप्तिका ; कान < कण्ण < कर्ण ; √ गिन् < ना) < √ गण—; पानी < पानीय ; अनाज < अन्नाद्य ; धान < धान्य ;

। ण्ह ।—ण्ह < ष्ण, ह्ण : कान्हा < कण्ह < कृष्ण ; चिन्ह < चिह्न ।

। म ।—(i) आदि—म—< म्—, स्म—श्म—, : माथा < मत्थअ < मस्तक ; मक्खन < म्रक्षण ; मसान् < श्मशान ।

(ii) अन्यत्र—,—म्र—,—र्म—: आम < आम्ब < आम्र ; चाम < चम्म < चर्म ।

। म्ह :—म्ह < ह्म : बाम्हन < ब्राह्मण ।

ए—पार्श्विक—

। ल् ।—आदि—ल—< ल्—: लोहा < लोह < लौह । लाख < लक्ख लक्ष—।

(ii) अन्यत्र—ल—<—ल—,—ड—,—द्र—,—र—,— र्ण —,—र्य —ल्य—,—ल्ल—ल्व— : आँवला अ वँ न अ > आमलक; स लह् सोड़स-सोड़ह < षोडश भला < भल्ला < भद्रक ; चालीस < चत्वारिंशत ; √ घोल—< √ घोल्ल < घूर्ण ; पलंग < पल्लंग < पर्यंक ; मोल < मुल्ल, भालू भल्लुअ, बेल विल्व ।

ऐ— लुंठित —

। र ।—(i) आदि : र—< र—,—ऋ : रात < रत्ति < रात्रि । रिन < ऋण ।

(ii) अन्यत्र—र—<—र—,—ऋ—द—: गोरा < गोरअ < गौर ; √क र्—√कर् < √कृ ; √भ र् < √भृ—। बा रह < द्वादश ।

ओ—अर्द्धस्वर—

। य ।—यह भारोपीय भाषा का अर्द्धस्वर है। संस्कृत में यह सुरक्षित रहा। पुरानी स्लावी आदि कुछ भाषाओं में इसके स्थान पर ज हो गया। अशोक के शिला लेखों में सुरक्षित भी मिलता है और य > ज भी : यजुर < मयूर । य > अ भी : यथा > अथा । प्राकृतों में भी ऐसी ही प्रवृत्ति रही। हिन्दी में यमुना > जमुना, प्रिय > पिआ, तथा आचार्य > आचारी से इन प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। तत्सम शब्दों में यह सुरक्षित है।

। व ।—आदि में प्रायः व—> ब मिलता है : बचन < वचन । तत्सम शब्दों में मध्य क—व—सुरक्षित हैं : यवन ।—म्—> व का रूप भी मिलता है : कुवाँरा < कुमार । आँवला < आमलक ।

औ—संघर्षी—(ऊष्म)

। स् ।—(i) आदि—स < श्य— , श्र—, श्व—,स्व— : साला < सालअ < श्यालक, सेठ < सेट्ठ < श्रेष्ठिन् ; सास < सस्सु < श्वश्रू ; साईं < सामि < स्वामी ।

(ii) अन्यत्र—स—<—श्व—, श्व—, श्म—, ष्य—, स्य—, स्व—।

पास<पस्स<पार्श्व, रास<रस्सि<रश्मि ; मानुस<मणुस्स<मनुष्य ; कांस कंस<कस्य ; मौसी<माउसिअ<मातृ—ष्वस।

।श।—केवल तत्सम शब्दों में मिलता है। ष—का उच्चारण भी श जैसा हो गया है।

।ह।—: (i) आदि ह—∠ह : हरा∠हरिअ∠हरित ; हाथीह∠त्थि =हस्तिन।

(ii) अन्यत्र—ह—∠—ख— , —घ— , —थ—,—म— , —घ— म— : लोह लोहा ; मुँह∠मुख; रहँट∠रहट्ट∠अ र घ ट्ट ; √कह—∠+कथ्—; बहरा=बधिर ; सोहाग=सौभाग्य। सोलह=षोडश।

(iv) अन्त्य व्यंजन—मध्य कल में अन्त्य व्यजनों का लोप हो गया था। सभी पद प्राय: स्वरान्त हो गये थे। हिन्दी में भी व्यंजनान्त शब्द अत्यल्प हैं। अन्त्य ह्रस्व स्वरों के लुप्त होने के कारण कुछ, शब्द व्यजनान्त हो गये हैं। आधुनिक परिवर्तन होने के कारण इसका अन्त्य व्यजन पर अभी विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है।[1]

(v) व्यंजन परिवर्तन—मध्यकालीन भाषाओं में ही व्यंजन विपर्यय की प्रवृत्ति विकसित हो गयी थी। हिन्दी में भी इस प्रवृत्ति के अवशेष मिलते हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

(१)—ड—तथा—ल— : बिल्ली ∽ बिलारी—बिडाल
(२)—द—तथा—ल— : पलीता (=पलित्त) प्रदीप्त
(३)—न—तथा—ल— : लोनी—नवनीत
(४)—र—तथा—ल— : दिलिद्दिनी—दरिद्र

इस प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण भी हैं।

(vi) व्यंजन विपर्यय—इसके उदाहरण ये हैं—वाराणसी—बनारस; हलुअ (बो०) या हलुक=लघुक : पहरना (बो०) परिधापित ; घर=गृह : गडुर=गरुड़ विदेशी शब्दों में भी मिलता है : मतलब=मतबल; लखनऊ=नखलऊ । श्न, श्म, स्न, स्म, ह्न, कान्ह, म्ह, हो जाना व्यंजन विपर्यय की प्रवृत्ति से ही सम्बन्धित है।

(vii) क्षति पूर्वक नासिक्यीकरण—संयुक्त व्यंजन=नासिक्य असंयुक्त व्यंजन में इसका परिचय मिलता है—बक=वक्र। बाँका में अनुनासिक लुप्त हो गया है और स्वर नासिक्य हो गया है। पछी, पखी=पक्षी। यह प्रवृत्ति मध्यकाल में मिलती थी। हिन्दी में स्वर के नासिक्यीकरण हो जाने की प्रवृत्ति विकसित हुई है।

(viii) विदेशी ध्वनियों का विकास—कुछ अरबी-फारसी ध्वनियाँ हिन्दी में आ गई हैं। अरबी ध्वनियाँ फारसी के माध्यम से ही प्राय: आई हैं। अत: अरबी ध्वनियों को विश्वास की दो स्थितियाँ पार करनी पड़ीं। जिह्वामूलीय अघोष स्पर्श क़ तथा ओस्ठ्य संघर्षी फ़् तथा जिह्वामूलीय अघोष, सघोष सघर्षी ख़ (खे) तथा (ग़ाफ) हिन्दी में क्रमश: क, ख, ग, फ, हो गये हैं। केवल तत्सम शब्दों में शिष्टों के द्वारा ध्वनियों का उच्चारण सुनाई देता है।

[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास, ११३।

११

आक्षरिक विधान और अन्य खंडेतर ध्वनिग्राम

११· पिछले अध्याय में हिन्दी के ध्वनिग्रामों, उनके संस्वनात्मक वैविध्यों और उनके इतिहास पर विचार किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी के आक्षरिक विधान (Syllalbic Structurer) विभाजक (juncture) स्वराघात तथा सुरसरणियों (Pitch lebels) पर विचार किया गया है। दोनों अध्याय मिलकर हिन्दी के ध्वनितत्व का समग्र परिचय देते हैं।

११·१· आक्षरिक विधान—प्राचीन ध्वनि शास्त्रियों के अनुसार स्वर के द्वारा अक्षर की रचना होती है।[1] स्वर स्वयं ही अथवा व्यजन के साथ अक्षर बनाने में सक्षम है।[2] इस प्रकार ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से स्वर की परिभाषा अक्षर-रचना की क्षमता से सम्बद्ध है। अक्षर की परिभाषा यह की गई है कि जिसका क्षय नहीं : अ+क्षर।[3] निरुक्त के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति अक्ष 'धुरी' से हुई है : बोलने की यह धुरी है।[4] इस प्रकार अक्षर, विधान तथा भाषा के अस्तित्व में स्वर का महत्व स्वीकार किया गया था। आधुनिक दृष्टि से अक्षर मुखरता (Sor orsity) का सर्वोच्च बिन्दु है, जिसके साथ कुछ घाटियां सम्बद्ध हो भी सकती हैं अथवा बिना घाटियों के भी हो सकता है। सर्वोच्च बिन्दु (peaks) की संख्या ही अक्षर-संख्या है। इसके विभाजन पर आगे विचार किया गया है (१०·२·१) यहां सामान्यतः हिन्दी के आक्षरिक क्रम की सूची दी जा रही है—

११·१·१· एकाक्षर—अक्षर स्वर-व्यंजन का संयोग होता है। नीचे इस संयोग का क्रम दिखाया गया है। इसमें अ=स्वर तथा ह=व्यंजन मानना चाहिये।

अ··· ··· ··· [आ] मध्यम पुरुष, एक॰ आज्ञा॰

अ ह्··· ··· ··· [आम्] 'आम'

ह् अ··· ··· ··· [पुई] मध्य॰ पु॰ एक॰ आज्ञा॰

अ ह् ह्···· ···· ···· [अ क् ल्] 'अक्ल'

अ ह् ह् ह्···· ··· [अ स् त् र्] 'अस्त्र'

---

[1] अथर्व॰, १।६३, स्वरोऽक्षरम।

[2] स्वयंजनः··· शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्, ऋक॰ प्रा॰ १८।३२

[3] अक्षरम न क्षरं विद्यात्. महाभाष्य।

[4] न क्षीयते वाक्षयो भवति: वाचोऽक्ष इति वा, १३।१२

ह ह अ··· ···· ···[श् र ई] 'श्री'
ह अ ह··· ··· ···[ढ् आ ल्] 'ढाल'
ह अ ह ह··· ··· ···[द् अ र् प्] 'दर्प'
ह अ ह ह ह··· ··· [श् अ् स् त् र्] 'शस्त्र'
ह अ ह ह ह ह··· ··· [व् अ र् त् स् य्] 'वर्त्स्य'
ह ह अ ह··· ··· [श् ल् ए श्] 'श्लेष'
ह ह ह अ ह··· ··· [स् त् र् ऐ ण्] 'स्त्रैण'
ह ह अ ह ह···· ··· [श् ल् इ ष् ट्] 'श्लिष्ट'
ह ह अ ह ह ह··· ··· [स् व् आ स् थ् य्] 'स्वास्थ्य'
ह ह ह अ ह ह··· ··· [स् प् र् अ ष् ट] 'स्पृष्ट'

११·१·२· एक से अधिक अक्षरात्मक

अ अ··· ··· [आ ओ] मध्य० प्र० बहु० आज्ञा० या एक आदरार्थक।
ह अ अ···· ··· [ज् आ ओ] ,,
अ ह अ··· ···· [आ न् आ] ,,
ह अ ह अ··· ··· [ब् ओ ज् आ] 'बोजा' ,,
ह अ ह ह अ··· ··· [ध् अ क् क् आ] 'धक्का' ,,
ह ह अ ह अ··· ··· [क् य् आ र् ई] 'क्यारी' ,,
अ ह ह अ ह··· ··· [अत्तार] 'इत्र बेचने वाला'
अ ह ह अ··· ··· ··· ···[उ ल् ल् ऊ] 'उल्लू'
ह अ ह ह अ ह ···· ···· ···[स् अ प् त् आ ह] 'सप्ताह'
अ ह ह ह अ ··· ···· ····[ऊ र् ध् व् अ] 'ऊर्ध्व'
ह ह अ ह ह ह अ ··· ··· ···[ज् यो त् स् न् आ] 'ज्योत्स्ना'
ह अ ह ह ह ह अ ··· ··· ····[भ् अ र् त् स् न् आ] 'भर्त्स्ना' ~ 'भर्त्सना'
ह अ ह ह ह अ ··· ··· ···[श आ स् त् र् ई] 'शास्त्री'

इस सूची से द्वयाक्षरात्मक विधान का कुछ परिचय मिल सकता है। नीचे तीन अक्षरों का शब्द विधान दिया जा रहा है —

अ अ अ ··· ···· ···[आ इ ए] 'आइये'
ह अ अ अ ··· ···· ···[जा इ ए] 'जाइए'
ह अ ह ह अ ह अ ···· ··· ···[म् अ स् त् आ न् आ] 'मस्ताना'
ह अ ह अ ह अ ··· ··· ···[ब् उ ह् आ र् ई] 'बुहारी'
ह अ ह अ अ ··· ··· ···][ब् अ त् आ ई] 'बताई'
अ ह अ ह अ ··· ··· ···[आ ज् आ द् ई] 'आजादी'

यह सूची पूर्ण तो नहीं है, पर इससे कुछ आभास हो सकता है। चार अक्षरों वाले शब्द मिलते हैं [आ ध् आ स् ई ई] 'आधा सीसी'। इससे अधिक का विधान

भी है। हिन्दी का आक्षरिक विधान संस्कृत तत्सम शब्दों के कारण व्यंजन गुच्छों से युक्त हो गया है। यदि केवल तद्भव शब्दों को लिया जाय तो इतने प्रकार के व्यंजन गुच्छ न हों।

१०-२ संयोजक (junctures)—विभाजकों के विवेचन को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। अक्षरात्मक विभाजन (Syllabic division) शब्द-विभाजक तथा वाक्य-विभाजक।

१०-२-१ अक्षर विभाजक—स्वर अक्षर का उच्चतम विन्दु होता है। अतः एकाक्षरात्मक विधान में अक्षर-विभाजन सरल है। दो अधिक अक्षर वाले शब्दों में कुछ कठिनाई उपस्थित होती है। विशेषत : उन स्थानों पर विभाजन-विन्दु का निर्धारित करना कठिन होता है जहाँ व्यंजन-गुच्छ आये हों। इनकी विभाजक रेखा निश्चित करने में यह देखा जाता है कि कौन से व्यंजन किन स्वरों से सम्बद्ध हैं। इसी सिद्धान्त पर प्राचीन आचार्यों ने अक्षर का विभाजन किया था। सामान्यतः स्वर-मध्यग (Intervocalic) व्यंजन, आदि व्यंजन तथा आदिव्यजन गुच्छ अपने से पीछे आने वाले स्वर से सम्बद्ध माने जाते हैं; और मध्य में प्रयुक्त व्यंजनगुच्छ का प्रथम भ ग तथा अन्त्य व्यंजन अपने से पूर्व स्वर से।[1] कहीं कहीं मध्य व्यंजन गुच्छ के विवरण को ऐच्छिक रखा गया है : चाहे तो उसका प्रथम भाग पूर्व स्वर से और उत्तर भाग उत्तर स्वर से सम्बद्ध माना जाय अथवा पूर्ण गुच्छ को उत्तर स्वर से सम्बन्धित माना जाय।[2] कुछ ने इसमें भी विभाजन किया है : व्यंजन+अर्द्धस्वर, तथा स्पर्श+संघर्षी व्यंजनगुच्छ अपने पीछे के स्वर से सम्बन्धित रहते हैं।[3] हिन्दी के अक्षर-विभाजन में भी प्रायः ये ही नियम लागू हो सकते हैं।

हिन्दी द्वयक्षरी (bi-syllabi) में ह् अ ह् अ जैसे विधान में कोई कठिनाई नहीं दीखती : देखा [द् ए-ख् आ] प्रथम अक्षर की सीमा। दे। के बाद है। अ ह् अ रूपों में भी विशेष कठिनाई नहीं है : आना [आ-न् आ] में। आ। के पश्चात् सीमा है। और ऊपर के नियम के अनुसार। न्। का सम्बन्ध अन्त्य। आ। से है। व्यंजन गुच्छ यदि अ ह् ह् अ रूप में हो तो प्रथम व्यंजन प्रथम स्वर के साथ तथा द्वितीय व्यंजन पीछे के स्वर के साथ जाना चाहिए : अम्मा [अ म्+म् आ] शक्ति [श् अ क्—त् ई]। पर दिव्य का विभाजन [द् इ—व्य् अ] जैसा मानना चाहिए। वत्स [व् अ—त्स् अ] में भी यही है।

यदि दो से अधिक व्यंजनों का गुच्छ स्वर मध्यग हो, तो भी व्यंजनों के बीच में ही विभाजक रेखा होगी। इसका निर्धारण व्यंजन-गुच्छ प्रणाली के अनुसार होगा

---

[1] रमेशचन्द्र मेहरोत्रा, Hindi Syllabi structue, Indian Lunguitics vob II (६१) ई० अथर्व प्रा० १।५५-५७; वाज० प्र० १।९९-१०६

[2] ऋक्० प्रा० १।२३.२५

[3] तैत्ति० प्रा० २१।१-६

चाहिए। जैसे ज्योत्स्ना का विभाजन इस प्रकार किया गया है : [ज् य् ओ त्—स् ना.] । स्ना । आदि में भी प्रयुक्त होता है; इसलिए इस प्रकार की विभाजक रेखा मान्य है । यदि । स्स । के पश्चात् । न । नहीं होता तो नियमानुसार इसका सम्बन्ध पीछे के स्वर से होना चाहिये था । सामान्यतः ये ही नियम हैं ।

१०. २. २ आक्षरिक विभाजकों के सम्बन्ध में कुछ विवरण दिया गया है। पर उनकी स्थिति स्वन ग्रामात्मक नहीं है । कुछ संयोजक ध्वनिग्रामीय भी हैं ये तीन हैं : शब्दान्त ।+।, उपवाक्तान्त । | ।तथा वाक्यान्त । ‖ । । तीन सुर सरणियाँ स्वनग्रामात्मक हैं : आरोही ।↑।, अवरोही ।↓। तथा धीर ।→। । ये तीनों अन्त्य सुरसरणियाँ हैं । अन्त्येतर स्वनग्राम एक है : बलवर्धक ।E। सुर सरणि परिवर्तक भी तीन हैं : मोड़ ।T।, प्लुति ।S। तथा अतिरिक्त ध्वनि वर्द्धन ।L। । नीचे इस विचार में बलवर्द्धक ।E। शब्द के पूर्व लिखा गया है । नीचे इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है ।

११.२२.१ संयोजक स्वनग्राम—शब्दान्त संयोजक और उसकी अनुपस्थिति के स्वल्पान्तर युग नीचे दिये गये हैं—

[मनका]	'एक रत्न'	[आज+आ]	'आज आ
[मन+का]	'मन का'	[आ+ज्आ]	'आजा
[सनकी]	पागल'	[पाली]	'पाली'
[सन—की]	'सनकी (रस्सी)'	[पा+ली]	'पाली'

इन स्वल्पान्तर युग्मों से शब्दान्त विभाजक की स्वनग्रामात्म स्थिति सिद्ध हो जाती है । इसके कारण, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है, अर्थ में परिवर्तन हो जाता है । इन स्थलो के अतिरिक्त अन्यत्र भी इसका प्रयोग हो सकता है, पर वहाँ यह स्वनग्राम नहीं होगा ।

११.२२.२. उपवाक्यान्तक तथा वाक्यान्तक—उपवाक्यान्त सुरसरणियों । | । का प्रयोग उस वाक्य के अन्त में होता है, जिसके बाद भी एक या अधिक वाक्यों के रूप में कथन चलता है । वाक्यान्त सुरसरणि कथन या कथनांश के अन्त में प्रयुक्त होती है । इनको निम्नलिखित स्वल्पान्तर-युग्म के आधार पर स्वनग्राम माना जा सकता है—

[चाय↓। रोटी↓। पानी↓। 'चाय, रोटी, पानी···' (अपूर्ण गणना)

।चाय↓। रोटी↓। पानी↓ ‖ / 'चाय, रोटी, पानी ।' (पूर्ण गणना)'

पहले उदाहरण में जैसे आगे कुछ कहने को रह गया है । दूसरा जैसे 'क्या-क्या' जैसे प्रश्न का पूर्ण उत्तर है ।

१०.२२.३. अन्त्य सुरसरणियाँ (Pitch levels)—इनकी स्वनग्रामात्मक स्थिति निम्नलिखित स्वल्पान्तर युग्मों से व्यक्त हो जाती है—

। वह गया↓। । 'वह गया' (सामान्य कथन)

। वह गया→। । वह गया ?' (प्रश्नवाचक)

। जा→। ।'जा!' (आज्ञावाचक)

। जा→॥ । 'जा !' (आज्ञा के पश्चात् आश्चर्यमय प्रश्न)

इनका विवरण इस प्रकार हैं—

।↓।—यह अवरोही सुर सरणि है । ध्वनि शीघ्र ही मौन में समा जाती है । सुर (Pitch) तथा ध्वनि-मात्रा (Volume) दोनों ही गिरते जाते हैं । इसका प्रयोग सामान्य वाक्य के अन्त में होता है । ।वह आता है ↓॥ । (सामान्य)

।↑॥—आरोही सुर-सरणि है । शीघ्र किन्तु अल्प सुरारोह इसमें । ध्वनि-मात्रा (Volume) में भी उठान दीखती है । इसका प्रयोग प्रायः प्रश्नवाचक वाक्यों में होता है । ।वह जाता है↑ ॥ । (प्रश्न)

।→।—यह धीर सुर है । सामान्य सुर अथवा सामान्य से कुछ ऊँचे सुर-स्तर को कुछ समय तक स्थिर रखा जाता है । इसका प्रयोग आज्ञावाचक वाक्य के अन्त में ।→॥ । तथा उपवाक्य के अन्त में । →। आता है। जैसे । वह आयगा→। तो मैं जाऊँगा↓॥ । तथा ।तुम जाओ→। ।

११-२२-४ अन्त्येतर सुरसरणि—वाक्य में जिस पद पर विशेष बल दिया जाता है, वहाँ बल वर्द्धक ।E। स्वनग्राम का प्रयोग होता है । इस पद पर बल वर्द्धन के साथ सुर भी उच्चतर हो जाता है ।E। और इसकी अनुपस्थिति का स्वल्पान्तर युग्म यह है—

। राम रोटी खायेगा । 'राम रोटी खायगा' (सामान्य कथन)

। राम E↑ रोटी खायगा । 'राम रोटी खायगा' (रोटी पर बल है)

बल वर्द्धक । E । के स्थान-भेद का स्वल्पान्तर युग्म—

। E↑ राम घर गया↓ । । ('राम' पर बल)

। राम E↑ घर गया↓ ॥ । ('घर' पर बल)

। राम घर E↑ गया↓ ॥ । ('गया' पर बल)

११-२२-५ सुरसरणि परिवर्तक—मोड़ ।T। का प्रयोग सभी अन्त्य सुरसरणियों के साथ हो सकता है । आरोही+मोड़ ।↑ T।, अवरोही+मोड़ ।↓ T। तथा धीर+मोड़ ।→ T। अवरोही सुर के साथ अल्प कालिक आरोहण, आरोही के साथ अल्पकालिक अवरोहण तथा धीर के साथ अल्पकालिक आरोहण ही मोड़ है । मोड़ और उसका अनुपस्थिति के स्वल्पान्तर युग्म के साथ उत्पन्न अर्थ भेद को नीचे दिया गया है ।

। वह गया↑ ॥ । (सामान्य प्रश्न)

। वह गया↑T ॥ । (विवाद युक्त प्रश्न)

। वह जायगा↓ ॥ । (सामान्य कथन)

। वह जायगा↓T ॥ । (निश्चयार्थक कथन)

। वह आवे→ ॥ । (सामान्य आज्ञा

। वह आवे→T ॥ । (दृढ़ आज्ञा)

(आ) प्लुति (Drawl) । ऽ ।—प्लुति और उसकी अनुपस्थिति का स्वल्पान्तर युग्म इस प्रकार है—

। वह जायगा ↑ ॥ । (सामान्य प्रश्न)

। वह जायगा ↑ ऽ ॥ । (निराश प्रश्न)

(इ) अतिरिक्त ध्वनि-वर्द्धन (Fxtra loudness—।L। तथा इसकी अनुपस्थिति का स्वल्पान्तर युग्म इस प्रकार है—

। वह जायगा ↑ ॥ । (सामान्य प्रश्न)

। वह जायगा ↑ L ॥ । (आश्चर्य प्रश्न)

उक्त सामग्री का आधार लेखक की अपनी बोली है। सामान्यत: हिन्दी के बोलने वाले इन स्वनग्रामों का प्रयोग करते हैं। कुछ व्यक्तिगत अन्तर प्राप्त हो सकते हैं, पर मोटी रूप-रेखा इसी प्रकार है।

११-२२-६ स्वराघात—वैदिक भाषा में उपलब्ध तीन स्वरों—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित का संक्षिप्त परिचय पीछे दिया जा चुका है (६-२१-४) वैदिक भाषा में गीतात्मक या स्वरात्मक स्वराघात महत्वपूर्ण था। इसके स्थान और रूपरिवर्तन से अर्थ में उत्पन्न हो जाता था। प्रातिशाख्यों में इसीलिए इस पर काफी विचार किया गया है। इनको विभिन्न चिन्हों कभी संख्या-अंको द्वारा व्यक्त किया जाता था। उदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं था। अनुदात्त ध्वनि के नीचे एक छोटा रेखांश, तथा स्वरित के ऊपर एक छोटी खड़ी पाई लगा कर इनको व्यक्त किया जाता था;

।
अग्निना। इसमें । अ । अनुदात्त । ग्नि । उदात्त तथा । न । स्वरित है। समावेद में
।
इनको संख्याओं से व्यक्त किया गया है (१) उदात्त (२) स्वरित तथा (३) अनुदात्त
३ २ १
अग्निना इनमें उदात्त स्वर सबसे प्रधान माना जाता था। सम्भवत: बलात्मक स्वराघात भी था।

मभाआ-काल में स्वराघात घिसने लगा था। इसके स्थान पर बलात्कार स्वराघात आने लगा था। बलाघात में श्वास को धक्के तथा बलि के साथ छोड़ कर किसी ध्वनि का उच्चारण करना बलाघात होता है। मभाओं में बलाघात प्राय: शब्दान्त के पूर्व प्रथम दीर्घ स्वर पर प्राय; रहता था। कुछ विद्वानों ने काव्य में प्रयुक्त प्राकृतों (महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी, जैन, मागधी आदि) मे सगीतात्मक की स्थिति भी मानी है। तथा अन्य प्राकृतों मे केवल बलाघात की प्रवृत्ति को सिद्ध किया है (शौरसेनी मागधी, ढक्की) ये प्राकृते नाटकों या राद्य से संबंधित थीं। पर सगीतत्मक स्वराघात को व्यक्त करने के चिह्नों की रीति समाप्त हो गई थी। अत: इस काल में गीतात्मक स्वराघात का केवल अनुमान किया जा सकता है। यह भी संभव है कि प्राभाआ-काल में भी एक विशिष्ट स्थिर धार्मिक साहित्य के लेखन के अतिरिक्त इन चिह्नों का प्रयोग न होता हो।

हिन्दी में गीतात्मक स्वराघात तो प्रायः नहीं पाया जाता : पीछे अन्त्य सुर-सरणियों के रूप में इसका विवेचन किया गया है (१०-२२-३)। इससे यह सिद्ध होता है कि केवल वाक्य के स्तर पर कुछ संगीतात्मक स्वराघात के चिह्न उपलब्ध होते हैं। शब्द के स्तर पर, इसका प्रयोग बलाघात के रूप में बदल गया है। किसी शब्द पर विशेष बल देने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है (१०-२२-४)। यह स्वनग्रामात्मक स्थिति है। अन्यत्र भी इसका प्रयोग मिलता है। इसके सामान्य नियम ये माने जाते हैं।[1]

(१) पहले के अकारान्त शब्दों के अकार के लुप्त हो जाने पर शब्द व्यंजनान्त रह गये हैं। इससे उपान्त्य स्वर पर बल हो जाता है : कब्।

(२) संयुक्त व्यंजन से पूर्व स्थित स्वर पर विद्वान, पक्का।

(३) विसर्ग युक्त स्वर का उच्चारण बलपूर्वक होता : प्रायः। बीच में आने वाले विसर्ग के फलस्वरूप व्यंजन-गुच्छ का सा उच्चारण होने लगता है। अतः उससे पूर्व के स्वर पर बल आ जाता है : अन्तःकरण।

(४) प्रेरणार्थक-आ-पर भी बल माना गया है: कराना। पर ये बलाघात रूप स्वनग्रामात्मक श्रेणी के नहीं हैं। इनकी स्थितिमात्र ध्वनितात्विक है।

पर हिन्दी में बलाघात पर कुछ विचार और होना अपेक्षित है।[2] बलाघात युक्त ध्वनियों में दृढ़ता और दीर्घता अधिक हो जाती है। साथ ही सुर-स्तर भी उच्चतर हो जाता है। पर सुर-स्तर का उच्चतर होना इतना अनिवार्य नहीं है। बलाघात के प्रभाव से व्यंजन द्वित्व भी हो जाते हैं : धम से गिरा तथा धम्म से गिरा। हिन्दी में बलाघात रहना आवश्यक नहीं। कभी एक अक्षर पर तथा बहुत कम दो या अधिक अक्षरों पर भी हिन्दी में बलाघात होता है। अंग्रेजी में अधिकांश और हिन्दी में कभी-कभी बलाघात स्पर्श व्यंजनों में महा प्राणत्व उत्पन्न कर देता है : क्यों जाऊं। ख्यों जाऊं।

ऊपर बलाघात के संबंध में सामान्य नियम दिये गये हैं। बलाघात का महाप्राणत्व और दीर्घता से संबध दीखता है। यदि एक शब्द में एक ही अक्षर महाप्राण हो, तो उस अक्षर पर अन्यों की अपेक्षा अधिक बलाघात होगा : पहलवान मे-ह-पर। बलाघात् में 'घात्' पर। महाप्राण ध्वनियों से रहित द्वयक्षरात्मक शब्द में दीर्घ स्वर वाले अक्षर पर बलाघात होगा, ह्रस्व वाले पर नहीं, भारत में 'भा' पर। यदि इस स्थिति से दोनो ह्रस्व स्वर अथवा दोनो ही दीर्घ स्वर हो तो, बलाघात प्रथम अक्षर पर रहेगा। यदि द्वयक्षरात्मक शब्दों के दोनों अक्षरों

[1] गुरु, हिन्दी व्याकरण, पृ० ५६

[2] दे० श्री रमेशचन्द्र महरोत्रा का, हिन्दी में बलाघात और सुरलहर, राजर्षि अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ४५०

में कोई न कोई महाप्राण ध्वनि हो तो दीर्घता वाला नियम लागू होगा या प्रथम अक्षर वाला नियम : झा ङ ख में 'झ' पर, हठो में 'हठो में 'ठी' पर और हाथी में 'हा' पर बलाघात होगा।

तीन अक्षरों वाले शब्दों में बलाघात का क्रम इस प्रकार रहता है—

ह्रस्व ह्रस्व ह्रस्व	धरणि	पहले अक्षर पर बलाघात
दीर्घ दीर्घ दीर्घ	पाजामा	दूसरे अक्षर पर
ह्र० ह्र० दी०	रबड़ी	तीसरे पर
दी० दी० ह्र०	कालीकट	पहले पर
दी० ह्र० ह्र०	नाबालिग	पहले पर
ह्र० दी० दी०	चहेती	दूसरे पर
ह्र० दी० ह्र०	सुहागिन	दूसरे पर
दी० ह्र० दी०	चातुरी	पहले पर

महाप्राण ध्वनि से रहित चार अक्षरों वाले शब्द में अधिकांश में बलाघात प्रारम्भिक अक्षर पर रहता है। मृणालिनी में 'मृ' पर रहेगा। पर बलाघात अर्थ में भेद उत्पन्न नहीं करता। एक नियम बद्धता का ही परिचय उक्त विवरण से मिलता है।

बलाघात के द्वारा सामान्य अर्थ के साथ किसी विशेष भाव का संयोग दिखाया जा सकता है। इस प्रकार अर्थ की कुछ विस्तृति हो जाती है। नीचे एक स्वल्पान्तर युग्म दिया गया है—

राम वहाँ है=सामान्य कथन

राम वहाँ है=निश्चयात्मक कथन।

इस प्रकार। है तथा है के अर्थ में अन्तर हो गया। इस अर्थ परिवर्तन के कारण बलाघात् को ध्वनिग्रामात्मक स्थिति प्राप्त हो जाती है : ।'।

बलाघात हिन्दी में अंग्रेजी के समान तो महत्वपूर्ण नहीं है। पर ऊपर के व्याकरणिक तथा भावात्मक अर्थभेदक रूप में ध्वनिग्रामीय होने के साथ ही, ऐसे स्वल्पान्तर युग्म भी हैं, जो इसकी स्वतंत्र ध्वनिग्रामीय स्थिति को स्पष्ट करते हैं। ये युग्म पद के स्तर पर व्यतिरेक प्रस्तुत करते हैं। जैसे गला। 'कंठ' ।गला। '√गल् का आज्ञावाचक II एक०; ।घटा। 'बादल की घटा' ।घटा।√घट-का आज्ञा वाचक रूप, II, एक०। इनमें अर्थान्तर बलाघात पर ही आधारित है। इन युग्मों में से प्रथम पदों में बलाघात प्रथम अक्षर पर है, तथा द्वितीय पदों में अन्तिम अक्षरों पर।

१२

हिन्दी संज्ञा : प्रातिपदिक लिंग, वचन, कारक

१२ ०.—सस्कृत में संज्ञा के धातु रूप का प्रयोग अत्यल्प था। अधिकांश रूप प्रत्ययों के योग से ही सम्पन्न होते थे। संज्ञा-रूपों की रचना में प्रयुक्त प्रत्यय बहुत थे। भारोपीय भाषाओं में इन प्रत्ययों में पर्याप्त समानता मिलती है। एक प्रकार से वर्णमाला के सभी वर्ण संज्ञा-रूप-रचना में प्रत्ययों के समान प्रयुक्त हो सकते थे। इन प्रत्ययों के कुछ-न-कुछ अवशेष भारतीय आर्य भाषा के विकास की प्रायः सभी स्थितियों में मिलते गए। मभाआ काल में व्यंजन, प्रत्यय, समाप्त हो गये थे। हिन्दी में अन्त्य ह्रस्व स्वर—अ,—, अत्यन्त क्षीण होते हुए लुप्त हो गया। अतः व्यंजनान्त प्रातिपदिक रह गये। संज्ञा के रूपों में भी समानता आई; प्राभाआ का लिंग, वचन आदि के अनुसार रूप-वैविध्य समाप्त होकर—अ प्रत्यय वाले रूप ही प्रचलित हुए। विभक्तियों का संयोगात्मक रूप मभाआ में ही लोपोन्मुख होने लगा था। नभाआ काल विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति विकसित हुई और मुख्यतः हिन्दी में कारकों का प्रयोग इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। प्रस्तुत: अध्याय में संज्ञा: प्रातिपदिक, लिंग, वचन, कारक-विभक्ति और संज्ञा की व्युत्पत्ति प्रक्रिया पर विचार किया गया है।

१२-१. हिन्दी प्रातिपदिक—अन्त्य ध्वनियों के अनुसार हिन्दी संज्ञा प्रातिपदिकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: स्वरान्त प्रातिपदिक और व्यंजनान्त प्रातिपदिक।

१२-१-१ स्वरान्त प्रातिपदिक—अन्त्य-अ तो हिन्दी में रहा नहीं। इसलिए अकारान्त प्रातिपदिक तो समाप्त-प्राय हो गये। अन्य स्वरान्त प्रातिपदिक ये हैं—

१२. ११. १ आकारान्त प्रातिपदिक—हिन्दी में-आ प्रत्यय संयुक्त संज्ञा पद मिलते हैं। ये पुल्लिग भी हो सकते हैं: राजा, घोड़ा आदि तथा स्त्रीलिंग भी : प्रज्ञा, क्रीड़ा, निन्दा आदि। संस्कृत में—आ प्रत्यय के मुख्यतः दो कार्य थे, विशेषणों को स्त्रीलिंग बनाना, तथा स्वतंत्र प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होकर कार्य-संज्ञा (Action noun) भाववाचक संज्ञा (Abstract) आदि संज्ञा—रूप सम्पन्न करना। संस्कृत कार्यवाची संज्ञाएं हिन्दी में पर्याप्त रूप से प्रयुक्त होती हैं : दया, शंका, हिंसा, क्षमा, भाषा, सेवा, शाखा, आशा आदि कार्यवाची संज्ञाओं के उदाहरण हैं। ये स्त्रीलिंग में ही मिलते हैं। संस्कृत में ऐसे शब्दों में प्रत्यय—आ पर बलाघात रहता था। इसी से यह अक्षुण्ण रूप में चलता रहा।

साथ ही—आ प्रत्यय का योग अन्त्य मुख्य प्रत्ययों के साथ भी होता था

जैसे तृष्णा (=तृ ष्+न्+आ) तमिस्त्रा (तमिस्+र्+आ) मनीषा (मनी+ष्+आ) ग्रीवा, जिह्वा, माया, विद्या (विद्+य्+आ) क्रिया (कृ+य्+आ) धारा, उर्वरा, सेना आदि इस प्रकार के उदाहरण हैं।

—त्—+आ मिलकर भाववाचक संज्ञा बनाते हैं। इसके उदाहरण ये हैं: चिता, दीर्घता, बन्धुता आदि। स्त्रीलिंग प्रत्यय रूप में इसके प्रयोग के उदाहरण बाल। बाला है। अ: > आ के उदाहरण पुल्लिंग में मिलते हैं: घोटकः > घोड़ा।

१२. ११. २ **इकारान्त प्रातिपदिक**—इ प्रत्यय भी संस्कृत में पर्याप्त लोकप्रिय था। यह स्वतंत्र रूप से भी प्रयुक्त होता था और अन्य प्रत्ययों से मिलकर भी। लिंग-परिवर्तक के रूप में भी यह काम में आता था। हिन्दी में इस प्रत्यय से युक्त अनेक तत्सम संज्ञा-पद प्राप्त होते हैं। अस्थि, दधि तो संस्कृत में नपुंसक थे, हिन्दी में क्रमशः स्त्रीलिंग-पुल्लिंग। अन्य शब्द नाभि रुचि, कृषि, ध्वनि हैं।—य वाले रूपों को भी —इ का ही वृद्ध रूप मानना ठीक है (इ+अ) द्रव्य, राज्य। पर यह संस्कृत में स्वतन्त्र प्रत्यय की प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। इस प्रकार के तत्सम संज्ञापद हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रत्यय वाले शब्द हिन्दी पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनो मिलते हैं। संस्कृत में भी यह प्रत्यय सभी लिंगों में आ सकता था: असि, गिरि मुनि, कवि।

१२. ११. ३ **ईकारान्त संज्ञापद**—संस्कृत में—ई प्रत्यय का उपयोग व्यंजनान्त विशेषणों के स्त्रीलिंग रूप बनाने के काम में प्रायः होता था। साथ ही कुछ कार्यवाची संज्ञाएं भी बनती थीं। देवी, शची, आदि तो स्त्रीलिंग के उदाहरण है। नदी, शर्वी, लक्ष्मी तन्त्री आदि शब्द कार्यवाची संज्ञाओं के उदाहरण हैं। इ: इस् > ई भी मिलता है। इसके कार्यवाची रूप संस्कृत में प्रायः नहीं मिलते। एकाध उदाहरण रथी जैसा है। यह पुल्लिंग संस्कृत के अधिकांश विशेषणों तथा कर्तृवाची संज्ञाओं के-ई के योग से बने। स्त्रीलिंग शब्द हिन्दी में पर्याप्त रूप से प्रयुक्त होते हैं: पृथ्वी (पृथु=विस्तृत) देवी < दिव) इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत में—ई प्रत्यय विशेषणों से सम्बधित था हिन्दी में भी इसका यह कार्य सुरक्षित है। हिन्दी में अन्य क्रियावाची संज्ञाएं भी हैं: लड़ाई, सिंचाई कुछ विदेशी शब्द भी हैं: कसाई। पर यह प्रत्यय प्राय. स्त्रीलिंग—रचना में काम में आता है।

१२-११-४ **उकारान्त संज्ञापद**—यह संस्कृत में नपुंसक लिंग का प्रत्यय था: और अन्यों का भी। हिन्दी में संस्कृत के नपुंसक शब्द प्रयुक्त होते हैं: मधु, आयु, जानु, पशु। इस प्रत्यय से बने कार्यवाची पुल्लिंग-स्त्रिलिंग शब्द भी हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। बन्धु, अंशु, (=किरण) रेणु सिन्धु।,अश्रु। इसका वृद्ध रूप व-भी मिलता है। -य के समान इसे भी-उ से संबधित मानना चाहिए। इससे युवत शब्द भी संस्कृत से हिन्दी में आये हैं। जैसे ह्रस्व अर्ध्व, अर्ध्व, ध्रुव, जीव, अश्व, (आशु=शीघ्रगति)। गुण के साथ भी इसका प्रयोग मिलता है: केशव (=लंबे बाल वाला), विधवा (=विधु 'अकेला')।

१२. ११. ५. ऊकारांत शब्द—ऊ प्रत्यय का प्रयोग संस्कृत में लिंग-परिवर्तन के लिये भी होता था और स्वतन्त्र रूप से भी। स्वतन्त्र शब्द ये हैं: चमू, वधू। अन्य तद्भव तथा विदेशी शब्द भी मिलते हैं—आलू, बालू, चाकू, डाकू। अकारान्त संज्ञा-पद कम हैं।

१२. ११. ६ एकारांत संज्ञा प्रातिपदिक—इनकी संख्या बहुत कम है। वस्तुतः ये केवल विकसित रूपों में ही प्राप्त होने हैं। व्यंजनों के लोप की प्रक्रिया में स्वरों के मिलाने से प्रायः ये शब्द आते हैं: चौबे (चतुर्वेदी> चउव्वेई में पीछे बलाघात के अभाव में -ई समाप्त हो गया) दुबे, आदि शब्द हैं।

१२. १. २ व्यंजनान्त प्रातिपदिक—संस्कृत के व्यंजनान्त या व्यंजन+स्वरान्त प्रत्ययों का विकास हिन्दी के व्यंजनान्त प्रातिपदिकों के रूप में हुआ है।

सं०-क>हि०-क–यह प्रत्यय भारोपीय परिवार का प्रायः समस्त भाषाओं में पाया जाता है: सनक 'वृद्ध' (लै० Senex 'old man') इस प्रत्यय से युक्त संस्कृत शब्द हिन्दी में पर्याप्त हैं: श्लोक (श्रु-'सुनना') रूपक, घातुक ∽ वादक, आदि में कर्तृवाची संज्ञा का रूप मिलता है। व्यंजन के साथ -क का युक्त रूप भी मिलता है: मस्तिष्क -इ- का-के योग से पुल्लिंग शब्द स्त्रीलिंग भी बनते हैं: कुमारक। कुमारिका। विदेशी शब्द चमक, आदि हैं। ष्क>क से भी: चतुष्क>चौक।

हि० ख—संस्कृत में इस प्रकार का प्रत्यय नहीं मिलता। विशेषतः यह -क्ष वाले संस्कृत शब्दों से विकसित हुए हैं: राख, पख, (पक्ष) ईख (इक्षु) आँख (अक्षि)

-ग- वाले शब्द—संस्कृत में इसका प्रयोग भी कम है: शृंग, पतंग ∽ तपग। ये शब्द तो हिन्दी में आये ही हैं। इनके अतिरिक्त अन्य शब्द भी हैं मूँग (=मुद्ग) रोग (राज्) आग (अग्नि) साग आदि।

-घ- वाले रूप—भी संस्कृत में बहुत कम हैं: दीर्घ। अन्य विकसित रूप बाघ, जाँघ, ऊँघ आदि हैं।

-च- वाले रूप—संस्कृत में -क के पश्चात -ई आने से -च रूप हो जाता था। इससे भी कुछ शब्द -चि वाले हो गये हैं: मारीचि ∽ मरीचि। -त्य>-च से कुछ रूपों का सम्बन्ध है: नाच (नृत्य) सच ∽ साँच (सत्य)। कुछ रूप विकसित हैं। आँच (अर्चि)। अन्त्य-उ के लोप से प्राप्त: चोंच (चंचु)।

-छ- वाले रूप—ऐसे कुछ रूप संस्कृत के -श्र से विकसित हुऐ हैं: श्मश्रु> मूँछ। कुछ अन्य शब्द भी हैं; छँछ, छाछ हिन्दी में इस प्रकार के शब्द कम हैं।

-ज- वाले रूप—कंठ्य सघोष ध्वनियों का परिवर्तन संस्कृत में ज के रूप में हो जाता था: भषज् 'वैद्य' स्त्रज, 'माला' वणिज्, 'व्यापारी' आदि। पर हिन्दी में इस प्रकार के तत्सम शब्दों का प्रयोग नहीं है। कुछ शब्द -य>-ज वाले हैं। अनाज। कुछ शब्द-ज+अस् के-अस् के-अस् लुप्त होने से व्युत्पन्न हैं: तेज (तेजस्) राज। कुछ-ज वाले रूप हैं: मनुज, स्वदेज, मनोज। विदेशी शब्द भी हैं: जहाज, साज।

-झ- वाले प्रातिपदिक—ऐसे शब्द—ध्य वाले शब्दों के विकसित रूप हैं:

बांझ (बन्ध्या) सांझ (सन्ध्या)। कुछ अन्य शब्द भी हैं, विशेष रूप से अनुरणनात्मक : झांझ।

-ट- वाले शब्द—संस्कृत, देशी तथा तद्भव शब्द इस प्रकार के हैं। जैसे, भाट, नट, ऊँट, ईंट, अखरोट,।

-ठ- वाले शब्द—संस्कृत के—ष्ठ वाले रूप विकसित होकर हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं: काठ (काष्ठ) (सेठ श्रेष्ठिन्) ओंठ (ओष्ठ)।कुछ—न्थ वाले शब्दों के विकसित रूप हैं :— गांठ (ग्रन्थि)। कुछ देशी शब्द हैं : ठूंठ।

-ड- अन्त वाले—अन्धड़, पतझड़, सांड, रांड़। संस्कृत के—र्द का विकसित रूप मभाआ में ड्ड और हिन्दी में —ड़ मिलता है : कौड़ी (कपर्दिका) हिन्दी में ड पदान्त में नहीं आ सकता। यह मूर्द्धन्यीकरण की प्रवृत्ति का परिणाम है।

-ढ- वाले रूप—कुछ संस्कृत के —ष्ठ वाले रूपों से विकसित हुए हैं : कोढ़ (कुष्ठ)। अन्य शब्द भी डेढ़, असाढ़, (आषाढ़)।

-त्- वाले प्रातिपदिक—त प्रत्यय संस्कृत में बहुत लोकप्रिय था। यह अपने सामान्य तथा स्वरयुक्त वृद्ध रूप में मिलती है। इसका प्रयोग कार्यवाची और भाववाचक संज्ञाएँ बनाने के लिये होता था। इसमें संज्ञा की व्युत्पत्ति भी सम्पन्न की जाने लगी। —इ—उ प्रत्यय के पश्चात् भी—त का संयोग हो जाता था : स्तुत—, समित—। कर्तृवाची संज्ञाएँ भी इससे युक्त मिलती हैं : विश्वजित। इस रूप में इसे प्रत्यय नहीं आगम (augment) माना गया है। सयुक्त प्रत्यय—इत् के उदाहरण योषित, सरित— —उत रूप मे भी प्राप्य है : मरुत, (× मर्— चमकना,)। कुछ विशेषण रूप भी संस्कृत में थे, जो संज्ञा-रूप में भी प्रयुक्त होते थे : रजत, दूत, सूत 'रथवान', नापित 'नाई', कपोत,। इससे भूत कालिक कृदन्त भी बनते थे (गत, श्रुत)। कुछ संज्ञा रूप में प्रयुक्त होने लगे : वृत्त 'गोला'।—ति रूप में भी यह मिलती है। समिति, गति, रति, शक्ति, शान्ति क्षिति, भक्ति, पुष्टि।—अति रूप में भी उपलब्ध है : वसति (=हि॰ वस्ती) कर्तृवाचक संज्ञाओं के साथ : ज्ञाति (हि॰नाता) इसका एक और रूपान्तर— —तु भी मिलता है : वस्तु 'घर' वस्तु, तन्तु, (तन्—'फैलना'धातु, सेतु पुल' हेतु(हित के गुण के साथ)।—त्व (त्+उ+अ) रूप में भी इसका प्रयोग है : अमृतत्व, देवत्व।—तव्य (त्+उ+विशेषण प्रत्यय+—य) रूप में भी प्राप्त है : कर्तव्य। भाववाचक संज्ञाओं की रचना—ता के योग से होती है : देवता, बन्धुता। ये सभी रूप हिन्दी में तत्समता की प्रवृत्ति के साथ आ गये हैं। कुछ विकसित रूप हैं:—त < र्त: बात < वार्ता, —त < —त्रा: जात < यात्रा।

-थ- वाले प्रातिपदिक—इस प्रकार के शब्द ये हैं : रथ, नथ, नाथ, चौथ (< चतुर्थी) हाथ (< हस्त)। इस प्रकार के शब्द सस्कृत के—त वाले रूपों से या—थ अन्त्य वाले रूपों से हुई है।

-द- वाले प्रातिपदिक—हिन्दी में इस प्रकार के शब्द तद्भव ही विशेष रूप

भी हैं : खाद, (<खाद्य) चाँद (<चन्द्र) बूँद (<बिन्दु) कुछ विदेशी शब्द भी हैं : दर्द, मर्द ।

-ध- कुछ तो तत्सम शब्द हैं : सुगन्ध; कुछ तद्भव हैं : बाँध आदि ।

-न- वाले प्रातिपदिक—संस्कृत के—न अन्त वाले पद हिन्दी में तद्भव या अर्द्ध तत्सम रूप में मिलते हैं : जतन (<यत्न) सपन (स्वप्न) । इस प्रकार के शब्द हिन्दी में कम हैं ।—अन् अन्त वाले शब्द हिन्दी में तीनों लिंगों में मिलते हैं : नन्दन, दर्पण, किरन (<किरण) । संस्कृत में —अन् अन्त वाले शब्द प्रायः नपुं० लिंग होते थे । हिन्दी में यह प्रत्यय क्रियार्थक संज्ञा (infinitive) बनाने में भी प्रयुक्त होता है । अन्य पदार्थ या कार्यों के द्योतक हैं : आँगन (<अगन) चन्दन, जीवन, स्नान, सुमिरन (<स्मरण) वेलन (वेल्लन) । ऊन (<ऊर्णा) में—र्णा>न मिलता है ।

-प- वाले शब्द—संस्कृत के—प अन्त वाले रूप हिन्दी में भी मिलते हैं : साँप, नाप, छाप, जाप,

-फ- वाले शब्द—बहुत कम हैं : बरफ, सौंफ, आदि ।

-ब- वाले रूप—संस्कृत—र्व के विकसित रूप । गरब (गर्व) पूरब (पूर्व) —र्वा वाले रूप : दूब (<दूर्वा)

-भ- वाले रूप—बहुधा संस्कृत के—भ अन्त वाले शब्द मिलते हैं । लाभ, लोभ, गरभ । ह्वा <—भ: जीभ (<जिह्वा) ।

-म वाले संज्ञा शब्द—इस प्रत्यय के साथ संस्कृत में कई वर्म मिलते हैं । —म अन्त वाले शब्द ये हैं: युग्म, भीम (भयंकर) पद्म, धर्म (धरम) कर्म (करम) । घाम<घर्म, धूम (धूम्र), श्याम, हिम क्षेम, होम, श्रम आदि वे शब्द हैं जो संस्कृत में विशेषण-वत् थे । —तम वाले रूप : उत्तम । —मि: ऊर्मि, रश्मि,—मी : लक्ष्मी । बादाम, शर्म, आदि विदेशी शब्द हैं ।

-र- वाले संज्ञा शब्द—संस्कृत में—र प्रत्यय जब धातु के साथ संलग्न मिलता है, तब हिन्दी में समीकरण के अनुसार तद्भव शब्दों में इसका अस्तित्व नहीं दीखता । चन्द्र>चाँद; ताम्र<ताँबा । तत्सम शब्द प्रयुक्त हो सकते हैं । पर जब धातु और प्रत्यय के बीच में कोई स्वर रहता है, तो—र हिन्दी में भी बना रहता है : चमर<चौंर, देवर, बदर>बेर, भ्रम >भँवर, वर्करः<बकरा । इस प्रत्यय के वृद्ध रूप भी मिलते हैं :—रि: अंगुरि;—रु—अश्रु, भीरु । यह प्रत्यय संस्कृत में काफ़ी प्रचलित था ।

-ल- वाले संज्ञा शब्द—संस्कृत को — ल अन्त वाले शब्द : काल, कुल । कुछ शब्दों में—ल प्रत्यय के रूप में है : कमल, कम्बल, कवल(>कौल) । विशेषण । चंचल, शिथिल ।, शीतल ।

-व- वाले संज्ञा शब्द—संस्कृत के तद्भव शब्द गाँव, घाव, चाव आदि ।

-स- वाले संज्ञा शब्द—साँस (श्वास) ओस, बाँस ।

-ह- वाले रूप—राह, कलह, छाँह, बाँह, चाह।

१.२. हिन्दी लिंग—हिन्दी-संज्ञाएँ लिंग-भेद से युक्त हैं। संज्ञाओं के अतिरिक्त विशेषण, सम्बन्ध कारक, क्रिया के कृदन्त और भविष्यत् रूप भी लिंग-द्योतक चिह्न से युक्त होते हैं। पर संज्ञाओं के लिंग-भेदक तत्व ही वहाँ रहते हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत लिंग-विचार का संक्षिप्त इतिहास, तथा हिन्दी-लिंगों के द्योतक पदांशों का विवरण और संक्षिप्त सम्भावित इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

१२.२.१. पूर्व इतिहास—प्रायः सभी भारोपीय भाषाओं में तीन लिंगों का विधान मिलता है: पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग। संस्कृत में भी यही लिंग-विधान चलता रहा। संस्कृत में मानव-वर्ग तथा मानवेतर वर्ग के कुछ विशाल पशुओं के अतिरिक्त लिंग-विधान के नियम सुनिश्चित नहीं हैं। विभिन्न प्रकार की विचार धाराओं ने लिंग-निर्णय को प्रभावित किया दीखता है: आकार, कोमलता, उपयोगिता आदि। आधुनिक शोधों से यह सिद्ध होता है कि यह व्याकरणिक लिंग—विधान भारोपीय भाषा-परिवार में पीछे का आविष्कार है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले दो प्रकार का ही वर्गीकरण: सामान्य लिंग (Common gender) तथा नपुंसक लिंग। पीछे सामान्यलिंग पुल्लिंग और स्त्रीलिंग में विभाजित हो गया। इसकी पुष्टि हित्ती भाषा संबंधी खोजों से होती है, जिसमें स्त्रीलिंग का प्रायः अभाव है। दूसरी विकास-अवस्था में स्त्रीलिंग का विकास हुआ। यहीं से व्याकरणिक लिंग-विधान का भारोपीय भाषाओं में आरम्भ समझना चाहिए। कुछ लोगों का विचार है कि हित्ती में स्त्रीलिंग का लोप हो गया था, पर यह मत तर्क संगत नहीं है। संस्कृत में अधिकांश पुल्लिंग प्रत्यय स्त्रीलिंग में भी मिलते हैं तथा मुख्यतः स्त्रीलिंग प्रत्यय—आ,—ई-पुल्लिंग में भी। सं०—तर प्रत्यय पुल्लिंग कर्तृवाची शब्दों में प्रयुक्त होता था, पर इसके साथ—ई प्रत्यय जोड़ कर स्त्रीलिंग रूप बना दिया जाता था: दातर—। दात्री-। अधिकांश संबंध सूचक शब्दों में—तर का प्रयोग उभयलिंग में मिलता है: मातर—। पितर—।—मन् प्रत्यय विशेषतः पुल्लिंग था: ब्रह्मन्—। पर पीछे पंचनाम्नी जैसे रूप स्त्रीलिंग प्रत्यय—ई से युक्त मिलते हैं। —सर्,—अस् आदि प्रत्यय भी उभय लिंग में प्रयुक्त हो सकते थे। इसी प्रकार स्त्रीलिंग प्रत्यय भी पुल्लिंग में प्रयुक्त हो सकते थे:—आ (अ.) प्रत्यय विशेषणों के स्त्रीलिंग बनाने में प्रयुक्त होता था। पर इसके पुल्लिंग रूप भी मिलते हैं, पर विरल।—ई—भी स्त्रीलिंग से संबंधित था। पर रथी जैसे शब्द पुल्लिंग में भी हैं। इससे प्रतीत होता है कि—-ई प्रत्यय का स्त्रीलिंग से सबंध पीछे हुआ। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि पहले द्वि-लिंग-विधान था, पीछे त्रि-लिंग-विधान विकसित हुआ।[1] इसके विकसित होने पर—आ,—ई,—ऊ (—अः,—इः,—उः) प्रत्यय मुख्यतः स्त्रीलिंग से सम्बन्धित हो गये।

1. Burrow, the Sanskrit Language, P. 204

जिस सामान्य लिंग या जीवर्थक (animate gender) का विकास आगे चल कर स्त्रीलिंग-पुल्लिंग में हुआ, वे मूलतः विशेषणवत् या कर्तृवाची संज्ञाएँ थे। विशेषतः मानववाची रूप में ही इनका प्रयोग था। पीछे इस वर्ग से कार्यवाची (action nouns) संज्ञाओं का जन्म हुआ : भार—(पु०) वाच—(स्त्री०)भियस—(स्त्री०), मति—(स्त्री०) तन्तु (पु०)। यह मानवीकरण का परिणाम हो सकता है। इन पर लिंग का आरोप इनको नपुं० वर्ग से पृथक् करता है तथा इनका संबंध कर्तृवाची या विशेषण रूपों से जोड़ता है।

११.२.२. मभाआकाल में लिंग-विधान—ऊपर जिस लिंग—विधान का संक्षिप्त विवरण दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि लिंग—निर्णय के संबंध में विशेष सुनिश्चित नियम अन्य भारोपीय भाषाओं तथा संस्कृत में नहीं मिलते। नपुंसक लिंग के साथ भी पु० स्त्री० का आरोप होने लगा था। मभाआ काल में लिंग संबंधी गड़बड़ी और अधिक हुई। अपभ्रंश से पूर्व ही यह अनिश्चितता उत्पन्न हो गई थी।[1] हेमचन्द्र ने समस्त लिंग-विधान को अनिर्दिष्ट बताया है।[2] पश्चिमी अपभ्रंशों की अपेक्षा पूर्व में अधिक अस्तव्यस्तता थी।[3] सम्भवतः यह रूप-रचना के एकीकरण या समानीकरण की प्रवृत्ति का परिणाम था। संस्कृत में शब्द की अन्त्य ध्वनि या प्रत्यय ने रूपरचना को अधिक प्रभावित किया; इतना प्रभाव लिंग भेद का नहीं हुआ। ऊपर देखा जा चुका है (११. २. १)—आ,—ई.—ऊ प्रत्यय स्त्रीलिंग में ही प्रायः प्रयुक्त होते थे। अपभ्रंश में इनके इस प्रयोग की परम्परा चलती रही : ये सदैव ही स्त्रीलिंग के रूप में प्रयुक्त होते रहे। प्राभाआ में अन्य लिंग-वाची होने पर भी इन्हें अप० में स्त्रीलिंग ही माना गया। जैसे बट्टा (वर्तमन्—नपु० सं०) अंत्रडी (अन्त्र सं० नपु०)। राहा (राधा) रमा (तत्सम) लच्छी (लक्ष्मी), बहू (वधू) सभी स्त्रीलिंग हैं।—अ,—इ,—उ प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों के लिंग-नियम निश्चित नहीं हैं। इनका प्रयोग सभी लिंगों में होता है। नपु० लिंग का लोप होने लगा था। इस प्रकार की अवस्था ही नभाआ भाषाओं के लिंग-निर्णय की पृष्ठ भूमि में है।

१२.२.३ हिन्दी के लिंग प्रत्यय—नभाआ भाषाओं में केवल चार भाषाओं में त्रिलिंग-व्यवस्था प्राप्त होती है : मराठी, कोंकणी, भद्रवाही, और गुजराती। भारतीय-आर्य भाषाओं के अन्य वर्तमान रूपों में से अधिकांश में दो लिंग वाली व्यवस्था है। बंगाली में जाति विषयक व्याकरणी वर्गीकरण समाप्त ही हो गया है।

हिन्दी की लिंग-व्यवस्था कुछ जटिल है। इसका एक कारण यह है कि नपुंलिंग पदार्थों को भी स्त्रीलिंग-पुल्लिंग में रखा जाता है। इतर भाषा-भाषियों को इस व्यवस्था से अवगत होने में कठिनाई होती है। जिन भाषाओं में तीन लिंग हैं,

[1] पिशेल, प्राकृत व्याकरण ३५६-५९
[2] सिद्ध हेम ४।४४५।
[3] तगारे, हि० ग्रा० आफ़ अप०, पृ० १०५

भी और जिनमें लिंग-भेद ही लुप्त हो चला है उनको भी हिन्दी की लिंग व्यवस्था कठिन दीखती है। साथ ही प्राभाआ भाषाओं में प्रत्ययों के अनुसार लिंग-भेद किया गया था। प्राभाआ के ये प्रत्यय हिन्दी तक पहुंचते-पहुंचते इतने घिस गए हैं कि कुछ के विकसित रूप समान हो गये हैं, और साधारणतः उनके मूल रूप को पहुँचानना कठिन होगया है। संस्कृत से हिन्दी में कुछ लिंग-व्यत्यय भी हो गया है : अग्नि (सं० पुल्लिग, हिन्दी, स्त्री) देवता (सं० स्त्री० हि० पु०)। हिन्दी क्रिया—रचना में लिंग भेद होता है। क्योंकि अधिकांश क्रिया रूप कृदन्तों के आधार पर बनते हैं और कृदन्त विशेषणवत् लिंग प्रत्यय ग्रहण करते हैं। नीचे लिंग-प्रत्ययों का विवरण और इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है।

१२. २३. १. हिन्दी के पुंलिग प्रयत्य—

{आ}=पुल्लिग; बड़ा; कठोर एक०। इसका एक रूपान्तर सानुनासिक है। -आँ जो अकारण या नासिक्य ध्वनि के प्रभाव से है : धुआँ < धूम्र। संस्कृत और प्राकृत में—आ स्त्रीलिंग का द्योतक था। पर हिन्दी का—आ उस स्त्री० प्रत्यय—आ से सम्बद्ध नहीं है। इसका विकास संस्कृत के अन्य प्रत्ययों से हुआ है। एक दिशा—अः > -— आ दीखती है।

उदाहरण—अण्डा (<अण्ड) कीड़ा (कीट) छुरा (<क्षुर) चूरा (चूर्ण) दिया (< दीप) साला (<साल) (<साला) कंधा (स्कन्ध), अत्र्, धत्र आदि साधारण प्रत्ययों वाले रूपों में अन्त्य अक्षर पर बलाघात होने के कारण-आ मिलता है ?

संस्कृत का -अक् प्रत्यय तत्समों में तो सुरक्षित रहा। पर तद्भवों में इसका विकास इस प्रकार हुआ—अकः > अ ओ > ओ। औ। आ। प्राकृत रूप से-अ- समाप्त हुआ और ब्रजभाषा वा पुरानी हिन्दी में ओ ∽ औ शेष रहा। उच्च हिन्दी में—आ। उदाहरण।

संस्कृत	प्राकृत	ब्रज	हिन्दी
आमलक	आमलओ	आमरौ	आँवला
कंटक	कंटओ	काँटो	काँटा
घोटक	घोडओ	घोड़ा : घोड़ौ	घोड़ा
मस्तक	मंथओ	माथौ	माथा

संस्कृत की—अन् वाले संज्ञा शब्दों का प्रथमा में आकारान्त होता था। वे ही हिन्दी में प्रायः ग्रहीत हुए। हिन्दी की कुछ आकारान्त पु० संज्ञाओं का यह भी स्रोत है राजन् < राजा।

कुछ शब्द संस्कृत में -तृ-अन्त वाले थे जो बहुधा कर्तृवाचक थे। इनका विकास भी हिन्दी में-तृ>-ता के अनुसार हुआ : कर्तृ > कर्ता, दातृ>दाता। सम्बन्ध

बीम्स, जिल्द II पृ० ८

सूचक -तृ (भारोपीय-ter) का विकास भी इसी प्रकार हुआ : पितृ>पिता; भ्रातृ> भ्राता। पर माता स्त्री० है।

कुछ शब्द संस्कृत में -अकारान्त ही थे। पर सम्भवतः बलाघात की स्थिति के कारण वे हिन्दी में आकारान्त हो गये हैं : लोहा<लौह, स्वर्ण। सुवर्ण< सोना तामों। ताँबा<ताम्र। पीछे के उदाहरण में प्रकृति-र्+अ है। संस्कृत में धातु+ स्वर+र वाले शब्द भी थे। इनका विकास भी हिन्दी आकारान्त पुल्लिग में हुआ है। बर्करा<बर्कर; धतूरा<धत्तूर। इस रूप का दूसरा विकास अकारान्त या रकारान्त ही हुआ : चौंर<चमर; बेर<बदर।

इस प्रकार {-आ} का विकास विभिन्न स्रोतों से हुआ और -आ की स्त्री० प्रत्यय रूप में चली आती हुई संस्कृत, प्राकृत परम्परा का एक प्रकार से विरोध उत्पन्न हुआ। पर अनेक संस्कृत तत्समों में हिन्दी ने -आ को स्त्रीलिंग प्रत्यय के रूप में ग्रहण किया : पूजा, चिन्ता। साथ ही अकारान्त पु० संस्कृत तत्समों में -आ प्रत्यय का योग करके स्त्रीलिंग बनाए जाते हैं : बाल। बाला; गायक। गायिका इस संस्कृत प्रत्यय -आ ने आकर हिन्दी के पुल्लिग [आ] के नियम में एक अपवाद उपस्थित किया। दूसरा अपवाद-इ का>-इ या के विकास क्रम से उपस्थिति हुआ : खटिका<खड़िया इसी प्रकार चिड़िया, थैलिया, फुड़िया हैं जो स्त्रीलिंग बोधक लध्वर्थक हैं। तीसरा अपवाद संस्कृत की -र्+आ अन्त्य वाली संज्ञाओं से भी स्त्रीलिंग हिन्दी आकारान्त संज्ञाओं का है : मात्रा, धारा, सुरा। -न्+आ वाले रूप : तृष्णा, सेना। -ता वाले शब्दः चिता, देवता, (हि० प्र०) कृष्णता आदि।-पा (-पन) जोड़ कर बने संज्ञा-शब्द भी पुल्लिग हैं : बुढ़ापा।

[-आ] का प्रयोग सम्बन्ध कारक चिह्न पुल्लिग एक० विशेषणों के साथ, क्रियार्थक संज्ञा, प्रत्यय न्- के पश्चात, वर्त० कृद० एक० प्र० में भूत० कृ० पु० एक० के साथ होता है। का, अच्छा; जाना; चलता; गया इनके क्रमशः उदाहरण हैं। इस- लिए [-आ] को मुख्यतः पुल्लिग प्रत्यय मानना ही समीचीन है। अपवाद केवल संज्ञा शब्दों में ही मिलते हैं।

१२ २३. २ हिन्दी स्त्री० प्रत्यय—[-ई]=स्त्री० छोटा, कोमल। यह प्रत्यय संस्कृत-प्राकृत में : स्त्री प्रत्यय था। हिन्दी में भी इसी रूप में मुख्यतः यह प्रत्यय प्रचलित है। इकारान्त पुल्लिग शब्द अपवाद स्वरूप मिलते हैं पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनके -ई का स्रोत अन्य ही है। साथ ही सम्बन्धकारक चिह्न, विशेषणों, वर्त० कृदन्त भूत कालिक कृदन्त तथा क्रिया आदि से संज्ञा बनाने के रूप में यह स्त्री० प्रत्यय के रूप में यह स्त्री० प्रत्यय के रूप में ही प्रयुक्त होता है। अतः इसी को शुद्ध स्त्री० प्रत्यय मानना समीचीन होगा। शुद्ध रूप में -ई का प्रयोग नाम्नी जैसे रूपों में मिलता है। -इ भी इसी का रूप समझना ठीक होगा, यद्यपि संस्कृत में -इ पृथक् प्रत्यय था।

संस्कृत कुछ क्रियावाची संज्ञाए-इंकारान्त होती थीं। हिन्दी में ये स्त्रीलिंग

हैं : नाभि, रुचि, कृषि, ध्वनि। संस्कृत के -इ क् प्रत्यय वाले रूपों का विकास -क के लोप के साथ -इ य>ई के रूप में हुआ। अधिकांश हिन्दी इकारान्त स्त्री० संज्ञायें इसी वर्ग से सम्बन्धित हैं। कुछ उदाहरण ये हैं : भक्षिका>मक्खी, मृत्तिका>मिट्टी कर्कटिका>ककड़ी कुंचिका>कूंची (कुंजी भी) दाढ़िका>दाढ़ी।

संस्कृत के इकारान्त और इससे पूर्व संयुक्त व्यंजन होने के कारण भी कुछ ईकारान्त संज्ञाओं का विकास हुआ है : मुष्टि>मुष्टि>मुट्ठी, मुठी, यष्टि (लष्टि) >लाठी। कुछ तत्सम शब्दों में -इ सुरक्षित है।

कुछ संस्कृत शब्द -ति से युक्त थे। वे भी हिन्दी में -ईकारान्त हो गये हैं : (बसति) भरती इसी प्रकार -चढ़ती, बढ़ती, गिरती आदि।-आई का योग करके भी धातुओं से स्त्रीलिंग संज्ञाएं बनाई जाती हैं : घुलाई, गढ़ाई, बताई।

अपवाद रूप में हिन्दी पुल्लिंग शब्द भी ईकारान्त मिलते हैं, पर इनका स्रोत दूसरा ही है। सं० के -इ क वाले शब्द भी हिन्दी में ईकारन्त हो गये हैं, मौक्तिक> मोती। इसमें बलाघात अन्त्यक्षर पर नहीं था। कुछ -इ न् प्रत्यय वाले शब्द भी ईकारान्त हो गये हैं : हाथी (<हस्तिन्) स्वामी (<स्वामिन्) माली (मालिन)

१२.२३.२. अन्य प्रत्यय—हिन्दी में मिलने वाले व्यंजनान्त शब्द अन्त्य ह्रस्व स्वरों के लोप का परिणाम माना जाय, तो हिन्दी में व्यंजनान्त प्रातिपदिक नहीं हैं। व्यंजनान्त और अकारान्त को एक ही मान कर नीचे हिन्दी के अन्य प्रत्यय दिये जा रहे हैं—

{—अ}—संस्कृत में इसका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है। धातु+ बलाघात+अ से क्रिया वाची सज्ञा तथा धातु+अ+बलाघात से कर्तृवाची संज्ञाओं का निर्माण होता था : वर (Vara) चुनाव तथा वर (Vara) 'वर'। हिन्दी में दूसरे अर्थ में वह शब्द प्राप्य है। कुछ धातुओं में कुछ ध्वन्यात्मक अन्तर भी आ जाता था : भोग (भोज्—), शोक (शु) च्—)। कुछ में धातु के स्वर की वृद्धि मिलती है : भार भट्, वास, (वस्—) द्रोह (द्रुह—) द्वेष (द्विष—)। इसी प्रकार योग (युज—) वेद (विद्)। कुछ रूप 'गुण' के साथ विकसित हुए : बोध (बुध्—) योद्ध—(युद्ध)। पर संस्कृत में ही इस प्रकार की संज्ञाएँ शिथिल पड़ने लगीं थीं। हिन्दी में ये सभी शब्द प्रयोग में आते हैं। कार्यवाची तथा कर्तृवाची दोनों रूप संस्कृत में प्रायः पुल्लिग होते थे। हिन्दी में भी पुल्लिग ही हैं। अन्त्य—अ घिसने लगा है।

र। न के साथ मिल कर—अ प्रत्यय संस्कृत में नपुं० रूप बनाता था। ये रूप भी हिन्दी में पुल्लिग हो कर आये हैं : √दा+न्=दान, अध्+र=अधर, 'नीचे का ओंठ' विद्+=विप्र 'विद्वान'।

क्रियार्था संज्ञा के अन्त्य-ना को हटा कर अकारान्त करके पुल्लिग से स्त्री० बनते हैं : रहन, सहन,।

—मन् वाले संस्कृत शब्द भी हिन्दी में—म वाले रूपों में विकसित हैं : कर्म, चर्म, रोम, सद्म, मर्म,। ये बहुधा कार्यवाची संज्ञाएँ हैं, किन्तु पीछे इनका

स्वतंत्र अर्थ विकसित होता गया। ये सभी पुल्लिग हैं। इसी प्रकार के शब्द युग्म, भीम, पद्म हैं। —म से युक्त कुछ विशेषण रूप भी थे, जो संज्ञा रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं : घाम (<घर्म) धूम (धूम्र=धू+म्र) हिम, क्षेम, सोम, होम, श्रम आदि। इससे बने कुछ विशेषण भी हिन्दी में पुल्लिग रूप में प्रयुक्त होते हैं श्याम, नर्म, परम, अधम,। इनमें—अम प्रत्यय रूप में है। उत्तम में —तम, अग्रिम में—इम, प्रत्ययों का योग है। —पन् के योग से बनी भाव वाचक संज्ञाएं भी पुल्लिग होती हैं : लड़कपन।

—अस्,—स् संस्कृत प्रत्ययों में से हिन्दी में —स का लोप हो—गया है और अकारान्त प्रातिपदिक बच रहे हैं। ये इनके लोप होने का कारण बलाघात का न होना ही है। ये भी पुल्लिग में ही मिलते हैं। मन (मनस्—) जन (जनम्) नभ (नभस्) तप (तपस) तेज (तेजस्) उर (उरस्) शिर (शिरस्)। आदि इसी प्रकार के उदाहरण हैं।—तस् रूप में इसका संयुक्त प्रत्यय रूप भी मिलता है : स्रोत (स्रोतस्), रेत (रेतस्)।—क्षस् वाले रूप ये हैं : दक्ष (दक्षस) पक्ष (दक्षस्) पक्ष (पक्षस्) —इष् वाले रूप में हिन्दी में हैं, पर बहुत कम: ज्योतिष, आमिष। इनमें से पहला हिन्दी में स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है।—इष्+ठ। ठा के द्वारा कुछ विशेषण रूप सम्पन्न होते थे। इनका प्रयोग भी हिन्दी में है : कनिष्ठ, गरिष्ठ, स्वादिष्ठ। इनका प्रयोग भी पुल्लिग के रूप में है।—स (—Sa) वाले रूपों में—स्। स (S/sa) सुरक्षित है : वत्स, वृक्ष, यक्ष (यशस्—'सुन्दरता') पक्ष (पाक्षस्—) रुक्ष (√रूष्)। इनके अतिरिक्त हंस, अंस, रीछ (ऋक्ष) जैसे रूप हैं।—अस (asa) वाले रूप सामान्य रूप में भी मिलते हैं, और वृद्धि के साथ भी : वायस, मानस।—ईस,—उस वाले रूप विशेषण हैं : परुष, (Knotty) पुरुष (पुरु से संबंधित) महिष (महान, भैंस)।—ऊस वाले रूप : पीयूष। इसके साथ अन्य प्रत्यय भी जुड़ सकते हैं : मनीष, सरसी, मस्तिष्क। पहले दो में—आ,—ई स्वभावत: उन्हें स्त्री० कर देते हैं।

संस्कृत में—त प्रत्यय भी कार्य से संबंधित था। इसका प्रयोग पहले नपुं० लिंग के रूप में था, पीछे उभय लिंग हो गया। नक्त; स्त्री०। विश्वजित—, ज्योतिष्कृत आदि रूप—त वाले ही हैं।—इ+—त वाले रूप स्त्रीलिंग हो जाते हैं : योषित,—(योषिता भी) सरित्—(सरिता)।—त (—t+a) वाले कुछ रूप स्त्री लिंग भी होते हैं : रजत; और पुल्लिग भी : दूत, सूत, नापित (नाई) कपोत, वसन्त मुहूर्त, अद्भुत। वस्तुत: ये शब्द विशेषण हैं। पीछे स्वतंत्र संज्ञाओं के रूप में विकसित होने लगे थे। नये शब्द इस प्रकार के हैं :—धातु+त: लागता, आढ़त। मूलत ये स्त्री० प्रत्ययों से युक्त थे। अब भी ऐसे शब्द स्त्रीलिंग हैं।—धातु+ऐत: लठैत, डकैत,।

संस्कृत और प्राकृत दोनों में — का प्रत्यय महत्वपूर्ण था। इसके रूप—अक, —उक,—ऊक मिलते हैं। हिन्दी में—क करने वाले के अर्थ में है। हो सकता है कि

'कर' का लघु रूप ही हो। कुछ तो ऐसे शब्द हैं जिनमें कर्ता का अर्थ स्पष्ट है: कारक, पाचक, लेखक ये पुल्लिग होते हैं। कुछ शब्दों में कर्ता-भाव इतना स्पष्ट नहीं है: पावक (पवित्र करने वाला) सड़क (जो चलती जाय) सूतक। ये रूप दोनों लिंगों में हो सकते हैं। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें से कर्तृ-भाव लुप्त ही हो गया है: कटक, वृक, नरक, लंक। कुछ शब्द इस प्रत्यय के साथ नवीन भी हैं: फाटक, बैठक, सड़क ये भी दोनों लिंगों में हो सकते है। -अक प्रत्यय वाले कुछ शब्द केवल स्त्रीलिंग हैं: ध्वनिसूचक शब्द कड़क, धड़क कड़क; कान्ति सूचक-चटक, चिलक, चमक, झलक, दमका पीड़ा बोधक कसक, टसक, दलक। अचानक क्रिया—चौक, झिझक, झिड़क, टपक, ठिठक, फरक, लटक सटक। ये सभी क्रिया—धातु क+अ के संयोग से बने हैं। और प्रायः सभी अनुरणनात्मक हैं। अन्य शब्द मार, दौड़, अटक कुछ -क वाले शब्द क-वाले शब्द पुल्लिग हैं। इनकी प्रेरणार्थक धातु+क है और ये पुल्लिग होते हैं। उदाहरण—उड़ाक, तैराक, लड़ाक (लड़ाका भी। -ज (जन्म) से युक्त रूप भी पुल्लिग हैं जलज, स्वेदज, उपज।

—त्र प्रत्यय वाले संस्कृत शब्द तत्सम रूप में भी प्रयुक्त होते हैं और तद्भव रूप मे भी। ये सभी अकारान्त और पुल्लिग ही है तंत्र, तन्त मत्र, मंत, यन्त्र, जंतर (जंत्र)।

हिन्दी में कुछ अकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का ऐसा वर्ग है जो संस्कृत में आकारान्त थे और बलाघात के अभाव में अकारान्त रह गये हैं। बात (< वार्ता) ऊन (< ऊर्णा) खाट (< खट्वा) गोह (< गोधा) दूब (< दूर्वा राख (< रक्षा)।

संस्कृत के इकारान्त शब्द हिन्दी में अकारान्त स्त्रीलिंग रूप में मिलते हैं: आग (< अग्नि) रात (< रात्रि) सुरत (<स्मृति)।

—ट प्रत्यय से युक्त शब्द स्त्रीलिंग मे ही प्राप्त होते हैं: बनावट, मिलावट, खुजलाहट।

इस प्रकार अकारान्त शब्द दोनों लिंगो मे प्राप्त होते हैं। इसका कारण संस्कृत के प्रत्ययों का लोप या विकसित होकर एक रूप हो जाना है।

{इ} इस प्रत्यय से युक्त अधिकाश संज्ञा शब्द हिन्दी में स्त्री लि० हैं। सस्कृत के कुछ इकारान्त तत्सम शब्द स्त्रीलिंग में हैं; ग्लानि, योनि, वर्णि। कुछ भाव-वाचक संज्ञाएं—ति से युक्त हैं, जो स्त्रीलिंग हैं: गति, स्तुति, मति, सगति. बुद्धि। रति, शक्ति, शान्ति। कुछ—नि वाले सज्ञा शब्द है; ध्वनि, मणि। -मि प्रत्यय वाले संस्कृत शब्द हिंदी में स्त्रीलिंग हैं: ऊर्मि, रश्मि। अन्य इकारान्त नपुंसक हिंदी में स्त्रीलिंग हो गये: अस्थि, नभि, रुचि।

कुछ इकारान्त शब्द हिन्दी में पुल्लिग भी हैं: दधि, वारि, कपि, ऋषि, मुनि गिरि, अहि आदि। इनमे से अधिकांश सस्कृत में नपु० लि० में थे। इनका विकास हिन्दी में पुल्लिग के रूप में हो गया है।

—य को भी -इ का संयुक्त या विकसित रूप मानना चाहिए : इ+अ। पर पीछे—य प्रत्यय स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होने लगा। इस प्रत्यय से युक्त शब्द हिन्दी में पुल्लिग ही है। यह अकारान्तता का प्रभाव हो सकता है। उदाहरण द्रव्य, राज्य, सख्य, इन भाववाचक संज्ञाओं के अतिरिक्त कुछ नपुंसक मिश्रित रूप भी हैं : सौभाग्य दौत्य। सत्य, सूर्य, पांचजन्य, आदि भी ऐसे रूप हैं। विशेषणवत प्रयोग होने वाले दिव्य, वन्य, मान्य आदि शब्द भी पुल्लिग हैं।

{उ}—उ। व वाले संज्ञा शब्द अधिकांश पुल्लिग में ही प्राप्त होते हैं। रान+उ वाले रूप ये हैं : अश्रु, भीरु, भानु, विष्णु। -उस् वाले रूपों के अन्त्य-स। ष के लुप्त हो जाने पर उकारान्त रूप हो जाते हैं : वपु (वपुष) धनु (धनुष)। -तु वाले संस्कृत शब्द हिन्दी में पुल्लिग हैं : वास्तु (भवन) तन्तु, सेतु, केतु, हेतु। -ह के रूपान्तर त्व के योग से बनी भाव वाचक संज्ञाएँ भी पुल्लिग होते हैं : देवत्व, अमृतत्व महत्व। संस्कृत के उकारान्त शब्द भी अधिकांश में पुल्लिग हैं : पशु, मधु, जानु, रिपु, सिन्धु। -आलु वाले रूप : दयालु, निद्रालु। -व वाले शब्द भी पुल्लिग हैं : भाव गाँव। अन्य शब्द बचाव, चढ़ाव, उड़ाव, आदि हैं।

पर उकारान्त स्त्रीलिंग शब्द भी हैं। -न+उ : धेनु। -उष् के अन्त्य -ष् के लुप्त हो जाने से प्राप्त शब्द : आयु (<आयुष)। -तु वाले न पु० लि० वस्तु, धातु दारु, मृत्यु, रेणु आदि संस्कृत उकारान्त शब्द भी स्त्रीलिंग हैं।

{-ऊ}—इस अन्त्य वाले शब्द भी प्रायः पुल्लिग ही होते हैं। संस्कृत और प्राकृत में -ऊ स्त्रीलिंग का प्रत्यय था : बहू (<बधू)। क्रियाओं के प्रेरणार्थक रूप में -ऊ का संयोग करके जो संज्ञा विशेषण रूप बनते हैं, वे पुल्लिग ही हैं : उड़ाऊ, जड़ाऊ, टिकाऊ, आदि। इस -ऊ का सम्बन्ध -आक ~ आकु से जाना जाता है। पर यह-उक का प्रतिनिधि है। इसका प्रमाण है : भालू<भाल्लुक। जहाँ -क का संयोग स्त्री० प्रत्यय -आ से होता है, वहाँ भी हिन्दी में वह शब्द ऊकारान्त हो जाता है और लिंग भी स्त्रीलिंग होता है : बालू<बालुका। अन्य स्त्रीलिंग शब्द ये हैं : चमू, दारु (शराब) लू।

{-औ}—इस प्रत्यय वाले शब्द हिन्दी में बहुत कम हैं। ब्रजभाषा में खड़ी बोली के अकारान्त पुल्लिग शब्द औकारान्त मिलते हैं। उच्च हिन्दी में जो शब्द हैं; वे स्त्रीलिंग में ही हैं : पौ ('उषाकाल तथा जुए का दाँव भी') सौ (सौगन्ध) लौ (दीपशिखा) दौं (आग) सरसों।

१२.३.४. पुल्लिग से स्त्रीलिंग : परिवर्तक प्रत्यय—ये प्रत्यय दो हैं : ई तथा इसके वृद्ध रूप और -न- वाले रूप। -न- के पूर्व भी -इ- का संयोग हो सकता है और बाद में भी। इस प्रकार -न- वाले रूपों को मिश्रित प्रत्यय माना जा सकता है। इनके रूप इस प्रकार हैं—

पुल्लिग —घोड़ा, पुत्र, बिडा, दूल्हा, धोबी, बाघ, पंडित, पाँडे

स्त्रीलिंग—घोड़ी, पुत्री, चिड़िया, दुलहिन, धोबिन, बाघनी, पंडितानी, पँड़ाइन।

उक्त उदाहरण में =ई इया -इन, -नी, आनी, आइन प्रत्ययों का योग करके स्त्रीलिंग रूप बनाए गए हैं।

-ई, इया वाले प्रत्ययों की व्युत्पत्ति संस्कृत के -इक, इका प्रत्ययों से मानी जाती है : इक < -इअ, > -ई अथवा -इका > -इआ > -इया। हिन्दी तद्भव रूपों में प्राप्त -ई का सम्बन्ध संस्कृत स्त्री० प्रत्यय -ई से सीधा नहीं है। सं० घोटक >हि० घोड़ा, घोटिका>घोड़िआ>घोड़ी। -न वाले प्रत्ययों का सम्बन्ध अधिकांश संस्कृत -इन (पु०) तथा -इनी (स्त्री) प्रत्ययों से है। पुल्लिग में -इन>-ई विकास हुआ : मालिन्>माली (सं० कर्ता एक०); स्त्री० मालिनी>मालिन।

संक्षेप में कह सकते हैं कि हिन्दी का लिंग विकास इस प्रकार हुआ : भारोपीय की प्रथम स्थिति में दो लिंग थे : नपुंसक लिंग तथा उभयलिंग। पीछे स्त्रीलिंग के विकास होने पर, उभयलिंग, पुल्लिग और स्त्रीलिंग में विभाजित हो गया। संस्कृत में कुछ नपुंसक लिंगों में भी स्त्री पु० का आरोप होने लगा। मभाआ काल में नपुं० शिथिल पड़ने लगा। हिन्दी में केवल पु० स्त्री० रह गये। हिन्दी में पु० का मुख्य प्रत्यय [-आ] तथा स्त्री० [-ई] है। अपवादों का कारण ऐतिहासिक है। अन्य दोनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं। इस एक रूप का कारण भी विकास ही है।

१२.२३.५ अर्थद्योतन—जैसा ऊपर देखा गया है, सामान्यतः पुल्लिग प्रत्ययों से नर, बड़ा, कठोर और स्त्री० प्रत्ययों से नारी, छोटी और कोमल का अर्थ द्योतन होता है। यद्यपि यह नियम पूर्ण रूप से व्यापक नहीं है। तथापि काफी कुछ लागू होने वाला है। इसके अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनके पुल्लिग रूप का अथ स्त्री० रूप के अर्थ से नितांत भिन्न है।[1] इस भेद का कारण व्युत्पत्ति भेद हो सकता है। उदाहरण—

हाल (पु०) 'समाचार, दशा'	हाल (स्त्री०) 'पहिये का लोहे का पट्टा'
गंजा (पु०) 'खल्वाट'	गंजी (स्त्री०) बनियान।
कुलफ़ा (पु०) 'एक सब्जी'	कुलफ़ी (स्त्री०) 'डिब्बे में जमाई हुई बरफ'

संस्कृत में एक परम्परा थी कि पुल्लिग शब्द वृक्ष का द्योतक था, (आम्रः) तथा नपुंसक फल का : आम्रः। आम्रक। इस परम्परा का एक विकास दीखता है। कुछ शब्द इस प्रकार के हैं कि पुल्लिग शब्द महीने का द्योतक है और स्त्री० उसकी

[1] इस सम्बन्ध में दे० डा० बाबूराम सक्सेना का लेख 'हिन्दी में लिंग-भेद के द्वारा सूक्ष्म अर्थ भेद का द्योतन,' हिन्दी अनुशीलन, [धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक] पृ० १५१-१५४। लेखक ने उसी लेख में प्रयुक्त सामग्री का यहाँ उपयोग किया है।

पूर्णिमा का—असाढ़ । असाढ़ी, कातिक । कतकी, हो सकता, इसकी प्रेरणा संस्कृत के श्रावण, श्रावणी जैसे युग्म से प्राप्त हुई हो ।

कुछ शब्द-युग्म ऐसे हैं जिनमें पुल्लिग रूप किसी पदार्थ का द्योतक है तथा दूसरा उसकी क्रिया गुण, या तत्संबंधी का । नीचे की सूची इसी प्रकार की है—

अंगूर (पु०) 'एक फल'	अंगूरी (स्त्री०) 'एक रंग'
गवाह (पु०) 'साक्षी'	गवाही 'साक्ष'
अंगूठा (पु०) 'अंगूठा (हाथ का)	अंगूठी 'एक गहना'
होला (पु०) 'भुना हुआ कच्चा अन्न'	होली 'भूनने का त्योहार ।
सलाम (पु०) 'अभिवादन'	सलामी 'स्वागत में बन्दूकों की सलामी ।
मिसा (पु०) '<मिश्र (अन्न)'	मिस्सी 'दाँतों पर लगाने का प्रसाधन
जाला (पु०) 'मकड़ी का'	जाली लोहे या कपड़े की'

अन्य अर्थ भेदक सूची इस प्रकार है—

अंगा (पु०) ' पुरुष का वस्त्र'	अंगिया (स्त्री०) 'स्त्री का वस्त्र'
कुर्ता (पु०) ,,	कुर्ती (स्त्री०) स्त्री का वस्त्र
अंडा (पु०) 'चिड़ियों आदि का अंडा'	अंडी (स्त्री०) रेशमी कपड़ा
आम (पु०) 'पका आम'	अमिया (स्त्री०) कच्चा आम
किनारा (पु०) 'नदी का'	किनारी (स्त्री०) धोती की ।
कुण्डा (पु०) 'एक वर्तन'	कुण्डी (स्त्री०) 'द्वार की जंजीर'
खोपड़ा (पु०) 'नारियल'	खोपड़ी (स्त्री०) 'सिर'
घड़ा (पु०) 'घट'	घड़ी (स्त्री०) घड़ी :

इस प्रकार लिंग भेदक प्रत्यय अन्य अर्थों का द्योतन भी करते हैं । इनका कारण ऐतिहासिक भी है और कुछ में अंग-अंगी भेद भी दीखता है । कुछ में भी नितांत भिन्न अर्थ मिलता है ।

१२.३. वचन—भारोपीय तथा भारत ईरानी की भाँति प्राभाआ—काल में भी तीन वचन प्रचलित थे । फिर अन्य भाषाओं की भाँति द्विवचन के विघटन की प्रवृत्ति चल पड़ी । मभाआ के प्रारम्भ में ही द्विवचन समाप्त हो गया था । अशोक के शिला लेखों में संख्यावाची द्वि शब्द का प्रयोग बहुवचन प्रत्यय के साथ मिलता है (गिरनार १४): दुवे मोरा । पालि[1] और प्राकृतों[2] में द्विवचन को दो की संख्या से व्यक्त किया जाता था । अपभ्रंश में भी द्विवचन के स्थान पर संख्या वाचक दो का ही प्रयोग चलता रहा । आदरार्थक एक वचन का प्रयोग प्राभाआ और अपभ्रंश में प्रचलित था और हिन्दी में भी है । हिन्दी में वचन का क्रम मभाआ से मिलता

जुलता ही रहा। इस शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दी के वचन-रूपों की तालिका, उनका विवरण और इतिहास दिया गया है।

११.३.१. रूप तालिका (Paradigm)

(क) पुल्लिग

घोड़ा	राजा	माली	भालू	घर	ऋषि	तन्तु
घोड़ों	●	●	●	●	●	●
घोड़ो	राजाओं	मालिओ	भालुओं	घरों	ऋषिओं	तन्तुओं

(ख) स्त्रीलिंग

चिन्ता	बिल्ली	बहू	बात	शक्ति	वस्तु
चिन्ताएँ	बिल्लियाँ	बहुएँ	बातें	शक्तियाँ	वस्तुएँ
चिन्ताओं	बिल्लिओं	बहुओं	बातों	शक्तिओं	वस्तुओं

ऊपर की तालिका में पुल्लिग के दो और स्त्रीलिंग का एक ही रूप मिलता है। इनका विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—

	पुल्लिग [१]	पुल्लिग [२]	स्त्रीलिंग [१]	स्त्रीलिंग [२]
कर्ता० एक०—	घोड़—[—आ]	राजा—[—θ]	चिन्ता-	बिल्ली
कर्ता० बहु०—	घोड़—[—ए]	राजा—[—θ]	चिन्ता—[—एँ]	बिल्लि—[—आँ]
तिर्यक एक०—	घोड़—[—ए]	राजा—[—θ]	चिन्ता—[θ]	बिल्ली—[—θ]
तिर्यक बहु०—	घोड़—[—ओं]	राजा—[—ओं]	चिन्ता—[—ओं]	बिल्लि—[—ओं]

विशेषणों वर्तमान कृ० तथा भूत० कृ० तथा संबंधकारक के साथ प्र० एक [—आ], पु० बहु० [—ए] तथा स्त्री० एक० [—ई] तथा स्त्री० बहु० [—ई] का प्रयोग होता है। उदाहरण: अच्छा। अच्छी, अच्छे। अच्छी; जाता। जाती, जाते। जाती, गया। गई, गए। गई;। तिर्यक बहु० [—ओं] का प्रयोग केवल संज्ञाओं के साथ संज्ञा-वत् प्रयुक्त विशेषण और कृदन्तों के साथ होता है। संबोधन-कारक में इसका अनुस्वार लुप्त हो जाता है : लड़कों।

१२.३.२. उक्त प्रत्ययों का विवरण

१२.३२.१. कर्ताकारक—

(क) पुल्लिग एक वचन

[—आ]=।—आ।θ।

=।—आ। का प्रयोग केवल उन हिन्दी संज्ञाओं के साथ होता है, जो संस्कृत की—क: या—अक: वाली संज्ञाओं से विकसित हुई है (इतिहास, ११.३.३) :

घोड़ा (<घोटकः) प्र० एक० विशेषण, वर्त० कृ०, भू० कृ० तथा संबंध कारक के साथ भी इसका प्रयोग होता है।

=।θ। का प्रयोग अन्यत्र होता है।

(ख) स्त्री लिंग एक वचन

[—ई]=।—ई।,।θ।

=।—ई। का प्रयोग केवल इन हिन्दी संज्ञाओं के साथ होता है, जो संस्कृत की—इका अन्त्य वाली संज्ञाओं से विकसित हुई हैं। नदी (<नदिका) ब्रज में नदिया शब्द भी प्रचलित है। स्त्री० एक० विशेषण, वर्त० कृ०, भू० कृ० तथा सबंध कारक के साथ भी यहाँ प्रयुक्त होता है। अच्छी, चलती, चली, के=।—θ। प्रयोग अन्यत्र होता है।

(ग) पुल्लिग बहुवचन

[—ए]=।—ए।, ।θ।

=।—ए। का प्रयोग उन संज्ञाओं की बहु वचन रचना में होता है जो एक० में [—आ] से संयुक्त होती हैं : घोड़ा ।घोड़े। बहु० पु० विशेषण, वर्त० कृ०, भू० कृ० तथा संबंध कारक में भी प्रयुक्त होता है : अच्छे, चलते, चले, के।

=।—θ। का प्रयोग अन्यत्र होता है।

(घ) स्त्री० बहुवचन

[—आँ]=।—आँ।, ।,।—ईं।,।—एँ।

=।—आँ। का प्रयोग ईकारान्त तथा इकारान्त स्त्री० संज्ञाओं की बहुवचन-रचना में होता है : गति । गतियाँ, सुई ।सुइयाँ।

=।—ईं। का प्रयोग वर्त० कृ० तथा भू० कृ० के उपवाक्यान्तक अथवा वाक्यान्त व ध्वनिग्रामों से पूर्व होता है।

हम जातीं पर नहीं गईं [हम जातीं →।पर नहीं गईं ।।↓] विशेषणों के साथ इसका प्रयोग प्रायः नहीं मिलता है।

=।एँ। का प्रयोग अन्यत्र होता है।

संज्ञाओं के अन्य अन्त्यों के विषय में आगे (११-३-३) विचार किया गया है।

१२.३२.२. तिर्यक—

(क) पुल्लिग एकवचन

[—$ए_२$]=।ए२।,।θ।

=।—ए२। का प्रयोग उन संज्ञाओं के तिर्यक एक० रचना में होता है जो कर्ता एक० में [—आ] ग्रहण करती हैं : घोड़े=घोड़+[—ए२]।

=।θ। का प्रयोग अन्यत्र होता है।

(ख) स्त्री० एकवचन

[—θ]—स्त्रीलिंग एक० की तिर्यक रूप रचना में किसी प्रत्यय का योग नहीं होता।

(ग) स्त्री० पु० तिर्यक बहु०

{—ओं} इसका प्रयोग तिर्यक स्त्री० पु० बहु० में होता है : घोड़ों, बातों।

१२.३.३. इतिहास

क कर्ता पुल्लिग एक वचन

—आ—कर्ता पुल्लिग एकवचन है संस्कृत प्राकृतों के अकारान्त संज्ञा-धातुओं। के साथ जुड़वे वाला—क इस रूप मे विकसित हुआ। बीम्स के अनुसार इसके सुरक्षित रहने का कारण बलाघात की स्थिति है।[1] विकास की दिशा कुछ इस प्रकार की रही :—अ+क्+अ:>—अ+अ+ओ< [—अ ओ / —आ ओ] इसके पश्चात एक ओर तो, अधिकांशतः पश्चिम मे—अ ओ>ओ, ब्र० औ का विकास हुआ और दूसरी ओर अधिकांशतः पूर्व में—आ ओ>आ का विकास हुआ (—ओ>उ >०)। हेमचन्द्र ने—आ प्रत्यय की स्वीकृति पश्चिमी वैया करण हेमचन्द्र तकने की है।[2] पर पश्चिम में यह अधिक लोकप्रिय नहीं था। वहाँ—ओ वाला रूप ही चलता रहा। पूर्व में यह अधिक प्रचलित रहा। विक्रमोर्वशीय में दो उदाहरण—आ वाले मिलते हैं : चक्का (चक्रवाक) मोरा (मयूरक)। दक्षिणी अपभ्रंशों में भी इसका प्रयोग नहीं मिलता। पश्चिमी अपभ्रंशों में संबोधन के रूप में १००० ई० के पश्चात् इसका कुछ कुछ प्रयोग मिलता है।[3] पूर्वी अपभ्रंशों में कर्ता एक० के रूप में इसका प्रयोग मिलता है। पश्चिम में १००० ई० के पश्चात्—आ वाले रूप नपु० में दिखाई देते हैं : भग्गा< भग्न—क –, भल्ला < भद्र—क, हियडा < हृदयक। इस प्रकार यह रूप पूर्व की ही देन दीखता है। हिन्दी में—आ वाले रूप ही प्रचलित हैं। हिन्दी की प्रमुख बोली व्रज में इन सभी स्थानों पर—औ का प्रयोग मिलता है।

—θ—का तात्पर्य है कि अन्त्य शब्दों से प्रत्यय कालोप हो गया है। प्राकृतों में मुख्यतः—ओ तथा अपभ्रंश[4] में मुख्यतः—उ प्रत्यय इन स्थानों पर मिलता है। अपभ्रंशों में सामान्य रूप से, कुछ स्थानीय अंतरों को छोड़कर—उ का प्रयोग ही होता था। प्राकृतों का—ओ ही दुर्बल होकर—उ में विकसित हुआ, ऐसा माना जाता है। भारतीय आर्य भाषाओं में अन्त्य प्रत्यय के दुर्बलीकरण की प्रवृत्ति विशेष

---

[1] Beams, Comp. Gram, Vol II, pp. ४-१५

[2] सिद्ध हेमचन्द्र, ८४।३३०

[3] तगारे हिं० ग्रा० अप० १०६

[4] पुरुषोत्तम, प्राकृतानुशासन १७।४२; सिद्ध हेम ८।४।३३१; त्रिविक्रम, प्राकृत व्याकरण ३।४।२ आदि।

रूप से मिलती भी है।[१] भरत ने भी अपभ्रंश के उदाहरणों में इस प्रत्यय का परिचय दिया है : मोरु < मयूर ः।[२] प्राकृतों के प्रभाव से ओ का प्रयोग भी अपभ्रंशों में कुछ कुछ चलता रहा, पर इसका प्रयोग मुख्यतः पश्चिमी अपभ्रंशों तक सीमित रहा। पूर्वी अपभ्रंशों में नपुं० एक० कर्ता प्रत्यय के रूप में यह प्रयुक्त मिलता है। यह लिंग की अस्तव्यस्तता का प्रमाण है। व्रजभाषा में—उ प्रत्यय चलता रहा और आज भी व्रज की बोलचाल में यह प्रचलित है। उच्च हिन्दी में इसका लोप हो गया है। इस प्रकार विकास—क्रम यह रहा : —अः,—आः >—,ओ ,—उ > θ। पूर्वी अपभ्रंशों में (θ) की स्थिति मिलती है।—अ प्रत्यय प्रातपदिक का कर्ता एक० में प्रयोग बौद्ध संस्कृत तथा पूर्वी लेखकों में मिलता है। पीछे पश्चिमी अपभ्रंशों में भी इसके उदाहरण मिलने लगते हैं:—च की समाप्ति होने लगती है।[३] पर—उ बिल्कुल समाप्त नहीं हो जाता। इस प्रकार इस प्रवृत्ति की प्रगति भी पूर्व से पश्चिम की ओर मिलती है। उदाहरण—देस (देश) < देसो, देसु < देशः ; लाभ (ब्र० लाभ, लाहु) < प्रा० लाहो अप० लाहु < सं० लाभः।

ख-कर्ता स्त्री० एक०—

—ई का सम्बन्ध संस्कृत के—इक, इका वाले रूपों से है। पिशेल ने प्राकृतों के स्त्री प्रत्यय के विषय में जो लिखा है[४], उसका सार इस प्रकार है—

कर्ता संबोधन :=।—θ।

करण :—।—ई अ,—ई ए (भाग०, भाग०, शौ०, महाराष्ट्री,)

अपादान : :—ई ओ,—ऊ ओ (महा० अर्द्ध भाग०)

—इदो,—उदो (जै० शौ०, शौ०, भाग०)

संबंध : —ई अ,—ई ए (महा० अर्द्ध भाग०, शौ०, भाग०)

अधिकरण :—ई ए, महा० अर्द्ध भा०, जै० महा०, शौ०, भाग०

—इंसि (अर्द्ध भाग०)—म्मि (शौ०)

अपभ्रंश के प्रत्यय इस प्रकार हैं—[१]

करण—इ ए (—ई प्रा० पैं०)

अपादान—हे

सम्बन्ध—है, इ ए

अधिकरण—हीं,—ई,—θ

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि—ई का तत्व सभी में सामान्य रूप से

[१] Turner, Journal of the Royal Asiatic society, १६२७, pp २२७—३६,

[२] नाट्य शास्त्र, १७

[३] तगारे, १०८

[४] पिशेल ६३८४-१

[५] तगारे, १८०

पाया जाता है। व्रजभाषा तथा पुरानी हिन्दी में इस प्रत्यय पर कुछ अपभ्रंश के मिश्रित प्रत्ययों का प्रभाव रहा। आज की उच्च हिन्दी में —ई प्रत्यय ही प्रचलित रह गया है। अकारांत स्त्री० लिंग संज्ञाओं का विकास भी -इका वाले संस्कृत रूपों से हुआ है: बालू < बालुका।—इकः वाले रूपों से पुल्लिंग ईकारान्त संज्ञा पदों का जन्म हुआ है: धोबी <धाविकः (बीच में धाविओ, —इकम् वाले नपु० लिंग रूपों का विकास भी हि० में ईकारान्त रूपों में हुआ है: मोती<मोत्तिअ< मौक्तिकम। ऊकारान्त पुल्लिंग रूपों का विकास—उकः वाले रूपों से हुआ है: बिच्छू < विच्छिओं<वृश्चिकः। इस प्रकार—क युक्त रूपों से ईकारान्त, अकारान्त स्त्री० पु० हिन्दी रूपों का संबंध है।

(ग) कर्ता पुल्लिंग बहुवचन

—ए के इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। मागधी प्राकृत में कर्ता बहु० पु० में यही प्रत्यय मिलता है। हिन्दी—ए का संबंध मागधी —ए से से मानने में कुछ विद्वानों को इसलिए आपत्ति है कि हिन्दी पश्चिमी अपभ्रंश से संबंधित भाषा है। पर पीछे (११·३.२ क) में—आ प्रत्यय भी पूर्वी अपभ्रंशों की विशेषता मानी गई है और —θ भी। यद्यपि व्रज आदि बोलियां पश्चिमी अपभ्रंशों के समान ही प्रत्यय ग्रहण करती रहीं, उच्च हिन्दी में कर्ता एक० पु०—आ,—θ की प्रवृत्ति पूर्व से आई (?) उसी प्रकार—एक की उत्पत्ति भी पूर्व से हो सकती है। हॉर्नले के अनुसार तिर्यक पु० एक० तथा कर्ता पु० बहु०—ए समान ही हैं और इसका संबंध, सबंध एक वचन से है। केलाग ने इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है।[1]

(घ) कर्ता स्त्री० बहु०—आं,—एँ प्रत्ययों का संबंध संस्कृत नपु० लिंग प्रत्यय आनि से माना जाता है: आनि>मभाआ आइँ>हि० एँ; सं आनि> मभाआ—आ>हि०—आं।

(ङ) तिर्यक बहु० {ओं}—इसका प्रयोग स्त्री० पु० दोनों में होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका संबंध संस्कृत षष्ठी बहु०—आनां से हैं। संबंध कारक बहुवचन के अन्त में सभी प्राकृत भाषाओं में आणं आता है (सं० आनाम) अप० में आहँ तथा अहँ रूप भी मिलते हैं: पुत्ताहँ, पुत्त है। इन्हीं से हिन्दी के बहुवचन —ओं तथा —यों का जन्म हुआ है।

१२.४. कारक विभक्ति—'कारक' शब्द से कर्तृत्व शक्ति सूचित होती है। 'कारक=करने वाला। कारक क्रिया से सम्बद्ध है: न्वयित्वं कारकत्वम्। 'आकांक्षा' के आधार पर खड़े कारकों का अर्थाभिव्यक्ति से विशेष संबंध है: क्रिया जानने के पश्चात कारक और कारक के ज्ञान होने के पश्चात क्रिया जानने की जिज्ञासा होती है आदि। वह 'नाम' कारक हो सकता है जिसका अन्वय क्रिया—रूप के साथ हो।

---

1 केलाग, १२७

इस परिभाषा के अनुसार 'संबंध' कारक नहीं हो सकता जिसका अन्वय क्रिया से न होकर 'नाम' से होता है। इसी आधार पर संस्कृत में 'संबोधन' को भी कारक न मान कर, कारकों की संख्या छः रक्खी गई थी।

प्राभाआ काल में शब्दों के प्रतिपदिक रूपों के कारक रूप बनाने का कार्य विभक्ति प्रत्ययों के संयोग से होता था। वचन के अनुसार रूप बदलने से यह कारक प्रक्रिया बड़ी जटिल थी। पीछे सरलीकरण की प्रवृत्ति से कारक रूप भी मुक्त न रह सके। पालि में 'संबंध' कारक का प्राधान्य हुआ। प्राकृतों में भी इसकी प्रमुखता चलती रही 'एकशत षष्ठयर्थाः' लिखकर महाभाष्य करने इसके व्यापक प्रयोग को सूचना दी थी। संस्कृत में भी कर्म, करण, सम्प्रदान आदि के प्रसंग में षष्ठी का प्रयोग मिलता है। 'सम्बन्ध' के इस विकास का भी एक क्रम है। वैदिक में षष्ठी और चतुर्थी का परस्पर स्थान-विनिमय संभव था। फिर चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी प्रायः प्रयुक्त होने लगी। फलतः चतुर्थी लुप्त प्राय हो चली। धीरे धीरे सम्बन्ध कारक की विभक्ति षष्ठी का प्रयोग अन्य कारकों की विभक्तियों के द्योतन के लिए भी होने लगा। षष्ठी का महत्व अपभ्रंश में भी रहा। सम्बन्ध कारक के प्रत्यय से ही सम्प्रदान तथा संबंध दोनों प्रत्ययों का अर्थबोध होने लगाः चतुर्थ्याः षष्ठी।[1] इसका प्रयोग कर्म, करण, सम्प्रदान, अधिकरण की विभक्तियों के लिए भी होने लगाः क्वचिद् द्वितीयादेः।[2] इस प्रकार 'सम्बन्ध' कारक विभक्ति की व्यापकता के आधार पर समीकरण और सरलीकरण की प्रवृत्ति चलती रही और मभाआ में सम्प्रदान और अपादान कारक की विभक्तियों का प्रायः लोप सा हो गया और इनके स्थान में सम्बन्ध विभक्ति प्रयुक्त होने लगी। हिन्दीमें षष्ठी का यह प्राधान्य नहीं रहा और कारक-गठन प्रायः संस्कृत के समान रहा।

नभाआ में सरलीकरण की प्रवृत्ति ने केवल दो रूप रहने दिए मूल (Direct) तथा तिर्यक (Oblique)। अपभ्रंश में कर्ता, कर्म तथा संबोधन में एक-रूपता आई और इसने मूल रूप का आधार प्रस्तुत किया, यद्यपि कुछ प्राकृत-प्रवृति भी चलती रही। सम्प्रदान तथा सम्बन्ध पूर्व अपभ्रंश मभाआ काल में ही एक रूपता ग्रहण करने लगे।[3] अपभ्रंशकाल में अपादान का विलय भी सम्प्रदान--सम्बन्ध कारक में हो गया। इस प्रकार १००० ई० के पश्चात सम्प्रदान-सम्बन्ध--अपादान कारक एक हो गये और नभाआ के मूलरूप (Direct case) का मुख्यतः यह मिश्रण ही आधार बना।[4] साथ ही अधिकरण-करण की एक रूपता की प्रवृत्ति ने तिर्यक रूप के लिए आधार प्रस्तुत किया। विभक्तियों के घिसने और अस्पष्ट हो जाने पर

[1] सिद्ध हेमचन्द्र, ८।३।१३१
[2] वही, सूत्र १३४
[3] पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (अनु० हेमचन्द्र जोशी) ३६०
[4] तगारे, हि० ग्रा० अप०, पृ० १०६।

सहायक शब्दों के प्रयोग द्वारा कारक के भाव के बोधन की प्रवृत्ति विकसित हुई। सहायक शब्द भी घिस कर मात्र चिह्न रूपों में अवशिष्ट रह गये हैं। मूल रूपों के विषय में असन्दिग्ध रूप से बहुत कम कहा जा सकता है। केवल कर्ता कारक का ही रूप सविभक्तिक या अविभक्तिक रूप में रह कर कारक प्रकट करता है। नीचे हिन्दी के कारक चिह्नों का सामान्य विवरण और इतिहास प्रस्तुत किया जाता है।

१२.४.१. **कर्ता कारक**—किसी कार्य का साधक या करने वाला या न करने वाला कर्ता होता है। पाणिनि के अनुसार संस्कृत में केवल प्रातिपदिकार्थ लिंग, परिमाण तथा वचन को व्यक्त करता है।[1] हिन्दी में भूतकालिक सकर्मक क्रिया के कर्ता के साथ ने परसर्ग का प्रयोग होता है : राम ने पुस्तक पढ़ी। अन्यत्र कर्ता कारक परसर्ग रहित प्रयोग होता है। इस प्रकार कर्ता चिह्न=।—ने। तथा ।θ। बोलना, भूलना, लाना आदि सकर्मक क्रियाओं के साथ इसका प्रयोग नहीं होता।

अन्य बोली भाषाओं में—ने अथवा उसके रूपांतर कर्ता के अतिरिक्त अन्य कारकों के द्योतनार्थ भी प्रयुक्त होते हैं : पंजाबी—नूँ, राजस्थानी मेवाड़ी—नै, मारवाड़ी,—न और —नां। गुजराती में—ने के रूप में यह कर्म, सम्प्रदान कारकों का परसर्ग है।—ना, नी, नुँ के रूप में गुजराती में सम्बन्ध परसर्ग का बोधक है।

हिन्दी में केवल कर्ता के लिए इसका प्रयोग होता है। संज्ञापद के कर्मणि तथा भावे प्रयोग के साथ यह आता है : मैंने बादल देखा, मैंने बादल को देखा। पूर्वी हिन्दी के क्षेत्र में इसका प्रयोग नहीं है। अहिन्दी भाषी क्षेत्र के हिन्दीभाषी भाषी भी —ने के प्रयोग के संबंध में गड़बड़ी करते हैं। उनसे मैंने खाना खाया है के स्थान पर मैं खाना खाया हूँ सुना जाता है। पश्चिमी हिन्दी में—ने के प्रयोग का प्रचलन है।

इसं-ने की व्युत्पत्ति संदिग्ध है और इस संबंध में विद्वान एक मत नहीं हैं। ट्रंप[2] के अनुसार इसका संबंध प्राभाआ की करण-कारक, एक वचन विभक्ति-एन से यह चिह्न व्युत्पन्न हुआ है। पं० किशोरीदास वाजपेयी ने इसको स्वीकार करते हुए लिखा है : तृतीया एक वचन (बालकेन) का-इन वर्ण-व्यत्यय तथा गुण सन्धि से हिन्दी में ने बन गया है। जहाँ (कृदन्त भूत-काल में) संस्कृत तृतीया विभक्ति कर्ता में लगाती है, वहीं हिन्दी अपनी ने विभक्ति का प्रयोग करती है[3] इसकी आलोचना केलॉग ने इस प्रकार की है : इसमें—ए की व्युत्पत्ति का कारण-निर्देश असम्भव है। दीर्घ > लघु की प्रवृत्ति तो है पर लघु > दीर्घ की नहीं। साथ ही इसका प्रयोग प्राचीन नहीं है पुराने लेखकों ने सर्वनामकर्त्ता में केवल विकारी रूप का प्रयोग किया है। यदि—ने

[1] प्रातिपदिकार्थ लिंग परिमाण वचन मात्रे प्रथमा, अष्टा २।३।४

[2] सिन्धी ग्रामर

[3] हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० १४२

विभक्ति थी तो पुरानी हिन्दी तक लुप्त हो चुकी थी।[1] फिर हिन्दी में—न>˙ की प्रवृत्ति दीखती है :—ऐं <—आनि ; ओं <—आनाम्। इन कारणों से पीछे के विद्वानों को-ने की व्युत्पत्ति का यह मार्ग प्रायः अमान्य रहा। बीम्स ने भी इसका खंडन किया है।[2]

बीम्स इसकी व्युत्पत्ति का विचार करण के साथ करता है। इनके अनुसार सम्प्रदान और करण के चिह्न व्युत्पत्ति की दृष्टि से समान हैं। केलॉग के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति का कुछ पता गुजराती से मिलता है। गुजराती में इसका प्रयोग कई स्थितियों में है। पश्चिमी हिन्दी और गुजराती का ऐतिहासिक और भौगोलिक सम्बन्ध भी है। अतः गुजराती और पंजाबी का सम्प्रदान चिह्न हिन्दी के—ने के समान ही हैं। गुजराती में कर्म-कारक में भी इसका प्रयोग होता है। हिन्दी ने अपने कर्म-कारक की प्रणाली अलग करली और केवल कर्ता के साथ इसका प्रयोग बना रह गया। अतः इसका विकास क्रम यों माना गया : सं० भू०कृ० कर्तृ वाच्य लग्य > प्रा० लग्गो > हि० लगि, लइ, ले, ने। नेपाली का सम्प्र०—ले भी इसी क्रम से सम्बद्ध है।[3] डा० भंडारकार ने लिखा है कि—नें सानुस्वार रूप भी प्रचलित है (ब्र० नें) इसके-एँ का कोई समाधान इस सिद्धान्त से नहीं होता। इसलिए भंडारकर महोदयने इसे एक संयुक्त परसर्ग माना था।[4]

डा० चाटुर्ज्या और सेन के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति सं० कर्ण से है (प्राचीन रूप कने : कनौजी कने=पास'। क्रम इस प्रकार है : कर्ण > मभाआ कन्न > अप० अधिकरण कन्नहि (> नइ > ने)। ब्लॉक ने ग्रियर्सन का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि–ने का सम्बन्ध सं० तन से हो सकता है।

वास्तव में इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। वैसे लग्य वाला सिद्धान्त अधिक तर्क युक्त लगता है। ल > न का प्रवृत्ति भी अजनबी नहीं है।

कुछ ऐसे भी प्रयोग हिन्दी में मिलते हैं जहां अन्य परसर्गों का प्रयोग करके कर्ता का अर्थ प्रकट किया जाता है : मुझको जाना है, मुझे जाना है।

१२-४-२ **कर्म सम्प्रदान**—कर्म तथा सम्प्रदान के रूप हिन्दी तथा ब्रजभाषा में ये हैं : हि० तईं, को : ब्र० कौं तथा कूँ। तईं के स्थान पर लें भी कभी कभी मिल जाता है। अधिकांश–क वाले रूप ही मिलते हैं। तेलुगु में भी कुँ या कूँ

[1] केलॉग, १३१
[2] क० ग्रा० भाग २, १५७
[3] ग्रामर आफ हिन्दी लैंगेज, पृ० १३२
[4] Now I have stated my view in last lecture that ने is a double instru mental, the first part, bing न of ten old instrumental in एन or एन and the Second pert ए to which that is reduced Wilson Philotogicat lectures.

मिलता है। इससे डा० काल्डवेल इसका सम्बन्ध द्राविड़ से जोड़ते हैं। इस प्रकार के प्रभाव की बात समझ में नहीं आती। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं हैं।

ट्रंप ने सिन्धी—खे और बंगाली—के का सम्बन्ध कृते से जोड़ा है।[1] पर खे के महाप्राणत्व की बात समझ में नहीं आती। हिन्दी के भी पुराने रूप कहँ, कहुँ आदि महाप्राण से युक्त हैं। साथ ही कों के अनुस्वार की भी एक समस्या रह जाती है। अनुस्वार प्राचीन रूपों में मिलता है वर्तमान—को में नहीं है। अतः यह कहना भी ठीक नहीं है कि अनुस्वार इसमें पीछे जुड़ा। व्युत्पत्ति पर विचार करते समय यह तो निश्चित सा दीखता है कि आरम्भिक—क तो अपरिवर्तित रूप में हमें मिला है क्योंकि आदि की ध्वनियों में सामान्यतः परिवर्तन नहीं होता। महाप्राणत्व के सम्बन्ध में ट्रंप का कहना है कि संस्कृत कृते पहले किते के रूप में परिवर्तित हुआ, इसमें ऋ के लोप से महाप्राणत्व का आगम होगया। यही सिन्धी खे की व्युत्पत्ति है। हिन्दी को का सम्बन्ध ट्रंप ने कृत से माना है : कृत > प्रा० किओ, किओ > हि० को। पर अनुस्वार और हकार की समस्या का समाधान इस व्युत्पत्ति क्रम से नहीं होता। और 'को' तथा पुरानी हिन्दी के 'कहु' का स्रोत एक ही प्रतीत होता है ट्रंप का कथन है कि ऋ के लोपसे कथ रूप बना और कथ>कहु, कहँ पर यह क्रम भी ध्वनि विकास की दृष्टि से ठीक नहीं दीखता। कृतं का प्राकृत में कतं और कद होना तो सम्भव है तथा आगे कअँ और कह भी सम्भव है। इस प्रकार तो कहं की व्युत्पत्ति समझ में भी आती है। पर संस्कृत में इसका अर्थ भिन्न है, जिसकी तुलना हिन्दी को नहीं हो सकती।[2]

इसकी व्युत्पत्ति के संबंध में बीम्स[3] तथा हार्नले[4] का मत एक है। को का अर्थ 'की ओर' या 'पास' है। बंगाली में इस अर्थ में काछे का प्रयोग मिलता है। (= 'पास')। काछे संस्कृत कक्षे से व्युत्पन्न है। विकास क्रम इस प्रकार रहा कक्षं > कक्खं > काहं, कहुँ, कहँ को आदि।

डा० चटर्जी भी प्रायः बीम्स और हार्नले के साथ सहमत हैं।[5] पर दूसरे मत का भी पूर्ण खन्डन नहीं करते। लैं या नैं का सम्बन्ध लग्य से माना जाता है।

हिन्दी में कर्म कारक सविभक्तिक और अविभक्तिक दोनों ही होते हैं। मैं गाय दुहता हूँ अथवा मैं गाय को दुहता हूँ। स्थानवाचक कर्म में भी इसका प्रयोग होता है : वह घर को गया। समय वाचक में इसी चिह्न का प्रयोग किया जाता है : मैं रात को

[1] सिन्धी ग्रामर, पृ० ११५-११६
[2] इस आलोचना के लिए देखिए, बीम्स, जिल्द, पृ० २५५-२६६
[3] बीम्स, जिल्द २, पृ० २५७
[4] जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, (१८७२) भाग १, पृ० १७४
[5] बैं-लैं ६५६५

जाऊँगा। सामान्य सम्प्रदान : राम को पुस्तक दो। उद्देश्य वाचक सम्प्रदान : वह नहाने को जाता है। अविकार वाचक सम्प्रदान : राम को विद्या का प्रेम है।[1]

सम्प्रदान में के लिये का भी प्रयोग होता है। के का विकास इस प्रकार माना जाता है : कृते > कए > के। लिए की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। सम्भव है लग्गे > लग्गे से होकर यह विकास हुआ हो। प्राचीन हिन्दी साहित्य में लागे का प्रयोग होता भी था।

१२. ४. ३. करण उपादान—किसी क्रिया की सिद्धि का प्रमुख साधन करण होता है।[2] संस्कृत में तृतीया का प्रयोग साहचर्य तथा सादृश्य के अर्थ में भी होता है। इन प्रयोगों के अतिरिक्त मूल्य, तुलना, कारण आदि का द्योतन भी करण के चिह्न से होता है। कहने की क्रिया से सम्बन्धित होकर यह चिह्न सम्प्रदान का भी सूचक होता है : मैंने लड़के से कहा। 'साथ' का अर्थ भी यह दे सकता है : राम का विवाह सीता से हुआ। अपादान के अर्थ में तो प्रयुक्त होता ही है : वह घर से निकला।

पुरानी हिन्दी में इस कारक का चिन्ह—ते, तें भी मिलता है और सौं भी। -सौं ब्रजभाषा की विशेषता है। बीम्स ने-त्- वाले रूपों का सम्बन्ध संस्कृत -तस् से माना है।[3] इसका प्राकृत में-तो हुआ। और पीछे -ता होता हुआ -ते या -तै में बदल गया। संस्कृत में -तस् का प्रयोग विशेषत: अपादान में मिलता है। ग्रामतस्=ग्राम से। अनुस्वार का आगम अकारण वृद्धि दीखती है। हार्नले इसे सं० भूते कृ० तरिते से संबद्ध करते हैं ([4]√ तृ-) केलाग ने भी इसका समर्थन किया है—से-वाले रूपों का आधुनिक हिन्दी में प्रचलन है। वैसे-से का अर्थ अपादान (from) के अर्थ में अलगत्व का द्योतक न हो कर साथ (with) का अर्थ विशेष रूप से रखता है। -से वस्तुतः-सौं का विकसित रूप है। -सौं का विकास-सम् से होता है। पृथ्वीराज रासो में -सम का प्रयोग मिलता है।[5] -सम् का विकास संस्कृत क्रिया विशेषण-समः से है, जिसका अर्थ 'साथ' (with) है। तुलसी की रामायण में तथा अन्यत्र भी कहीं कहीं-सन् का प्रयोग मिलता है।[6] सन् का प्रयोग पूर्वी बोलियों की विशेषता दीखती है। विकास क्रम इस प्रकार दीखता है : समं > सवं > सउं (व > उ) > सौं। -से का विकास इस प्रकार संभावित है ; समं > सअं, सयं, सइं > सैं > से (-अ इ> ऐ)। हार्नले के अनुसार -से का सम्बन्ध सं० √अस्- तथा प्रा० संतो, सुंतो से है।

---

[1] प्रयोग के अर्थ वैविध्य के लिए, डा० हरदेव बाहरी, हिन्दी सीमेंटिक्स पृ० १४६

[2] साधकतं करणं, अष्टाध्यायी १ । ४ । ४२

[3] बीम्स. जिल्द २, पृ० २७३

[4] हार्नले, पृ० २२५, २६६

[5] कहे दूत प्रथिराज सम (१२, १६) तथा कहे कंतिसम कंत (१, ७)

[6] सिजुटा सन् बोली कर जोरी।

केलायवे इसकी उत्पत्ति सं० सङ्गे से मानी है।[1] पर पहला मत ही अधिक उपयुक्त दीखता है। इसके पुराने रूप के अनुस्वारांश का सम्बन्ध -एन से माना जाता है : सम-एन > सएं, सइं > सें, से।

इसके प्रयोग के रूप ये हैं : साधक वाचक—उसने हाथ से खिलौना बनाया। तुल्यतावाचक: राम से मोहन लम्बा है; दिशावाचक : वह किधर से गया है, रीति वाचक : उसने अपने ढंग से लिखा है। अवस्था सूचक : वह शरीर से निर्बल है; विकार सूचक—वह दाईं आँख से काना है। उद्देश्य सूचक—मैं वहाँ किसी काम से गया था।

१२. ४. ४. संबंध—'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' के अनुसार संबंध कारकों की जाति में सम्मिलित नहीं हो सकता। पर अन्य कारकों पर विचार करते-करते इस पर संस्कृत वैयाकरणों ने विचार किया है। पाणिनि (अष्टा० २।३ ५०) 'षष्ठी-शेषे'—षष्ठी का प्रयोग शेष स्थलों पर—कह कर इसकी चर्चा की है। यह अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है : स्वस्वामि संबंध, आनंतर्य, सामीप्य, समूह, विकार, अवयव अवयवी संबंध, जन्य–जनक सम्बन्ध आदि।[2] प्रयोग की इसी बहुलता के कारण भभाआ-काल में इस कारक के प्रयोग की लोकप्रीयता बढ़ी।

विवरण की दृष्टि में इस चिन्ह का मूलांश -क्- है। इसके साथ पु० एक०-आ बहु०-ऐ, तथा स्त्री० -ई प्रत्यय संयुक्त होकर का, के की रूप सम्पन्न करते हैं। कर्म के अनुसार इसका लिंग -वचन-अन्वय होता है। इस अन्वय से इसका रूप विशेषणात्मक दीखता है। डा० भंडारकर ने इसके संबंध में लिखा था : प्राभाआ के विकास की तीसरी स्थिति में जब क्रिया-शैली का ह्रास हुआ और संज्ञा-शैली प्रमुख हुई तब अधिकार (possession) प्रदर्शित करने वाले विशेषणात्मक रूप संबंध कारक के स्थान पर प्रयुक्त होने लगे। आधुनिक काल के अधिकार-प्रदर्शक रूप विशेषणात्म हैं।[3] आगे उन्होंने लिखा है कि अधिकार आदि संबंध दिखाने की एक प्रणाली √कृ-के विविध रूपों द्वारा रही। किसी वस्तु का किसी से संबंध दिखाने के लिए 'कार्य' शब्द का प्रयोग किया गया। जैसे दहाड़ना सिंह का कार्य कार्यहै=सिंह कार्य > प्रा० केर -केरा है केरको क। जन्म हुआ। पुरानी हिन्दी में कर, केर जैसे रूप मिलते भी हैं। 'केर' का विवरण हेमचन्द्र ने भी दिया है : जैसे तुहर केर। ='तुम्हारा'। इस प्रकार प्राकृतों में पहले यह एक स्वतंत्र शब्द के रूप में प्रयुक्त होता था, पीछे कारक चिन्ह के रूप में विकसित हुआ।

इस संबंध में हार्नले और पिशल में बड़ा मतभेद चला।[4] पिशल का मत ऊपर दिए हुए भंडारकर के मत से साम्य रखता है। प्राकृतों में 'केर' शब्द का प्रयोग

---

[1] के लॉग, पृष्ठ १३२

[2] बहवो हि षष्ठ्यर्थाः स्वस्वाम्यनंतर समीपसमूह विकारावयवाद्याः—काशिका वृत्ति।

[3] भंडारकर, जिल्द ४, पृ० ५३९

[4] जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, भाग १, १८७२, पृ० १२४ तथा इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द, २ पृ० १२१, २१०, ३६८

मिलता है, जिसका अर्थ है 'द्वारा किया गया' 'से 'संबंधित' आदि। हार्नली तथा पिशल दोनों ही इस—केर से हिन्दी संबंध कारक का संबंध जोड़ते हैं। पर इसकी व्युत्पत्ति के संबंध में दोनों में मतभेद है। पिशल इसका संबंध लासेन तथा वैबर की भाँति 'कार्य' से जोड़ते हैं तथा हार्नले संस्कृत भूत० कृद० कृत से। हॉर्नले के अनुसार विकास-क्रम इस प्रकार रहा : कृत > करितो > करिओ। इससे वर्तमान रूप विकसित हुए। बीम्सने हॉर्नले का पक्ष- समर्थन किया।[1] उसने कहा कि-कार्यम् से संबंध कारक का जन्म नहीं हो सकता। कृत से इसका संबंध हो सकता है, जिसका अर्थ है 'किया हुआ है 'किया हुआ'। उदाहरण के लिए—

कपि कर वचन=कपिकृत वचनं।

इस प्रकार प्रा० करिओ से केरो, केरको जैसे रूप विकसित हुए। इसका संक्षिप्त रूप करा > का। केलॉग के अनुसार भी इसका जन्म √कृ-के रूपों से ही है।[2] इसमें कोई सदेह नहीं कि √ कृ-से ये रूप संबंधित हैं। तर्क की दृष्टि से बीम्स–हार्नले का मत ठीक दीखता है।

हिन्दी में इसके रूपों का विकास हुआ है। व्रजभाषा में-को, कौ—विशेष रूप से मिलते हैं। तुलसी ने कहीं कहीं-कै का प्रयोग किया है। सुनहु विभीषण प्रभु कै रीती। -कर का प्रयोग भी है कपि कर वचन सप्रेम सुनि..। विद्यापति में केवल-क भी मिलता है : सुजनक् प्रीति पाषाण समरेहा। तुलसी में भी इसका प्रयोग मिलता है : पितु आयसु सब धरमक टीका। चन्द ने केरा (पु०) केरी (स्त्री०) का प्रयोग किया है—

भिदीं दिष्टि सौं दिष्टि चहुवान केरी (२३·२६६)

खड़ी बोली में का, के, की रूप मिलते हैं। इन सबका सम्बन्ध √ कृ—से किसी न किसी रूप से स्पष्ट है।

१२.४.५ **अधिकरण**—यह स्थान वाचक कारक है। जो नाम कर्ता या कर्म द्वारा क्रिया का आधार होता है, वह अधिकरण है। 'स्थान' का तात्पर्य आधार, आलम्बन, विषय आदि है। अधिकरण का प्रयोग व्यापक है। पर मूल अर्थ स्थान ही रहता है।

वर्तमान हिन्दी में इसके सूचक दो चिन्ह हैं: में, पर। व्रज में पै का प्रयोग भी है। सिन्धी में मंझि, गुज० में—माँ आदि का प्रयोग मिलता है।—म वाले रूपों का सम्बन्ध संस्कृत के क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त स्थान वाचक-मध्ये से है। पुरानी हिन्दी में मध्य, मधि, मद्धि, मभि, मझि, मज्झ, मझं, मझार, महि, माही, माहीं, मौहि, माहैं, आदि रूप मिलते हैं। और ये सब रूप-मध्ये से इसके विकास-क्रम को स्पष्ट करते हैं। विकास में पहले महाप्राण व्यंजन शेष रहा: मध्ये<मज्झे आदि।

---

[1] बीम्स, जिल्द २, पृ० २८६

[2] केलॉग, पृ० १२६

पीछे महाप्राण मात्र अवशिष्ट रह गया : महि, माहि आदि। पीछे महाप्राणत्व का भी लोप हो गया : मइँ > मैं।

हार्नले (ई० हि० ग्रै० § ३७८) ने संस्कृत—परे से हिन्दी—पर का सम्बन्ध माना है : परे > प्रा० परि > हि० पर। डा० भण्डारकर आदि ने—पर या पै का सम्बन्ध पार्श्व से निर्धारित किया है: पार्श्व > पास्स > पास > पाह, पहँ, आदि ; पुरानी हिन्दी में पाह, पहँ, पाहीं आदि रूप मिलते हैं: संभु गए कुंभज रिसि पाँहीं। हो सकता है इन रूपों का सम्बन्ध पार्श्व से हो। हिन्दी—पर का सम्बन्ध सं० उपरि से स्पष्टतः दीखता है।

१२-४-६ अन्य परसर्ग वत् प्रयुक्त शब्द—केलॉग ने यह निर्देश किया था कि अधिकांश हिन्दी परसर्ग मूलतः स्वतंत्र संज्ञाएँ थे। पीछे उनका प्रयोग परसर्गों के रूप में होने लगा। अर्थ विज्ञान की दृष्टि से यह अर्थ—संकोच का रूप कहा जा सकता है। अब ये किसी वस्तु के निर्देशक न रह कर सम्बन्ध-सूचक मात्र रह गये हैं। आज भी कुछ, संज्ञाएँ, क्रियाएँ विशेषण या क्रियाविशेषण परसर्गों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इससे ऊपर के सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

१२-४-६१ संज्ञा तथा क्रियाओं वाले परसर्ग-पद—सामान्यतः इनका प्रयोग—के—की के साथ होता है। कभी-कभी—से के साथ भी प्रयोग होता है। जैसे—

संग : आपके संग; साथ—उसके साथ। हाथ : इनके हाथ मेरे रुपये भेज देना (हाथ < हस्त) पास: (< पार्श्व) मेरे घर के पास; बल : सिर के बल गिर पड़ा, अर्थ: आपके अर्थ मैंने ऐसा किया; कारण: इसके कारण; हेतु: उसके हेतु; जगह: राम ने चपरासी की जगह काम किया ; भीतर : (< भितर < अभ्यन्तर) वह घर के भीतर बैठा रहता है; बाहर, घर के बाहर बाग है; अपेक्षा: उसकी अपेक्षा यह बुद्धिमान हैं; द्वारा राम के द्वारा यह पत्र लिखा गया; ओर: (फा० तरफ) उसने ऊपर की ओर देखा ; खातिर (वास्ते) मैंने उसकी खातिर यह सब किया : भांति : आज की भाँति।

नीचे कुछ विशेषण पद दिये जाते हैं; जो—के,—की बाद प्रयुक्त होवे से संज्ञा के रूप में माने जा सकते हैं। अतिरिक्त: इसके अतिरिक्त; अनुरूप: आपकी प्रतिष्ठा के अनुरूप ; अनुकूल : तुम्हारे अनुकूल स्वागत नहीं हुआ; अधीन : इस नियम के अधीन; उल्टा काम किया; पूर्व: समय से पूर्व: बराबर: आपके बराबर कोई नहीं; विपरीत: इसके विपरीत, विरुद्ध: राजा के विरुद्ध:, योग्य: बधू के योग्य वर है; समान: मेरे समान दूसरा कोई नही है; सरीखा, समान जैसा प्रयोग है।

क्रियात्मक परसर्गीय पदावली के उदाहरण ये हैं। लिये : लेकर (=for) मारे=डर के मारे वह कमरे से बाहर नहीं निकला ; यों करके (इस कारण से) मैं उसके पास नहीं गया।

१२-४६-२ क्रिया—विशेषणात्मक परसर्गीय पदावली—प्राभाआ और मभाआ में स्थानवाचक कारक (अधिकरण) का प्रयोग क्रियाविशेषण की रचना में किया

जाता था। कुछ उदाहरण हैं, जिनमें प्राभाशा का कुछ प्रत्यय तत्व अवशिष्ट है। जैसे भरोसे, तुम्हारे भरोसे मैंने युद्ध ठाना)। लेखे (उसके लेखे तो यह सब ढोंग है)। ऐसे ही सामने, बदले, तले, नीचे, आगे (<अग्रे) पीछे आदि हैं। ये सभी अधिकरण सूचक संज्ञाएँ हैं जिनके साथ-ए प्रत्यय संलग्न है। अर्थ की दृष्टि से इनका प्रयोग क्रियाविशेषण के समान है। वस्तुतः ये परसर्ग क्रिया की विशेषता के सूचक हैं : आगे चलो, घर के आगे बैठा है।

कुछ शब्दों में—के—से,—में के द्वारा अर्थ में अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ भेद प्रस्तुत हो जाता है[1] घर के आगे (in front of the house) घर से आगे (farther from the house) आने के पहले (just before coming) आने से पहले (before Coming) नगर के बाहर (out side the city) नगर से बाहर (away from the city)। इन उदाहरण में—के का अर्थ सामान्य परसर्गवत है तथा—से से कुछ तुलनात्मक भाव प्रकट होता है।

१२-५ संज्ञा रचना—भिन्न भिन्न प्रत्ययों के योग के अन्य व्याकरणिक रूपों के साथ संयोग से संज्ञा-पदों की व्युत्पत्ति भी हिन्दी में होती है। यहाँ मुख्य-मुख्य प्रत्ययों से व्युत्पन्न संज्ञा-रूपों तथा उनके विशेष अर्थ का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।[2]

१२·५·१ कुछ प्रत्ययों के संयोग से कर्तृत्व द्योतक संज्ञा रूप बनते हैं। ये इस प्रकार हैं—क—आ : जोता (=√जोत्+आ)= जोतने वाला, (कठ) फोड़ा (√ फोड़+आ)=फोड़ने वाला। इसी के अन्य वृद्ध रूप भी हैं—ऐत : चढ़ैत (√चढ़+ऐत)= चढ़ने वाला ;—ईया: जड़िया, धनिया ;—अईया : चढ़ैया= चढ़ने वाला ;—आर : गितार=गीत गाने वाला। इसका मूलः सं०—अकः >—आ है। ऊपर इसके वैविध्य हैं।

ख—आक,—आका,—आकू—प्रत्यय भी एक वैविध्य के ही प्रतिनिधि हैं। उदाहरण—चालाक, (चाल+आक) 'चालबाज'। तैराक (तैर+आक) 'तैरने वाला' इसी प्रकार उड़ाका. उड़ाकू आदि। कहीं कहीं केवल आऊ प्रत्यय युक्त रूप मिलते हैं : खाऊ, उड़ाऊ।

ग—अक्कड़—पियक्कड़ 'पीने वाला' घुमक्कड़ 'घूमने वाला'

घ—ऊ : रट्टू 'रटने वाला' छानू 'छानने वाला'

ङ—उ=आ : मछुआ 'मछली पकड़ने वाला'

११·५·२—कुछ प्रत्ययों के योग से अधिकार सूचक संज्ञाओं की रचना की जाती है—

(क)—ई तथा इसके अन्य रूप जैसे—इया। संस्कृत—ई (—इन्) भी यही

---

[1] हरदेव बाहरी, हिन्दी सीमेंटिक्स, पृ० २५१

[2] वही पृ० ४७ से विशेष सहायता ली गई है।

अर्थ रखता था। जैसे शास्त्री। इसके हिन्दी उदाहरण ये हैं : तेली 'तेल वाला' आढ़तिया 'आढ़त वाला' मुखिया आदि। दोषी. क्रोधी, दन्ती 'हाथी' संस्कृत रूप हैं।

(ख)—वाला का अर्थ है जो देखभाल रखता है (सं० पालकः) कोतवाल < कोटपालकः ग्वाला < गोपालकः —वाला का अर्थ 'रखने वाला' भी है—टोपीवाला।

१२. ५. ३· भाववाचक संज्ञा की रचना—जिन प्रत्ययों के योग से भाव वाचक संज्ञाओं की रचना होती है, उनसे कार्य का नाम, विशेषताएं, स्थिति या दशा प्रकट होती है।

(क) न् तथा—ना (<सं०—अन् जैसे मरण 'मरना' चुम्बन 'चूमना') हिन्दी के उदाहरण मिलन, लेन—देन, (ii) जाना, करना, देना-लेना आदि। इससे क्रियार्थक संज्ञा का भाव प्रकट होता है। कुछ उदाहरणों से संज्ञा का ही बोध होता है—लगान 'भूमिकर', पिसान आदि। श्रवण 'कान' चरण 'पैर' भी ऐसे ही संस्कृत तत्सम हैं।

(ख) ई : कार्य की स्थिति का ज्ञान होता है: हंसी, बोली, कथनी-करनी आदि करनी सो भरनी।

(ग) –ई या–आई—विशेषता द्योतक भी है: ठंडाई, चतुराई, सरदी, गरमी। प्राय: विशेषणों में यह प्रत्यय संयुक्त होता है।

(घ)–आवट या–आहट—सकर्मकता के साथ कार्य की स्थिति का परिज्ञान इस प्रत्यय के योग से होता है। इसका संयोग क्रिया के साथ ही होता है। मिलावट, मिश्रण, सजावट, घबराहट, अकुलाहट।

(ङ) आस—इसका मूल संस्कृत में है। यह प्रत्यय इच्छा मूलक है : प्यास, हगास, मुतास आदि ऐसे ही संज्ञा रूप हैं।

(च) प,—आपा। इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है: सं० — त्वनम् या — त्व >प्रा०—प्पन,—प्प,>—पन,— 'मिलाप 'मिलना बुढ़ापा, 'वृद्धावस्था' रंडापा 'वैधव्य,' बड़प्पन आदि।

(छ)— त,—ति: बचत, खपत, लागत, बढ़ती, घटती आदि।

(ज)–आवा—संस्कृत के प्रेरणार्थक रूप से इसकी व्युत्पत्ति मानी जाती है: 'बढ़ावा' उत्साह चढ़ावा भेट।—आव से युक्त रूप ये हैं : बचाव, बहाव, चढ़ाव।

११.४.५ समूह वाचक संज्ञाएं

(क) –क—का प्रत्यय वाले उदाहरण चौक और चौका, इक्का आदि।

(ख)–ई से संग्रह का बोध होता है: बीसी, छब्बीसी, बत्तीसी, बहत्तरी।

१२.५५ यंत्रवाचक संज्ञाएं

(क) न : झाड़न, बेलन, छाजन इसके साथ–आ संयुक्त हो जाता है: ओढ़ना 'ओढ़ने का वस्त्र', कूटना 'कूटने का यंत्र'–ई के संयुक्त होकर भी रूप बनते हैं : कतरनी, छाननी या छलनी फूंकनी (फूंकना भी) बेलनी, आदि।

(ख) ऊ : झाड़ू, 'बुहारी'

(ग) आ : झूला (Swing), ठेला 'जिसको ठेला जाय।'

(घ) ई : रेती 'रेतने वाला यंत्र', फाँसी 'फंदा', चिमटी आदि।

१२.५.६ स्थान सूचक संज्ञाएँ—

(क) —न या—ना प्रत्यय से युक्तः झरना, रसना 'जिह्वा', पालना।

(ख) —आना (< सं० सम्बन्ध प्रत्यय—आनाम) राजपूताना (<सं० राज पुत्राणाम (देशः), तथा अहिराना 'अहीरों की बस्ती' इसी प्रकार भोटान, लुधियाना।

(ग) —आड़ा तथा —आड़ी से युक्त रूप (<सं० वाटिका) अर्थ परिवर्तन से इसका अर्थ 'ओर' हो गया है: पिछवाड़ा, अगाड़ी, पिछाड़ी,

(घ) का : माय का 'माका घर'। क वाले रूप भी हैं: बैठक, फाटक, चौक, सड़क।

(ङ) ओता (<सं० पात्रक:) कठौता 'काठ का पात्र' कजरौटा 'काजल रखने की डिबिया'

१२. ५. ७ संबंध सूचक संज्ञा—इस वर्ग के प्रत्ययों से विशेषत: संपत्ति से सम्बन्ध प्रकट होता है।

(क) औती, बपौती, बुढ़ौती बुढ़ापे के लिए बचत'

(ख) —ई—, एल से आभूषण का बोता है: अँगूठी, नकेल (नाक+कील)

(ग) ई-स्त्रीवाचक: ब्राह्मणी, चाची।

(घ) इया (< सं० —इका) कुतिया, बुढ़िया।

(ङ) —अन~न्: पत्नीवाचक-धोबन, –इन बाघिन आदि -

(च) —जा पुत्र वाचक है। भतीजा, भानजा आदि।

१३

विशेषण

१३. ०. हिन्दी का विशेषण विधान अत्यन्त सरल है। संस्कृत में विशेष्य पदों के अनुसार विशेषण पदों में भी रूप-विकार उत्पन्न हो जाते थे : विशेष्य की विभक्ति विशेषण के साथ भी संयुक्त होती थी : सुन्दर : बालकः, सुन्दरेण बालकेन सुन्दरम् फलम्, सुन्दरेषु फलेषु आदि। मभाआ-काल में भी अधिकांश यह प्रणाली सुरक्षित रही। नभाआ काल में यह विशेषण-प्रणाली प्राय: समाप्त हो गई है। हिन्दी के केवल एक रूप में विभक्ति प्रयुक्त होती है, अन्य सभी अविभक्तिक रहते हैं। अविभक्ति विशेषण विशेष्य की भाँति किसी भी परिस्थिति में अपरिवर्तित रहते हैं। केवल आकारान्त विशेषण लिंग और वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं। इसका रूपावली इस प्रकार है—

काला घोड़ा
काले घोड़े
काले घोड़े } ने, से, पर, को, का
घोड़ों }
काली घोड़ी

इसमें प्रत्यय-आ, -ए, -ई पर संज्ञा के लिंग-वचन के साथ विचार किया जा चुका है। -आँ अन्तवाले विशेषण तिर्यक एक० में- एँ अन्त वाले तथा स्त्री बहु० में -ईं अन्तवाले हो जाते हैं बांयाँ, बाएँ; बाईं; दसवां, दसवे, दसवीं। अन्य सभी विशेषण अविभक्तिक रहते हैं। इस अध्याय में केवल समानता बोधक, तुलनात्मक तथा संख्या वाचक विशेषणों पर विचार किया गया है, साथही विशेषणोंकी रचना पर भी संक्षिप्त टिप्पणी है। सार्वनामिक विशेषणों पर सर्वनामों के साथ विचार किया गया है।

१३. १ समानता बोधक शब्द—हिन्दी में सादृश्य-वाचक सरीखा, सा, समान मुख्य रूप से प्रयुक्त होते हैं। इनमें से समान शब्द विभक्ति-रहित रूपों में प्रयुक्त होता है और शेष दो लिंग–वचन विभक्ति से संयुक्त होते हैं : {-स-}+-आ, -ए, -ई तथा -सरीख-+-आ+-ए, ई। सरीखा की व्युत्पत्ति सदृक्ष से मानी जाती है : सदृक्ष > सरीक्ख > सरीख—(सरीखा सरीखे, सरीखी)। {स} का सम्बन्ध संस्कृत 'सम' से माना जाता है। 'समान' संस्कृत के समान ही है। -स- का प्रयोग विशेषण के साथ भी होता है : एक बड़ा सा आम मुझे दे दो। साथ ही संदेहार्थकमें

भी इसका प्रयोग होता है : यह लड़का तो अच्छा सा मालूम पड़ता है। संदेहार्थक में संबंध -क्-+-स्- भी मिलता है : राम की सी बोली, बिल्ली का सा मुँह।

१३ २. तुलनात्मक रूप—प्राभाआ काल में तर् और तम् प्रत्ययों के योग से तुलनात्मक रूप बनते थे। प्राकृत में 'एक से श्रेष्ठ' और सबसे श्रेष्ठ का भाव बताने के लिए-तर, -तम -ईयस् और -इष्ट का ठीक वैसे ही प्रयोग किया जाता था जैसा संस्कृत में।[1] हिन्दी में ये विभक्तियाँ समाप्त हो गईं तथा तुलनीय संज्ञा अथवा सर्वनाम के पश्चात् अविभक्तिक—से का संयोग करके 'एक से श्रेष्ठ' और सब से का प्रयोग करके 'सबसे श्रेष्ठ' का भाव व्यक्त किया जाता है। कभी कभी -सबसे के स्थान पर सबमें का प्रयोग करके भी तमवन्त (Superlative) का भाव प्रकट किया जाता है। तुलना का भाव प्रकट करने के लिए -से पश्चात् और, अधिक ज्यादा, आदि शब्द भी जोड़ दिये जाते हैं : उससे और सुन्दर है, से अधिक सुन्दर है आदि। कुछ तत्सम शब्दों में संस्कृत के -तर, -तम का प्रयोग भी मिलता है : श्रेष्ठतर, उत्तम प्रियतम,। बेहतर (फा०) का प्रयोग तुलनात्मक रूप में अत्यन्त विरल है।

१३. ३. संख्यावाचक विशेषण—हिन्दी के संख्यावाचक विशेषण पदों का विचार निम्नलिखित वर्गों में किया जाता है : गणनात्मक, क्रमात्मक, समूहवाचक, भिन्नात्मक, समानुपातीय तथा ऋणात्मक। इसी क्रम से इसी शीर्षक के अन्तर्गत संख्यावाचक विशेषणों पर विचार किया गया है।

१३ ३ १ गणनात्मक (क)—यहाँ एक से नौ तक की संख्या पर विचार किया गया है।

एक हिन्दी में अलग प्रयुक्त होने पर 'एक' मिलता है तथा संयुक्त रूपों में -इग ८ ग तथा -इक् रूप मिलते हैं। इग्यारह ८ ग्यारह, इक्कीस आदि में ये ही रूप मिलते हैं। लिंग-वचन या कारक के अनुसार हिन्दी में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। पालि में 'एक' ही मिलता है, पर इसके सविभक्तिक रूप मिलते हैं : सम्प्र० सम्बन्ध पु० एकस्स. स्त्री० एकिस्सा, अधि० पु० एकस्मिम् स्त्री० एकिस्सा बहु० एके आदि सविभक्तिक रूप मिलते हैं।[2] प्राकृतों में बहुधा एँक मिलता है। स्त्री लिंग विभक्ति से युक्त एँक्का भी है। कुछ प्राकृतों में एग भी है। इसकी समानता हि० ग्यारह या इग्यारह वाले इग - ८-ग से है। प्राकृतों में इसकी रूपावली सर्वनामों की भाँति चलती है।[3] एँकाम्मि, एँक्के, एगंसि, एगंमि, एक्काह आदि रूप प्राकृतों में मिलते हैं। अपभ्रंश काल तक आते आते इसके सविभक्ति रूप शिथिल पड़ने लगे, पर कुछ रूप चलते रहे। एक, एक्क, एँक्क, इक्क, इग। इय (स्त्री० तथा पु० दोनों)

[1] पिशल, $ ४१४

[2] wilheim Geiger (tr बटकृष्ण घोष) pali Literature and Language $ ११४

[3] पिशल ह ४३५

साथ ही एक्कल्ल, एकल्ल, रूप भी मिलते हैं। कभी कभी एक, इग, एय, जैसे रूप भी मिलते हैं जो कुछ पुराने हैं। अन्यथा -क- का द्वित्व रूप ही विशेष रूप से मिलता हैं। केवल यही संख्या लिंग के अनुसार विभक्ति ग्रहण करती है : अकारान्त प्राति पदिकों की भाँति -उ या शून्य ।Q। विभक्ति। एक वचन मूल रूप (Direct) में ग्रहण करती है और अधिकरण एक० में -हिं, -हिँ, -हि ग्रहण करती है।[1] संस्कृत में एक है।

दो

संस्कृत में द्वि शब्द के विकसित रूप पालि' प्राकृत अपभ्रंशों में मिलते हैं। हिन्दी में 'दो' रूप मिलता है। पालि में इसके सविभक्तिक रूप मिलते हैं। द्वे, दुवे, द्विन्न (सम्बन्ध सम्प्रदान) दुविन्न, अधिकरण में द्विसु ५ दीसु जैसे रूप मिलते हैं।[2] प्राकृतों में इसके रूप ये हैं: कर्ता-कर्म० दो, दुवे, बे। नपु० देण्णि, दुण्णि, वेण्णि। इस प्रकार प्राकृतों में द्वि में प्रयुक्त दोनों व्यंजन ध्वनियों के विकास के अलग-अलग मार्ग दीखते हैं। साथ ही इसके सविभक्ति रूप मिलते हैं। अपभ्रंश में भी बे, वे, दोण्णि, बिन्णि, वेन्णि (< प्राभाआ द्व)। इस प्रकार ब—<द्व—।—ण्ण—वाला तत्व सम्भवतः तीणि की अनुरूपता के आधार पर है। पर इस स्थिति में आकर लिंग विभक्तियों का प्रायः लोप हो गया। हिन्दी में दो का प्रयोग अलग प्रयुक्त होने पर होता है। ब्रज में द्वै का प्रयोग मिलता है। अन्य संयुक्त रूपों में—ब—या—बा वाले रूप मिलते हैं: बारह, बाईस, बत्तीस आदि। ये अविभक्तिक रूप से प्रयुक्त होते हैं।

तीन

इसका सम्बन्ध संस्कृत त्रि से है। पालि में सयुक्त होने पर ति<त्रि मिलता है : तिपिटक। अन्य रूप ये हैं : तयो, तीहि, तिण्णं, तीसु, आदि रूप मिलते हैं।[3] इस प्रकार इस संख्या वाचक के सविभक्तिक रूप ही मिलते हैं। प्राकृतों में भी सविभक्तिक रूप चलते रहे: कर्ता-कर्म० पु० स्त्री० तओ (<त्रयः)। नपु० तिण्णि (<त्रीणि) इसके रूप बिना किसी प्रकार भेद के तीनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं।[4] अधिकरण का रूप तीसु, तिसु जैसे रूप भी मिलते हैं। समासों के आरम्भ में ति-रूप मिलता है (<त्रय) और ते का प्रयोग अन्य सब संख्यावाचक शब्दों में होता है। अपभ्रंशों में तिण्णि, तिण्ण, ति, का प्रयोग प्राभाआ त्रीणि के लिए प्रयोग में आते थे आधुनिक भाषाओं में—ण—>—न—वाले रूप मुख्य रूप से मिलते हैं : हि० तीन बंगा० नेपाली तिन, पंजाबी तिन्न। समास वाले संख्यावाचक शब्दों में हिन्दी में ति

---

[1] तवारे, $ १०५

[2] Geiger, $ ११४

[3] वही, $ ११५

[4] पिशल, $ ४३८

तो—रूप मिलते हैं: तेरह, तेईस, तिरेपन (तिरपन) आदि। इस संख्यावाचक का विकास क्रम ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

चार

इसका संबंध संस्कृत चतुर् से है। पालि में विभक्ति भेद से इसके चतु, चतुर, चतुरस्स, चत्तारो, चतुरो, चतुहि, चतुब्भि, चतुसु, चतास्सो जैसे रूप मिलते हैं। पर इनमें विभक्ति को हटाने से मूल रूप चतु-बच रहता है: यही संख्या वाचक अंश है। प्राकृतों की स्थिति में च—तो सुरक्षित रहा।—त—का द्विविध विकास हुआ—त —>, अ, तथा द्वित्व त्त। इस प्रकार विभक्ति भेद से चत्तारो < चत्वारः, चउरो Z चतुरः। अपभ्रंश में चऊ ∽ चउ वाले रूपों का प्रचलन रहा: चऊ (चतुर) चयारि < चत्तारि <चत्वारि, इसका उच्चारण नभाआ में 'चार है।

मिश्रित संख्यावाचक शब्दों में चउ—का प्रयोग होता ही रहा। नभाआ में अ+उ= चौ ∽ चो हो गया। हिन्दी के चौदह, चौबीस आदि शब्दों में स्पष्टतः चौ—का प्रयोग है। पर चवालीस, चऊअन, आदि में च—ही है। इस प्रकार अपभ्रंश रूपों का स्वाभाविक विकास हिन्दी आदि नभाआ भाषाओं में हुआ है।

पाँच

का संबंध संस्कृत पचन् से है। पालि में पंच रूप मिलता है। प्राकृतों में विभक्ति-भेद से ये रूप मिलते हैं: पच- पंचहि, पंचण्हं, पंच हुँ, पचसु, पंचे। इस प्रकार पन्च-मूल रूप प्राप्त होता है। अपभ्रंश में पंच ही चलता रहा। पर पणुवीस, पण्णरह (< पचदश) रूपों में—ञ्च—>ण्ण परिवर्तन मिलता है। नभाआ भाषाओं में ये रूप हैं: महाराष्ट्री, हिन्दी, गुजराती, बंगाली, नेपाली=में पाँच, पंजाबी में पंज, सिन्धी में पंजा। इस प्रकार अधिकांश नभाआ भाषाएँ अपभ्रंश के विकासक्रम में आती हैं।—च >—ज का विकास दूसरी दिशा में है। सम्भवतः अनुस्वार के घोषत्व के प्रभाव से—च > ज हो गया हो। संयुक्त हिन्दी संख्यावाचक शब्दों में इसके रूप के वैविध्य अधिक मिलते हैं: पन्द (=प्रा०अप० पण्ण—) पच—(पच्चीस पचपन, पचहत्तर ∽ पिचहत्तर, पचासी ∽ पिचासी, पिचानवे ∽ पंचानवे) पंच तथा पैं—(पैंतीस, पैंतालीस, पैंसठ,)। पैं—वाले रूप की व्युत्पत्ति प+ञ्च >यँ इँ से हुई होगी: पैं < पयँ, पइँ, <पञ्ज<पञ्च। अन्य रूपों में—इ—का आगमन तालव्य का प्रभाव दीखता है और अनुस्वार का लोप।

छः

की व्युत्पत्ति संस्कृत षष् से हुई। पालि में ही इसका 'छ' में विकास हो गया दीखता है। अन्य विभक्ति युक्त रूपों में 'छ' ही मूलतत्व है: छहि, छन्नं, छसु ∽ छस्सु। इसका एक रूप छक भी दीखता है। प्राकृत का विकास भी इसी प्रकार है षष > छ। सविभक्तिक रूपों में यह मूल तत्व है: छहिं, छण्हं, छसु आदि। इस प्रकार प्राकृत की रूपावली पालि से मिलती जुलती ही है। संख्याशब्दों के पहले जोड़ा जाने वाला अंश हिन्दी के समान ही हैं: छहवीस ∽ छब्बीस, छत्तीस ऽ

छत्तीस, छायालीसं, छप्पण, छावट्ठि (=६६), छावतरि =७६), छकसीइ (=८६) छण्णवई आदि। इनसे हिन्दी के रूपों की तुलना करने से ज्ञात होता है कि छ' के मूल रूप में विशेष अन्तर नहीं आया। अपभ्रंश मे भी छ छह मिलते हैं। नभाआ भाषाओं में इसके ये रूप मिलते हैं: गुजराती, हिन्दी छ, पंजाबी छ सिन्धी छ, छह, मराठी-सहा, सिंघली—स, सय, बंगाली-छटा।

सात

का संबंध संस्कृत सप्तन् से है। पालि मे इसकी रूपावली इस प्रकार मिलती है: सत्त, सत्तहि, सत्तन्नं, सत्तसु आदि। प्राकृत की रूपावली भी इससे कुछ अधिक भिन्न नहीं है: सत्त, सत्तहिं, सत्तण्हं, सत्तसु। अपभ्रंश में मूल रूप सत्त मिलता है। नभाआ में पंजाबी में सत्त मिलता है, अन्यों में सत्त > सात ही प्राप्त होता है। इसका विकास नियमित रूप से समीकरण (सप्त > सत्त) तथा सरलीकरण (सत्त>सत्त) की प्रवृत्तियों के अनुसार हुआ है।

आठ

अष्टन् से संबंधित है। पालि में अट्ठ मूल रूप मिलता है, जो इसके सविभक्तिक रूपों में व्याप्त है। प्राकृत में अट्ठ तो मिलता ही है, पर कुछ ग्रंथों में अढ़, अठ, अट्ठाआ भी आये हैं। अढ का प्रयोग अढयालीसं (=४८) अढसट्ठि के साथ हुआ है। हिन्दी में भी इन संख्यावाचक शब्दों में अड का विकसित रूप हो आया है: अढ —> अढ—> अड़। प्राकृत में भी कहीं कहीं अड-पाठ मिलता है। अपभ्रंश में भी अट्ठ रूप मिलता है। नभाआ भाषाओं में पंजाबी (अट्ठ) को छोड़कर प्रायः सभी में आठ ही मिलता है। बंगाली में आट है। संयुक्त रूपों में अठ्—ही मिलता है। प्राकृत में इस अठ के स्थान पर अट्ठा या अट्ठ रूप मिलते हैं।

नौ

संस्कृत के नवन् से इसका सम्बन्ध है।। पालि में नव रूप मिलता है। प्राकृतों में भी अधिकांश नव ही मूल रूप में प्राप्त होता है। नव का एक रूप णव भी मिलता है। अपभ्रंश में नव वाला रूप अधिक लोकप्रिय हो गया। नभाआ भाषाओं में पंजाबी भी नऊं मिलता है, शेष भाषाओं में नउ या नौ मिलता है।

१२.३.१ स १० तथा अन्य रूप—

दस

इसका सम्बन्ध संस्कृत दशन् से है। पालि में इसका दस रूप मिलता है। प्राकृतों में इसके मुख्यतः तीन रूप मिलते हैं दस (महाराष्ट्री) या दह, दश ढक्की) संयुक्त रूपों में दह—का प्रयोग मिलता है: एक्कदह आदि। साहित्यिक अपभ्रंश में भी दस, दह रूप ही मिलते हैं। पूर्वी प्राकृतों की में—श—वाला रूप था। पर नभाआ में इस प्रकार का भौगोलिक विभाजन नहीं है। नभाआ भाषाओं में गुजराती-हिन्दी दस. पंजाबी महाराष्ट्री दहा, सिन्धी डह रूप मिलते हैं। हिन्दी में दह का विकास रह में भी मिलता है पर संयुक्त रूपों में, जैसे ग्यारह, बारह, तेरह, पन्द्रह,

अठारह। शेष में दह् मिलता है: चौदह,। ११-१८ तक अपभ्रंश में भी रह वाले रूप मिलते हैं। सोलह का सम्बन्ध षोडष से है। षोडष>सोल (क) स, सोल (ल) ह है। नभाआ में इसके रूप इस प्रकार मिलते हैं महा० सोला, गुज० सोल, उड़िया सोल हि० सोलह, नेपाली सोर।

बीस

विंशति से व्युत्पन्न है। पालि में इसके रूप ये थे: बीस. बीसः, वीसा, बीसति (<विंशति) प्राकृतों में बीसइ, बीसई, वासइं। इनमें से बीसइ रूप २१-२८ तक की सख्याओं में जोड़ा जाता था। कहीं-कहीं बीसम्, अथवा वीस रूप मिलता है। अन्त्य—इ—ई—इं, आदि तो विभक्तियों के द्योतक दीखते हैं। हिन्दी में—वीस< ईस रूप हो गया जो २१-२८ तक की संख्याओं में युक्त होता है। अपभ्रंश में बीस रूप ही अधिक प्रचलित हो गया था। इसी का विकसित रूप सयुक्त संख्या वाचकों में नभाजा भाजाओं में मिलते हैं। सिन्धी-पजाबी में बीस < वीह। हिन्दी, नेपाल, बंगोली में आरम्भिक व—>—ब होकर बीस रूप मिलता है। अपभ्रंश में प्राकृत से चले आने वाले रूप के अन्त्य—इ का लोप होकर ※ बिसत रूप त्रिंशत की अनुरूपता पर बना होगा। फिर व्यंजन का लोप होकर—अ ही रह रह गया।

तीस

संस्कृत के त्रिंशत् से सम्बन्धित हैं। पालिमें—त्रिंशत्<तिंसति, तिंसा तिंसम्, तिंस—यह विकास रहा। प्राकृतों में तीसं तथा तीसा तीसई रूप मिलते हैं। ३१-३८ तक के संख्यावाचक शब्दों में—तीस ही पाया जाता है और—तीस भी। बत्तीस, तेत्तीसं चौत्तीसं पञ्चत्तीसं आदि। नभाआ में महा० हि० में तीस तथा तीह रूप मिलता है। पंजाबी के ३१-३८ तक के संख्यावाचक शब्दों में—ह रहता नहीं या अत्यन्त शिथिल हो जाता है। बत्ती, तेती। हिन्दी में भी बोलते समय ये रूप सुनाई पड़ जाते हैं। अन्यथा तीस अविकृत रूप से प्राप्त होता है।

चालीस

का सम्बन्ध संस्कृत चत्वारिंशत् से है। पालिमें इसका विकास—क्रम इस प्रकार मिलता है: चत्वारिंशत>चत्तारीस चत्तारीसा, चत्तालीस, चत्तालीसं, चत्तालीसा चतालीसं, चतालीसा इस प्रकार पालिमें—र >—र—,—ल—दोनों रूप मिलते हैं। प्राकृतों में चत्तालीस, चत्तालीसा. रूप तो मिलते ही हैं, साथ ही—ता—>—या—वाला रूप भी प्राप्त होता हैं: चायालीसं। जैन महाराष्ट्री में इसी का विकसित रूप चालीस भी मिल जाता है। चालीस साहस्स=चत्वारिंशत्साहस्र। अपभ्रंश में स्वतंत्र रूप से चालीस निश्चित हो गया। नभाआ भाषाओं में गुज० चालीस, हि० चालीस बंग० चल्लीस, सिन्धी—चालीह, पंजा० च.ली रूप मिलते हैं। संयुक्त रूप में ४१ से ४८ तक प्राकृतों में बहुधा—आलीस या—यालीस रूप मिलते हैं: इआलीस ४१ बायालीसं ४२ तेआलीसा, तेयालीस '४३' चउआलीसं, चोयालीसं, चोयालीसा ४४ पणयालीस '४५ आदि। अपभ्रंश में—तालीस वाला रूप भी है और आलीस

याल वाला भी। हिन्दी में: ४२=बयालीस तथा ४४=चवालीस चौआलीस हैः—ता —>या तथा—उआ—(चउआलीस)>—वा—बा—(चबालीस)। अन्य संयुक्त संख्याओं में—तालीस रूप मिलता है: इकतालीस, तेंतालीस आदि।

पचास

पंचाशत् का विकसित रूप हैं। पालि में इसके पञ्जास,—सं—सा, तथा पण्णास (<पंचाशत्) रूप मिलते हैं। प्राकृतों में पण्णास, पण्णासा, तथा पन्ना रूप मिलते हैं। ५१ से ५८ तक की संख्याओं में—पण्णं तथा—बण्णं दोनों का योग होता है। ये संक्षिप्त रूप पञ्चाशत, पञ्चशत्, तथा पञ्चत् से व्युत्पन्न हुए हैं।[१] अपभ्रंश में पण्णास रूप ही विशेष रूप से मिलता है।—ञ्च—>—ण्ण— अपभ्रंश से पूर्व ही प्रचलित था। नभाआ में ये रूप हैं : मरा० पन्नास; गुज० हि० नैपा० पचास। (पहले की पीढ़ियाँ पंचास भी बोलती थीं) ५१ से ५८ तक के संयुक्त संख्या वाचक शब्दों में-वन तथा-पन दोनों रूप मिलते हैं : तिरपन (तिरेपन) पचपन, छप्पन। शेष में—वन मिलते हैं: इक्यावन, बावन, चऊवन, सत्तावन, अट्ठावन। कभी-कभी—व—के स्थान पर—भ—भी सुनाई पड़ता है।—वन्—<वण्सं— तथा—पन्—<—पण्णं—विकास क्रम है।

साठ

की व्युत्पत्ति षष्टि के विकास क्रम का परिणाम है। पालि में इसका रूप सट्ठि हो गया। प्राकृतों में सट्ठि, सट्ठि, सट्ठी रूप पाये जाते हैं।[२] शौरसेनी में छट्ठि रूप भी मिलता है। पर यह विशेष प्रचलित नहीं हुआ। अपभ्रंश में सट्ठि रूप सुनिश्चित हो गया।[३] अन्य संख्या शब्दों के साथ संयुक्त होने पर—सट्ठि,—वट्ठि तथा अट्ठि रूप मिलते हैं। ६१=इगसट्ठि; ६२=बासट्ठि तथा वावट्ठि भी; ६५= पण्णट्ठि आदि रूप मिलते हैं। नभाआ में ये रूप मिलते हैं : महा० गुज० हि० साठ: सिन्धी-साठ, साठि, पंजाबी-सट्ठ, नैपा० साठि। इस प्रकार मभाआ के द्वित्व का सरलीकरण नियमानुसार नभाआ भाषाओं में मिलता है। अन्य रूपों के साथ संयुक्त होने पर हिन्दी में—सठ रूप मिलता है : इकसठ, बासठ, तिरेसठ पर अन्त्य— ठ<—ट की प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है।

सत्तर

सप्तति का विकसित रूप सत्तर है। पालि में सत्तति, सत्तरि रूप मिलते हैं। प्राकृतों में सत्तरि और सत्तरि, सयरी, सयरि आदि रूप मिलते हैं। अपभ्रंश मे सत्तरि भी मिलता है और अन्त्य—इ से रहित रूप सत्तर भी मिलता है। आधुनिक भाषाओं में महा० हि० पंजा० बंगा० सत्तर; सिन्धी-सतर; उड़िया—

[१] पिशल, § ८१ तथा १४८

[२] वही § ४४६

[३] तगारे, पृ० २०१

सत्तरि।—त्—>—र्—विकास प्राकृतकालीन है। अन्य संख्या शब्दों के साथ संयुक्त होने पर—सत्तरि,—हत्तरि,—वत्तरि, और कभी—अत्तरि रूप मिलते हैं: एक्क सत्तरि, यावत्तरि, ब हत्तरि, पन्नत्तर। हिन्दी में—हत्तर,—रूप ही संयुक्त रूपों में मिलता है: इकहत्तर, बहत्तर आदि।

अस्सी

संस्कृत अशीति से विकसित हुआ है। पालि में असीति रूप मिलता है। प्राकृतों में असीइं, असीई, असोइ रूप मिलते हैं। अपभ्रंश के विकसित रूप ये हैं: असीति, असिइ। महा०—अईसि, गुज०—ऐशि नैपा० असिन, असि। हिन्दी में अस्सी शब्द मिलता है जो नैपाली के समान है। अन्य संख्या शब्दों के साथ—आसी या—यासी रूप हिन्दी में मिलते हैं, जो मभाआ रूपों से साम्य रखते हैं। इक्कासी ~ इक्यासी, बयासी, तिरासी, चौरासी आदि।

नव्वे

संस्कृत के नवति का विकसित रूप है। पालि में नवति मिलता है। प्राकृतों में नउइ, नउई रूप मिलते हैं: अपभ्रंश में णवदि णवई, णौदि, नौय, आदि रूप प्राप्त होते हैं। आधुनिक भाषाओं में महा० नव्वद, गुज० नेवु, सिन्धी- नवे, हि० पंजाब नव्बे, नैपा० नव्बे। इस प्रकार इस संख्यावाचक का विकास क्रमशः है। अन्य संख्या शब्दों के साथ संयुक्त होने पर णउइं का प्रयोग होता है। जैसे एक्का णउइं, (९१) छण्णउइं (=९६) आदि। हिन्दी में संयुक्त रूपों के साथ -नवे मिलता है। इकानवे, बानवे आदि। इसका विकास यों दीखता है:—नवति (सं) > नवइ > नवे। इस प्रकार संस्कृत की परम्परा में इसका विकास है।

सौ

का विकास संस्कृत शत से हुआ है। पालि में सत मिलता है। प्राकृतों में बहुधा इसके तीन रूप मिलते हैं: महा:० सअ; अर्द्ध मा० सय तथा शौ० सद्। मागधी में शद रूप प्राप्त होता है। अपभ्रंश में भी सअ, सय मिलते हैं। हिन्दी में सौ तथा व्रजभाषा में अन्य संख्यावाचकों में संयुक्त रूप से -सै मिलता है: चार सै (चार सौ) सौ का विकास इस प्रकार दीखता है: शत>सब>सव>सौ। -सै का विकास इस प्रकार है: शत > सअ, सय > सै।

हजार

का प्रयोग १,००० के लिए फारसी तत्सम या तद्भव रूप में होता है। सहस्त्र का पालि में सहस्स हो गया था। प्राकृतों में भी सहस्य रूप चलता है (मागधी में शहश्श था) पर प्राकृतों में संस्कृत के दशशत का विकसित रूप दससया, दस सयाइं रूप भी प्रचलित हो गया था। पर आगे ये दोनों धाराएं समाप्त हो गईं और फारसी हजार प्रचलित हो गया।

लाख

का सम्बन्ध लक्ष से है जो पालि में लक्ख हो गया था। इसका रूप मागधी प्राकृत में लश्कं तथा अन्यों में लक्खं रूप मिलता है। अपभ्रंश में लक्ख जैसा रूप हीं मिलता है। सरलीकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप हिन्दी में लाख मिलता है।

करोड़

इसका सम्बन्ध संस्कृत कोटि : से है। प्राकृत में कोटी मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति अधिक स्पष्ट नहीं है। प्राकृत के कोड़ी से करोड़ का व्युत्पन्न होना समझ में नहीं आता।

अन्य संयुक्तरूपों की व्युत्पत्ति उक्त व्युत्पत्ति, उक्त व्युत्पत्तियों के आधार पर जानी जा सकती है। अतः यहाँ सभी संख्याओं की व्युत्पत्ति -सूची देना अनावश्यक है। अरब का संबंध संस्कृत अर्बुद से है और खरब सं० खर्व से संबंधित हैं।

१३.३२ क्रमात्मक रूप—हिन्दी के कुछ क्रमात्मक संख्यावाचक विशेषणों की व्युत्पत्ति स्पष्ट है। कुछ की संदिग्ध है। हिन्दी तक का विकास क्रम नीचे दिया जा रहा है। पालि में रूप संस्कृत से अधिक भिन्न नहीं थे।[1]

पालि	संस्कृत
पठम	प्रथम
दुतीय	द्वितीय
ततीय	तृतीय
चतुत्थ	चतुर्थ
पंचम	पंचम
छट्ठा (छट्ठम) सट्ठा	षष्ट
सत्तम —मि	सप्तम
अट्ठम—मि	अष्टप
नवम	नवम
दसम	दशम

प्राकृतों में इनके अनेक रूप मिलते हैं।[2] प्रथम>पढ़म, पुढम, पुढुम, पुढुम; अर्द्ध मागधी में पढ़मिल्ल, पढमिल्लग। यह-इल्ल प्रत्यय अपभ्रंश में प्रमुखता पाने लगा और पहिल रूप विशेष प्रचलित हो गया। (स्त्री० पहिली) भारत की नवीन भाषाओं में यही—ल वाला रूप मिलता है। हिन्दी में सप्रत्यय होकर इसके रूप पहला, पहले, पहली हुई। बीम्स ने इसका सम्बन्ध ※ प्रथर से जोड़ा है।[3] हार्नले ने अर्द्ध मागधी पढ़ मिल्ल और पढइल्ल से इसका सम्बन्ध जोड़ा है। पिशल ने एक

---

[1] Geiger, § 118

[2] पिशल, § ४४९

[3] बीम्स, २,१४२

* प्रथिल रूप की कल्पना की है। और इसीसे पहला आदि रूपों की व्युत्पत्ति मानी है।

हिन्दी के —र—(—आ,—ए,—ई) वाले रूपों की व्युत्पत्ति स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होती। जहाँ दूसरा तीसरा हिन्दी में हैं, वहाँ प्राकृतों में दुइय, बिइय, बीअ, शौरसेनी में दुदिय, दिदीय हैं। ये संस्कृत के द्वितीय से स्वाभाविक रूप से विकसित हैं। अपभ्रंश में भी बीअ, बीय, बीयअ, दुइय दुइज्ज (<द्वितीय) रूप मिलते हैं।—सर—वाला कोई रूप अपभ्रंशों में नहीं मिलता। हो सकता है इस प्रत्यय से संयुक्त रूप बोलचाल की अपभ्रंश में हो। हार्नले ने सरा की उत्पत्ति संस्कृत सृ से मानी है: द्विस्मृत>दूसर—त्रिस्मृत>तीसर—।

चौथा को सम्बन्ध संस्कृत चतुर्थ से है। शेष क्रमवाच पदों में —वँ— इसके लिंगवचन के अनुसार सप्रत्यय रूप(—वाँ—वें,—वीं आदि हैं का योग होता है। द—वँ—<—म—का विकास भी स्पष्ट है। इस प्रकार पाँचवाँ<पंचमः आदि छठवाँ तथा छटा दोनों रूप मिलते हैं। छटा रूप विकास की दृटि से स्वाभाविक है: षष्ट>छट्टा>छटा। पर अनुरूपता के अनुसार—वँ—वाला रूप भी इसका मिलता है। क्रमवाचक विशेषण हिन्दी में लिंग वचन के अनुसार विकृत होते हैं।

१३.३.३ गुणात्मक संख्यावाचक विशेषण (Denominatives)—गना का संयोग करके आवृत्ति का द्योतन किया जाता है जैसे दुगना, तिगना, चौगुना।—गन—के साथ वस्तुतः लिंग० वच० प्रत्ययों का संयोग होता है। इसका मूल संस्कृत गुण में है। अन्य गुणात्मक रूपों की सूची नीचे दी जा रही है।[1]

इकं या एकं<सं० एकम्; दूना दूनी<सं द्विगुणः; तिया (तीन तिया नौ)<सं० तृतीयक या तिय<त्रिक। आगे आठ तक की संख्या का सम्बन्ध संस्कृत के—क् या अक् वाले रूपों से है। चतुष्क>चौकया चौका; पंचक>पंजा, पजे; षट्क>छका, छके। सप्तक>सत्ता सत्ते; अष्टक्>अट्ठा, अट्ठे। शेष ये हैं: नवम्>नवा, नवाँ कभी कभो नाम भी; दशम>दहाम्, दहम दहाड़े भी।

१२.३.४ समूह वाचक संख्याएँ (Collecive-Numerals) इस प्रकार के कुछ शब्द आगत हैं और कुछ यहीं के हैं। अंग्रेजी के डजन>दर्जन का प्रचलन हो गया है। हजारा बन गया है, जैसे हजारा गेंदा का फूल, तिलहजारा आदि। अन्य रूप ये हैं: दो का युग्म=जोड़ा, जोड़ी। इसका सम्बन्ध स० युट से जोड़ा जाता है। चौक या चौका=४ का समूह। यह सं० चतुष्क >चउक्क वाले क्रम में आता है। पंजा (=५ का समूह) का विकास इस प्रकार है: पञ्चक>पंचअ > पंजअ> पंजा। कोढ़ी=२० का समूह। इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। सैकड़ा<सं शत—कृतं;

[1] डा० उदयनारायण तिवारी पृ० ४५६-४५७

लखा—लक्ष>संलक्ष —आ (प्र० एक० तथा) —ई (स्त्री०) के योग से अन्य समूह वाचक रूप भी बनाए जाते हैं बीसा, चालीसा, बत्तीसी, सतसई, हजारा आदि।

ताश के पत्तों के नाम भी समूह वाचक हैं: इक्का:, दुक्का या दुग्गा, तिक्का या तिग्गा आदि। संस्कृत के द्विक जैसे रूपों का विकास कुछ प्राकृतों में दुग जैसे रूपों में हुआ[1] इसी प्रकार त्रिक>तिय, तिग आदि। अतः इनकी व्युत्पत्ति का स्रोत इसी -इक वाले संस्कृत रूपों में दीखता है।

१२.३.५. भिन्नात्मक संख्यावाचक शब्द—इनकी सूची नीचे दी जा रही है—

$\frac{1}{4}$=पौवा, पाव रूप हिन्दी में प्रचलित हैं। इनका रूप मभाआ में पाउआ (पाउ+उका) पाअ संस्कृत के पाद से इसका सम्बन्ध है।

$\frac{1}{3}$=तिहाई, बोलियों में तिहाई मिलता है। मभाआ में इसका रूप तिहाइ अ था जो संस्कृत के त्रिभागिक का विकसित रूप है।

$\frac{1}{2}$=अद्धा, आधा पालि तथा प्राकृतों में अद्ध, अड्ड < अर्द्ध रूप प्राप्त होते हैं।[2] इसीसे नभाआ के रूपों का विकास हुआ है।

$1\frac{1}{4}$=सवा,<सवाऊ<सपाद।

प्राकृतों में संस्कृत की ही भाँति डेढ़, ढाई आदि रूपों की रचना के लिए पहले अद्ध, अट्ठ रूप रखे जाते थे, फिर उसके साथ जो संख्या बतानी होती है उससे ऊँचा गणनात्मक अंक संयुक्त कर दिया जाता है। नीचे जो सूची है। इससे यह स्पष्ट हो जायगा। जर्मन मे भी इस प्रकार का क्रम मिलता है।

$1\frac{1}{2}$—में ऊपर का क्रम उलटा हुआ है। हिन्दी में डेढ़ हैं। इसका विकास क्रम इस प्रकार है: द्वि—अर्द्ध (क)<डि—अड्ड<डेढ़ डयौढ़ा आदि। अन्य पदों में पहले अर्द्ध ही रहता है। अन्यों के संयुक्त होने पर साढ़े शब्द मिलता है: साढ़े तीन। साढ़े<सार्द्ध।

$2\frac{1}{2}$=ढाई अढ़ाई आदि पालि में अड्ड तिय, अड्ड तेय्य जैसे रूप मिलते हैं।[3] प्राकृतों में अड्ढो इज्ज (ईज्ज/तिज्ज) रूप मिलता है। जो संस्कृत के अर्द्ध तृतीय का विकसित रूप है।

$3\frac{1}{2}$=हूँठा। पालि में इसका रूप अड्ढड्ढ था। प्राकृतों में अद्धु ट्ठ था। प्राकृतों में अद्धुट्ठ (=अद्ध+÷ तुर्थ) हो गया। यह संस्कृत के अर्द्धचतुर्थ का विकसित रूप हैं। इस प्रकार अर्द्ध चतुर्थ>अड्ड>अड्डट्ट>हूठा हूंठा।

१२.३.६ प्रत्येक वाची संख्या शब्द—गणनात्मक संख्या को दुहराने से प्रत्येक वाची रूप बन जाते हैं। पालि में भी यह प्रणाली थी। एक उदाहरण यह है:

---

[1] पिशल $ ४५१

[2] Geiger $ ११९ पिशल ४५०

[3] वही ११९. १.

अट्ठ थेरे मच्चे च पेसयि[1] प्रत्येक को उसने आठ आठ थेर तथा दरबारी भेजे।' यही प्रणाली नभाभा में मिलती है।

१३.३७. निश्चित संख्या वाचक विशेषण—बनाने के लिए—ओं प्रत्यय का गणनात्मक संख्यावाचकों के साथ योग किया जाता है। जैसे दोनों, चारों आठों आदि। एक प्रणाली यह भी है : दोनों—के—दोनों, चारों।

१३. ४. विशेषण की रचना में प्रयुक्त प्रत्यय—कुछ प्रत्ययों का योग क्रियाओं के साथ होता है और कुछ का संज्ञाओं तथा अन्य रूपों के साथ। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किया गया है।

१३. ४. १. क्रियाओं के साथ संयुक्त होने वाले प्रत्यय—

(क)—त्—+ लि वच० प्रत्यय—आ,—ए,—ई के संयोग होने से, क्रिया का वर्त० कालिक कृदन्त बनता है जो विशेषण के समान प्रयुक्त होता है : 'कर्ता करने वाला', भागता (चोर) कभी कभी हुआ हुए आदि को भी जोड़ दिया जाता है : भागता हुआ कुत्ता आदि।

(ख)—अ—,या —य्—+ लि० वच० प्रत्यय—आ,—ए,—ई के संयोग से भूत० कृदन्तों की रचना होती है : खाया या खाया हुआ, आया या आया हुआ।

(ग —ऊ—, या—आऊ—के संयोग से क्रिया विशेषण में परिवर्तित हो जाती है : दब्बू, खाऊ 'अधिक खाने में आसक्त') उड़ाऊ आदि।

(घ)—इयल : अड़ियल 'अड़नेवाला', मरियल 'मरासा' सड़ियल आदि।

(ङ)—ओड़+आ—ए,—ई : भगोड़ा, हँसोड़ा (यहाँ थोड़)।

(च)—ना : यह क्रियार्थक संज्ञा का प्रत्यय है। इसका प्रयोग भी विशेषण की रचना में होता है : सना 'हँसने हंसवाला' रोना 'रोने वाला'।

(छ)—वाला +—आ—ए,—ई : आने वाला, गाने वाले, हंसने वाली आदि।

(ज)—हार—होनहार, जानहार आदि।

(झ)—वाँ—इकवाँ, चुनवाँ आदि।

१३. ४. २ अन्यों के साथ प्रयुक्त प्रत्यय

(क)—ओं : चार+ओं=चारों, लाखों आदि

(ख)—रा,—ला : पहला, दूसरा आदि।

(ग)—हरा : इकहरा, दुहरा, सुनहरा।

[1] महावंश, ५।२४६

(घ)—ऊ : पेटू, नक्कू, बजारू

(ङ)—आल या—अल : दयाल, हठियल ।

(च)—आर : दुवार, ।

(छ)—आलू : झगडालू, देवान्त आदि ।

(ज)—ईला,—एल,—एला—,—ऐला : पनीला, दँतैल, बनैला,

(झ)—आ—, ठंडा, प्यारा, खारा ।

(ञ)—ई (—वी) : हिन्दुस्तानी, पंजाबी, देहलवी, सरकारी । —वाल-भी : घरवाली, गाँववाला ।

१४

सर्वनाम

१४. ० नभाआ भाषाओं के सर्वनामों में पर्याप्त रूप-वैविध्य मिलता है। प्राभाआ के सुनश्चित सर्वनामों का विकास इन रूपों में हुआ है। ध्वन्यात्मक विकास की समीकरण और सरलीकरण आदि प्रवृत्तियों के फलस्वरूप इनके बाह्य रूप में भी विघटन हुआ है। साथ ही पदविज्ञान की दृष्टि से एकरूपता लाने की प्रवृत्ति ने इसकी रूप-रचना के प्रकारों को भी सीमित किया है। संस्कृत में उत्तम-मध्यम पुरुष सर्वनाम तो नहीं, पर अन्यपुरुष सर्वनाम लिंग के अनुसार विकृत होते थे। नभाआ-काल में यह प्रणाली भी समाप्त हो गई है। प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी सर्वनामों के विवरण और विकास पर प्रकाश डाला गया है।

१४. १. वर्गीकरण—डा० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी सर्वनामों के आठ मुख्य भेद माने हैं : पुरुषवाचक, निश्चयवाचक, संबंध वाचक, नित्यवाचक, प्रश्नवाचक, अनिश्चयवाचक निजवाचक तथा आदरवाचक।[1] आदरवाचक को पुरुषवाचक के अन्तर्गत ही माना जा सकता है। निश्चयवाचक सर्वनाम पुरुषवाचक के अन्य पुरुष में प्रयुक्त होता है। कारक-रचना संज्ञा के समान ही है।

१४. २. पुरुषवाचक सर्वनाम—इस शीर्षक में उत्तम पुरुष, मध्यमपुरुष, एकवचन तथा बहुवचन रूपों पर विचार किया गया है। अन्यपुरुष के रूपों पर निश्चयवाचक के साथ विचार किया गया है।

१४. २. १ उत्तम पुरुष एकवचन—हिन्दी में इसकी रूपावली इस प्रकार है—इसका मूल रूप, मैं; विकृत रूप : मुझ- (+ ए (संप्र०) अथवा +-को); मे- (+-र-+आ ~ ए ~ ई=संबंध कारक हैं, बोलियों में हौं। (ब्र०) अथवा -हूँ रूप भी मिलते हैं। इसका संबंध कारक का रूप सार्वनामिक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है : मेरी किताब।

इसके मूल रूप, मैं का सम्बन्ध संस्कृत तृतीया के मया रूप से है। पालि में इसका मया रूप प्रचलित रहा। प्राकृतों में इसके रूप ये प्राप्त होते हैं : मए, मई, [नमए, भमइ, भआइ] में [मि, ममं, णे] रूप मिलते हैं।[2] अपभ्रंश में मुख्यतः

[1] हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० २८०

[2] पिशिल § ४१५

मइ रूप मिलता है। इस प्रकार मभाआ में अह्-कर्ता एक० तथा म- अन्य विभक्तियों में प्राप्त मूलांश हैं। अपभ्रंश का मइं कई कारकों का प्रतिनिधित्व करने लगा था : कर्म, करण, अधि०। हिन्दी में के अनुनासिक अंश का सबन्ध डा० चटर्जी ने तृतीया -एन से माना है।[1] पर यह अंश अपभ्रंश में ही लग गया था। कुछ का विचार है कि अपभ्रंश-इं के अनुनासिक अंश का संबध अधिकरण एक० -हिँ (-स्मिन्) से है। पर -इँ का संबन्ध पु० एक० करण के -इँ से है, जो अकारान्त प्रातपदिकों में संलग्न होता था।[2] अधिकांश अपभ्रंशों में 'मइँ' सुनिश्चित रूप हो गया था। इसी से हिन्दी मैं तथा मराठी मी का सम्बन्ध है।

हिन्दी की बोलिओं तथा अन्य कुछ नभाआ भाषाओं में प्राप्त हूँ, हौं आदि रूपों का सम्बन्ध संस्कृत अहं से है। प्राकृतों में अहँ, अहअं, अहये [अम्हि, अम्मि, म्मि, अहम्मि] माग० हगे, हग्गे [हके, अहके] रूप मिलते हैं और अपभ्रंश में हउँ। इसकी व्युत्पत्ति प्राभाआ अह-क (भाग० हगे) से है। अपभ्रंश के हउँ के आधार पर पंजाबी बंगाली हउँ, गुज० हाउ, हु, कोणकाणी हाँव रूप विकसित हुए हैं।

विकृत रूप मुझ का सम्बन्ध संस्कृत मह्-यं से माना जाता है। प्राकृतों में अपादान-सम्बन्ध की रूपावली में [मज्झत्तो] मज्झू[3] मज्झ मज्झं जैसे रूप मिलते हैं। अपभ्रंश की उकार प्रवृत्ति के अनुरूप मज्झु प्रचलित रहा। -उ का स्थान विपर्यय होने से मुझ् हो गया है अथवा तुझ की अनुरूपता पर मुझ हो गया है। मुझे का-ए विकृत रूप का चिन्ह है।

सम्बन्ध वाचक मूलांश मे—भी संयुक्त रूप है। इसमें म्—मूलांश है। इसके साथ—एर्—का संयोग हुआ है, जिसकी व्युत्पत्ति—केर—से मानी जाती है : मेर्< ममेर<मम केर (<कार्य)। पीछे लिंगवचन प्रत्यय—आ,—ए,—ई का संयोग हो गया है जो विशेषण रूप देते है। इस प्रकार मेरा, मेरे, मेरी रूपों की रचना हो गई है। इसकी संक्षिप्ति इस प्रकार दी जा सकती है :

> सं० मया>पा० मया>मए, मइ, मे (प्रा०)>अप० मइं>मैं
> सं० मह्यं>मज्झ, मुज्झ (प्रा०)>अप० मुज्झ>मुझ (+—ए)
> सं० ममकार्य>ममकेर>ममेर>*मएर>मेर्(+—आ,—ए,—ई)
> अहम्>अहकं>*हअ>*हगं>हौं, हूं।

१४.२.२. उत्तम पुरुष बहुवचन

हिन्दी में इसके ये रूप मिलते हैं. मूल हम तिर्यक हमें तथा सम्बन्ध कारक, हमार्—(+आ—ए,—ई)। इसके रूप बोलियों में भी भिन्न नहीं हैं। इसका सम्बन्ध संस्कृत अस्म से है। इसका विकृत रूप अस्मे हुआ। पालि में अम्हे, अम्हेहि,

[1] चैटर्जी ५३९

[2] तगारे § ८१, § ११९ A

[3] क्षासेनने-ह्य>ज्झ की प्रवृत्ति स्वीकार की है

अम्हाकम् (<अस्माकम्) अम्हे जैसे रूप प्रचलित थे। प्राकृतों की प्रायः सभी बोलियों में अम्हे रूप प्रचलित रहा (=वैदिक अस्मे) अर्द्ध मागधी में वयं=वयम् भी चलता रहा। पर हिन्दी का हम इससे बिल्कुल सम्बद्ध नहीं है। हेमचन्द्र के अनुसार, इसका एक रूप अम्हइं भी काम में आता है। फिर इसके सविभक्तिक रूप इस प्रकार चलते हैं :—अम्हे, अम्ह, अम्हेहिं, अम्हेहिंतो अम्हाण, अम्हेसि आदि। अपभ्रंश में अम्हे, अम्हि अम्हइं, अम्हहिं जैसे रूप प्रचलित रहे। -अइं नपुं० बहु० है, पीछे-अइं करण अधिकरण का भी वाचक हो गया दीखता है। हिन्दी, हम इसी से व्युत्पन्न हुआ है। परिवर्तन की प्रक्रिया में ध्वनियों के स्थान विपर्यय की सम्भावना भी है और एक सम्भावना यह भी है : महाप्राणत्व पूर्ववर्ती अ- के साथ संलग्न हो गया। और 'म' स्वतन्त्र हो गया तथा -ए का लोप सम्भवतः-अइ के संयोग से समाप्त हो गया। हम के साथ अइँ > एँ का संयोग हो गया जिससे हिन्दी का हमें रूप व्युत्पन्न हो गया कुछ एँ का आगम -एन से मानते हैं। संक्षिप्ति इस प्रकार दी जा सकती है—

अस्मे > अम्हे > हम

साथ ही अस्मकर > हमारा पूर्ववत समझना चाहिए।

१४. ३. मध्यमपुरुष सर्वनाम—मध्यम पुरुष सर्वनाम का एक वचन रूप तू तथा बहुवचन तुम मिलता है।

१४. ३. १ मध्ययपुरुष एक वचन—हिन्दी में तू तथा ब्रज आदि पुरानी हिन्दी में इसके स्थान पर तैं का भी प्रयोग है। तिर्यक रूप में आज भी ब्रज की बोली में तैं-ही मिलता है। इसका सम्बन्ध संस्कृत त्वया है। पालि में त्वम्, (या तुवम्) तं, तया तव (या तुय्हम) तयि, तथा ते जैसे सविभक्तिक रूप प्राप्त होते हैं।[१] प्राकृतों में इसकी रूपावली इस प्रकार है: कुछ अपवादों (ढक्की और अप०) के अतिरिक्त सभी प्राकृत बोलियों में सबसे अधिक लोकप्रिय रूप तुमं है। ढक्की में तुहं तथा अपभ्रंश में तुहुं शब्द मिलते हैं। वैयाकरणों के अनुसार अपभ्रंश की रूपावली इस प्रकार है—[२]

कर्ता-तुहं (हेमचन्द्र, ३६८) तुहं (पुरुषोत्तम १७.६४)
कर्म—पइं (हेम० ३७०) तइं (हेम० ३७०) आदि।
करण-अधि० पैं, तैं आदि।

सम्प्र० सम्बन्ध० अपादान०-तउ (हेम० ३७२) तुज्झ, तुध्र, तुह, तिम्ह, तुहुँ तुम्हे। ये तुज्झ, तुह रूप प्राकृतों में भी प्राप्त होते थे। प्राकृतों और अपभ्रंश में मिलने वाले सामान्य रूप ये हैं : कर्ता तुमम या तुमं; करण तै या तइं; सम्बन्ध तुज्झ; तुह, तुहं।

[१] Geiger; १४२
[२] तगारे § १२०

अपभ्रंश तथा प्राकृतों इस सर्वनाम का मूमांश तु—तथा प—है। इसका सम्बन्ध प्राभाआ त्व—से है। केलाग ने हि० तू—की व्युत्पत्ति संस्कृत त्वं से मानी है।[1] मारवाड़ी तथा प्राचीन बैसवाड़ी में इसकी सानुनासिकता बनी हुई भी है : तुँ, तूँ। हिन्दी में—ने कारक चिह्न से पहले भी तू—का ही प्रयोग होता है : तूने कहा। केलॉग के अनुसार संस्कृत त्व (>प्रा० तुअ) से है। अपभ्रंश में भी अननुनासिक तू—रूप मिलता है और इसकी उत्पत्ति भी सं० तव (मभाआ तो) से मानी गई है।[2] कभी कभी इसका प्रयोग मूल रूप (Direct) में भी मिलता हैं। अतः हो सकता है कि यही तू हिन्दी में मूल और तिर्यक दोनों रूपों में प्रयुक्त होता है।

हिन्दी में इसका तिर्यक रूप तुझ है। वस्तुतः तु+झ ही इसे मानना चाहिये इस—झ का सम्बन्ध—ह्य से ही है जो महयम से बने पालि रूप तुहयम से सम्बन्धित है। मभाआ में तुज्झ आदि रूप सम्बन्ध कारक में प्रयुक्त होते थे। अपभ्रंशों में ये तिर्यक के मूलांश के रूप के प्रयुक्त होने लगे। अर्द्ध मागधी में तुब्भ मिलता है (=तुभ्यम्) तुभ्यम् का दूसरा विकासक्रम तुह्यम्*तज्झ हो सकता है। केलाग ने रामायण में प्राप्त मह का सम्बन्ध मस्य (?) से किया और इसकी अनुरूपता पर तुस्य (*त्वस्य) से जोड़ कर ब्रज आदि के तो—की व्युत्पत्ति सिद्ध की थी : +त्वस्य> तुस्य>तुह्य>तुइ>तो। तुझ+—ए=तुझे में—ए विकृत रूप का चिह्न है।

तेरा की व्युत्पत्ति तव—केर (<कार्य) से माना जाता है। पर ते—का ए—व से कैसे व्युत्पन्न हुआ, यह समस्या बनी ही रहती है। पालि के Enclitic (एक० करण—सम्प्र०—सम्बन्ध) ते दिया गया है।[3] उसके साथ ही सम्बन्ध सूचक चिह्न लगा हो सकता है।

१४.३.२. मध्यम पुरुष बहुवचन—हिन्दी में तुम मूल रूप में मिलता है तथा तुम्ह—तिर्यक में मिलता है। तुम का प्रयोग तिर्यक रूप में भी होता है। इसका सम्बन्ध+तुष्म या+तुष्मे से माना जाता है। पालि में तुम्हें, तुम्हेंहि, तुम्हाकं, तुम्हेसु जैसे रूपों से है प्राकृतों में तुम्हें (<*तुष्मे) रूप ही सबसे अधिक प्रचलित था। माग० तुस्मे तथा अर्द्ध० मा० में तुब्भे जैसे रूप भी मिलते हैं। अपभ्रंश में तुम्हें (हेम० ३६९) तुम्हेंहि (हेम० ३७१), तुम्हास्त आदि रूप मिलते हैं। अपभ्रंश तथा प्राकृतों में मूलांश तुम्ह है, जिसका सम्बन्ध*तुष्म से है। आधुनिक भाषाओं के रूप इसी रूप की परम्परा में हैं : मराठी तुम्हीं, गुज० तमे, तम, ब्र० तुम, तम्हउँ, बंगा० तुमि, तोमा, हि० तुम। प्रा० तथा अपभ्रंश में प्राप्त विभक्तियाँ—इँ,—एँहि,—इँहि आदि थीं। इनका विकसित रूप—एँ तुम ∽ तुम्ह के साथ

[1] केलॉग, ३५२

[2] तगारे, १२०

[3] Geiger, १०४

संलग्न हो कर/तुम्हें/रूप देता है। तुम्हार्—का विकास क्रम यों है : तुम्ह कर—> तुम्ह अरअ—>तुम्हार—। इसके साथ व्रज में—औ,—ए,—ई संलग्न होते हैं : तुम्हारौ आदि। हिन्दी में—आ,—ए,—ई का संयोग होता है।

१६·४· **निश्चयवाचक**—इसके लिए डा० उदयनारायण तिवारी ने उल्लेख सूचक शब्द प्रयोग किया है। संकेत वाचक शब्द का भी प्रयोग होता है। इसको दो वर्गों में देखा जाता है : निकटवर्ती तथा दूरवर्ती : यह, वह आदि। इनका प्रयोग अन्य पुरुष के लिए भी किया जाता है।

१३.४१. **निकटवर्ती**—इसमें एक वचन तथा बहुवचन है।

१४. ४१ एक **वचन**—यह सर्वनाम विशेषणवत् भी प्रयुक्त होता है। परिनिष्ठित हिन्दी में यह, पुरानी हिन्दी तथा व्रज में इह, एह, तथा जि रूप मिलते हैं। अन्तिम रूप में य- > ज- का नियम कार्य कर रहा है। यह का तिर्यक रूप इस- मिलता है। यदि इन रूपों का विश्लेषण किया जाय तो यों होगा : य- मूल रूप; इ-तिर्यक। य-, तथा इ-दोनों ही निकटत्व के द्योतक हैं। -ह मूल रूप का विभक्त्यंश है और -स तिर्यक का। इन दोनों से मूल रूप एक० तथा तिर्यक एक वचन का द्योतन होता है।

केलॉग ने इसकी उसकी उत्पत्ति एष : से मानी है :[1] एष : > पा० एस, प्रा० एसो > अप० एहो > यह। डा० चटर्जी के अनुसार इसका सम्बन्ध सं० मूल शब्द एत- (एष :, एषा, एतद्) से है।[2] एषः से व्युत्पत्ति वाले मत का समर्थन हार्नले ने भी किया है।[3] प्राकृतों में-ष >-स हुआ। पीछे स > ह की प्रवृत्ति के अनुसार परिवर्तन हुआ। अन्य रूपों में भी इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं : अप० संबंध एक० -ह <- स्स <- स्य ? अधि० एक० -हि, -ही <- स्मिन; भविष्य -ह > -स्य; तथा संख्या वाचकों में बारह आदि। प्राकृतों में इसका मूलांश एस- ही है। अप० में एह- हो गया। अप० में ए- का दुर्बल रूप इ- भी विकसित होने लगा और -उ भी संयुक्त होने लगा। परिणामतः इहु रूप विकसित हुआ। अपभ्रंश में भी इसका लिंग द्योतन स्पष्ट नहीं है। हिन्दी में तो इसके साथ लिंग-भेद-द्योतन का प्रश्न ही नहीं है। इह का विकास हिन्दी यह में हो गया।

'इसे' में -ए विकृत रूप का चिन्ह है, जो प्रायः सभी सर्वनामों के साथ प्रयुक्त होता है। इस -का संबंध प्रा० एअस्स < सं० अस्य से ज्ञात होता है।[4] चटर्जी के अनुसार इसका संबंध सं० एतस्य से है : एतस्य>एअस्स>इसर।

१४. ४१ २ **बहुबचन**—मूल बहु० में ये तथा तिर्यक बहु० इन्ह- रूप मिलते

[1] केलॉग, $ ६३६४।
[2] चटर्जी, $ ५६६।
[3] हार्नले, $ ४३८।
[4] धीरेन्द्र वर्मा, पृ० २८४

हैं : इनको, इन्हें। बहुवचन ये की व्युत्पत्ति सं० एते से हुई है। प्राकृत में एए रूप में इसका विकास हुआ। अपभ्रंश में एअ-, एय-, तथा केवल ए- रूप भी मिलते हैं। ११०० ई० के पश्चात् पश्चिमी अपभ्रंशों ने एय- के स्थान पर एइ (< एए) का प्रयोग आरंभ किया।[1]

-न, न्ह तिर्यक बहुवचन के प्रत्यय हैं। इनके योग से ये- > -इ हो गया। इस -न का सबंध, संबंध वाचक बहु० -आन (सं० -आनाम्, से जोड़ना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। इसकी व्युत्पत्ति यों दी जा सकती है : * एतापाम् > सं० एतेषाम् > *एता-नाम् > * एआणं > * एण्ह > * एन्ह > इन्ह, इन। इन्हें- इसका विकृत रूप है जिसका -ए अनुनासिक प्रभाव से -ऐं हो गया है। इन्हों- में -ओ संज्ञा तिर्यक बहु० का चिन्ह है।

१४. ५. **संबंध वाचक सर्वनाम**—इस सर्वनाम के मूल रूप एक० तथा० बहु० में अन्तर नहीं है : दोनों में 'जो' का प्रयोग होता है। विकृत रूप एक० जिस तथा बहु० जिन हैं। ब्रजभाषा में भी जो का प्रयोग मिलता है : केवल ब्रज के पूर्वी किनारों अथवा पूर्वी हिन्दी की बोलियों में 'जौन' का प्रयोग होता है। कर्म और सम्प्रदान में संबंध सूचक सर्वनाम का मूलांश ब्रजभाषा में जा मिलता है, जिसके रूप जाहि, जाइ, जाकौं, जाकूँ, आदि हैं। जासु (=जिसका) का प्रयोग भी साहित्यिक ब्रज में मिलता है।

जो का संबंध संस्कृत के यः से जोड़ा जाता है। पालि में कर्ता पु० एक० यो तथा बहु० ये तथा स्त्री० एक० या तथा बहु० या (यायो) रूप मिलते हैं।[2] प्राकृतों में य > ज की प्रवृत्ति सक्रिय थी। अतः ज—पर आधारित रूप मिलते हैं। केवल मागधी में य—अवशिष्ट रहता है। अपभ्रंशों में ज—आधारांश बना रहा। प्राकृतों के—अं का विकास मूल रूप के साथ संलग्न—उ—,—ओ के रूप में हो गया। इस प्रकार जउ, जो रूप मिलने लगते हैं। जासु, जसु रूप भी मिलते हैं। इसका विकास हिन्दी तक थोड़े ही परिवर्तन के साथ हुआ है : यः > यो > अशोकी प्रा० यो, ये > प्रा० जो > जो। तिर्यक रूप के—स् का संबंध संस्कृत—स्य से है : यस्य > पा० यस्स > प्रा० जस्स > हि० जिस। तिर्यक बहुवचन का मूलांश तो ज—है।—इन् का सबंध सं० षष्ठी *यानां से माना जाता है। साहित्यिक संस्कृत में येषाँ रूप प्रचलित था।—ए विकृत रूप का चिन्ह हैं।

१४. ६. **नित्य संबंधी**—परिनिष्ठित हिन्दी में इसके लिए वह का ही प्रयोग होने लगा है। पहले सो का प्रयोग होता था। मूल रूप एक बहु० सो तथा विकृत रूप एक० तिस तथा ब० तिन की व्युत्पत्ति पर संक्षेप में यहाँ विचार किया है। वस्तुतः इनके आधारांश अलग अलग हैं : स—, त—। स—का संबंध संस्कृत सः से तथा त—का संस्कृत के तस्य जैसे रूपों से। ?र्नेट सो—की व्युत्पत्ति संस्कृत सों (–स–उ)

[1] तगारे § १२४।
[2] Geiger P. 148.

से मानते हैं।[1] डा० चटर्जी के अनुसार इसका व्युत्पत्ति क्रम इस प्रकार है : प्रभाआ सः * सकः > शौ० * सको, सगो > सओ, सउ, > सो। तिस् का विकास क्रम इस प्रकार रहा : तस्य > पा० तस्स > प्रा० तस्स > हि० तिस्।—इ—के आगम के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यस्य > जिस की अनुरूपता पर तिस रूप व्युत्पन्न हुआ। तिन् की व्युत्पत्ति जिन के समान है : सं तेषां > * तानां > मभाआ ताणां, ताणं, > तिन, तिन्ह्। इसमें महाप्राण तेहि < तेभिः < के प्रभाव से ज्ञात होता है।—इ—का आगम—स्य के विकास के साथ अन्य रूपों के समान ही संलग्न है।

१४.७. प्रश्नवाचक—हिन्दी में मूलरूप एक० बहु० में कौन तथा तिर्यक एक० में किस- तथा बहु० में किन का प्रयोग होता है। ब्रज भाषा में भी को पाया जाता है जो ब्रज की बोली में आज भी प्रचलित है। इस प्रश्नवाचक का आधारांश क- है। यह मूल रूप प्राचीन भाषाओं में भी मिलता है। हि० कौन का संबंध सं० कः पुनः से माना जाता है। पालि में को का प्रयोग मिलता है जो कः का विकसित रूप है। पालि में कि- भी आधारांश (base) के रूप में मिलता है। प्राकृतों में क-, तथा कि- दोनों मिलते हैं। अपभ्रंश में मूल रूप एक० के तीन रूप आधार के रूप में मिलते हैं : क-, कि-, तथा कवण[2]। कवण पश्चिमी अपभ्रंश की विशेषता थी। इसका एक रूप कवणु भी है। इसका विकास हि० कौन के रूप में हुआ : कः पुनः > कवणु > कौण, कौन। ब्रज का को इस प्रकार विकसित हुआ : कः > को, कउ > को। किस की उत्पत्ति कस्य से हुई है : कस्य > कस्स, किस्स > किस। किन के अन्त्य की उत्पत्ति -एषां * आ णं- से है : केषाम् * काण > काण > किन आदि। किन्+करण- ह, -हि=किन्ह-।

१४८. अनिश्चयवाचक—मूल रूप एक० बहु० कोई, तथा तिर्यक एक० किसी तथा बहु० किन्हीं हिन्दी में प्रचलित हैं। इनमें आरम्भिक का- तो संस्कृत के को- के तद्भव है। -ई का विकास -अपि से माना जाता है : अपि >-वि-, वि, इ-ई; कोऽपि > । कोवि > कोई। ब्रज में कोऊ भी मिलता है। यह -ऊ- के प्रभाव से हो सकता है।

तिर्यक रूप एक० का अन्त्य -ई (किसी) भी -अवि से सम्बद्ध है और किस- का संबंध कस्य से है। इसका विकास क्रम यों रहा : कस्यापि > कस्स-वि > कस्सइ > किसी (ने० कसै)।

तिर्यक बहु० वचन की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है : केषामपि > * कानामपि > मभाआ काणंपि, का णं वि > का णं [illegible] > किन्हीं। -महाप्राण-कारण—चिन्ह -भिः > हि के संयोग के कारण है।

निर्जीव पदार्थों के लिए कुछ शब्द प्रयुक्त होता है। इस कुछ (वो

---

[1] टर्नर, नेपाली डिक्शनरी, पृ० 622

[2] तगारे, § १२७ A.

कच्छु, किच्छु[1] का संबंध केलाग ने सं० कश्चित् से माना है।[1] धीरेन्द्र वर्मा ने भी कश्चिद् से संबद्ध मानकर प्रा० में कच्छु* संभावित रूप माना है।[2]

१४. ९ निजवाचक—हि० निजवाचक आप का मध्यमपुरुष के आदरवाचक के रूप में भी प्रयोग होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोनों समान हैं। प्राभाआ के आत्मन् का विकास प्राकृतों में दो रूप हुआ : अप्प, अन्त। अपभ्रंश में केवल अप्प-चलता रहा। हि० पंजाबी आप, आपे, बंगा आपा, अपणि, गुज० आपणो, महा० आपण का मूल इसी प्राभाआ के बोलचाल के रूप * आत्पमन् (=आत्मन) में है। अपन शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है : आत्मन्+अ+क > अप० अप्पण >हि० अपन।

१४-१० विशेषण वत् प्रयुक्त सर्वनाम—इन सर्वनामों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—तना प्रत्यय ग्रहण करने वाले परिमाण वाचक सर्वनाम तथा—इस प्रत्यय ग्रहण करने वाले गुण वाचक सर्वनाम। अधिकार वाचक सर्वनामों पर पहले ही विचार किया जा चुका है।

१४. १०. १ परिमाण वाचक—सर्वनाम ये हैं: इतना उतना, तितना, जितना कितना। इनका विश्लेषण करें तो इ—,—उ,—त,—ज, तथा क—तो सार्वनामिक अंश के रूप में माने जाने चाहिए। शेषांश प्रत्यय है। अपभ्रंश में ना नहीं हैं, केवल (ए,—इ) त्तिय; त्तिल —त्तुल आदि मिलते हैं। इनके लिये केत्तिय, कत्तिउ (कियत्) पा० कित्तक एत्तिय (इयत्) पा० एत्तिक, एत्तिउ (एतावत्) जोत्तिय, तेत्तिय आदि रूप मिलते हैं। कभी कभी एत्तिल, जेत्तिल आदि—ल वाले रूप भी मिलते हैं। एत्तिअ >हि०—इत विकास स्वाभाविक दीखता है। —न—(+आ, ए, ई) का प्रश्न रहा। अपभ्रंश के—ल के स्थान पर भी इसका प्रयोग सम्भव है। ल>न, न> ल की प्रवृत्ति भी मिलती है। बीम्स के अनुसार—ना लघुता सूचक है।[3] यह अधिक संगत नहीं दीखता। पुरानी हिन्दी में इत्ता, जित्ता, कित्ता, आदि—न—रहित रूप भी मिलते हैं; जिनका विकास अपभ्रंश से सीधा हुआ है। आज भी बोलचाल में हिन्दी क्षेत्र में इन रूपों का प्रचलन है।

१४. १० २. गुणवाचक सर्वनाम—अकारान्त सार्वनामिक अंशों के साथ इस—या—ईस—का योग करके गुणवाचक सर्वनाम बनाए जाते हैं। ये इस प्रकार हैं: ऐस, वैस, तैस—, जैस—तथा कैस। इन रूपों के पश्चात् लिंग वचन प्रत्यय— आ,—ए,—ई का संयोग करके गुण वाचक सार्वनामिक विशेषण बनाए जाते हैं। अपभ्रंश में सार्वनामिक अंशों के साथ-इस या—रिस का संयोग होता था, जिसका संबंध संस्कृत (—दृश) से था। जैसे-ज इस (>या दृश) तइस (>तद्दृश) कइस (>* कादृश) अ इस (× अ० दृश)। साथ ही केरिस जैसे रूप भी चलते थे। इन्हीं रूपों के विकसित रूप हिन्दी में मिलते हैं। महाराष्ट्री

[1] केलाग, § ३७७
[2] हिन्दी भाषा का इतिहास § २९८
[3] बीम्स २, § ७४

में जसा, तसा, कसा, असा जैसे रूप मिलते हैं। पूर्वी हिन्दी में जस, तस, कस आदि भी मिलते हैं।

१४ १० ३ अधिकार वाचक (Passessive)—इस सार्वनामिक विशेषण की रचना—आर्—प्रत्यय के योग से होती है। मेरा, हमारा, तेरा, तुम्हारा। ब्र० में म्हारा, महारा साहित्यिक रूप भी मिल जाते हैं। इनका सम्बन्ध मभाआ के * कार * कारि—(<कार्य) से है जिनका प्रयोग बहुधा संबंध वाचक रूप में होता था। अपभ्रंश में केर—,केरअ (>प्राभाआ कार्य) रूप भी मिलते हैं तथा आर वाले रूप भी: महारा, महारउ—केर जैसे रूपों से उत्तमपुरुष एक० तथा मध्य० एक० के साथ संलग्न—ऐर—का विकास सम्भव है। प्राकृत में मेर (<+ म—केर) मेरि (<+ म—केरि)। ऐसे ही लिंग वचन प्रत्यय से युक्त होकर हिन्दी में मेरा, तेरा, मेरे, तेरे, मेरी, तेरी रूप गठित हुए हैं। मह—, तुह के साथ केर का सम्बन्ध वाचक में प्रयोग अपभ्रंश में प्रचलित था।[1]

[1] तगारे § १३१।

१५

हिन्दी क्रिया

१५. ०. संस्कृत का क्रिया—विधान अत्यंत जटिल, रूप-बहुल तथा संश्लिष्ट था। मभाआ और नभाआ भाषाओं की क्रियाओं का इतिहास ध्वन्यात्मक, और रूपात्मक सरलीकरण और विकास का इतिहास है। अन्य व्याकरणिक शाखाओं की अपेक्षा इस शाखा में विशेष विकास हुआ। बीम्स ने क्रिया के ७०२ रूप माने हैं (६ प्रयोग × १३ काल (Tenses) × ९ पुरुष = ७०२)[१] फिर भी समस्त के रूप समान नहीं हैं। १० धातु—गणों के रूप अलग अलग चलते थे। इस प्रकार का क्रिया विधान पूर्ण अवश्य था, पर अत्यन्त जटिल था। इस जटिल में ही भावी सरलीकरण के विकास-बीज सन्निहित हैं।

पालि में द्विवचन की समाप्ति हो गई, इससे रूपों की संख्या कुछ कम हुई। कर्मवाच्य क्रिया — रूप, कर्तृवाच्य के रूपों के समान घटित होने लगे। कुछ गाथा-रूपों तथा अन्य रूढ़ काव्य—ग्रन्थों में पुराने रूप भी अवश्य चलते रहे, पर ह्रास की प्रवृत्ति सर्वत्र दीखती थी। पूर्ण (Perfect) का बिल्कुल लोप हो गया पालि में। शर्तिया (Conditional) रूप बना रहा। संस्कृत के १० क्रिया-रूपों से चौथा, छटवाँ, तथा दसवाँ परस्पर भिन्नता को छोड़ कर, एकरूप होने लगे। शेष पाँच में भी एकता के लक्षण दीखने लगे। भू वाले रूप सबको प्रभावित करने लगे। कालों में वर्तमान मुख्य हो गया। इसकी परम्परा आगे भी चलती रही। कालों (Tenses) की संख्या ८ रह गई। इन उदाहरणों से सरलीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती हैं।

प्राकृतों में भी यह क्रम चलता रहा।[२] ध्वनि परिवर्तन के अनुसार अ—वर्ग ही मुख्य होता रहा। फलतः रूपवाली इसी के समान बनने लगी। धातु-गण प्रायः समाप्त हो गये। आत्मने पद, कृदन्त (Participle) में घटित होने लगा। कुछ अवशेष कुछ प्राकृत बोलियों में मिलते हैं। कालों में भी और विकास हुआ: पूर्णभूत समाप्त हो गया। हेतु हेतु मद भूत पूर्णतः लुप्त हो गया। इन कालों की रचना कृदन्तों में सहायक क्रियाएँ अस् और भू जोड़ कर बना लिए जाते थे। इस प्रकार विश्लेषण की प्रवृत्ति दृढ़ होती दीखती है। द्विवचन फिर जीवित न हो सका। समाप्ति सूचक चिह्न साधारणतः संस्कृत से मिलते-जुलते ही रहे। अन्य सब कालों की अपेक्षा वर्तमान काल के मूल शब्दों का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। इनसे नामधातु (क्रियात्मक संज्ञा) और कर्मवाच्य के रूप बनाए जा सकते हैं।

---

[१] बीम्स, vol III, पृ० ४

[२] पिशल, § ४५२

अपभ्रंश[1] में विकास और अधिक हुआ। मभाआ और नभाआ क्रिया रूपों के बीच की कड़ी का कार्य अपभ्रंश के क्रिया-रूप करते हैं। प्राचीन रूढ़ रूपों के कुछ अवशेष अवश्य मिल जाते हैं। ये रूप या ता प्राकृतों के माध्यम से या अर्द्धमागधी के प्रभाव से आये हैं। क्रिया-रूपों का स्थान नाम-धातुओं के रूपों को मिलने लगा। वैसे यह प्रवृत्ति पहले भी थी। इस प्रकार अपभ्रंश का समस्त विधान मुख्यतः दो स्तम्भों पर खड़ा दीखता है:

(१) क्रिया-समूह संस्कृत के वर्तमान (Present indicative) के रूप पर आधारित होने लगे (कुछ कुछ भविष्य और आज्ञावाचक के रूपों का प्रभाव भी रहा) और

(२) क्रिया विधान पर आधारित नामधातु रूपों की बहुलता। नव्य भारतीय भाषाओं की स्थिति भी लगभग इसी प्रकार की है। अपभ्रंश में धातुएँ या तो अकर्मक होती थीं या सकर्मक। साथ ही धातुओं को साधारण और प्रेरणार्थक रूपों में भी विभक्त किया जा सकता है। क्रिया के मूलांशों के मूल स्रोत ये हैं: वर्तमान कर्तृवाच्य रूप, वर्तमान कर्मवाच्य रूप, भूत (कर्मवाच्य) कृदन्त, तथा ध्वन्यात्मक Onomato poeic) रूप। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं: वर्तमान कर्तृवाच्य से—करइ—(* करति=करोति) हणइ (* हनति=हन्ति) आदि। वर्तमान कर्म वाच्य से—य वाले रूप—उप्पज्जइ (—उत्पद्य) बुज्झइ (बुध्य)। भूत (कर्म वाच्य) कृदन्त से—मुक्कइ (* भुक्य=मुक्त) पइट्ठइ (प्रविष्ट)। ध्वन्यात्मक: जैसे गुलगुलइ पुप्फुवइ। नभाआ भाषाओं में भी इस धातु परम्परा का प्रचलन बहुधा मिलता है। अपभ्रंश में विश्लेषणात्मक सरलीकरण की प्रवृत्ति चलती रही। पालि और प्राकृतों में संश्लिष्टावस्था से पूर्ण मुक्ति नहीं मिली थीं; उसकी प्राप्ति की साधना अपभ्रंश में सबल हो गई।

नभाआ भाषाओं में क्रिया रूप और भी सरल हो गये। विश्लेषण और सरलीकरण बहुत अधिक आया। हिन्दी क्रियाओं का रूप बहुत सरल है, इस बात को विद्वानों ने स्वीकार किया है[2]। इस अध्याय में हिन्दी-धातुओं, सहायक क्रियाओं, कृदन्त, काल रचना, वाच्य, प्रेरणार्थक धातुओं, नामधातु और संयुक्त क्रियाओं के रूप और उनके विकास-क्रम पर विचार किया गया है।

१५.१. धातु—आधुनिक भाषाओं की क्रिया की रूप-प्रणाली यद्यपि उनकी निजी प्रणाली है, पर कुछ ऐसे अंश अवशिष्ट हैं जो प्राचीन क्रियाओं से अपने

---

[1] तगारे, अध्याय ३, ह १३२

[2] 'The Hindi verb is very simple. There is but one conjugation and all verbs whatever, both in High Hindi, and in local lects, take the regular terminations belonging to several ten Kellog, § 382.

ऐतिहासिक संबंध को सिद्ध करते रहते हैं। हिन्दी धातु पुरुष, काल, आदि के अनुसार रूप ग्रहण करने पर अविकृत बनी रहती है : बोली, बोल, बोलो, बोलता, बोला, बोलेगा आदि में √बोल् अविकारी रूप से प्राप्त होता है। इस नियम के एकाध अपवाद भी हैं : √जा—का भूत० कृ० में गया होता है।

१५.१.१. **धातुओं की संख्या** में प्रभाआ से नभाआ तक कमी होती गई है। वैयाकरणों ने संस्कृत में लगभग २००० धातुएँ मानी हैं। इनमें से २०० के लगभग तो वेद-ब्राह्मण साहित्य तक सीमित हैं : संस्कृत में उनका प्रयोग नहीं मिलता। कुछ ऐसी धातुएँ हैं जो वैदिक साहित्य और संस्कृत दोनों में प्रयुक्त रहीं। १०० धातुओं के लगभग ऐसी भी हैं जो केवल संस्कृत में ही मिलती हैं। इस प्रगति-क्रम से इतना स्पष्ट हो जाता है कि विकास के युगों के साथ कुछ पुरानी धातुएँ मिलती भी जाती हैं और विभिन्न स्रोतों से कुछ नवीन धातुएँ आती भी जाती है। इस नियम के अनुसार मभाआ-काल तक आते आते संस्कृत की अनेक धातुएँ प्रयोग से उठ गईं कुछ संस्कृत धातुओं में परिवर्तन हुआ : प्राचीन संस्कृत क्रिया रूपों से कुछ प्राकृत धातुएँ व्युत्पन्न हुईं : कुछ नवीन धातुएँ भी प्रवेश पा गईं। हिन्दी धातुओं की एक सूची हार्नले ने प्रकाशित की थी।[1] इसमें ३६६ मूल तथा १६६ यौगिक धातुओं की गणना की गई है। इनके अतिरिक्त कुछ विदेशी स्रोतों से आगत धातुएँ भी होंगी। हिन्दी धातुओं के स्रोत मुख्यतः प्राभाआ-मभाआ में हैं।

१५.१.२. **हिन्दी धातुओं का स्रोत और वर्गीकरण**—हिन्दी की कुछ धातुओं का संबंध संस्कृत की धातुओं से है : इनमें विकरण अवश्य हुआ है जैसे √ कर्— (√कृ—)। पर अधिकांश हिन्दी धातुएँ शुद्ध संस्कृत धातुओं से विकसित नहीं हुई हैं : उनकी उत्पत्ति उनके परिवर्तितः रूपों से हुई हैं। परिवर्तित रूपों में वर्तमान के रूप अधिक उर्वर रहे। जिन धातुओं का मूल रूप कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ संस्कृत धातुओं में मिल जाता है उन्हें मूल या अयौगिक (Primary) तथा जिन धातुओं का संबंध संस्कृत शब्दों से है उन्हें यौगिक (Secondary) धातु कहा जाता है जैसे हि० √पैठ का संबंध संस्कृत प्रविष्ट से है।

हिन्दी की कुछ धातुएँ ऐसी हैं जिनमें कोई ध्वन्यात्मक परिवर्तन नहीं हुआ : जैसे √चल—। पर ऐसी धातुओं की संख्या अत्यल्प है। अधिकांश हिन्दी धातुएँ किसी-न-किसी रूप में ध्वन्यात्मक परिवर्तन करती हुई विकसित हुई हैं। उनके परिवर्तन की सात दिशाओं का उल्लेख हार्नले ने किया है।[2]

---

[1] यह सबसे पहले जर्नल आव दि एशियाटिक सोसायटी आव बैंगाल, (१८८०) भाग १ में प्रकाशित हुई थी। 'पीछे 'भारतीय साहित्य' [हिन्दी विद्यापीठ, आगरा के तृतीय अंक [जुलाई, १९५६] तथा चतुर्थ अंक [अक्टूबर, १३५६] में छपी है।

[2] भारतीय साहित्य, जुलाई १९५६, पृ ०८६

(क) ध्वनि संबंधी व्यतिहार : व्यंजन का लोप या उसका मृदुलीकरण अथवा उसके समकक्षी स्वर का संकोच आदि । सं० खाद>हि० √खा—।

(ख) वर्गीय प्रत्यय (Class Suffix) का योग। संस्कृत में प्रत्ययधातु और पुरुषवाचक के मध्य में रहता है। इसी आधार पर संस्कृत—धातुओं को दस वर्गों में विभाजित किया जाता है। हिन्दी में प्रत्यय धातु से साथ संलग्न रहते हैं।

(ग) प्रेरणार्थक प्रत्यय 'य' का योग।

(घ) धातुओं का वर्ग परिवर्तन। संस्कृत में दस-गणों में से छठवें वर्ग की धातुएँ सबसे सरल हैं। उनमें कोई आन्तरिक विकार उत्पन्न नहीं होता : केवल -अ प्रत्यय का योग होता है। हिन्दी में प्रायः सभी वर्गों की धातुएँ, छठवें वर्ग की धातुओं के रूप में ढल गई हैं। यह प्रक्रिया छठवें वर्ग के प्रत्यय को अन्य वर्गीय प्रत्ययों के स्थान पर रख देने अथवा अन्य वर्गीय प्रत्ययों को 'अ' में परिवर्तित करने से होता है।

(ङ) वाच्य परिवर्तन: हिन्दी की कुछ धातुएँ संस्कृत के कर्मवाच्य रूपों से विकसित हुई हैं। प्राभाआ कर्मवाच्य>मभाआ, नभाआ कर्तृवाच्य: अभ्यज्यते>अब्भंगइ>भीगे, तप्यते>तप्पइ>तपे (√तप—)

(च) काल परिवर्तन: संस्कृतधातुओं के भविष्यत् रूपों से हिन्दी की कुछ धातुओं का विकास हुआ है। सं० भविष्यत्>मभाआ, नभाआ वर्तमान।

(छ) ध्वन्यात्मक प्रत्यय 'अपि' का योग प्रेरणार्थक धातुओं के साथ। यह नियम अपवाद रहित है।

इस प्रकार हार्नले ने हिन्दी की मूल धातुओं के सात वर्गों में विभक्त किया है। डा० चटर्जी ने हिन्दी धातुओं के निम्नलिखित चार वर्ग निश्चित किये हैं—

(१) तद्भव मूल धातुएँ।

(२) संस्कृत के प्रेरणार्थक रूपों से आगत धातुएँ।

(३) तत्सम या अर्द्धतत्सम धातुएँ, जो आधुनिक काल की साहित्यिक भाषाओं में संस्कृत से आगत हैं। √गरज (<√गर्ज-) √तज्-(<√त्यज्-); √रच्<√रच्-।

(४) सन्दिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएँ : √टोह्—, √टोक्—, √ठोक्; √फटक्— √लोट्—, √लड़—, √सान्—(ना)

यौगिक धातुओं की व्युत्पत्ति संस्कृत धातुओं से नहीं हुई है। संस्कृत के विभिन्न रूपों से इनका विकास हुआ है। कुछ ऐसी भी हैं जो आधुनिककाल में बनाली गई हैं। बीम्स ने यौगिक धातुओं के तीन विभाग किये हैं।[१]

अ—संस्कृत की उत्—, नि—, प्र—, तथा सं—, उपसर्गों से युक्त धातुओं से उत्पन्न हिन्दी धातुएँ : √उतर्—०, √उपज—(उत् पद्यते) √निकल्- √पसर्—, संकोच—।

[१] बीम्स, vol iii, पृ० २६

आ—संस्कृत की प्रत्यय से युक्त धातुओं से उत्पन्न हिन्दी धातुएँ : जैसे √सरक्—<सं-सर—क्र इसी प्रकार √गटक—√ फड़क—आदि।

इ—ध्वन्यात्मक :√फूँक—,√फड़फड़ा —।

इस सूची में नामधातु और जुड़नी चाहिए। ये धातुएं संज्ञाओं को धातु रूप में ग्रहण करने से बनती हैं √जन—>सं जन्म। संज्ञाएँ या तो सत्ववाची (Substantive) होती हैं या कृदन्त। इस वर्गीकरण के अतिरिक्त भी कुछ धातुएँ ऐसी बच जाती हैं जिनकी व्युत्पत्ति का स्रोत ठीक प्रकार से ज्ञात नहीं होता जैसे √ढो-(ढोना)√लौट—(वापस होना)।

यौमिक धातुओं में णिजन्त प्रेरणार्थक रूपों से विकसित होने वाली धातुएँ पर्याप्त हैं। मभाआ-काल में इनका प्रेरणा-भाव तत्त्व लुप्त हो गया था। हिन्दी में भी प्रेरणा का भाव नहीं मिलता : ये सकर्मक हैं। सं०√मृ—मरना' का प्रेरणार्थक मारयति है। हिन्दी में√मार्—सकर्मक है।

संज्ञापद तथा क्रियामूलक विशेषण जब क्रियापद-रचना-प्रक्रिया में धातुवत् प्रयुक्त होते हैं, तो नामधातु की संज्ञा ग्रहण करते हैं। इस रचना-प्रणाली का प्रचलन काफी था। मभाआ-काल में संस्कृत के भूत० कृद० रूपों से भी अनेक नामधातुएँ निष्पन्न हुईं : उपविष्ट>प्रा० बइट्ठइ>हि०√बैठ—'बैठना'; सं० कृष्ट>प्रा० कड्ढइ—>हि०√काढ़—'निकालना'; सं० पिष्ट 'पीसा हुआ'>प्रा० पिट्टइ>हि० पीटना। हिन्दी में—आ का संयोग संज्ञा या विशेषण के साथ करके भी नामधातुएँ बनाई जाती हैं : शर्म—√शर्मा—'शर्माना', गर्म—√गर्मा—'गरमाना।' यह—आ प्रत्यय<प्राभाआ—आय। संस्कृत के कुछ संज्ञा तथा विशेषणों के तत्सम अथवा अर्द्धतत्सम रूपों से भी हिन्दी नामधातुएँ बनी हैं : √बकुला-(ना) सं० आकुल;√अलाप्—<सं० आलाप;√लुभा—<सं० लोभ-।

हिन्दी में कुछ मिश्रित अथवा प्रत्ययुक्त धातुएँ हैं। इनमें से कुछ के अन्त में -क आता है। इस -क की उत्पत्ति सं० -क्र से हुई है। जैसे √ अटक्- (< मभाआ अट्टो, अट्ट < सं० आर्त-क्र) √ चूक्- (मभाआ * चुक्क < सं० च्युत्+ √ क्र) कुछ धातुओं के अन्त में -ट या -ड़ भी मिलता है। इसकी उत्पत्ति प्रभाआ -वृत्त से है : हि० धातु+ट् < सं० √ वृत्त (मभाआ- वट्ट) √ घिसट् - < सं० घर्ष+वृत्त √ - झपट - < सं० झम्प - वृत्त। -ड़ का सम्बन्ध सं० - त् से ही है : √ पछाड़ - < मभाआ पच्छाड़ - प्राभाआ पश्चात्। कुछ धातुओं के अन्त में - ल है। जैसे √ टहल्।

ध्वन्यात्मक धातुएँ प्रभाआ में कम थीं। मभाआ - काल में इनकी संख्या अधिक हो गई थीं। इन धातुओं को देशी धातुओं में गिना गया है। संस्कृत के ध्वन्यात्मक शब्दों से भी मभाआ में कुछ धातुएँ बनी हैं : √ झंकारेइ (< सं० झंकार गुंजइ (< सं० गुंजन) संस्कृत के द्वित्व ध्वन्यात्मक क्रिया पदों के उदाहरण खट-खटायते, फरफरायते। हिन्दी में साधारण ध्वन्यात्मक धातुएँ भी हैं : √ फूँक- <

प्रा० फुक्कइ < सं० फूत्करोति; √ छींक < प्रा० छिक्कन्त < सं० छिक्का। द्वित्व ध्वन्यात्मक धातुएँ ये हैं √ खटखटा, √ झनझना। पुनरुक्त ध्वन्यात्मक धातुएं इस प्रकार की हैं : √ टनटना -, √ धुकधुका -। अपूर्ण पुनरुक्त धातुओं में दो धातुओं का या शब्दों का योग रहता है : √ हड़बड़ा -, √ सकपका।

१५. २ हिन्दी क्रियाओं की रूप रचना—हिन्दी की कुछ क्रियाएँ धातुओं में कुछ विकार उत्पन्न करके, उनके साथ कुछ प्रत्ययों का संयोग करके तथा सहायक क्रियाओं के योग से रूप ग्रहण करती हैं। इन सभी प्रणालियों पर नीचे विचार किया गया है।

१५. २ १ आन्तरिक विकार द्वारा परिवर्तन—मूल एकाक्षरात्मक धातुओं के मूलह्रस्व स्वर को दीर्घ करके तथा द्वयक्षरात्मक धातुओं के द्वितीय ह्रस्व स्वर को दीर्घ करके अकर्मक धातुओं को सकमर्क बनाया जाता है। इससे कर्मवाच्य धातु भाववाच्य भी हो जाती है। उदाहरण—

-अ > -आ	: √ फट् -	से √ फाड़-	(फाड़ना)
	: √ कट् -	से √ काट्-	(काटना)
-उ - > - ओ	: √ खुल् -	से √ खोल्-	(खोलना)
-उ - > - ऊ	: √ फुक	से √ फूँक-	(फूकना, फुकना)
-ई - > - ए-	: √ घिर -	से √ घेर -	(घेरना)
-इ - > - ई	: √ पिस् -	से √ पीस् -	(पीसना)

एक और परिवर्तन होता है : उच्चस्वर - ई निम्न स्वर -ए- में तथा -ऊ- -ओ- में परिवर्तित हो जाता है—

-ई - > - ए-	: √ दीख -	से √ देख -	(देखना)
-ऊ - > - ओ-	: √ छूट -	से √ छोड़ -	(छोड़ना)

इसी प्रकार द्वयक्षरात्क धातुओं में भी परिवर्तन हो जाता है : √ निकल्- से √ निकाल् -, √ बिगड़ से √ बिगाड़ आदि।

इस प्रणाली का संबंध प्राभाआ मभाआ प्रेरणार्थकरूपों से है। कहीं की 'वृद्धि' क्रिया को प्रेरणार्थक बना देती थी। अपभ्रंशों में -अव, - अव (प्रभाआ-पय, पालि-पय, -पे) आदि प्रेरणार्थक हैं। प्रभाआ के प्रेरणार्थक के प्रभाव से मूल धातु के -अ- की वृद्धि भी मिलती है और -इ-, -उ-, का गुण भी। अप० भेसावइ (भी-) प्रभाआ भीषयति; लेहाविय (लिख्) आदि। आधुनिक भाषाओं में यह प्रवृत्ति ही विकसित होकर आई है: मर - मरई - मारइ; ढल् - ढलइ - ढालइ आदि।

१५.२.२. प्रत्ययों के योग द्वारा क्रिया की रूप रचना—

क—प्रेरणार्थक—प्रेरणार्थक के विकास की एक दिशा पीछे देखी जा चुकी है (१४.२.१)। हिन्दी में दो प्रेरणार्थक प्रत्यय मिलते हैं : प्रथम प्रेरणार्थक {—आ}, तथा द्वितीय प्रेरणार्थक {—वा} इन दोनों का संयोग मूल धातुओं के साथ होता है : √उठ—से √उठा—, √उठवा—। वैज्ञानिक दृष्टि से तो प्रथम का संयोग

मूल धातु के साथ होता है और दूसरों का संयोग प्रथम प्रेरणार्थक से युक्त धातु के साथ। इस संयोग से पूर्व प्रथम प्रेरणार्थक—आ ह्रस्व—अ हो जाता है। इनमें से प्रथम प्रेरणार्थक का योग जब अकर्मक धातुओं के साथ होता है तो धातु को सकर्मकता प्राप्त होती है। इस सकर्मक धातु के साथ —वा— का योग करके इसको यथार्थतः प्रेरणार्थक बनाया जाता है।

दीर्घस्वर-युक्त एकाक्षरीय धातुओं में प्रेरणार्थक प्रत्यय के युक्त होने पर धातु ह्रस्व स्वर वाली हो जाती है और ह्रस्वीकृत स्वर और प्रेरणार्थक प्रत्यय के बीच ल —का आगम हो जाता है। उदाहरण—

—ई >—इ+ल—: √पी से √पिला—'पिलाना' तथा √पिलवा 'पिलवाना'

—ए >—इ+ल—: √दे से √दिला—या √दिलवा—'दिलाना' 'दिलवाना'

—आ >—इ+—ल—: √खा—से √खिला—तथा √खिलवा—'खिलवाना

—ओ >—उ+—ल—: √सो—से √सुला—तथा √सुलवा—'सुलवाना'

कुछ अन्य धातुओं में भी यह नियम लागू होता है। दीर्घ स्वर युक्त एकाक्षरीय व्यंजनान्त धातुओं में भी इसी प्रकार का परिवर्तन होता है—√ बैठ—से बिठाना, बिठलाला—; √सीख—से सिखाना, सिखलाना; √ देख्—से दिखाना, दिखलाना; आदि।—आ के योग से सभी दीर्घ-स्वर युक्त एकाक्षरीय धातुएँ ह्रस्वीकृत हो जाती हैं, पर—ल—का आगम सभी में नहीं होता। √घूम—से√ घुमा तथा √ घुमवा—पर—ऐ तथा— औ स्वरों से युक्त धातुओं के साथ प्रेरणार्थक प्रत्यय का योग करने से भी ये स्वर अविकृत रहते हैं: √ तैर—'तैरना' से √ तैरा—'तैराना' तथा √ तैर—'तैरवाना'।

द्वियक्षरीय धातुओं में ह्रस्वस्वर ही होते हैं, अतः कोई परिवर्तन नहीं होता: √ चमक—'चमकना' से √ चमका—'चमकाना' तथा √ चमकवा 'चमकवाना'; √पकड़— से √ पकड़ा—तथा √ पकड़वा—'पकड़वाना'। पर—आ के योग से द्वितीय ह्रस्व भी अत्यन्त शिथिल हो जाता है तथा उसका उच्चारण—अ् जैसा हो जाता है: [चम्काना]

प्रेरणार्थक पत्यय के योग से मूल धातु में भी विकलता आ जाती है :—ट> —ड़ : √ फूट्—से √ फोड़—; √ फट्—से √ फड़वा—; √ छूट—से √ छोड़—, √ टूट—से √ तुड़वा—। इसी प्रकार—क्—>—च—: √. बिक—से √ बेच—;—ह्—>—ख—: √ रह्—से √रख्—।

कुछ क्रियाओं के साथ संयुक्त होने पर स्वयं प्रेरणार्थक भी विकृत हो जाता है :—आ के स्थान पर—ओ का प्रयोग होता है : √ डूब्—से √ डुबो—'डुबोना' √ भीग्—से √ भिगो—'भिगोना'

संस्कृत में प्रेरणार्थक (णिजंत) रूप रचना के लिये धातु में -अय- का योग किया जाता था : √ कृ- से कारयति। इसके साथ ही कुछ स्वरान्त धातुओं में -पय का योग भी होता था : √ दा से दापयति √ गै-से गापयति। पालि में -अय- <

- ए- की प्रवृत्ति मिलती है : पापेति < पापयति, सं० संदेति < स्यंदयति, दस्सेति < दर्शयति, कप्पेति; < कल्पयति । -अ- वाली धातुओं में या तो -अ- दीर्घ हो जाता था (वादेति < वादयति) अथवा -अ- ह्रस्व ही रहा आता था (गमेति < गमयति) । स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति हिन्दी में भी है (१४. २. १) । -पय- > -पे- की प्रवृत्ति भी मिलती है, पर -प- सुरक्षित दीखता है : दापेति < दापयति; मापेति < मापयति 'नपवाता है ।' पालि का -अप- (अपय) पश्चिमी अपभ्रंशों में -अव-, तथा पूर्वी में -अब- हो गया (-प - > -व्-) जैसे दावइ (✓ दा-) ठावइ (ठा-स्था) विण्णवइ (विज्ञा-), चिंतवइ (✓ चिंत) । कभी कभी -आव- का प्रयोग मूल धातु के साथ भी होता है : णच्चावइ (नृत्य=नृत्-) बोल्लावइ (बोल्ल) । इस प्रकार हिन्दी के -आ- तथा -वा- वाले रूपों का संस्कृत से नियमित रूप से विकास हुआ है ।

अपभ्रंशों में कुछ -आड, -आड़ तथा आल वाले रूप भी मिलते हैं । गुजराती के -आड तथा -आर वाले रूपों का संबंध इनसे है : भमाडइ (भ्रम-) गु० भमाडवूँ । -आल से हिन्दी के -ल- वाले रूपों का संबंध भी स्पष्ट है : देक्खा लइ (* दृक्ष) हि० दिखलाना । संक्षेप में प्रेरणार्थक के विकास ये हैं : स्वर का गुण रूप तथा -अ- का वृद्ध रूप : ✓ मर - मरइ-मारइ हि० ✓ मार । -आ-, वाले रूप : पकना, पकाना सुखना - सुखाना । दुहरे प्रेरणार्थ में -आव- अप० ✓ लिहक्क - लिहक्कावइ हि० लिखवाना -आल वाले रूप । -वा- प्रत्यय की व्युत्पत्ति द्विगणित-णिच-प्रत्यय - आप+आवाप > - वा- है । संस्कृत में -आप- का प्रयोग आकारान्त धातुओं के साथ होता था : ✓ स्ना-स्नापयति । प्राकृतों की स्थिति में अन्य धातुओं के साथ भी यह प्रयुक्त होने लगा । -ल- के आगम के संबंध में केलॉग ने लिखा है:[1] संस्कृत में ✓पा 'पालन के साथ -प- के स्थान पर प्रेरणार्थक प्रत्यय से पूर्व -ल- का आगम होता था : पालय । प्राकृतों में सम्भवतः यह लोकप्रिय हो गया । हिन्दी में बहुधा स्वरान्त धातुओं के साथ यह प्रयुक्त होने लगा है ।

(ख) क्रियार्तक संज्ञा (infinitive) धातुओं और उनके प्रेरणार्थक प्रत्यय युक्त रूपों के साथ प्रत्यय ना का योग करके क्रियार्थक-संज्ञा की रचना की जाती है । तिर्यक रूप ने से युक्त मिलता है । ब्रजभाषा में-बौ का प्रयोग इस रूप-रचना में होता है जैसे जाइबौ, आइबौ । ब्रजभाषा में—नौं भी मिलता है । हार्नली के अनुसार इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत भविष्यत् कृद० नपु० के दो रूपों से हुई है : न वाले रूप—अनीय तथा ब-वाले रूप तव्य से सम्बन्धित हैं ।[2] इसके तीन प्रयोग हैं : संज्ञा के रूप में, विशेषण के रूप में । संस्कृत में भी इसका प्रयोग लगभग इन्हीं रूपों में होता था ।[3] प्राकृत

[1] केलॉग ६०६
[2] हार्नली § ३१३,३१४, ३२१
Monier-williams Skr Grammar 902, 905, 908

वैयाकरणों ने–एवं,–अण,–अणहं,–अणहिं तथा रगप्पि,–एप्पि,–एप्पिणु,–एवि,–एविणु पवि,–एविणू क्रियार्थक संज्ञा के प्रत्यय थे।[1] प्राकृतों में पिशेल के अनुसार ये प्रत्यय थे:[2] ईउं,—एउं, (वे) उं, उं <प्राभाआ–तुम्। अपभ्रंश-साहित्य में -अण वाले क्रियार्थक संज्ञा रूप मिलते हैं (-अण, -अणु-, -अणहं -अणहिं। पश्चिमी अपभ्रंशों में यही सबसे अधिक प्रचलित प्रत्यय् था। तगारे ने इसका संबंध प्राभाआ क्रिया-संज्ञा (Action noun) कर्त्ता एक० से जोड़ा है: सं० -अणम् के ये समान है; (करणम् < ✓ कर-)।[3] ये रूप पहले पश्चिमी अपभ्रंश में प्रयुक्त हुए। नभाआ में भी ये चले आये: रांज० -नो, -नु, हिन्दी -ना, ब्रज० -नौं, सिन्धी -नु, पंजा० -णा, -ना। यही व्युत्पत्ति-क्रम अधिक ठीक दीखता है। -एव- वाले रूपों की व्युत्पत्ति *तव्यकम् से मानी जाती है।[4] इस प्रकार करणीयम् > अप० प्रा० करणहं > ब्र० करनौं, कनौजी-करनौं या करनो, हिन्दी-करना, पूर्वी हिन्दी-करन। दूसरी ओर: स० कर्तव्यम् > प्रा० करिअत्वम्, करेअव्वम् > ब्र० करिबो, महा० करबो, पू० हि० करब। तिर्यक रूप (-ने) में -ऐ तिर्यक का चिह्न है।

(ग) आज्ञार्थक—धातु के साथ आज्ञार्थक प्रत्ययों का योग करके हिन्दी क्रिया के आज्ञार्थक रूप बनते हैं। रूप तालिका इस प्रकार है—

धातु + आज्ञा-प्रत्यय = आज्ञार्थक
चल् + [—ऊँ] = चलूँ (उत्तम० एक०)
+ (—ऐं) = चलें (उत्तम० बहु०)
+ (—अ) = चल (मध्यम० एक०)
+ (—ओ) = चलो (मध्यम० बहु०)
+ (—ए) = चले (अन्य० एक०)
+ (—एं) = चलें (अन्य० बहु०)

इससे यह स्पष्ट होता है कि उत्तम० बहु० तथा अन्य बहु० के रूप विकास क्रम में एक से हो गये हैं। इस प्रकार पुरुष वाचक भाव लुप्त हो गया है। अन्यों में पुरुष तथा वचन का भाव व्यक्त होता है। अन्य० एक०—अ, दीर्घ स्वरान्त धातुओं के साथ शून्य हो जाता है। जैसे जा, पी, सो आदि।—ऐं के स्थान पर दीर्घस्वरान्त धातुओं के साथ—वें का प्रयोग मिलता है: आवें, पीवें सोवें आदि। पर इनके प्रयोग में एक रूपता नहीं मिलती: ऐच्छिक रूप से–ऐं का भी होता है: आऐं आदि। इसी प्रकार—ए के स्थान पर भी वे का प्रयोग दीर्घस्वरान्तधातुओं के साथ किया जाता है: आवे, पीवे, सोवे आदि। हो-धातु के साथ अन्य० एक० में इस

---

१ हेमचन्द्र ४, ४६१
२ पिशेल § ५७३-५८
३ हिस्टारीकल ग्रा० ऑव अप०, § १५०
४ वही।

प्रत्यय का योग नहीं होता। मध्यम एक० की भांति 'हो' ही रहता है। ब्रजभाषा में अन्य० एक०—इ प्राप्त होता है : —ओ > —औ; ए > —ए।

इतिहास की दृष्टि से मध्य० एक० का रूप प्राभाआ के मध्य० एक० आज्ञार्थक रूप से व्युत्पन्न है। अन्यों का संबंध प्राभाआ के वर्तमान निर्देशक (Present indicative) से है। इन प्रत्ययों के विकास क्रम पर नीचे विचार किया जाता है।

(—ऊँ)—प्राभाआ के आमि (वर्त० निर्देशक० उत्तम० एक०) से इसका विकास हुआ है। पालि में भी आमि का प्रयोग रहा।[१] साहित्यिक प्राकृतों में—अमि तथा —ए में इसका विकास हुआ।[२] अपभ्रंश में—अमि और—अउँ का प्रयोग मिलता है। इनमें से—अउँ (—ऊँ,—ऊ) विशेष लोकप्रिय रहा।[३] प्रथम प्रत्यय समाप्त सा होने लगा। हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भाषाओं में—अउँ अथवा उसके विकसित रूप ही मिलते हैं। परिनिष्ठित हिन्दी में—ऊँ का ही प्रयोग होता है। पर—इ > —उँ की समस्या बनी रहती : यह कैसे हुआ। कुछ लोग इसका विकास—क्रम यों मानते हैं : प्रा० अमु > [illegible]—अवु > —अउँ। पर यह ठीक नहीं है। बीम्सने इसका कारण उत्तम० पु० एक तथा बहु० का व्यत्यय बताया है[४] : चलाम : (उत्तम० बहु०) > प्रा० चलामु > अप० चलउँ > हि० चलूँ (एक०)। एक और मत यह है कि उत्तम० कर्ता० एक० सार्वनामिक अन्त्य—अउँ का प्रभाव यह है (—हउँ)। इस प्रत्यय के साथ यह सार्वनामिक अंश लगा रह गया है। पश्चिमी अपभ्रंशों में इस —अउँ का प्रयोग अनुपाततः बहुत अधिक हो गया था। हिन्दी ने इसी को ग्रहण किया। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है : "ऐसा भी माना जाता है कि सं० चलामि से ही इकार के लोप होने और—म > ँ से हिन्दी चलूँ बना होगा," (पृ० ३००)

(—एँ)—यह उत्तम पुरुष बहुवचन है। संस्कृत में उत्तम० बहु० प्रत्यय—आमः था (चलाम)। पालि में —आंम मिलता है। साहित्यिक प्राकृतों में—आमो का प्रयोग है (—मः > —मो)। अप० में—अहुँ प्राप्त होता है, जिसके सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। हार्नली के अनुसार उत्तम० एक०—अउँ से अलग करने के लिए बहु—अउँ < प्रा०—अमु के साथ—ह—का योग करके—हउँ रूप बना है।[५] पिशेल ने इसकी व्युत्पत्ति को संदिग्ध मानते हुए कहा है कि अपा० बहु०—हुँ से इसकी समानता है।[६] तगारे ने एक और तर्क प्रस्तुत किया है : अप० में स्वर + —स्म— + स्वर = स्वर + —ह— + नासिक्य स्वर। इसके अनुसार प्राभाआ

[१] Geiger, $ १२०
[२] पिशल, $ ४५३-७
[३] तगारे, $ १३६
[४] बीम्स, भाग—३, $ ३३
[५] हार्नली, कम्पै० ग्रा० $ ४९७
[६] पिशेल, $ ४५५

अस्मक (उत्तम० सर्वनाम बहु० कर्ता०) > अहुं।[१] इससे -ह्-की व्युत्पत्ति सिद्ध होती है। अनुनासिक उत्तम० एक०-अउँ के प्रभाव से माना जाता है। आधुनिक भाषाओं में मराठी—ओ, ऊँ, सिन्धी—ऊँ, नेपा०—(अ) उँ, मैथिली, बंगाली—ओं इसी स्रोत से आये हैं। हिन्दी में—ऐं मिलता है। बीम्स ने एक० तथा बहु० में व्यत्यय बताया है। इससे चलामि > चलाइँ > चलैं रूप बने हैं। यह ऊपर—ऊँ के विकास में देखा जा चुका है। इस प्रकार इसका रूप अन्य० बहु० के समान हो गया है।

—(अ ∞ ●)—मध्य० एक० आज्ञावाचक है। प्राकृतों में इसके रूप ये मिलते हैं: शून्य (या—अ), —(अ-, ए-) सु, एहि, अर्द्ध० माग०—आहि।[२] अपभ्रंश में इस प्रत्यय की विविधता मिलती है। पर मुख्यतः शून्य, (या—अ)-अहु, —अहु मिलते हैं।[३] वैसे-अहि रूप भी मिलता है। ब्रजभाषा में चलि जैसे रूपों के-इ का सम्बन्ध < इसी-अहि < —धि (कुधि) से है। इस प्रकार —उ वाले प्रत्यय की समाप्ति हो गई।—अहु वाले रूप अपभ्रंश में पीछे आये। इसकी व्युत्पत्ति वर्त० निर्देशक मध्य० बहु० प्राभाआ—(अ) थ से है। इस प्रकार का वचन और वर्त० निर्देशक तथा आज्ञावाचक का व्यत्यय अपभ्रंश में बहुत मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश में —अह,—अहु,—अहि,—उ,—अहि,—शून्य, तथा—स्स मिलते हैं। हिन्दी में शून्य का प्रयोग दीर्घ स्वरान्त धातुओं के साथ होता है और—अ का व्यंजनान्त धातुओं के साथ होता है। यह—अ भी अत्यन्त शिथिल (अ ?) है। चल < मभाआ चल < प्राभाआ चल (मध्य० एक० वर्त० आज्ञार्थक प्रकार)

(—ओ) मध्यम० बहु० आज्ञार्थक प्रकार का चिह्न है। पालि में —अथ (< प्राभाआ—अथ) मिलता है। प्राकृतों में—अह,—अध,—अथ जैसे रूप मिलते हैं[४]। अप० में-अहँ,—अह, तथा -अहु रूप मिलते हैं। ग्रे (L. H. Gray) के अनुसार वर्त० मध्य० बहु० *—थस् (उत्तम० बहु०—मस् की अनुरूपता पर) से इसका सम्बन्ध है, नकि सामान्य—(अ) थ > —अह से।[५] हिन्दी रूप का विकास क्रम इस प्रकार रहा: चलथ या *चलथस > मभाआ चलहु, चलउ > चलो। अन्य नभाआ भाषाओं के रूप भी ऐसे ही हैं: मराठी—आ,-आँ, सिन्धी—ओ, लहँदी—ओ, मारवाड़ी-ओ, अवधी—उ, (अउ, अहु भी) ब्र०—अहु या औ।

(—ए) अन्य० एक० आज्ञार्थक है। इसकी उत्पत्ति सं०-अति से है। पालि में इसका अपरिवर्तित रूप—अति ही रहा। प्राकृतों में दो रूप मिलते हैं:—अदि,

१ तगारे § १३६
२ पिशल § ४६७
३ तगारे, § १३८
४ पिशेल, § ४५३-७
५ BSOS, VIII, ii-iii, P.567 > Bulletin of the oriental studies, London,

अदे वाले रूप जिनमें प्राचीनता बनी हुई, तथा—अइ,—अए वाले रूप। पश्चिमी अपभ्रंश में—दि वाले रूप भी विकसित हुए (ब्रुवदि) तथा—अए वाले रूप भी (चिन्तए) —अए- > -ए-के द्वारा हिन्दी प्रत्यय व्युत्पन्न हुआ।

(—एँ) अन्य० बहु० आज्ञार्थक है। इसका सम्बन्ध सं०—अन्ति से माना जाता है। पालि में—अन्ति ही मिलता है। प्राकृतों में—अन्ति,—अन्ते जैसे रूप प्राप्त होते हैं। अपभ्रंशों में—अन्ति तो पुराने रूप का प्रचलन है तथा—अँहि नवीन विकसित रूप है। इसकी उत्पत्ति—अन्ति से सम्भव नहीं है। यह तो उत्तम पुरुष के रूपों के साथ अनुरूपता की प्रवृत्ति का परिणाम है—

उत्तम० एक०—अउँ : बहु०—अहुँ

अन्य० एक०—अइ : बहु०—अँहि

—ह—का सम्बन्ध मध्यम० बहु० के प्रभाव से हो सकता है। पश्चिमी अपभ्रंश में—अन्ति कुछ चला। गुजराती, हिन्दी और ब्रज के रूप अहि से विकसित हुए :—अँहि >—अइँ >—एँ। विकास-क्रम में उत्तम० बहु० तथा अन्य० बहु० के रूप समान हो गये। वैसे विकास क्रम यों रहा—

—अँहि >—अइँ —एँ उत्तम० बहु०

—अँहि >—अइँ >—एँ अन्य० बहु०

मराठी और कोंकणी के रूप-अन्ति से विकसित दीखते हैं।

हिन्दी में 'आप' सर्वनाम के साथ कीजिये जैसे रूप मिलते हैं। —इस—इज या—ईज का सम्बन्ध प्राभाआ के—या विधि—लिंग से मानी जाती है : कुर्यात, दद्यात। प्राभाआ-या-का मभाआ काल में—एय्य,—एज्ज रूप में विकास हुआ। इसके साथ निर्देशक प्रकार के प्रत्यय—इ (<-मि,-सि,-ति) का संयोग होने से मभाआ में किज्जिइ, या किज्जइ, पिज्जइ या दिज्जिइ रूप बने। इसीसे सरलीकरण और पूर्वस्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण की प्रवृत्ति के अनुसार कीजिये, दीजिये जैसे रूप व्युत्पन्न हुए।

इसको छोड़कर सभी आज्ञा रूपों का प्रयोग वर्तमान सम्भावनार्थ में भी होता है। वर्तमान निश्चयार्थ से वर्तमान सम्भावनार्थ में परिवर्तन आधुनिक है। ग्रियर्सन के अनुसार हिन्दी आज्ञार्थक रूप संस्कृत के वर्तमान काल के रूपों से तथा बीम्स के अनुसार संस्कृत के आज्ञार्थक रूपों से सम्बद्ध है। पर, जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है। इस पर दोनों का ही प्रभाव पड़ा है।

(घ) **वर्तमान कालिक कृदन्त**—हिन्दी में इसकी रूपावली इस प्रकार है—

क्रिया धातु + —त् + लिंग—वचन प्रत्यय

√जा— + —त्— + —आ— =जाता—(प्र० एक०)

—ए— =जाते—(प्र० बहु०)

—ई— =जाती—(स्त्री० एक०)

—ईं— =जातीं—(स्त्री० बहु०)

प्रयोग की दृष्टि से—त—के दो रूप मिलते हैं : —त्—तथा—अत्—[अत्] अत् का प्रयोग स्पष्टत: हकारान्त धातुओं के साथ सुन पडता है : रहता [रअहअत्आ] सामान्यत: दन्त्य व्यंजनों तथा-र,-ल,-स अन्तवाली धातुओं के अतिरिक्त अन्य समस्त व्यंजनान्त धातुओं के पश्चात-अत्-का ही प्रयोग होता है। इन परिस्थितियों के अतिरिक्त अन्य परिस्थितियों में -त् का ही प्रयोग होता है।

इस कृदन्त का प्रयोग विशेषण के रूप में होता है। गिरती दीवारें। बहुधा √ हो- के भूत० कालिक कृद० -हुआ, हुए, हुई का संयोग हो जाता है। दौड़ता हुआ गाती हुई लड़की आदि। साथ ही इसका प्रयोग संज्ञा के स्थान पर भी हो सकता है : मरता क्या न करता। भूत सम्भावनार्थ में भी इसका प्रयोग होता है। यदि इसके पहले आता भी है और नहीं भी आता है। यदि मैं जाता···,मैं जाता तो····। वर्तमान-कालिक क्रियाओं की रूप-रचना तथा अन्य रचनाओं में भी सहायक क्रिया के योग से इस कृदन्त का उपयोग किया जाता है। इन -त- वाले वर्त० कृद० का विस्तार प्राय: सभी हिन्दी बोलियों तक है। पुरानी राजस्थानी में भी यही रूप मिलते हैं।[१] प्राचीन अवधि में प्र० -अत- तथा स्त्री -अति-प्रयुक्त होते थे।[२] आधुनिक अवधि में -इति,-अती आदि मिलते हैं।[३] यदि और पूर्व की ओर चलें तो विद्यापति में भी -त- वाले प्रत्यय ही मिलते हैं।[४] गढ़वाली में -त,-द वाले रूप मिलते हैं।[५] इस प्रकार पश्चिमी तथा पूर्वी हिन्दी में यही प्रत्यय समान रूप से मिलता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन कृदन्त (शतृ) से इसका सम्बन्ध है। इस पर मतभेद नहीं है। मभाआ काल में भी -अन्त प्रत्ययान्त रूप मिलते हैं।[६] पालि में बसन्त, जीवन्त, खादन्त जैसे उदाहरणों में -अन्त्, या-अन्त का ही प्रयोग है।[७] अपभ्रंश में इसके रूप ये हैं।—अन्त, -अन्ति (स्त्री०) तथा माण। इसके साथ कहीं-कहीं -अउ या -अओ भी संयुक्त मिलते हैं। -अन्तउ, -अन्तओ आदि।[८] इस प्रत्यय का नभाआ तक अबाधित विकास हुआ है। —अन्त प्रत्यय हिन्दी के विद्यापति,[९] कबीर तथा तुलसी के काव्य मे भी मिल जाता है। पर अपभ्रंश-काल से इसके विघटन के चिन्ह

---

१ तेस्सितोरी, पुरानी राजस्थानी, [अनु० डा० नामवरसिंह] पृ० १४०

२-३ डा० बाबूराम सक्सेना, एवोल्यूशन आव अवधी, पृ० २३९

४ शिवप्रसादसिंह, कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० ६८

५ केलॉग, ३३९।

६ डा० सुकुमार सेन, Comparative Gr. of MIA पृ० १२२

७ Geiger, पृ० २१४, २१५

८ तगारे, पृ० १४७

९ कीर्तिलता २|१७२

२० ज्यों-ज्यों नर निधरका फिरे, त्यों-त्यों काल हसन्त :

२१ सन्त सुखी विचरन्त महा।

दीखने लगते हैं । दन्त्य अनुनासिक -न < — ँ की प्रवृत्ति व्रज की बोली के जाँत (जाते) रूप से सिद्ध होती है । पर अन्य बोलियों में निरनुनासिक रूप ही मिलते हैं । हिन्दी में भी अनुनासिक अंश समाप्त हो गया है । केलाग ने हिन्दी के रूप का विकास इस प्रकार माना है । सं० कर्ता प्र० एक० चलन (चलन से) > प्रा० चलन्त को (Augmented) > ब्र० चलतौ, हि० चलता ।

ङ—भूत कालिक कृदन्त—भूत कालिक कृदन्त की रचना धातु के साथ -आ, -ए -ई का योग करके की जाती है । वस्तुतः ये लिंग-वचन द्योतक विशेषण प्रत्यय हैं । व्रजभाषा तथा पुरानी हिन्दी में अधिकांश भूत० कृद० का -य- प्रत्यय मिलता है, जो—औ (पु० एक०) से युक्त होने पर अपना अस्तित्व बनाए रहता था, पर -ए (पु० बहु०) तथा -ई, -ईं (स्त्री० एक० तथा बहु०) प्रत्ययों से युक्त होने पर शून्य हो जाता था । चल्यौ, चले, चली तथा गयौ, गई आदि । साहित्य में प्रयुक्त पुरानी खड़ी बोली रूपों में -आ के साथ युक्त होने पर भी -य- बना रहता था । चल्या, देख्या, सुन्या जैसे रूप प्राप्य हैं । पर पीछे के विकास में व्यंजनान्त धातुओं के पश्चात प्रयुक्त होने पर -य- > -०- हो गया । चला, चले आदि । पर दीर्घ स्वरान्त धातुओं के साथ यह बना रहा । √ पा- से पाया; √ पी- से पिया, √ खो- से खोया । √ ले- से लिया । —ए तथा -ई से युक्त होने पर उक्त स्थिति में, उच्चारण से तो प्रायः -य- हट गया या केवल -य—श्रुति रूप में रह गया, गया । गए, गयी । गई, पर लिखने में -य- बना भी रहा । -यौ-से युक्त रूप राजस्थानी और व्रज की बोली में आज भी चलते हैं । मध्यकालीन हिन्दी कविता में तो सर्वत्र ही इसका प्रयोग मिलता है । बोलियों को सम्मिलित करके इसके तीन रूप प्राप्त होते हैं । ह्रस्व स्वर -अ, दीर्घ स्वर -आ,-ओ-औ, या -ए, तथा -ल वाला रूप ।[1] परिनिष्ठत हिन्दी में -आ ~ -या मिलता है, जिसका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

(—य) = |—θ|, |—य—|

= |θ| का प्रयोग व्यंजनान्त धातुओं के साथ होता है । देखा, देखे, देखी । इसका एक अपवाद भी है । √ कर-से किया । -ए और -ई के पूर्व भी इसका प्रयोग है ।

= |य| का प्रयोग स्वरान्त धातुओं के साथ होता है । गाया, सोया, पिया आदि ।

तीन क्रियाएँ ऐसी हैं जिनका रूप-वैविध्य हिन्दी में मिलता है । पुरानी हिन्दी के अतिरिक्त कुछ बोलियों में अब भी वे रूप बने हुए हैं । वे क्रियाएँ इस प्रकार हैं—

१ केलॉग, ५९८

२ बीम्स, III, P. १४४

√कर— (१) कीयौ, कियौ (२) कीनौं, किन्नौ (३) कीधौ, किद्धौ।

√दे — (१) दीयौ, दियौ (२) दीनौं, दिन्नौ (३) दीधौ, दिद्धौ।

√ले — (१) लीयौ, लियौ (२) लीनौं, लिन्नौ (३) लीधौ, लिद्धौ।

ब्रज की बोली में -न-वाले रूप आज भी प्रचलित हैं। पर -य-वाले रूप उन पर विजयी होते जाते हैं। परिनिष्ठित हिन्दी मे केवल -य-वाले रूप ही मिलते हैं।

इस भूतकालिक कृदन्त के योग से कुछ धातुओं के मूल रूप में भी परिवर्तन होता है—

√जा—से √ग—: गया, गए, गई

√दे—, √ले—से √दि—, √लि— : दिया, लिया आदि।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रत्यय का सम्बन्ध प्राभाआ भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्त प्रत्यय—इ—त से है। हिन्दी के रूप—इत से अथवा—इत + —क=इतक से सम्बन्धित हैं। इस प्रत्यय का पालि, प्राकृत में होता हुआ नभाआ—काल तक आया है। संस्कृत में इसके उदाहरण पतित, आदि हैं। पालि में—त प्रत्यय बना रहा जो सकर्मक क्रियाओं के साथ कर्मवाच्य तया अकर्मक क्रियाओं के साथ कर्तृवाच्य रूप में रहा।[१] इसके उदाहरण सुत<श्रुत, सिनात>स्नात आदि हैं। उच्च प्राकृतों में—त >-द भी हो गया था : हालिद<हारित। पर अ द>-अ की प्रवृत्ति महाराष्ट्री में भी मिलती है : हासअं<हसित।[२] आगे का विकास—त>-द>-अ की परम्परा में ही चला।

अपभ्रंश में इस प्रत्यय के ये रूप मिलते हैं :—इअ,—इउ,—इय,—इयउ, —इअअ—इअउ।[३] इस प्रकार व्यंजनान्त प्रत्यय स्वरान्त हो गया। नभाआ काल में ब्रजभाषा में चल्यौ, आदि का—य-वस्तुतः-इ-का ही विकसित रूप है। अन्त्य स्वर से पूर्व स्थित होने पर—इ->-य-की प्रवृत्ति दीखती है। स्त्रीलिंग में :—इ- >—O— + —ई=ई। पुंल्लिग बहुवचन में—इ—>—O+—ए=ए। वैसे पुराने साहित्य में जल्ये जैसे रूप भी प्राप्त होते है।

पूर्वी हिन्दी में—ल वाले रूप प्रचलित है। पूर्वी अपभ्रंशों के क्षेत्र में—ल प्रत्यय चलता था। कण्ह और सरह के दोहों में इस प्रकार के रूप मिलते है, जैसे रून्धेला, आइला, गेला। बोलचाल की अपभ्रंश मे भी इस प्रत्यय वाले रूप प्रचलित दीखते हैं : दिण्णले (√दा—) गहिल्ले (√गृह—)।[४] इसका विकासक्रम इस प्रकार रहा : त>—द>—ड>—ड़>—र>—ल।

---

१ Geige, $ 194

२ वररुचि, प्राकृत प्रकाश ७/३२

३ तगारे, $ १४८

४ L. B. Gandhi, Introduction to Ap: Kavyatrayi, [उद्योतन की कुवलय माला]

(च) **पूर्वकालिक कृदन्त**—हिन्दी पूर्वकालिक कृदन्त या तो धातु के अविकृत रूप के प्रयोग द्वारा या धातु के साथ-कर,-के, अथवा करके जोड़ कर व्यक्त किया जाता है। ब्रज भाषा में—इ भी इस कृदन्त को व्यक्त करती है : आइ, जाइ आदि।

संस्कृत में इसको व्यक्त करने के लिए—त्वा तथा—य प्रत्ययों का योग किया जाता है।—य का प्रयोग क्रिया के पहले उपसर्ग आने पर ही होता था। मभाआ काल में—य का प्रयोग प्रायः सर्वत्र होने लगा। —य का प्राकृतों में—इअ हो गया : सं० चल्य > प्रा० चलिअ > ब्र० चलि, हि० चल। हिन्दी में अन्त्य-इ तथा -उ के लोप की प्रवृत्ति मिलती है। इस प्रकार—इ >—O होकर अविकृत धातु ही इस अर्थ का द्योतन करने लगी। इस प्रकार प्रत्यय के लोप होने पर √कृ-रूप करि, कर का योग करके यह अर्थ प्रकट किया जाने लगा : सं० कृत्य > प्रा० करिअ > हि० कर। उदाहरण-चलकर, आकर आदि। -के की उत्पत्ति केलाग (५९९) ने-कइ से मानी है : करि > कइ > के +(—अ+—इ=ए)।

(छ) **भविष्य निश्चयार्थ**—खड़ी बोली अथवा परिनिष्ठित हिन्दी में भविष्य-रचना की प्रक्रिया यौगिक है। पर हिन्दी की ब्रज, कनौजी आदि कुछ बोलियों में—ह के संयोग से भविष्य की रचना की जाती है। मभाआ में—स वाले रूप भी मिलते हैं और—ह वाले रूप भी। स वाले रूप ये हैं : एक० उत्तम०—एसमि,—समि; पश्चिमी—इस्त्र,—एस्त्र, —स्त्र । मध्यम० एक०-एसहि,—सहि,—ईसि,—इस्ससि। अन्य० एक० —एसइ, -सइ,—इसइ,—इस्सइ। बहु० उत्तम०-एसहुँ,-स्सहुँ, सहि। अन्य०सहि-एसहि—इस्सहि।—ह वाले रूप ये हैं। —इहिमि—हिस्त्र,—हु; —ईहिसि,—हि,—इहहि,—हिसि,—एहि;—इहइ,—एहिइ,—हिइ,—ही आदि। इस प्रकार सं० भविष्यत् रूपों के—ष,स का—स हुआ और आगे चलकर वह—ह में परिणत हो गया। व्यंजनों के ह्रास के परिणाम स्वरूप वर्तमान ब्रजभाषा तथा अपभ्रंश रूप विकसित हुए हैं। संस्कृत, मभाआ तथा ब्रज की तुलनात्मक तालिका नीचे दी जा रही है, इससे विकास क्रम स्पष्ट हो जायगा। यह तालिका ग्रियर्सन के आधार पर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने दी है—

	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	हिन्दी
एक०	(१) चलिष्यामि	चलिस्सामि, चलिहिमि	चलिस्सउँ चलिहिउँ	चलि हैं।
	(२) चलिष्यसि	चलिस्ससि चलिहिसि	चलिस्सहि चलिहिहि	चलि है
	(३) चलिष्यति	चलिस्सइ चलिहिइ	चलिस्सइ चलिहिइ	चलि है
बहु०	(१ चलिष्यामः	चलिस्सामो चलिहिमो	चलिस्सहुँ चलिहिहुँ	चलि है

(२) चलिष्यथ	चलिस्सह चलिहिइ	चलिस्सहु चलिहिहु	चलिहहु, चलिहउ, चलिहौ
(३) चलिष्यन्ति	चलिस्सन्ति चलिहिन्ति	चलिस्सहिं चलिहिहिं	चलि हैं

हिन्दी की पूर्वी बोलिया में -व वाले भविष्य-रूप मिलते हैं। बीम्स ने इस रूप का सम्बन्ध संस्कृत भविष्य (कर्मवाच्य) कृदन्त-तव्यम् से माना है।[१] (>प्रा०-इ अव्वम) मारिब<प्रा० मारिअव्व, <सं० मारितव्या। -ह वाला रूप अब ब्रज की बोली से भी उठ गया। मारवाड़ी में -लां, -ला, -ल्यो वाले रूप पाए जाते हैं। इसका सम्बन्ध संस्कृत कर्मवाच्य कृदन्त लग्न से जोड़ा जाता है।[२] लग्न>लग्गो (लिग्—)।

परिनिष्ठित हिन्दी के भविष्यत् रूपों पर आगे संयुक्त-क्रियाओं के साथ किया गया है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के कृदन्तों के आधार पर हिन्दी-क्रियाओं के तीन कालों की रचना हुई है। भूत निश्चयार्थ, भूत संभावनार्थ तथा भविष्यत् आज्ञा। इनका विवेचन क्रमश. भूतकालिक कृदन्त, वर्तमान कालिक कृदन्त तथा क्रियार्थक सज्ञा शीर्षकों से ऊपर किया जा चुका है। यह संस्कृत के संयोगात्मक काल-रूपों के नष्ट हो जाने पर हुआ। संस्कृत मे भी कृदन्तों से काल-रचना की पद्धति चल पड़ी थी। प्राकृतों में और भी बढ़ गयी। कृदन्तो के आधार पर बने कालों में लिंगभेद पाया जाता है। हिन्दी के शेष समस्त काल संयुक्त हैं। इनका विचार आगे किया गया है।

१५.२.३. संयुक्त क्रिया काल रूप—ऊपर उन क्रिया-रूपों की चर्चा की है, जो धातु+प्रत्यय से सम्पन्न होते हैं। क्रिया की काल-रचना मे दो क्रियाओं के संयोग की भी आवश्यकता होती है। इस शीर्षक को दो भागों मे बाँटा जा सकता है। काल रचना तथा अन्य भावों के प्रकट करने के लिए दो या अधिक क्रियाओं का संयोग।

१५.२३.१. संयुक्त काल रचना—इसके भी दो रूप हैं: वर्तमान-कालिक कृदन्त+सहायक क्रिया से बने काल तथा भूतकालिक कृदन्त+सहायक क्रिया से बने काल। वर्त० कृदन्त के साथ वर्तमान और भूतकाल की सहायक क्रियाओं का योग करके घटमान-काल-समूह (Progressive tenses) तथा भूत० कृदन्त के साथ वर्तमान और भूतकाल की सहायक क्रियाओं का संयोग करके पूर्णघटित काल-समूह की रचना होती है। इनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

क — घटमान काल समूह (Progressive Tenses)

(१) घटमान वर्तमान (Present Progressive)। गाता है, गाते हो, आदि।

[१] बीम्स, Vol. III

[२] बीम्स, Vol. III, पृ० ५५ तथा कलॉग, पृ० ६०३

(२) घटमान अतीत (Past Progressive)। चलता था, चलते थे आदि।

(३) घटमान भविष्यत् (Future Progressive)। चलता हूँगा, चलते होंगे आदि।

(४) घटमान-सम्भाव्य वर्तमान (Present Progressive Conjunctive)। मैं चलता होऊँ, चलते (होओ—होवो) चलता होवे) आदि।

(५) घटमान सम्भाव्य अतीत (Past Progressive Conjunctive) चलता होता, चलते होते आदि।

वर्तमान सहायक क्रिया का शुद्ध रूप केवल घटमान वर्तमान के साथ प्रयुक्त होता है। घटमान भविष्यत के साथ √ग— के रूपों का संयोग भी मिलता है। इस प्रकार √हो—के रूप+भविष्य सूचक √ग— के रूप=घटमान भविष्यत्। घटमान सम्भाव्य वर्तमान का रूप भी जटिल है। √हो-+निर्देशक तत्व—ऊँ, -एँ [-वें]—ए [वे], —ओ [वो]=घटमान सम्भाव्य वर्तमान। घटमान सम्भाव्य अतीत की रचना में मूलार्थक धातु तथा √हो- दोनों के वर्त० कृदन्तों का संयोग होना है।

(ख)—**प्राघटित-काल समूह**—भूत० कृदन्त+सहायक क्रिया से ये रूप सम्पन्न होते हैं। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित काल आते हैं—

(१) प्राघटित-वर्तमान (Present Perfect)। मैं चलता हूँ आदि।

(२) प्राघटित भूत (Past Perfect)। तुम चले थे आदि।

(३) प्राघटित भविष्यत (Future Perfect) वह चला होगा आदि।

(४) प्राघटित-सम्भाव्य-वर्तमान (Present Perfect Conjunctive) मैं चला होऊँ, तुम चले होवो आदि।

(५) प्राघटित-सम्भाव्य-भूत : मैं गिरा होता, तुम चले होते।

इन कृदन्तों के इतिहास पर पहले विचार किया जा चुका है। केवल सहायक क्रियाओं का विकास देख लेना ही पर्याप्त होगा। नीचे वर्तमान, भूत और वर्तमान सहायक क्रियाओं अथवा उनके रूपों का विकास-इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

१५.२.४. हिन्दी की सहायक क्रियाएँ—सहायक क्रिया के रूप में √हो- के रूपों का प्रयोग किया जाता है। ऊपर की काल रचनाओं में इसके निम्नलिखित रूपों का प्रयोग हुआ है।

क—वर्तमान निश्चयार्थ— इस क्रिया के रूप ये हैं—हूँ, -हैं, -है, हो। इसका विवरणात्मक विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

—ह- + -ऊँ = हूँ : उत्तम० एक०

—ह- + -एँ = हैं : उत्तम० अन्य० बहु०

—ह- + -ऐ = है : मध्यम० अन्य० एक०

—ह- + -ओ = हो : मध्यम० बहु वचन

इस प्रकार क्रिया का मूलांश (ह-) ही ठहरता है। इसकी व्युत्पत्ति सं०

√अस्- से है। संस्कृत-धातु का आद्य अ-ब्रजभाषा तथा अवधी में वर्तमान है। वहाँ -अहै- जैसा रूप मिलता है। हिन्दी में -स > -ह वाली प्रवृत्ति है तथा प्रारम्भिक अ- सम्भवतः बलाघात के अभाव में समाप्त हो गया है। शेषांष -ऊँ, -ओ वचन और पुरुष के द्योतक तथा -ए, -एँ केवल वचन के द्योतक पदरूपांश हैं। इनकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में, आज्ञार्थक (१४.२.२.ग) के साथ विचार किया जा चुका है। जैसे अस्मि > अस्मि, अम्हि >हूँ (ब० हौं); अस्ति > अत्थि > है इसी प्रकार अन्य रूप भी √अस्- + प्रत्यय संस्कृत रूपों से विकसित हुए हैं।

ख—भूत निश्चयार्थ—में था, थे, थी, थीं का प्रयोग होता है। इसका विवरण यों है—

थ्- + -आ = प्र० एक०
थ्- + -ए = प्र० एक०
थ्- + -ई = स्त्री० एक०
थ्- + -ई = स्त्री० बहु०

इस प्रकार सहायक क्रिया की प्रतिनिधि ध्वनि (थ्-) है। -आ, -ए -ई लिंग-वचन प्रत्यय हैं। (थ्-) का सम्बन्ध संस्कृत √स्था से है। अन्य प्रत्ययों की व्युत्पत्ति पर संज्ञा के साथ विचार हो चुका है। था < प्रा० थाइ, ठाइ < स्थित। डा० उदय-नारायण तिवारी ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी है: असन्त > अहन्त, > हन्तो > हतो > था।

उक्त दोनों सहायक क्रियाओं का सम्बन्ध सं० √ अस्- से है। शेष रूपों का सम्बन्ध सं० √ भू- से है। उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

ग—भविष्य निश्चयार्थ की रूपावली—इस प्रकार है।

√ हो- + -ऊँ- + -ग्- + -आ = उत्तम० भविष्य० एक०
√ हों- + ⊙ + -ग्- + -ए = उत्तम० अन्य० भविष्य० बहु०
√ हो- + ⊙ + -ग्- + -आ = मध्यम० अन्य भविष्य० एक०
√ हो- + ○ + -ग्- + -ए = मध्यम० ० भविष्य० बहु०
√ हो- + ⊙ + -ग्- + -ई = स्त्रीलिंग। ऐसे ही अन्य रूप।

पहले हिन्दी में उत्तम० अन्य० बहु० में होवेंगे जैसे रूप चलते थे। अब भी इनका नितान्त अभाव नहीं है। उत्तम० एक० में भी ऊपर दिया हुआ होऊँगा रूप भी समाप्त होकर हूँगा रूप ग्रहण करता जा रहा है (हो+ऊँ = हूँ) होवेगा (मध्यम० अन्य० एक०) भी होगे के रूप में विकसित हो गया है। ब्रज भाषा में हो हुगे, होउगे जैसे रूप मध्यम० बहु० के लिए प्रयुक्त होते थे। अब होगे (हो + उ = हो) ही प्रचलित हो गया है। -ऊँ, -एँ, -ऐ, तथा -ओ की प्रवृत्ति शून्य की ओर है। इनकी व्युत्पत्ति पर कुछ विचार पहले किया जा चुका है (१४.२.२. ग) (हो-) की व्युत्पत्ति भू (-भव-) से निश्चित है। -ग- की व्युत्पत्ति सं √ गम्- से है गा >गअ

< गत। -ए तिर्यक प्रत्यय है और -ई स्त्री प्रत्यय जिनके संयोग से अन्य रूप निष्पन्न होते हैं।

घ-वर्तमान आज्ञा—रूप में भी (हो-) का प्रयोग होता है। अन्य अंशों पर पहले आज्ञार्थक के साथ विचार हो चुका है (१४.२..२-ग)।

ङ-भूत सम्भावनार्थ—की रूपावली इस प्रकार है—

√हो + -त् -+ -आ
+ -ए
+ -ई

(-त्-) की व्युत्पत्ति पर वर्तमान कालिक कृदन्त के साथ विचार हो चुका है। -ए तिर्यक ओई-ई स्त्री० प्रत्यय हैं।

१५.२. ५. **संयुक्त क्रिया**—मुख्य क्रिया के साथ √हो- पर आधारित सहायक क्रियाओं के संयोग से सम्पन्न होने वाली काल-रचना पर ऊपर (१४.२.३) कुछ विचार हो चुका है। विभिन्न भावों को प्रकट करने के लिए दो या अधिक मुख्य क्रियाओं का संयोग भी किया जाता है। इनमें से दूसरा क्रियापद सहायक रूप में ही रहता है जो अतिरिक्त भावार्थ का वाचन करता है। इस शैली का विकास हिन्दी तथा अन्य नभाआ-भाषाओं की शक्ति की वृद्धि का कारण बना है। प्राचीन भाषाओं में जो कार्य उपसर्गादि के योग से होता था, वह संयुक्त क्रिया के द्वारा होता है। वैसे संस्कृत में भी इस प्रणाली का नितान्त अभाव नहीं था। उसमें भी बल, पौनः पुन्य, को प्रकट करने के लिए इस प्रणाली का प्रयोग होता है। अपभ्रंश में यह शैली और बढ़ी। अपभ्रंश के कुछ क्रिया-द्विरुक्त रूप हिन्दी धातुओं के स्रोत भी बने। अप० वडवडइ > हि √बुदबुदा—(ना) या बिड़बड़ा (ना) 'व्यर्थ की बातें करना; झलझलइ (ज्वल-से) > हि० √झलझला-(ना)। अनुरणनात्मक क्रिया-द्विरुक्त रूप भी पर्याप्त मात्रा में थे। नीचे हिन्दी के मुख्य क्रिया-संयोगों की सूची रचना-क्रम के अनुसार प्रस्तुत की गयी है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से कोई विशेष बात इनमें नहीं है।

१५.२५.१. **द्वैत क्रिया पद**—कार्य की निरन्तरता को प्रकट करने के लिए एक ही क्रिया के पुनरुक्त रूप हिन्दी मे मिलते हैं। इसकी रचना के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

(क) वर्त० कृदन्त की पुनरुक्ति—सुनते-सुनते, कहते-कहते। इसमें दीर्घकालीन निरन्तरता का भाव प्रकट होता है।

(ख) **पूर्वकालिक कृदन्तों** का पुनरुक्त के साथ √कर- का योग भी किया जाता है। पुरानी हिन्दी में -कर के बिना भी ये रूप प्रकट होते थे। पोथी पढ़ि जग मुआ....।' हिन्दी में पढ़ पढ़कर का प्रयोग है। इसमें-कर का योग पूर्णता के भाव का द्योतन करता है। पूरे संयुक्त रूप की स्थिति पूर्वकालिक कृदन्त की सी ही रहती है।

(ग) **धातु-युग्मों का प्रयोग**—समार्थक या भिन्नार्थक धातुओं के युग्म के साथ √ कर-का संयोग कर कुछ रूपों की रचना की जाती है। भिन्नार्थक धातुयें भी विरोधी धातुएँ नहीं होतीं। लिख-पढ़कर, खा-पीकर, रो-पीटकर आदि। समानार्थक धातुओं के युग्मों के उदाहरण ये है। कूद-फाँद कर, रो-पीटकर आदि।

(घ) भूतकालिक कृदन्तों के आकारान्त और ईकारान्त युग्मों से प्रायः पूर्व-कालिक कृदन्त जैसः भाव प्रकट किया जाता है। देखा-देखी, उसने उसकी देखा-देखी यह कार्य किया।

१५.२५.२ दो प्रधान क्रियाओं का संयोग—एक प्रधान क्रिया की धातु, उसके पूर्व कालिक कृदन्त, वर्त० कृ०, भूत० कृ० तथा क्रियार्थक सज्ञा रूपों के साथ अन्य कुछ क्रियाओं का संयोग करके विभिन्न अर्थों को व्यक्त किया जाता है।

क-धातु + √ रह—जा रहा, आ रहा, पी रहा आदि अपूर्णतार्थक क्रिया-रूपों में यह मिलता है। पर इसके साथ सहायक क्रियाओं का संयोग भी होता है। जा रहा है। अतः तीन क्रियाओं के संयुक्त रूपों में ही इसे जाना चाहिए। वैसे साहित्यिक हिन्दी में जा रहा, रूप भी भूतार्थ में कभी-कभी प्रयुक्त हो जाता है।

ख-पूर्व कालिक कृदन्त + अन्य क्रियाएँ—

(१) पूर्व कृ० + √आ-। देखआ, लिख आया, पी आ। पूर्णता की अभिव्यक्ति होती है।

(२) पूर्व० कृ० + √उठ- - अचानक आरम्भ का द्योतन इस रचना से होता है। वह गा उठा, मैं उधर देख उठा।

(३) पूर्व० कृ० + √खा। इससे पूर्णता का भान होता है। उसने अपना घर बेच खाया।

(४) पूर्व० कृ० + √चढ़। वह मेरे ऊपर आ चढ़ा। किसी के अनिच्छिन्न आगमन की सूचना है।

(५) पूर्व० कृ० + √चल। इसमें चलने से पूर्व क्रिया-क्रिया की पूर्णता को व्यक्त किया जाता है। खाना खा चला, मुझे कहाँ छोड़ चला।

(६) पूर्व० कृ० + √चला। उसने किताब फेंक चलाई। इसमें बलपूर्वक, क्रोध के साथ किसी कार्य के करने का भाव निहित रहता है।

(७) पूर्व० कृ० + √चुक्-। इस रचना से भी पूर्णता का भाव व्यक्त होता है। वह अपना काम कर चुका।

(८) पूर्व० कृ० + √जा-। जाने से पूर्व किसी कार्य की पूर्णता की अभि-व्यक्ति के लिए यह रचना की जाती है। रोटी खा जा, मुझे पानी पिला गया।

(९) पूर्व० कृ० + √डाल-। उसने अपना काम कर डाला, उसने उसको मार डाला। इससे भी पूर्णता का बोध होता है।

(१०) पूर्व० कृ० + √दे। इससे पूर्णतः व्यक्त होती है साथ ही देने का भाव भी रहता है। मेरे लिए किताब ला दे। उसको उसने मार दिया आदि।

(११) पूर्व० कृ० + √पड़-। वह घोड़े से उतर पड़ा, मैं यहाँ गिर पड़ता हूँ। उसको देखकर सभी हँस पड़े। इसमें पूर्णता और अचानक किसी घटना के घटित होने का भाव व्यक्त होता है।

(१२) पूर्व० कृ० + √पा-। यह क्षमता-सूचक है। वह जल्दी नहीं चल पाता।

(१३) पूर्व० कृ० + √पहुँच-। मैं वहाँ जा पहुँचा। इससे पहुँचने का भाव तो है ही; क्रिया पर बल भी है।

(१४) पूर्व० कृ० + √बैठ-: अप्रत्याशित कार्य-पूर्णता व्यक्त होती है: वह एक बुरा काम कर बैठा। मैं मार बैठूँगा। सामान्य बल की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रयोग होता है: वह वहाँ आ बैठा।

(१५) पूर्व० कृ० + मर्-: घृणा के भाव से युक्त क्रिया विशेषणात्मक प्रयोग है। वह कहाँ आ मरा। वह अधिक खा मरता है।

(१६) पूर्व० कृ० + मार्: त्वरा के साथ किसी कार्य की समाप्ति का भाव प्रकट होता है: उसने ५ पन्ने लिख मारे। यह तुमने क्या लिख मारा।

इसी प्रकार √रह-, √ला,- √ले-, √सक्-, आदि क्रियाओं के संयोग से पूर्णता, क्षमता आदि का भाव व्यक्त किया जाता है। पूर्व० कृ० का भाव भी व्यक्त-अव्यक्त रूप से रहता है। सामान्यत: इन संयोगों मे मुख्य क्रिया पहले रहती है और विशेषता-द्योतक पीछे, पर एक-आध उदाहरण में क्रम उलट भी जाता है: उसने उसे दे मारा।

१५.२५.३ वर्तमान कालिक कृदन्त के साथ अन्य मुख्य क्रियाओं का संयोग— इन संयोगों में वर्त० कृ० कर्त्ता की विशेषता ही बताता है। इस प्रकार के कुछ उदाहरण नीचे दिये गये हैं—

(१) वर्त० कृ० + √चल्-: इसमें कार्य की निरंतरता सूचित होती है। क्रिया विशेषणात्मक रूप में भी इसका प्रयोग होता है: तू अपने कार्य को करता चल (पूर्णता) वह रास्ते में कुछ-न-कुछ खाता चलता है।

(२) वर्त० कृ० + √फिर-: वह मेरी बदनामी करता फिरता है। एक थप्पड़ खाकर रोता फिरेगा। इससे भी नैरंतर्य प्रकट होता है।

(३) वर्त० कृ० + √बन्-: इसमे क्षमता का भाव रहता है। उससे कुछ कहते नहीं बना। ये रूप प्राय: निषेधात्मक रहते हैं।

(४) वर्त० कृ० + √रह-: इससे कार्य की किसी भी काल में निरंतरता सिद्ध होती है: वह अपना काम करता रहा। यह न जाने क्या बड़बड़ाता रहता है। मैं तुझे वह अपना काम करता रहा। यह न जाने क्या बड़बड़ा रहता है। मैं तुझे पत्र लिखता रहूँगा।

इसी प्रकार √आ-, √खा-, √जा-, आदि धातुओं का संयोग होता है। इस प्रकार की रचना में मुख्यत: निरंतरता का भाव रहता है।

१५.२५.४. भूत० कृदन्त+अन्य क्रियाएँ

(१) निम्नलिखित धातुओं के साथ √आ- का संयोग हो सकता है : √भाग-वह भागा आया। √चल्- वह यह बात सुनकर चला आया। √लग्- यह लड़का। मेरे साथ ही लगा आता है। √दौड़- : मेरा नाम सुनकर वह दौड़ा आया। ये प्रयोग अधिकांश में क्रिया विशेषणात्मक हैं।

(२) प्रत्येक भूत० कृ० के साथ √कर- का संयोग करके निरंतरता की अभिव्यक्ति की जाती है : वह आया करता है, मैं जाया करता था।

(३) भूत० कृ० + √जा- से क्रिया का क्षमता सूचक कर्मवाच्य रूप बनाए जाते हैं : उससे गाया नहीं जाता। मुझ से दूध नहीं पिया जाता।

(४) भूत० कृ० + √रह- से निरंतरता का बोध कराया जाता है : वह यहाँ बैठा रहा; मैं घर में बैठा रहता हूँ।

१५.२५.५. क्रियार्थक संज्ञा+क्रिया (—)

(१) क्रियार्थक संज्ञा + √चाह्- : इसमें क्रियार्थक संज्ञा कर्म के रूप में रहती है और अर्थ में इच्छावाचकता रहती है : मैं जाना चाहता हूँ।

(२) क्रियार्थक संज्ञा + √दे- : यह रचना अनुमत्यर्थक है (Permissive)। मुझे जाने दे।

(३) क्रियार्थक संज्ञा + √पड़- : इसमें क्रिया की अनिवार्यता का भाव रहता है : मुझे जाना पड़ता है।

(४) क्रियार्थक संज्ञा + √+पा- : इस रचना से क्षमता का बोध होता है : मैं नहीं जाने पाया।

(५) क्रियार्थक संज्ञा+ √बन्- : इसमें भी क्रियार्थक संज्ञा कर्म-रूप में रहती है और क्षमता का भाव व्यक्त होता है। मुझसे जाना नहीं बनता।

(६) क्रियार्थक संज्ञा+ √लग्- : वह काम करने लगा।

(७) क्रियार्थक संज्ञा+ √आ- : इससे भी क्षमता का भाव प्रकट होता है : मुझसे लिखना-पढ़ना नहीं आता।

(८) क्रियार्थक संज्ञा+चाहिए : इसमें औचित्य का भाव निहित रहता है। तुमको झूँठ नहीं बोलना चाहिए।

१५·२५·६ तीन प्रधान क्रियाओं के संयुक्त रूप—दो प्रधान क्रियाओं के साथ एक सहायक क्रिया ऊपर की प्रायः सभी रचनाओं के साथ संलग्न हो सकती है। यहाँ केवल तीन प्रधान क्रियाओं के योग की चर्चा की जायगी। तीन प्रधान क्रियाओं के साथ √कर्-अथवा √दे- के रूप संयुक्त हो सकते हैं। फिर इसके साथ सहायक क्रिया भी संयुक्त हो सकती हैं। रूप-रचना—

(१) कर्त० कृद०+भूत० कृ०+—कर्—+सहा० क्रि०: इससे निरंतरता और अभ्यास का बोध होता है : तू आता रहा कर, वह वहाँ आता रहा करता है।

(२) पूर्व० कृद० + भूत० कृ० + √कर् — + सहायक क्रिया : इसमें भी अभ्यास का द्योतन होता है : मुझे न पाकर वह लौट जाया करता है। मैं अब रोटी खा लिया करूँगा।

(३) पूर्व० कृद० + क्रियार्थक संज्ञा + √दे — + सहा० क्रि० : ये रूप अनुमत्यर्थक होते हैं : उसको रुपया ले जाने दे। मुझे किताबों को गिन लेने दे। उसे मैं एक गीत गा लेने देता हूँ।

(४) भूत० कृद + भूत० कृ० + √कर् — + सहा० क्रि० : अभ्यासार्थक होते हैं। जैसे वह कभी-कभी चला आया करता है। वह सबेरे आठ बजे तक सोया रहा करता था।

(५) भूत० कृ० + क्रियार्थक संज्ञा + √दे — + सहा० क्रिया : ये अनुमत्यर्थक होते हैं। उसे चला जाने दे। उसे में चला आने देता हूँ। इसके प्रयुक्त उदाहरण कम मिलते हैं।

१५.२५.७ चार प्रधान क्रियाओं के संयुक्त रूप—इसके उदाहरण अत्यन्त विरल हैं। रूप-रचना इस प्रकार है—

(१) पूर्व० कृद० + क्रियार्थक संज्ञा + √दे—का भूत० कृद० + √कर्— + सहा० क्रि०। इसमें अनुमति और अभ्यास दोनों का मिश्रित बोध होता है। जैसे—मुझको सवेरे कुछ पढ़ लेने दिया करो। उसको मैं कुछ खा लेने दिया करता था।

(२) भूत० कृद० + क्रियार्थक संज्ञा + √दे—का भूत० कृ० + √कर्— + सहा० क्रिया। तुझे मैं रोजाना चला जाने दिया करूँगा। हमें वह रोजाना फूल तोड़ लेने दिया करता था।

१५.२.६ क्रियापदों की रचना—संज्ञा, विशेषण, तथा कभी-कभी क्रिया विशेषण के साथ प्रत्ययों का योग करके उनको क्रिया रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। नीचे कुछ उदाहरण दिये गये हैं—

(१) **संज्ञा + —आ** = शर्म से शर्माना, लज्जा से लजाना।

(२) **संज्ञा + —इ आ** = लात से लतियाना, बात से बतियाना।

(३) **विशेषण + —आ** = चौड़ा से चौड़ाना।

क्रिया विशेषणों से क्रिया की रचना बोली में मिलती है। भीतर से भितराना आदि।

१६

अव्यय : क्रिया विशेषण

१६—0. जैसा कि नाम से व्यक्त है, अव्यय वे पद हैं जिनमें कोई विचार उत्पन्न न हो : न व्येति विविधं विकारं न गच्छातीत्यव्ययम् । क्रिया-विशेषण भी अव्यय कहे जाते हैं । विभक्ति का योग इनके साथ होता है : अब से आदि । तद्धित-प्रक्रिया से संस्कृत में भी अव्यय रूप व्युत्पन्न होते थे । सविभक्तिक होते हुए भी उन्हें अव्यय कहा जाता था । मूल रूप मे परिवर्तन नहीं होता था । विभक्ति-युक्त होने से अव्ययत्व : मे बाधा प्रस्तुत नहीं होती : 'तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः' । व्याख्याकारों ने 'असर्वविभक्ति :, से यह अर्थ समझा कि जब सदा एक वचन ही विभक्ति में हों, तीनों वचन नहीं, तो उसे अव्यय समझना चाहिए । ऐसे अव्यय शब्दों की सूची भी दी गई है । पालि-प्राकृत मे भी नाम तथा सर्वनाम के परे तद्धित प्रत्ययों का योग करके अव्यय बनाए जाते थे । अपभ्रंश में भी क्रिया विशेषण-अव्यय संज्ञापदों, सर्वनामों तथा पुराने क्रिया विशेषणों पर आधारित थे । नभाआ भाषाओं मे भी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा प्राचीन अव्ययों से ही अव्यय रूप व्युत्पन्न होते हैं ।

१६.१. सार्वनामिक अंशों के रचित अव्यय—सार्वनामिक अंश ये हैं—

मूल य्- व्- ज्- स्- क्-

तिर्यक इ- उ- जि- ति- कि-

इनसे काल वाचक, स्थान वाचक, दिशा वाचक तथा रीति वाचक अव्ययों की रचना हो सकती है ।

१.६१.१ काल वाचक सार्वनामिक अव्यय—हिन्दी में इसकी रूपावली इस प्रकार है—

अब × जब तब कब

दूरवाची अव्यय के स्थान पर तब का प्रयोग होता है । दूरवाची अव्यय के लिए संयुक्त रूप का भी प्रयोग होता है : उस समय । पंजाब से संलग्न खड़ी बोली भाग में जद, तद, कद, का भी प्रचलन मिलता है । बीम्स -ब की व्युत्पत्ति सं० वेला शब्द से है ।[1] -द वाले रूपों की व्युत्पत्ति यदा, तदा, कदा से स्पष्ट दीखती है ।

---

[1] बीम्स, भाग ३, पृ० ८१

पूर्वी क्षेत्र की बोली - भाषाओं में वेला के विकसित रूप संलग्न मिलते हैं : भोजपुरी एहबेरा, एबेर; उड़िया एते वेले एवे। ब्रज की बोली के क्षेत्र के पूर्वी भाग में भी अबै, जबै, तबै, कबै रूप मिलते हैं। इनके -ए या -ऐ का अस्तित्व वेला से इनके सम्बन्ध का परिचायक है। खड़ी बोली में पूर्वी बोलियों का आरम्भिक ए- > अ- हो गया। इसमें विषमीकरण का सिद्धान्त दीखता है। ब्रज में -ऐ तो है पर आरम्भिक ए- >अ- ही मिलता है। केलॉग ने भी सं० संज्ञा वेला से ही -ब का सम्बन्ध माना है।[2] डा० चटर्जी ने -ब का सम्बन्ध वैदिक एव, एवा > सं० एवं > प्रा० एव्व, एव्वं से माना है।[3]

अपभ्रंश में -दा वाले रूपों का भी प्रयोग मिलता है : कया, कईया आदि साथ ही -ब वाले रूपों का प्रयोग भी विशेषतः पूर्वी अपभ्रंशों में मिलता है। कब्बे, जब्बे, तब्बे तथा जाब, ताब जैसे रूप दिये गये हैं।[4] ऊपर -दा वाले रूप तो कदा, यदा से स्पष्टतः विकसित हैं। -ब वाले रूप कद्वा, यद्वा, तद्वा, यावत् तावत् जैसे संस्कृत रूपों से सम्बद्ध भी बताए जाते हैं। यदि यह व्युत्पत्ति क्रम ठीक है तो हिन्दी के -ब वाले रूप भी इस क्रम की अन्तिम कड़ी माने जा सकते हैं। इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। हिन्दी के क्षेत्र में बहुधा बीम्स के मत को मान्यता प्राप्त है। डा० उदय नारायण तिवारी ने डा० चटर्जी के मत का समर्थन किया है[1] (हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास पृ० ४२०)।

-ही का संयोग करके निश्चयवाचक रूप बनते हैं अब+ही=अभी; जब्-+-ही=जभी; तब+ही=तभी; कब+ही कभी। इनके साथ परसर्गों का प्रयोग भी होता है अब से, अब तक, अबका। -ही के साथ संयुक्त रूपों में भी परसर्गों का प्रयोग हो सकता है। अभी से, अभी तक, अभी का। कभी=अनिश्चय वाचक।

अधिक व्यापकता व्यक्त करने के लिए सम्बन्ध वाचक रूपों की द्विरुक्ति कर दी जाती है : जब जब...... तब तब। अनिश्चय की अभिव्यक्ति के लिए सम्बन्ध वाचक के साथ अनिश्चय वाचक जोड़ कर अनिश्चय की अभिव्यक्ति की जाती है। जैसे जब कभी।

१.६१.२ स्थानावाचक सर्वनाम—रूपावली इस प्रकार है—

यहाँ वहाँ जहाँ तहाँ कहाँ

-हां वाले रूपो के अतिरिक्त हिन्दी की बोलियों में -त वाले रूप भी मिलते हैं। इत। इतै, इत। उतै, जित। जितै, तित। तितै, कित। कितै, राजस्थानी बोलियों में -ठ। ड वाले रूप प्राप्त होते हैं : अठै। अडै, उठै। बडै, जठै। जडै,

[1] केलॉग, पृ० ६३६

[2] चैटर्जी, पृ० ६०२

[3] तगारे, पृ० १५३ A

कठै, कैंठै । कडै । कुछ बोलियों में -आँ वाले रूप भी मिलते हैं : याँ, वाँ, जाँ, ताँ, काँ ।

बीम्स[१] और केलॉग[२] -हों, या -ओं का सम्बन्ध संस्कृत अधिकरण रूप -स्थाने से मानते हैं । हार्नले ने इसका सम्बन्ध प्राकृत तिर्यक प्रत्यय -हों से माना है ।[३] -ड- वाले रूपों की व्युत्पत्ति भी द-त्य-क्ष-के मूर्द्धन्यीकरण के द्वारा सिद्ध हो जाती हैं । डा० चटर्जी के अनुसार इसका विकास-क्रम सं० -त्र >मभाआ -थ >-हि -ह हैं ।[४] सं० -त्र वाले रूपों (अत्र, यत्र, तत्र, कुत्र) से ब्र० के -त वाले रूपों (इत, तित, जित) का सम्बन्ध तो निश्चय है : -ड । - ड । -ड़ वाले रूपों का सम्बन्ध (उड़िया ए आड़े —=इस ओर) बीम्स ने सं० कट (=नितम्ब) से माना है ।[५] मराठी में -कड़े है (इ+कडे) ! अपभ्रंश में -त- तथा -थ- दोनों रूप मिलते हैं । तगारे के अनुसार इनका सम्बन्ध सं०—त्र वाले रूपों से ही है ।[६] टर्नर[७] का समर्थन करते हुए डा० उदय नारायण तिवारी[८] ने इन रूपों का व्युत्पत्ति क्रम इस प्रकार माना है ।

यहाँ∠सर्वनाम अंग' यो+इहा अथवा 'यो'+स्मिन् (सप्तमी) (∠यही)
वहाँ∠सर्वनाम अंग' व+इहा अथवा —स्मिन्
जहाँ∠सर्वनाम अंग' ज+इहा अथवा —स्मिन्
कहाँ∠सर्वनाम अंग' क-+इहा अथवा —स्मिन्
तहाँ∠सर्वनाम अग' त-+इहा अथवा —स्मिन्

स्थाने तथा -त्र वाले संस्कृत रूपों से ही इनका विकास अधिक युक्ति-संगत दीखता है ।

१६.१.३. दिशा-वाचक—इसकी रूपावली इस प्रकार है—

इधर उधर जिधर तिधर किधर

अन्य बोली गत अन्तरों में—ह वाले रूप भी हैं— भोज० एहर, ओहर, जेहर, तेहर, केहर । न्न/न्द वाले रूप भी प्राप्त होते हैं : मग० एन्ने, उन्ने, जेन्ने, तेन्ने, केन्ने आदि । इसी प्रकार इन्दे, उन्दे, जिन्दे, तिन्दे, किन्दे भी हैं ।

१ बीम्स, भाग ३, $ ८१
२ केलॉग, पृ० ६३८
३ हार्नले, पृ० ३१३
४ चैटर्जी, पृ० ३०४
५ बीम्स, भाग, २६१
६ तगारे, पृ० १५३ B
७ नेपाली डिक्शनरी, पृ० ८१
८ डा० तिवारी पृ० ४२३

इन रूपों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत हैं। बीम्स के अनुसार—धर का सम्बन्ध सं० मुख के लघुत्वबोधिक सम्भावित रूप* मुखर से किया है सं० मुखर* √म्हर (भोज० एम्हर। एहर, उम्हर। ओहर) >-न्हर >-न्धर >-धर।[1] हार्नले ने इसकी व्युत्पत्ति एक 'इदह्' रूप से मानी है जो प्राकृत परिमाणवाचक सर्वनाम एद्दह (सं० ईद्दृश)। पुरानी अधिकरण विभक्ति—र के योग से इदह्—इधर।[2]

इनकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

१६.१.४. रीतिवाचक—इनकी रचना सार्वनामिक अंगों में—यों लगाकर की जाती है। यों, ज्यों, त्यों, क्यों। —यों की व्युत्पत्ति भी संदिग्ध है। बीम्स के अनुसार (भाग ३ पृ० ८१) इनका सम्बन्ध सं० भत् √प्रा० मन्तो से है। वैसे संस्कृत में इस प्रत्यय से युक्त रूप परिमाणवाचक होते हैं: इयत, कियत आदि। "ध्वनि-साम्य की दृष्टि से बंगाली के मन्त आदि तथा अवधी इमि, जिमि, तिमि, किमि बीच के रूप मालूम होते हैं।"[3] केलाग पहले इन रूपों का सम्बन्ध सं० इत्थं, कथं जैसे रूपों से मानते थे। पीछे वे हार्नले के मत का समर्थन करने लगे।[4] हार्नले के अनुसार, ये रूप अप० अधिकरण एक० एम्वइ, एम्वई से व्युत्पन्न हुए हैं। इनसे पहले इमि, इम आदि विकसित हुए।

पीछे यूँ, यों हिन्दी रूप निकले।[5] अपभ्रंश में एमु, एउँ, एम्र, ऍव, एमइ, एमवहिं एवहिं, एवि, आदि रूप प्राप्त होते हैं[6]: एवहिम्, एर्महि=इदानीम्, एमएव (एव—मेव) इसी प्रकार जेंव, तेंव, केंव भी मिलते हैं।[7] चटर्जी ने इन्हीं जेंव, केंव, तेंव से हिन्दी रूपों की व्युत्पत्ति मानी है। अपभ्रंश के इन रूपों का सम्बन्ध प्राभाआ येव* तेव* केव* सम्भावित रूपों से है।[8] यही व्युत्पत्ति क्रम अधिक युक्ति-संगत दीखता है। वैसे निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

१६.२. फुटकर अपव्यय-पद

१६.२.१. कालवाचक—

आज <मभाआ-अज्जु, अज्ज<प्रभाआ। -अद्य

कल <सं० कल्य (अतीत और आगत दोनों दिनों के लिए प्रयुक्त)

[1] बीम्स, भाग ३, पृ० २६१

[2] हार्नले पृ० ३१५

[3] डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ३०६

[4] केलॉग (तृतीया वृत्ति) पृ० ६४०

[5] हार्नले, पृ० ३१३, ३१४

[6] तगारे, पृ० १५३ (C)

[7] वही।

[8] चटर्जी पृ० ६१०

परसों —सं० पर—श्वस : अतीत और आगत दूसरे दिन के लिए प्रयुक्त : संस्कृत में केवल आने वाले दूसरे दिन के अर्थ में प्रयुक्त ।

तरसों या अतरसों : (सं० त्रि+श्वस्) परसों की अनुरूपता पर गठित है ।

नरसों : अन्य+तरसों से इसका सम्बन्ध बताया जाता है, जो संदिग्ध है ।

क्षण (सं० क्षण) समय (सं० समय) घड़ी (सं० घटिका) फुर्ती+से (सं० स्फूर्ति) आदि शब्द भी कालवाचक अव्यय के रूप में प्रयुक्त होते हैं । वक्त, सायत् जैसे विदेशी शब्द भी प्रयुक्त होते हैं । तुरन्त, शीघ्र, अभी हाल, जैसे शब्द भी प्रयोग में आते हैं । हमेशा या सदा तथा सदैव पूर्ण कालवाचक अव्यय हैं ।

१६.२.२. स्थानवाचक

हि० भीतर<सं० अभ्यन्तर : ऊँचे<सं उच्चैस

हि० बाहिर<सं० बहिः : नीचे<नीचैस

ये मुख्य रूप से प्रयुक्त होते हैं । अन्यत्र (या अनत)<सं० अन्यत्र तत्सम रूप में ही प्रयुक्त होता है । फा० नजदीक (नजीक भी) 'पास' का प्रयोग भी बहुधा चलता है ।

१६.२.३. परिमाणवाचक—

और (<प्रा० अवर<सं० अपर) बहुत (प्रा० बहुत, कदाचित सं० बहुत्वम्) ज्यादा (फा०) कम् (फाकम) कुल (सं० कुलम् ?) आदि शब्दों का प्रयोग परिमाण-वाचक अव्ययों के रूप में होता है ।

१६.२.४. स्वीकार तथा निषेधवाचक—

स्वीकार वाचक अव्यय 'हाँ' है । कभी-कभी इसके रूपान्तर हूँ आदि भी सुन पड़ते हैं । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दीखती है : हां<सं० आम् 'हाँ'>पा० आम । निषेध वाचक अव्यय 'न' (<सं० न) है जिसका एक रूपान्तर ना भी है । 'नहीं' की व्युत्पत्ति इस प्रकार दीखती है : नहीं<मभाआ न—अहइ (< असति<सं० अस्ति) । निषेधात्मक आज्ञावाचक में मत का प्रयोग होता है । इसका सम्बन्ध संस्कृत 'मा' से हो सकता है । उक्त व्युत्पत्तियाँ संदिग्ध ही हैं ।

१६.२.५. समुच्चयबोधक—

और : <सं० अपर (दूसरा)

भी : <प्रा० विहि<सं० अपि हि

पर : <सं० परं । सं० वा का प्रयोग इस अर्थ में कम होता जा रहा है । अरबी 'या' का प्रयोग अधिक है ।

कि : फारसी से आगत दीखता है । सं० किं से सम्बन्ध जोड़ना युक्तिसंगत नहीं दीखता ।

जो : <प्रा० जअ, जद<सं० यदि ।

वरन : <सं० वरन, तो<सं० ततः

१६·३ अव्यय संरचना—यहाँ शब्दों में प्रत्यय अथवा अन्य शब्दों का संयोग करके बनाए हुए अव्ययों पर विचार किया गया है।

१६·३·१ संज्ञाओं पर आधारित

अ संज्ञा+प्रत्यय=क्रिया विशेषण

संज्ञा+—वश : भाग्य वश; वह भाग्य वश आज आ गया।

संज्ञा+—को : मैं रात को चला जाऊँगा।

संज्ञा+—ए : वह सबेरे चला गया।

संज्ञा+—से : तुझे मन से पढ़ना चाहिए। वह जोर से चलता है।

संज्ञा+—में : उसे अन्त में मेरे पास आना पड़ेगा।

संज्ञा+—का : आज वह सबेरे का गया है।

संज्ञा+—तक : वह शाम तक अवश्य आ जायगा।

संज्ञा+—भर : रात भर उसकी प्रतीक्षा करती रही।

आ—पूर्व प्रत्यय+संज्ञा=क्रिया विशेषण

हर+संज्ञा : हर साल दुर्भिक्ष पड़ता है।

दर+संज्ञा : दर हकीकत मुझसे यह कार्य नहीं होता है।

ब+संज्ञा : उसका काम बदस्तूर चला गया।

बे+संज्ञा : वह बेकार यहाँ दो घण्टे बैठा रहा।

१६·३·२ विशेषणों पर आधारित—

विशेषण+ए : धीरे चलो। पहले काम कर।

विशेषण+अन : उसने उससे जबरन विवाह किया।

विशेषण+में : इतने में वह आ पहुँचा।

विशेषण+बार : वह दूसरी बार आया।

१६·३·३ क्रिया पदों पर आधारित—

क्रिया+हुए : उसको घोड़े पर चढ़े हुए बहुत दिन हो गये।

क्रिया+अ : मैं फिर आऊँगा।

पूर्व० कृद०+के : उसने चोर को कस के पकड़ लिया।

१६·३·४ अन्य अव्ययों पर आधारित—

अव्यय+तक : वह यहाँ तक बिगड़ा कि उसे घर से निकाल दिया।

अव्यय+का : वह कब का चला गया।

अव्यय+ही : वह अभी (अब+ही) चला गया है। मैं यहीं रहता हूँ।

१६·३·५ संयुक्त अव्यय—

क—द्विरुक्ति अ—संज्ञाओं की द्विरुक्ति : वह द्वार-द्वार घूमा, पर किसी ने उसकी न सुनी। गाँव के बीचों-बीच उसका घर था। यह माल तो हाथों हाथ बिक जायगा।

आ—विशेषणों की द्विरुक्ति—वह एकाएक बोल उठा ।

इ—क्रिया विशेषणों की द्विरुक्ति : धीरे-धीरे, जहाँ-जहाँ, जब-जब आदि ।

ई—क्रियाओं की द्विरुक्ति : सोते-सोते, चलते-चलते ।

उ—अनुरणनात्मक शब्दों की द्विरुक्ति : गटागट, धड़ाधड़ ।

इ—न—के द्वारा विभक्त द्विरुक्ति—कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं ।

ई—के—के द्वारा विभक्त संज्ञा की द्विरुक्ति—महीने-के-महीने, 'संडे-के-संडे' ।

ख—दो भिन्न-भिन्न क्रिया विशेषणों का संयोग—जहाँ-तहाँ, जहाँ कहीं, जब-तब, कभी-जभी, तर-ऊपर, आस-पास, आमने-सामने ।

ग—विशेषण संज्ञा : जिस जगह उस समय आदि ।

घ—संज्ञा | धातु | —ए : दो घंटे दिन चढ़े वह गया ।

ङ—विशेषण | तरह : वह अच्छी तरह बोलता है ।

च—विशेषण | धातु | ए : चार बजे ।

छ—क्रि० वि० | हो | क्रि० वि० : आगे ही आगे ।

ज—क्रि० वि० | क्रि० वि० : अभी हाल जाता हूँ ।

१५·३·६ कुछ शब्द ऐसे हैं जो बिना किसी संयोग या रूपान्तर के भी क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं ।

क—संज्ञा—तू पत्थर पढ़ेगा 'तू नहीं पढ़ेगा' ।

ख—सर्वनाम—मैं तो यह चला, इतने में घोड़ा यह गया वह गया ।

ग—विशेषण—यह लड़की अच्छा गाती है ।

घ—पूर्व कालिक कृदन्त—वह भागकर चलता है । वह रोकर भाग गया ।

परिशिष्ट—क

भारत के आर्येतर भाषा परिवार

आर्यों के भारत-आगमन से पूर्व यहाँ आर्येतर जातियाँ निवसित थीं। परिणाम स्वरूप आर्य और आर्येतर जातियों का मिश्रण एक ऐतिहासिक घटना थी। भाषा तथा संस्कृति के क्षेत्र में भी आदान-प्रदान चला और धर्म के क्षेत्र में भी। भारतीय सभ्यता के निर्माण में दोनों ही जातियों का योगदान रहा। न जाने कितने अनार्य आख्यान आर्यभाषा-साहित्य में प्रविष्ट हो गये। अनेक 'पूजा'-विधान भी आर्यों ने अपनाए। डा० चटर्जी के अनुसार, यहाँ कृष्णवर्ण, ऊनी बालों वाले नेग्रिटो (Negrito) जाति के लोग भी थे जिनके सम्भवत: दक्षिण भारत अन्दमान द्वीप समूह, दक्षिणी बिलोचिस्तान; आसाम की कुछ भोट-ब्रह्म (Tibeto-Burman) उपजातियों में अवशिष्ट हैं। इनकी भाषा के सम्बन्ध में डा० चटर्जी का कथन है : "........द्रविड़ या ऑस्त्रिक पड़ोसियों की भाषाओं की बोलियों का विकृत रूप व्यवहार में लाते थे। आद्य-नेग्रिटो भाषा, जैसी भी रही हो, वह केवल अन्दमानी के रूप में अवशिष्ट रही प्रतीत होती है, और उसका एक भाषा के रूप में किसी भी भाषा-कुल से सम्बन्ध न होकर स्वतन्त्र अस्तित्व है।" (भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० ३७) आज ये अन्य जातियों में घुलमिल चुके हैं।

मुंडा तथा मुंडा भाषायें—नेग्रिटो लोगों से पीछे सम्भवतः 'प्राथमिक ऑस्त्रा-लाकार' (Proto-Austroloid) थे, जो भूमध्य-प्रदेश वासीजनों की एक अत्यन्त प्राचीन शाखा के माने जाते हैं। ये लम्बशीर्ष, चिपिट नासिक, कृष्णकाय लोग थे। ये साहित्य में 'निषाद' नाम से अभिहित मिलते हैं। इनकी भाषा दक्षिण-द्वीपों (Austronesian) में फैली। इनकी कुछ शाखाएँ इन्दोचीन में फैलीं। उनके वंशज मोन (Mon) ख्मेर (Khmer) या कम्बोजी, चाम (Cham) अथवा इनसे कुछ कम प्रसिद्ध स्तिएंग, वहनार, पलोउंग, (Palouny) वा (wa), आदि जातियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। दूसरा समूह नाकोबार द्वीपों की ओर चला गया। खासी जाति के पूर्वज सम्भवतः आसाम होते हुए भारत आये। परन्तु खासी लोग बहुत कुछ अंशों में ऐसे एक भौगोलाकार लोग ज्ञात होते हैं। जिन्होंने आस्त्रिक भाषा अपना ली। भारत की कुछ आस्त्रिक उपजातियों में इस भाषा के रूप आज भी सुरक्षित हैं। इनमें कोल, मुण्डा

मुख्य हैं। इनकी ही शाखाएँ संथाल, भण्डारी, हो, कोरवा, भूमिज, शबर, तथा गदाबा आदि उपजातियाँ हैं। इन्हीं लोगों की शाखा आस्ट्रेलिया में पहुँचे। दूसरी शाखा लंका चली गयी। वेड्डा लोग उन्हीं के अवशिष्टांश हैं। भारतीय साहित्य में सबसे पहले निषादों का उल्लेख अन्तिम संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है (तैत्तिरीय संहिता, iv, ५, ४, २; मैत्रायणी संहिता, २. ९. ५, ऐतिरेय ब्राह्मण ८/२) पर वहाँ पर इस शब्द से उन अनार्य जातियों का बोध होता है जो आर्य जातिसे शासित थीं + (Vedic Index, vol. I, p. 453) यास्क ने इनको चारों वर्णों से पृथक माना है (निरुक्त, ३/८) वाजसनेयी संहिता में आए निषाद् शब्द (१६/२७) का अर्थ महीधर ने भील माना है, जो अभी तक मध्य प्रदेश और बिन्ध्य घाटी में रहते है वेबर ने इनको भारत के आदिम जन कहा है (Indische Studien, ९, ३५०) मनु ने इनका सामाजिक कार्य मछली मारकर, उन्हें समाज को देना माना है (मनु० १०/४८) पालि ग्रन्थों में कहा गया है कि वे वनों की शिकारी जाति हैं। तथा मछुए भी हैं (muirs, Texts, ३०१, ३०३) रामायण में भी इनको जंगली कहा गया है। गुह-निषाद-राज की बात भी मिलती है। महाभारत में निषादों का एक राष्ट्र बताया गया है जिसकी स्थिति सरस्वती तथा पश्चिमी विन्ध्य में बताई गयी है (महा० ३/१३०/४)। वृहत्संहिता (वराहमिहिम) में निषाद् राष्ट्र की स्थिति मध्यदेश के दक्षिण पूर्व में लिखी है। कोलों का वर्णन भी प्राचीन साहित्य में पर्याप्त मिलता है। उक्त वर्णनों से प्रतीत होता है कि निषाद भारत में पर्याप्त विस्तृत थे। इनका जीवन वन्य था। इनका वन्यराष्ट्र भी था। डा० चटर्जी ने इनके विषय में लिखा है: "भारत की आस्त्रिक भाषी उपजातियाँ, दक्षिण-एशियाई के विभाग कोल, खासी, तथा मोन-ख्मेर आदि एकाधिक समूहों से आई प्रतीत होती हैं। वे संस्कृति के नूतन-प्रस्तर-युग में थीं और सम्भवतः भारत में आने के पश्चात् उन्होंने ताँबे एवं लोहे का उपयोग करना सीखा।" (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ३९-४०)।

आस्ट्री जातियों में इस प्रकार हिन्द-चीन में मोन-ख्मेर तथा भारत की खासी और मुण्डा जातियाँ आती हैं। मोनख्मेर जाति कभी हिन्द-चीन पर शासक के रूप में आरूढ़ थी। अब थाईलैंड, ब्रह्मा और भारत के कुछ वन्य प्रदेशों में इनके बोलने वाले आदि वासियों के रूप से बसे हुए हैं। भारत के आसाम के पूर्वी प्रदेश में इन भाषाओं के भाषी रहते हैं। आसाम की खासी पहाड़ियों में 'खासी' बोली जाती है। यह चतुर्दिक तिब्बती-चीनी भाषाओं से परिवेष्ठित है। मुंडा-भाषी लोग अधिक विस्तृत वन्यक्षेत्र में मिलते हैं। मोनख्मेर, खासी और मुण्डा के बोलने वाले अपने देश में लगभग ५३½ लाख हैं। (डा० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृ० २५९)

'मुण्डा' शब्द का मुण्डारी भाषा में 'मुखिया' अर्थ है। मैक्समूलर ने इन भाषाओं को द्राविड़ भाषा-परिवार से पृथक मानते हुए, इसको 'मुण्डा' नाम से अभिहित

किया था। पहले इसका 'कोल' नाम प्रचलित था। वह उपयुक्त नहीं था। अतः अब ये भाषाएँ मुण्डा नाम से जानी जाती हैं।

मुण्डा-भाषाओं का प्रचलन विशेषतः छोटा नागपुर के भागों में है। इसके अतिरिक्त मध्य भारत, मध्य प्रदेश, तथा उड़ीसा के कुछ जिलों में, मद्रास के कुछ भाग में, तथा पश्चिमी बंगाल, और बिहार के पहाड़ी और वन्य प्रदेशों मे इस भाषा के बोलने वाले रहते हैं। इसके अतिरिक्त हिमालय की तराई में बिहार से लेकर शिमला पहाड़ी तक ये लोग मिलते हैं। इस प्रकार इनके बिखरे रहने से यह सिद्ध होता है कि ये जातियाँ किसी समय समस्त भारत में फैली थीं। आर्यों या अन्य जातियों के दबाब से इधर-उधर उन्हें छिटक जाना पड़ा। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इनके विस्तार के सम्बन्ध में लिखा है: ये दक्षिण देशीय या दक्षिण-एशियाई उप-जातियाँ सारे उत्तरी भारत में पंजाब तथा मध्यभारत में फैल गयी और दक्षिण भारत में भी प्रवेश कर गयीं। उत्तरी भारत की बड़ी नदियों की घाटियाँ बसने के लिए बिल्कुल उपयुक्त स्थल थीं।.......नृतत्त्वज्ञों का मत है कि भारत में सर्वत्र भारतीय समाज के नीचे स्तर में एक प्राथमिक ऑस्त्रालाकार असर पायी जाती है। दक्षिण देशीय जन विभिन्न संस्कृति, कालों में रहे थे तथा उनमें से जो मूलतः मध्यभारत के पर्वत-प्रदेश में रहते थे अथवा आर्यों के दबाब के कारण वहाँ भाग आये थे, वे आज तक अविकसित ही रह गए हैं। पहले वे अपने बाद में आने वाले द्रविड़ों से सम्मिश्रित हुए, फिर आर्यों से।.......दक्षिण-देशीय बोलियाँ हिमालय प्रदेश के सहारे-सहारे फैलती गयीं....।' (भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० ४१-४२)।

इन भाषाओं से यहाँ की अन्य द्रविड़ या आर्यभाषाएँ भी प्रभावित हुई हैं। "मैदान की आर्य भाषाओं मगही तथा मैथिली की तरह धीमल, लिम्बू, लाहुली, कनौरी आदि कोई कुल मिलाकर २१ भोट-ब्रह्म बोलियों...ने भी उनकी कुछ विशेषताओं को आभ्यंतर स्तर के रूप में अपना लिया। ये तथाकथित 'सर्वनामीकृत बोलियाँ कहलाती हैं, जिनमें कोल की तरह क्रिया के साथ तत्सम्बन्धित सर्वनाम को भी युक्त कर दिया जाता है।" (डा० चटर्जी, भा० आ० और हि०, पृ० ४२) भोजपुरी, मगही और मैथिली इन बिहारी बोलियों में क्रिया की जटिलता, मुण्डा के ही प्रभाव का परिणाम जान पड़ती है। उत्तम पुरुष वाची सर्वनाम के बहुबचन के दो रूप, एक वक्ता के साथ वाक्य (मध्यम पुरुष) का शामिल करके और एक उसको न शामिल करके भी, मुण्डा के प्रभाव से आए जान पड़ते हैं।" (डा० सक्सेना, सा० भा० वि० पृ० २६०) कोड़ियों (२०) या बीसियों मे गिनती गिनना भी मुण्डा के ही प्रभाव से दीखता है। यह स्वाभाविक है कि जब इन लोगों ने आर्यभाषा को सामूहिक रूप से अपनाया होगा तो इनके द्वारा प्रयुक्त आर्यभाषा इनकी ध्वनियों और इनके व्याकरण रूपों से अवश्य प्रभावित हुई होंगी। इस प्रकार इनकी भाषाएँ भी प्रभावित हुईं और इन्होंने भी आर्य, द्रविड़, और तिब्बती-चीनी को प्रभावित किया।

मुण्डा भाषा की सात बोलियाँ मानी जाती हैं। संथाली-मुण्डारी पर कुछ

अध्ययन कार्य हो चुका है। हो, कुर्कू, सवर आदि पर भी कुछ कार्य हुआ है। शिमला की ओर कनावरी बोली जाती है।

इन भाषाओं की शाखाएं इस प्रकार हैं—
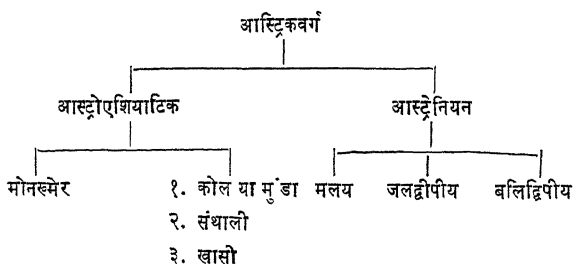
इनके अतिरिक्त फिलिपाइन द्वीप समूह, न्यूजीलैंड, हवाई तथा फीजी आदि प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में भी यह प्रचलित है।

भाषा-गठन की दृष्टि से भारोपीय से इस वर्ग का मौलिक भेद है। इनकी आकृति अश्लिष्ट योगात्मक मानी जाती है। यह भाषा उपसर्ग, प्रत्यय तथा मध्य-प्रत्ययों से गठित है। ये भाषाएँ अपने मूल से बहुत दूर हो गई हैं। जिस प्रकार आर्यों की मूल भाषा का पुर्ननिर्माण सम्भव हो सका, इन भाषाओं के मूल रूप का पुर्ननिर्माण निश्चित रूप से नहीं हो पाया है। कुछ दक्षिण देशीय भाषाएँ विभक्ति शून्य अनेकाक्षरात्मक भी हैं, और मोनख्मेर, खासी आदि सम्भवतः तिब्बती चीनी के प्रभाव से एकाक्षरात्मकता की ओर भी झुक रही हैं। भारतीय कोल भाषाओं में प्रत्यय संयोजन (Suffi-incorporation) विकसित रूप में मिलता है। "इस प्रकार प्रत्यय-योजित भारतीय आर्य भाषा एवं योगात्मक द्रविड़ तथा यूराल अल्ताई भाषाओं के सामने, दक्षिण देशीय या निषाद भाषावली, अपने उपसर्गों, प्रत्ययों एवं अन्तः प्रत्ययों को लेकर अपनी विशिष्टता के साथ खड़ी है।" (चटर्जी, पृ० ४३) हंगेरी के विद्वान हेवेशी विलमोश (Hevesy Vilmos) भारतीय कोल या मुंडा भाषाओं यूराल अल्ताई भाषा-कुल से सम्बन्धित माना है। दक्षिण देशीय भाषा-कुल के संस्थापक एफ पातर श्मिट (Fater F. Schmitt) ने कोल भाषाओं पर यूरानी प्रभाव अवश्य माना है। पर इनको एक ही कुल की भाषाएँ अभी नहीं माना जा सकता। अभी तक इन भाषाओं को दक्षिण एशियाई शाखा में ही परिगणित किया जाता है।

मुंडा में स्वर, और अघोष, सघोष, अल्प प्राण, महाप्राण व्यंजन प्राप्त होते हैं। महा प्राणत्व की प्रवृत्ति कुछ प्रबल है। हिन्दी के प्रायः सभी स्वर, पंचवर्ग व्यंजन, य, र, ल, व, उ, स, ह, मुंडा में मिलते हैं। अर्द्ध व्यंजन के रूप में क, च, त, प, भी हैं जो इन भाषाओं की विशेषता है। इनकी उच्चारण क्रिया में पहले सांस

अन्दर खींची जाती है, तब स्पर्श और स्फोट होते हैं। स्फोट के साथ कुछ सांस नासिका से भी निःसृत होती है। आदि में संयुक्त व्यंजन प्रत्यय नहीं होता।

संज्ञा, क्रिया आदि शब्द-विभाग यदि है तो अत्यन्त शिथिल हैं। शब्दार्थ प्रकरण के अनुकूल होता है। सम्बन्ध तत्व का प्रदर्शन अधिकांशतः अन्तयोग और मध्य योग से होता है। नीचे कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

सैन ('जाना') असैनु (अ+सैन) 'ले जाना'
नुँ ('पीना') अन्नु पिलाना
मंझि मुखिया मपंझि (म+पं+झि) मुखियागण
दल 'मारना' दपल (द+प+ल) 'परस्पर मारपीट'
आल् 'लिखना' अकाल (अ+का+ल) 'खूब लिखना'

लिंग का बोध पृथक पुरुष वाचक और स्त्री वाचक शब्द संयुक्त करके कराया जाता है। आंडिया कूल 'बाघ' तथा एंका कूल 'बाघिन'। कुछ शब्दों में लिंग भेट है। कोड़ा 'लड़का' कूड़ी 'लड़की'। यह अन्य भाषाओं के प्रभाव से भी हो सकता है। इन भाषाओं में तीन वचन हैं: हाड़ 'आदमी' हाड़कीन 'दो आदमी' हाड़को 'कई आदमी'। परसर्गों का प्रयोग प्रचुर है। पुरुषवाचक सर्वनाम के दो-दो रूप हैं। आदर वाचक (आप) तथा सम्बन्ध वाचक (जा, जिस) सर्वनाम प्रायः नहीं हैं। एक शब्द जो एक स्थान पर संज्ञावत प्रयुक्त है, वही क्रिया के समान भी। क्रिया रूप प्रत्ययों के योग से सिद्ध होते हैं: अ, है। मुंडा भाषाओं में अव्यय स्वतन्त्र शब्द है।

दविड़ और द्राविड़भाषाएँ—ऊपर जिन दक्षिण देशीय जातियों की चर्चा की गई है, वे निश्चय रूप से द्राविड़ तथा आर्य-भाषाओं से पहले आए। भूमध्य जातियों की विभिन्न शाखाओं के रूप में द्रविड-लोगों का पीछे भारत प्रवेश हुआ। आधुनिक द्रविड़ भाषाओं का अपना अलग एक समूह है। आधुनिक मतों के अनुसार मूल-द्राविड़ भाषी लोग पश्चिम के निवासी थे (डा० चैटर्जी, मार्डन रिव्यू, दिसम्बर १९२४) उनका मूल निवास-स्थान पूर्वी भूमध्य-सागर के कुछ अंचल, और एशिया माइनर तथा ईजियन द्वीप समूह कुछ भागों (crate) में था। डा० चैटर्जी का कथन है "द्राविड़ों का एक प्राचीन नाम "द्रभिझ"* या द्रभिल"* था, जिससे भारतीय आर्य-शब्द "द्रमिड़" "द्रविड़" "द्रमिल" तथा तामिल भाषा का शब्द "तमिल् (तमिम्य)" निकलते हैं। एशिया माइनर के प्राचीन लिकी लोगों (Lycian) जिन्होंने शिलालेखों में अपने को "तृम्मिन्लि (Trmmili) लिखी है तथा प्राग्-हेलेनिक (Pre-Hellinic) क्रीट द्वीपीय लोगों (लिकी लोग जिनके वंशज थे और जो हेरोडोटस के कथनानुसार तेरेमिलाइ Teramilai नामक को क्रीट से लाये हुए अपने पुराने नाम से परिचित थे) का इस प्रकार सम्भवतः वही नाम था, जिससे हमें भारत में विभिन्न युगों में "द्रमिल', "द्रमिड" द्रविड, तथा तामल् (तमिझ्) आदि रूप प्राप्त हुए हैं" (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ४४) हड़प्पा और मोहिनजोदारो की सभ्यता का सम्बन्ध द्रविड़ों से जोड़ा जाता है। भारत में आर्यों के प्रवेश से पहले

पंजाब और सिन्ध की महान् नागरिक सभ्यताओं का विकास इन्होने ही किया। बिलोचिस्तान में ब्राहुई की स्थिति गह सिद्ध करती है। आर्यों के आने पर सम्मिश्रण की क्रिया आरम्भ हुई। आर्यों की विचार-धारा से ये भी प्रभावित होने लगे।

बलूचिस्तान स्थित ब्राहुई को छोड़कर अन्य द्राविड़ भाषाएँ भारत के दक्षिण प्रदेशों में लगातार फैली हुई हैं। सीलोन के उत्तरी भाग तक इनका विस्तार है। सीलोन में तथा उत्तरी सीमाओं पर आर्य भाषाएँ इनकी समीपवर्ती भाषाएँ हैं। उत्तर पूर्व में आर्य और मुंडा भाषाएँ हैं। लगभग ८ करोड़ लोगों के द्वारा ये भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से कुछ साहित्य-सम्पन्न हैं। कुछ में मध्यकालीन साहित्य-ग्रन्थ हैं: कन्नड़, तेलुगु तथा तामिल में पुराना साहित्य भी है। शेष भाषाओं में साहित्य-परम्परा का अभाव है। कुछ के रूपों का संग्रह तो १९वीं शदी में ही हुआ। द्राविड़ी कुल की १४ भाषाएं हैं। इनको चारवर्गों में बाँटा जाता है: द्राविड़, मध्यवर्ती, आन्ध्र और पश्चिमोत्तरीय। इनके बोलने वालों की संख्या इस प्रकार है—

द्राविड़	४ करोड़ १५ लाख
मध्यवर्ती	३६ लाख
आन्ध्र	२ करोड़ ६४ लाख
पश्चिमोत्तरी	२० लाख

इनकी शाखाएँ इस प्रकार हैं:

द्राविड़
- तामिल — तमिल, मलयालम
- कन्नड़
- तुलु
- कोडगु
- टोडा

(तुलु, कोडगु के सामने: टोडा, कोटा)

मध्यवर्ती
- गोंडी
- कुरुख (ओराओं)
- कूई (कंधी)
- कोलामी

(कुरुख, माल्टो)

आन्ध्र—तेलुगु

पश्चिमोत्तरी—ब्राहुई

तमिल दक्षिण-प्रदेश के दक्षिण-पूर्व में बोली जाती है। मद्रास द्विभाषा-भाषी है। इससे नीलगिर पर्वतों तक, तथा वहाँ से त्रिवेन्द्रम तथा त्रावनकोर में प्रचलित हैं। सीलोन के उत्तरी भाग में भी तमिल है। यहाँ से बाहर जाने वाले तमिल को वर्मा, हिन्द-चीन, फीजी द्वीपों या मध्य-अफ्रीका तक ले गये हैं। मलयालम मलाबर-किनारे पर प्रचलित है। यह लगभग १० वीं शदी में तमिल से अलग हुई। तमिल का साहित्य द्राविड़ भाषाओं में सबसे अधिक प्राचीन और सबसे अधिक समृद्ध है।

कन्नड़ का क्षेत्र मैसूर तथा हैदराबाद राज्य का दक्षिण-पश्चिम भाग है। बीदर तक इसका विस्तार है। बीदर से करवार तक इसकी सीमा पर मराठी, कोंकणी हैं। इसके पूर्व में तेलुगु और तमिल का क्षेत्र है। करवार से मंगलोर तक के किनारों पर भी कन्नड़ ही है। तमिल क्षेत्र मे भी कन्नड़-भाषी लोग बिखरे हुए हैं। लगभग ४५० ई० से कन्नड़ के लिखित प्रमाण मिलते हैं। ९वीं शदी से साहित्यिक परम्परा मिलती है।

कन्नड़ क्षेत्र के दक्षिण में पश्चिमी किनारे पर तुलु का भाग है। मंगलौर के आसपास लगभग ६५०,००० लोगों द्वारा यह बोली जाती है। अब संख्या बढ़ गई होगी। इस पर कन्नड़ का प्रभाव स्पष्ट है। पर कन्नड़ से इसका ऐतिहासिक सम्बन्ध संदिग्ध है। पालघाट के उत्तर में स्थित पर्वत-प्रदेश, तथा कुर्ग की कोडगु (लगभग ४०,०००) आदि के सम्बन्ध में अत्यल्प सूचनाएँ प्राप्त हैं। बोलने वालों की संख्या की अल्पता के कारण टोडा, और कोटा के लुप्त हो जाने की आशंका होती है।

मध्यवर्ती समुदाय की भाषाएँ प्रायः वन्य जातियों द्वारा बोली जाती हैं। इनके बोलने वाले मध्यभारत में, तथा बरार से लेकर उड़ीसा और बिहार तक फैली हुई हैं। बंगाल के राजमहल जिले में भी एक जगह गंगा तट पर इन भाषाओं के कुछ प्रयोक्ता हैं। इन बोलियों का कोई साहित्य नहीं है। ये अपने आसपास की प्रचलित भाषाओं के जानकार भी होते हैं। गोंडी इस वर्ग में सबसे मुख्य है। इसके बोलने वाले लगभग १,८६५,००० हैं। इस पर आसपास की मराठी, हिन्दी, ओड़ीया, तेलुगु का प्रभाव पड़ रहा है। इस भाषा के बोलने वाले उत्तर में विन्ध्याचल तथा भोपाल के दक्षिण तक मिलते हैं। गोंडी से संस्पृष्ट कोलम तथा भीली हैं। इसके भी लुप्त हो जाने की सम्भावना है।

और उत्तर में केवल पर्वतीय भागों में द्राविड़ भाषा-भाषी मिलते हैं। ये मुण्डा वर्ग के समीपवर्ती हैं। गोंडी को समीपवर्ती कुकूं है। कुई की सीमा पर सवर है। ओराओं के बोलने वाले लगभग १,०३७,००० हैं। माल्टो इसी की एक बोली है: बोलने वाले लगभग ७०,००० हैं। इन भाषाओं पर मुण्डा तथा आर्य भाषा का प्रभाव गहरा है।

तेलुगु का क्षेत्र मद्रास से लेकर गंजम के दक्षिण तक पूर्वी किनारे-किनारे चला गया हैं। मद्रास में तमिल के साथ तेलुगु भी चलती है। दूसरी ओर इसकी सीमा आर्य-परिवार की उड़िया बनाती है। और पश्चिम की ओर इसकी सीमा पर दूसरी आर्य भाषा मराठी है। इन दोनों के बीच में इसकी पर गोंडी है। पश्चिम और दक्षिण में तेलुगु क्षेत्र की सीमा पर कन्नड़ तथा तमिल हैं। तेलुगु के बोलने वालों की संख्या द्राविड़ भाषाओं में सबसे अधिक है। हिन्दी से दूसरे नम्बर पर बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से तेलुगु ही है। भारत की जनसंख्या का ९ २४ प्रतिशत भाग तेलुगु भाषी है। भारत से बाहर भी इसने यात्रा की है, पर तमिल से कम। इस भाषा का प्राचीनतम लेख प्रमाण ६३३ ई० का है। इस भाषा का साहित्य ११वीं शती से आरम्भ होता है। एक व्याकरण तथा महाभारत का तेलुगु रूपान्तर इसी शताब्दी का है।

पूर्वी बलूचिस्तान के पर्वतीय भागों में और सिन्ध में ब्राहुई बोलने वाले बिखरे हुए हैं। एक ओर से ईरानी और दूसरी ओर से सिन्धी भाषा इस वर्ग को घेरे हुए हैं। इसके प्रायः सभी बोलने वाले मुसलमान हैं। भाषा की भिन्नता होते हुए भी विवाह आदि सामाजिक व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर यह अवश्य है बलोची या पश्तो भाषाओं का प्रभाव और मिश्रण गहरा होता जाता है। ये ब्राहो लोग भी दोनों भाषाएँ बोल सकते हैं। इस जटिल परिस्थिति में यह आश्चर्य की बात है कि यह भाषा अपना अस्तित्व बनाए हुए है।

द्राविड़ भाषाओं का गठन योगात्मक है। इस दृष्टि से इन भाषाओं की तुलना यूराल-अल्ताई भाषाओं से की जी सकती है। पर इन भाषाओं के शब्द-रूप धातुओं, प्रत्यय आदि को समग्र रूप से लेने पर इनका सम्बन्ध किसी अन्य परिवार से नहीं जोड़ा जा सकता। जब आर्य भाषाएँ और आर्य जातियाँ भारत में स्थापित हो गई तब ये भाषाएँ आर्य भाषाओं से और आर्य भाषाएँ द्राविड़-भाषाओं से प्रभावित हुई। आर्य भाषाओं में मिलने वाली मूर्द्धन्य ध्वनियाँ तथा र ल काव्यत्व द्राविड़ प्रभाव से माने जाते हैं।

इन भाषाओं की एक उच्चारण-गत विशेषता स्वरान्तता है। कहीं—अ तथा कहीं-उ सुन पड़ता है। तेलुगु उकारान्त भाषा है। यूराल अल्तार्ध भाषाओं की सी स्वर-अनुरूपता मिलती है। सामान्यतः सभी द्राविड़ भाषाओं में तथा विशेषतः तामिल में यह प्रवृत्ति मिलती है कि किसी शब्द के आदि में सघोष व्यंजन प्रायः नहीं आता और शब्द के मध्य में आने वाला अकेला व्यंजन या अनुनासिक व्यंजन के बाद आने वाला व्यंजन सघोष होना चाहिए यह प्रवृत्ति तिब्बती-चीनी की भी विशेषता है।

संज्ञाओं का विभाग विवेकी-अविवेकी अथवा उच्च-जातीय तथा निम्न जातीय भेद है। पुल्लिग-स्त्रीलिंग शब्दों का भेद नर-मादा-वाची शब्दों के योग से भी व्यक्त किया जाता है। अन्य पुरुष सर्वनामों में ही प्रायः लिंग-भेद पाया जाता हैं। ब्राहुई में लिंग-भेद है ही नहीं। यह ईरानी प्रभाव का परिणाम है। जैसे लिंग-भेद का आधार न यौन-अन्तर है, न चेतन-अचेतन। दक्षिण के प्रमुख द्राविड़ भाषाओं में तीन लिंग पाए जाते हैं। वचन दो ही हैं: एकवचन-बहुवचन। हिन्दी के हम और अपन के समान दो रूप बहुवचन में होते हैं। सम्बन्ध वाचक सर्वनाम नहीं पाया जाता है।

कुछ शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों रूपों में प्रयुक्त हो सकते हैं। सहायक क्रियाओं से कर्मवाच्य का बोध कराया जाता है। उसके स्वतंत्र रूप नहीं मिलते। क्रिया रूपों में पुरुष का बोध करने के लिए पुरुषवाची सर्वनाम संयुक्त होते हैं। काल-रचना निश्चित और अनिश्चित के रूप में हैं।

तिब्बत-चीनी—इन भाषाओं का अस्तित्व ब्रह्म, तिब्बत और भूटान में है। आसाम के उत्तरी और पूर्वी भागों में इन भाषाओं के बोलने वाले बिखरे हैं। ये भाषा-भाषी प्रायः जंगलों और पहाड़ों में बसे हैं। इस शाखा में नागा बोलियाँ प्रमुख हैं।

परिशिष्ट—ख

भारत की भाषा-समस्या

भारत जैसे विशाल और अपार वैविध्यपूर्ण देश में भाषा-समस्या का जटिल होना स्वाभाविक है। इस समस्या का ऐसा समाधान जो सर्वमान्य हो सके और जिसमें सभी की भावनाओं को उचित आदर मिल सके आज कठिन दीखता है। इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा भी की गई है और सुलझाया भी गया है। पर दीखता है जैसे उलझन किसी-न-किसी अंश में आज भी बनी हुई है।

भारत में चार भाषा-परिवारों की भाषाएं मिलती हैं: भारोपीय, द्रविड़, आस्ट्रोएशियाटिक तथा तिब्बती-वर्मी। इनकी भाषा-बोलियों की संख्या सात सौ के लगभग है। इन सात सौ भाषा रूपों में संख्या, संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से मुख्य ये हैं: कश्मीरी, सिंधी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, बंगाली, उड़िया आसामी और हिन्दी। व्याकरणिक दृष्टि से हिन्दी और उर्दू में कोई मौलिक भेद नहीं है। उर्दू में कुछ विदेशी व्याकरणांश और अधिकांश विदेशी शब्दावली है, जो उसे हिन्दी से पृथक करती है। आर्य भाषाओं के ऐतिहासिक दृष्टि से समान होने के कारण, तत्सम-तद्भव शब्दों की समानता तो है ही, रूप-संघटन भी अधिक भिन्न नहीं है। लिपि भी एक ही स्रोत से निःसृत है। द्रविड़ परिवार की भाषाओं का आर्य परिवार की भाषाओं से केवल कुछ शब्द साम्य है; रूप-गठन और व्याकरणिक समानता प्रायः नहीं है। तेलुगु और कन्नड़ की लिपियाँ ब्राह्मी-स्रोत से निःसृत होने के कारण कुछ समानता रखती हैं। शेष में यह समानता नाममात्र है। तिब्बती-वर्मी के बोलने वाले आसाम के पूर्वी, और उत्तरी भाग में: बोलने वाले बहुधा वनवासी हैं। इनमें नागा बोलियाँ प्रमुख हैं। आसाम में तिब्बती-चीनी से परिवेष्ठित मोन-ख्मेर से सम्बद्ध खासी है। साथ ही मुंडा भाषा भी कुछ जंगली प्रदेशों में प्रचलित है। मोन-ख्मेर, खासी, और मुण्डा शाखाओं को मिलाकर आस्ट्री-एशियाई परिवार की भाषाओं के बोलने वाले लगभग ५३½ लाख हैं। भारत के भाषा-चित्र की इस संक्षिप्त झाँकी से भारत का भाषा-वैविध्य और भाषा-समस्या की जटिलता की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाती है।

भाषा की समस्या के तीन रूप हैं: शासन और न्याय की भाषा की समस्या, शिक्षा-माध्यम की समस्या तथा विदेशी सम्बन्धों के माध्यम की समस्या। शासन-न्याय-

भाषा की समस्या के तीन पहलू हैं : केन्द्रीय, प्रान्तीय और अन्तर्प्रान्तीय। शिक्षा-माध्यम की समस्या भी तीन प्रकार की है : प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय स्तर की भाषा की समस्या। विदेशों से पत्र-व्यवहार आदान-प्रदान किस भाषा में हों, यह तीसरी समस्या है। इन समस्याओं को इस प्रकार सुलझाने का प्रयत्न किया गया है : प्रान्तीय शासन-न्याय में वहीं की स्थानीय भाषा चलेगी। यदि वहाँ दो भाषाएँ हैं तो दोनों को स्थान मिलेगा अर्थात् दोनों वैकल्पिक रूप से प्रचलित रहेंगी। जहाँ तक शिक्षा के माध्यम का प्रश्न है, तीनों स्तरों पर प्रान्तीय भाषा ही माध्यम रूप में व्यवहृत रहेगी। कुछ स्थानों पर शिक्षा के स्तर की सुरक्षा की दृष्टि से विश्वविद्यालय स्तर पर अंग्रेजी के रखने की चर्चा गरम है। विशेषतः विश्वविद्यालयों के उच्चाधिकारी माध्यम के बदलने से शिक्षा-स्तर के गिर जाने के प्रति सशंक हैं। अन्ततः तीनों स्तरों पर प्रान्तीय भाषाओं का ही व्यवहार होगा, वर्तमान वस्तुस्थिति से इस बात की सम्भावना होती है। पाठ्यपुस्तकों के रूपांतरण के सम्बन्ध में शासनीय नीति स्पष्ट है। कार्य जोर-शोर से आरम्भ भी हो रहा है। माध्यमिक स्तर से अपनी भाषा के अतिरिक्त दो अन्य भाषाओं का अध्ययन आवश्यक होगा। एक अपने देश की राजभाषा तथा दूसरी एक विदेशी भाषा। रूस आदि देशों में यह त्रिभाषा-प्रणाली प्रचलित भी है। इससे समस्त देश और विश्व से सम्बन्ध बनाए रखने की कड़ियाँ प्राप्त होंगी। इस प्रकार प्रान्त और शिक्षा की भाषा-समस्या का हल हुआ सा ही दीखता है। समस्या एक भाषा की रहती है, जो न्याय-शासन की दृष्टि से केन्द्र के कार्य में प्रयुक्त हो सके तथा केन्द्र और प्रान्त को, एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को परस्पर सम्बद्ध रखने का माध्यम हो सके। वह भाषा भी, जो वैदेशिक सम्बन्धों में प्रयुक्त हो सके। समस्या की जटिलता यहीं से आरम्भ होती है।

इस समस्या की जटिलता का पहला कारण यह है कि इस देश में साहित्य, संस्कृति और संख्या की दृष्टि से एक से अधिक भाषाएँ समृद्ध, सम्पन्न, समर्थ और समुन्नत हैं। अतः सभी अपने-अपने प्रयोग की बात सामने रखती हैं। क्या स्विटजरलैंड, कनाडा, बेल्जियम आदि देशों में एक से अधिक भाषाएँ न्याय-शासन में नहीं चल रहीं? फिर यहाँ सभी भाषाएँ क्यों नहीं चल सकतीं? इस प्रकार समस्या की जटिलता का प्रारम्भ होता है। इन देशों में वैदेशिक सम्बन्धों में एक से अधिक भाषाओं का व्यवहार नहीं होता। इस क्षेत्र में तो एक ही भाषा का प्रयुक्त होना व्यावहारिक है। स्विटजरलैंड में जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, रोमांश आदि प्रमुख भाषाएँ हैं। केन्द्रीय न्याय-शासन में जर्मन, फ्रेंच, इटायियन का व्यवहार होता है, पर वैदेशिक कार्यों में फ्रेंच ही प्रयुक्त होती है। कनाडा में अंग्रेजी और फ्रेंच केन्द्र में प्रचलित हैं, पर केवल अंग्रेजी वैदेशिक कार्यों में चलती है। बेल्जियम के केन्द्रीय कार्यों में फ्लेमिश तथा फ्रेंच का प्रयोग है। पर बाहरी कार्यों में केवल फ्लेमिश का प्रयोग है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विदेशों से सम्बन्ध रखने में एक भाषा का प्रयोग ही होना आवश्यक है, केन्द्र में एक से अधिक भाषाएँ चल सकती हैं।

केन्द्र की भाषा की समस्या भी भारत में उपर्युक्त देशों से कुछ भिन्न है। केन्द्र मे दो-तीन भाषाओं तक का प्रयोग तो समझ में आता है। पर भारत की इतनी समुन्नत भाषाओं में से दो-तीन कौन-सी भाषाएँ चुनी जा सकती हैं? इस प्रश्न के साथ ही अनेक भयंकर सम्भावनाएँ आँखों के सामने नाचने लगती हैं। भाषाओं के इस प्रकार चुनने पर न जाने कितने मूलबद्ध भाषा सम्बन्धी भावोद्वेगों को टेस लगेगी। यहाँ केन्द्र के लिए दो-तीन भाषाओं का चुनाव प्रायः असम्भव है। भारत में चार से दस प्रतिशत के बीच में बंगला, मराठी, तेलुगु, तमिल, पंजाबी, गुजराती और कन्नड़, ये सात भाषाएँ आती हैं। इस परिस्थितियों में यही सुविधाजनक दीखता है कि केन्द्रीय तथा अन्तर्प्रान्तीय कार्यों के लिए भी कोई एक ही भाषा चुनी जाय।

वह एक भाषा कौनसी हो? उसे राष्ट्रभाषा कहा जाय या राजभाषा? पहले कुछ लोग संस्कृत को इस पद के लिए उपयुक्त मानते थे। पर जटिल व्याकरणिक रूपाधिक्य वाली तथा व्यवहार से दूर इस भाषा को 'राष्ट्रभाषा' रूप में आसीन करने के पक्ष में तर्क देना कठिन है। दूसरा नाम अंग्रेजी का लिया जाता है। जिन राष्ट्रीय भाषाओं ने स्वाधीनता और राष्ट्रीयता के आन्दोलनों में भाग लिया, उन भाषाओं में से किसी को इस सम्मान के योग्य न समझकर एक विदेशी भाषा को इस सिंहासन पर स्थापित करना, हमारी आन्तरिक प्रतिष्ठा और स्वाभिमानी प्रकृति को एक मारक ठेस पहुँचाना होगा। यद्यपि अंग्रेजी समर्थ-समृद्ध भाषा भी है और देश में सर्वत्र समझी भी जा सकती है, पर बौद्धिक तर्क और भावना का जटिल संघर्ष इस समाधान से होने लगता है। और भावनाओं के आग्रह को ठुकराया नहीं जा सकता तर्क की दृष्टि से अंग्रेजी के जानने वाले दस-बाहर प्रतिशत से अधिक नहीं होंगे। अंग्रेजी का बहिष्कार नहीं हो रहा, प्रश्न 'राष्ट्रभाषा' के पद का है। डा० चटर्जी ने लिखा है: अनेक व्यक्ति अन्तर्प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय या जातीय भाषा के रूप में अंग्रेजी को ही स्वीकार करने का अनुमोदन करते हैं। किन्तु मेरा विचार है कि यह पूर्णतया सम्भव नहीं है। (भारत की भाषा सम्बन्धी समस्याएँ, प्रथम संस्करण, पृ० ८४)

इन दो भाषाओं के बाद हिन्दी के सम्बन्ध में विचार उठता है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार हिन्दी से दूसरे नम्बर पर, बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से, तेलुगु आती है (९. २४ प्रतिशत)। बंगला के बोलने वाले ७·०३ प्रतिशत हैं तथा अन्य भाषाओं के और भी कम हैं। इस प्रकार प्रत्येक भाषा-भाषी दस प्रतिशत से कम ही हैं। मातृभाषा हिन्दी (या उसकी कोई बोली) वाले ·४० प्रतिशत हैं। साथ ही अहिन्दी क्षेत्रों में भी हिन्दी बोलने और समझने वाले इतने हैं जितने किसी भी अन्य प्रादेशिक भाषा के नहीं हैं। इस प्रकार भारत की जन-संख्या का अधिकांश भाग हिन्दी से सम्बन्धित है। डा० चटर्जी के अनुसार "बंगाल, आसाम, एवं उड़ीसा में भी बोल-चाल की हिन्दी का एक सरल रूप में सभी लोग समझते हैं।···द्राविड़भाषी दक्षिण में भी सबसे अधिक समझी जाने वाली भाषा हिन्दुस्थानी ही है, खास कर शहरों एवं बड़ेबतीर्थस्थानों में।" आगे चटर्जी का निष्कर्ष यह है 'इस प्रकार हिन्दी या हिन्दुस्थानी

आज के भारतीयों के लिए एक बहुत बड़ी रिक्थ है। यह हमारे भाषा-विषयक प्रकाश का एक महत्तम साधन तथा भारतीय एकता एवं राष्ट्रीयता का प्रतीक रूप है। वास्तव में हिन्दी ही भारत की भाषाओं का प्रतिनिधित्व कर सकती है (भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी; प्रथम संस्करण, पृ० १४७-८) इस प्रकार उक्त पद का अधिकार हिन्दी को ही मिलना चाहिए।

दूसरी विशेषता हिन्दी की सरलता की है। इसके व्याकरण और रूप-रचना की सरलता की बात प्रायः सभी भाषा—विदों ने स्वीकार की है। उस पर पहले विचार किया जा चुका है। ध्वनियों की सुनिश्चितता इसकी वैज्ञानिक विशेषता है। तीसरा बल परम्परा का मिल रहा है। मध्य देश की भाषा और संस्कृति की लोकप्रियता और सर्वमान्यता की परम्परा की हिन्दी एक आधुनिक कड़ी है। लौकिक संस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश अपने-अपने युगों में समस्त भारतीय जन को अपनी ओर आकर्षित करती रही। इसी क्षेत्र की हिन्दी आज अपनी उदारता और गुणों के कारण सर्वमान्यता की ओर अग्रसर है। इस प्रकार हिन्दी को प्रसार, प्रकृति और परम्परा का बल प्राप्त है।

देश के बाहर भी मध्य देश के व्यापारी और जीविकान्वेषी इस भाषा को ले गये। मारवाड़ी वर्ग व्यापार की दृष्टि से प्रायः संसार भर में गया। इतिहास में दिल्ली शासनीय केन्द्र रहा। अतः मुस्लिम-युग में दिल्ली के आसपास की बोली को पर्याप्त प्रसार-प्रचार मिला। दक्षिण में 'दक्खिनी हिन्दी' के रूप में ले जाने और वहाँ इसकी परम्परा को स्थापित करने का श्रेय मुसलमानों को ही दिया जा सकता है। रामकृष्ण की जन्मभूमि होने और शैवों के तीर्थ काशीनगरी की स्थिति भी इस क्षेत्र में ही होने के कारण समस्त भारतीय तीर्थयात्री भी इस क्षेत्र की ओर आकर्षित होते रहे। साथ ही इस युग में सिनेमा—व्यवसाय ने हिन्दी का पर्याप्त प्रसार किया है। हिन्दी के गाने का अर्थ न समझते हुए भी अहिन्दी क्षेत्रों की जनता गाती है। अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी के चित्रपट बड़ी रुचि से देखे जाते हैं। दक्षिण में भी रेडियो पर 'सीलोन' और 'विविध भारती' सुनने वाले बहुत अधिक हैं। इस प्रकार आज सिनेमा ने हिन्दी की जो सेवा की है, वह कम महत्वपूर्ण नहीं है।

अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी साहित्य की रचना मध्यकाल से ही होती रही है। पंजाब में नानक गुरु की परम्परा का निर्गुण-साहित्य अधिकांश में हिन्दी-ब्रभाषा में ही है। मध्ययुग में गुजरात के अधिकांश विद्वानों की भाषा हिन्दी ही थी (Mile Stone of Gujarat Litrature, K. M. Jhaberi) इसका कारण कुछ तो वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गाश्रित भक्ति सम्प्रदाय का गुजरात में प्रचार था, और दूसरा कारण जैन-धर्म का प्रचार है। गुजरात में प्राप्त अधिकांश जैन-साहित्य हिन्दी (पुरानी) में ही है। समर्थ गुरु रामदास ने महाराष्ट्र में हिन्दी रचनाएँ कीं। हिन्दी-कविभूषण का महाराष्ट्र के दरबारों में रहना हिन्दी की लोकप्रियता का प्रमाण है। शिवाजी के कुछ हिन्दी छन्द आज भी उपलब्ध हैं। पेशवाओं, होल्करों और सिन्धियों के दरबार

में हिन्दी में काम होता था। (भोलानाथ तिवारी, राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५८०) वहाँ के हिन्दी कवियों में चक्रधर, दामोदर पण्डित, ज्ञानेश्वर, नामदेव गोंदा, सेना, एकनाथ, श्यामसुन्दर, कान्होबा, तुकाराम, वामन पण्डित, अमृत राय, रंगदास, कल्याण, आदि का नाम उल्लेखनीय है। अनेक हिन्दी कवयित्रियाँ भी महाराष्ट्र में हिन्दी-कविता करती रहीं : महदासिया, महदंब्रा, उमांबी, रूपाई, मुक्ताबाई, बहिणाबाई आदि। 'दक्खिनी' के हिन्दी कवि तो प्रसिद्ध हैं हीं : बंदानवाज, शाह, मीरांजी, शाह-अली मुहम्मद, शाह बुरहानुद्दीन, रुस्तमी, हाशिमी, कुतुबशाह, वजही, वजदी, वली आदि। "केरल के महाराज रामवर्मा ने सूर-तुलसी की भाँति भक्ति के बड़े सुन्दर छन्द रचे हैं। आन्ध्र के १६ वीं सदी के प्रसिद्ध कवि पे छन्ना के भी कुछ हिन्दी छन्द मिलते हैं।" (भोलानाथ तिवारी, राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५८०)। बंगाल में तो कुछ अच्छे हिन्दी कवि हुए ही हैं।

हिन्दी को सामान्य जनभाषा के रूप में विदेशियों ने भी स्वीकार किया। "आधुनिक भारत में हिन्दी के प्रमुख स्थान के विषय पर पहले-पहल सचेत हुए अहिन्दी प्रान्तों के लोग" (डा० चटर्जी, पश्चिम बंग हिन्दी साहित्य सम्मेलन कलकत्ता का अध्यक्षीय भाषण) विदेशी लोगों की सूची इसके समर्थन में डा० भोलानाथ तिवारी ने इस प्रकार प्रस्तुत की है : "विदेशी लोगों में प्रथम नाम एडवर्ड टेरी का है, जिसने यात्रा-विवरण (voyage to the East Indies) में जो १६५५ ई० मे छपा, 'हिन्दुस्तानी' को यहाँ की बोलचाल की भाषा कहा है। १८ वीं सदी के आरम्भ में ही हिन्दी या हिन्दुस्तानी का महत्व स्पष्ट हो गया था। इसीलिए १७०४ में ही तुरोनेसिस नामक विद्वान ने 'लोकसिकन लिगुआ हिन्दोस्तानिका' प्रस्तुत किया। उस समय डचों का व्यापार चल रहा था। यद्यपि उन लोगों का सम्बन्ध प्रमुखतः दक्षिणी भारत से था, फिर भी हिन्दुस्तानी का जानना उनके लिए इतना आवश्यक प्रतीत हुआ कि उच्च मालिकों की सुविधा के लिए, जे० जे० केटेलेयर ने डच भाषा में हिन्दुस्तानी का व्याकरण (१७१५ ई०) लिखा। यह हिन्दुस्तानी का प्रथम व्याकरण १७४३ ई० में लायडेन द्वारा लैटिन में अनुदित हुआ। १७२७ में ए० हेमिल्टन ने हिन्दुस्तानी को अपने एक यात्रा-विवरण में, जो १७२७ में छपा, मुगल राज्य की सामान्य भाषा कहा। यह ध्यान देने योग्य है कि मुगल राज्य केवल हिन्दी प्रदेश नहीं था। १८५२ में फ्रांस में अपने एक व्याख्यान में प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान गार्सां द तासी ने 'हिन्दुई-हिन्दुस्तानी' को भारत की लोक या अखिलदेशीय भाषा कहा था। १८८६ में लन्दन से प्रकाशित होने वाले प्रसिद्ध कोश 'हाब्सन हाब्सन' में हिन्दुस्तानी को भारत भर के मुसलमानों की राष्ट्रभाषा कहा गया है। इसके बाद तो ग्रियर्सन आदि अनेक लोगों ने इसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। अपने देश में सबसे पहले बंगाल और बम्बई में जागृति हुई, इसी कारण राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर सर्वप्रथम वहीं के लोगों का ध्यान गया। डा० अमरनाथ झा के अनुसार इस बात की ओर संकेत करने का प्रथम श्रेय राजा राममोहनराय को है। उन्होंने हिन्दी को इस रूप

में अपनाने की बात अपने किसी भाषाण में कही थी। बम्बई के चर्च कालिज के प्राध्यापक श्री पेठे ने कदाचित् १८६४ में 'राष्ट्रभाषा' नाम की एक मराठी पुस्तक में यह स्पष्ट किया कि 'भारत के लिए एक भाषा आवश्यक है और वह हिन्दी है। तीसरे प्रसिद्ध व्यक्ति, जिन्होंने इस बात पर बल दिया था, बंगाल के महान् धार्मिक नेता केशवचन्द्र सेन थे। इनका एक पत्र था 'सुलभ समाचार' १८७५ में इसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में भारत की एकता के लिए एक भाषा पर बल दिया था और इसके लिए हिन्दी अपनाने को कहा था।—(राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५८२-५८३) केशवचन्द्रसेन की प्रेरणा से पहले संस्कृत में भाषण करने वाले स्वामी दयानन्द ने अपने विचारों का माध्यम हिन्दी बनाया। इसके पश्चात् स्वामी जी तथा उनकी संस्था आर्य समाज ने हिन्दी प्रचार के कार्य में अद्भुत योग दिया। हिन्दी का प्रथम व्यवस्थित गद्य-ग्रन्थ प्रेमासागर गुजराती लल्लू जी लाल ने लिखा। हिन्दी प्रदेश के प्रथम पत्र 'बनारस अखबार' का सम्पादन हरि रघुनाथ थत्ते करते थे, जो मराठी थे। बंकिम बाबू ने अपने विचार यों प्रकट किए : हिन्दोभाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये जांहार ऐक्य बन्धन सस्थापन करिते पारिबेन, तांहार इ प्रकृत भारतबन्धु नामे अभिहित इहबार योग्य (बंगदर्शन, १८७८) प्रसिद्ध शिक्षा विशारद भूदेव मुखर्जी ने, बिहार की कचहरियों में हिन्दी भाषा और नागरी एवं कैथलिपि को स्थान दिलाया था। उन्होंने अपने 'आचार प्रबन्ध' में लिखा—"भारतवासीर चलित भाषा गुलिर मध्ये हिन्दी-हिन्दुस्तानी इ प्रधान, मुसलमान दिगेर कल्याणे उहा समस्त महादेश व्यापक। अतएव अनुमान करा जाइते पारे जे, उहा के अवलम्बन करिया-इ कोनो दूरवर्ती भविष्य काले समस्त भारतवर्षेर भाषा सम्मिलित थाकिबे।" अन्य बंगाली मराठी हिन्दी-समर्थकों में हरगोविन्ददास, श्री पाद दामोदर सात-वलेकर, सदाशिवराव, योगेन्द्रनाथ वसु, अमृतलाल चक्रवर्ती तथा बगाल के प्रसिद्ध नेता काली प्रसाद आदि उल्लेखनीय हैं। इसके पश्चात भी हिन्दी आन्दोलन को अहिन्दी क्षेत्र के नेताओं से ही बल मिलता रहा।

गाँधी जी ने 'हिन्दू स्वराज्य और होमरूल' (१९०९) में लिखा : "हर एक पढ़े लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा, का हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को परशियन का और सबको हिन्दी ज्ञान होना चाहिए। ······ सारे हिन्दुस्तान के लिए अखिल देशीय भाषा हिन्दी होनी चाहिए। ····ऐसा होने पर हम अपने आपस के व्यवहार से अंग्रेजी को निकाल बाहर कर सकेंगे।" (A universal language for India should be Hindi····if we can do this, we can drive the English language out of the field in a short time.) अंग्रेजी को इस प्रकार गाँधी जी ने इस पद के योग्य नहीं समझा। राष्ट्रभाषा होने की योग्यता अंग्रेजी में नहीं है। गाँधी जी इस दिशा में सदैव प्रयत्नशील रहे। सन् १९४९ में इन सब बलों के एकत्रित होने से कन्स्टीट्यूट असेम्बली ने हिन्दी को राजभाषा स्वीकार किया।

नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ने हरिपुरा कांग्रेस (१९३८) के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए राष्ट्रभाषा हिन्दी का बलपूर्वक समर्थन किया : (We shall have to develop over lingua franca and a common script.... so far ovr Lingua farnca is concerned, I am inclined to think that the distinction between Hindi and Urdu is artificial one.)

डा० चटर्जी जो जीवन भर राष्ट्रभाषा हिन्दी का समर्थन एक उच्च कोटि के भाषा तत्वज्ञ के रूप में करते रहे, किसी राजनैतिक झमेले में पड़ कर हिन्दी के विरोधी हो गये हैं। यही परिवर्तन श्री राजगोपालाचार्य का हुआ है। राजा जी ने 'हिन्दी इंगलिश-सेल्फ इन्स्ट्रक्टर की भूमिका (१९२८) में हिन्दी का इस रूप में समर्थन' किया था। हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करते हुए सभी को परामर्श दिया है कि हिन्दी पढ़ें।[1] सन् १९३८ में मद्रास के मुख्यमंत्री के रूप में हिन्दी को अनिवार्य विषय बनाया और हिन्दी विरोधियों को जेल भी भिजवाया था। अब वे हिन्दी के विरोधी हैं। यह भी राजनीतिज्ञ का ही चक्कर है।

यदि राजनैतिक चक्करों से बचकर निष्पक्ष-निस्वार्थ रूप से विचार किया जाय तो भारतीय राष्ट्रभाषा-समस्या उलझी हुई नहीं है।

'If the 30 crores that live in India, 14 crores speeck Hindi or some very near dialect of that language...From the political as well as cultural and business points of views, it is unperatively necessary for the south Indians to learn Hindi...Can the deliberation of un central assembly that the transactions of the high officers of state and others exercising authority in the central Govt. be permitted to be done in English ? Obuiously not Hindi is bound to be the language of the central Govt. and the Legislature and also of the provincial Government in their dealings in each other and with the Govt. of India.'

परिशिष्ट—ग

राष्ट्रभाषा का प्रसार

हिन्दी की समुन्नति उसकी अपनी शक्ति और साधना का फल है। उसकी निरन्तर साधना का मूल्यांकन उसको राष्ट्रभाषा पद की प्राप्ति के रूप में मिला है। यह सत्य है कि हिन्दी किसी प्रदेश-विशेष की भाषा नहीं है। दिल्ली-मेरठ की बोली के आधार पर हिन्दी के वर्तमान रूप का विकास हुआ है। अपने परिनिष्ठित रूप में वह केवल नगरों के शिक्षितों की बोलचाल की भाषा चाहे हो, पर हिन्दी क्षेत्र के भिन्न-भिन्न भागों में सामान्य जन की व्यावहारिक भाषा तत्स्थानीय बोलियाँ ही हैं। हिन्दी का पुराना तथा मध्यकालीन साहित्य भी स्थानीय बोलियों में ही था : ब्रज में, अवधी मे मुख्यतः। भारतेन्दु-काल मे वर्तमान भाषा-रूप साहित्य में प्रयुक्त होने लगा। उस समय तक उर्दू रूप मे उसका पर्याप्त निखार भी हो चुका था और उसमें सुस्थिरता भी आ गई थी। इस उर्दू का उसके वर्तमान रूप पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था : पर शब्द स्रोत भिन्न था। साथ ही बोलियाँ भी इस नव-विकसित भाषा-रूप को योगदान दे रही थीं। आगरे के आसपास की भाषा को ब्रजभाषा और बनारस आदि की समीपवर्ती बोलियाँ पूर्वी क्षेत्रो मे इसको प्रभावित कर रही थीं। यह भी नहीं भुला देना चाहिए कि बँगला, मराठो, गुजराती, आदि भाषाएँ भी इसे प्रभावित कर रही थीं। यह विस्तृत प्रभाव ही हिन्दी की शिरोपशिराओं में शक्ति रूप में सचरित हो रहा था। यही हिन्दो की शक्ति है जो उसे सर्वत्र सुलभ बना रही है, और उसके प्रसार-पथ को प्रशस्त कर रही है। भारतीय संस्कृति के समन्वित रूप की अभिव्यक्ति का यह एक अमोघ साधन है। इसकी सांस्कृतिक साधना और राष्ट्रीय तपस्या को संक्षेप में देख लेना समीचीन होगा।

१८५७ की क्रान्ति यद्यपि असफल हो गई थी फिर भी आशा की किरण बुझ नहीं गई। अन्तर्ज्योति की एक प्रबल किरण बनकर समाज-संगठन की दुर्बलताओं को प्रकाशित करने लगी और भविष्य-पथ पर धुँधला प्रकाश विकीर्ण करने लगी। उन्नीसवीं शती में जब बौद्धिक विकास चरम पर पहुँच रहा था, विज्ञान की उन्नति यन्त्र युग का सूत्रपात कर रही थी और संसार भर में नव-जागरण और जीवन का अनुभव किया जा रहा था, उस समय भारत भी सामाजिक सुधार और नव-जागरण के क्षणों की पीड़ा का, बेड़ियों में जकड़ा हुआ, अनुभव कर रहा था। राजा राममोहन

राय प्रभृति समाज-दृष्टाओं ने सामाजिक क्रान्ति के घोष से दिगन्त को परिपूर्ण कर दिया। इस नवजागरण की प्रेरणा नव-जीवन से स्पन्दित पाश्चात्यजगत से आई। पर उसकी आधार भूमि वेद-उपनिषद के दर्शन से निर्मित थी। भारतीय-विद्याओं, साहित्य और संस्कृति का नवीन दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों ने भी अध्ययन किया और व्याख्या की नवीन दिशाओं का उद्घाटन किया। पर इस वैज्ञानिक अध्ययन को सशंक दृष्टि से भी देखा गया। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हमारी दृष्टि संस्कृत में निहित संस्कृति और धर्म की ओर मुड़ी थी। अभिव्यक्ति और विषय वस्तु अंग्रेजी से भी प्रभावित होती थीं। इस सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण की अभिव्यक्ति ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज तथा थ्यौसॉफी आदि संस्थाओं मे हो रही थी। यह सब आत्म-परीक्षण ही था।

इस सामाजिक नवजागरण में भारत की सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के सशक्त समर्थक और प्रस्तोता तथा सामाजिक सुधार में कर्मठ स्वामी दयानन्द सरस्वती एक प्रबल व्यक्तित्व के रूप में उदय हुए। उन्होंने यद्यपि अपनी वाणी के प्रसार का माध्यम आरम्भ में संस्कृत को बनाया, पर उन्हें जन-जन तक अपना संदेश को पहुँचाना था। अतः एक भारत व्यापी सामान्य भाषा को ग्रहण करने की आवश्यकता का अनुभव किया। उन्होंने हिन्दी की शक्ति और व्यापकता को पहचाना और उसको अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया। हिन्दी के माध्यम रूप मे ग्रहण करते ही उनका आन्दोलन बम्बई से लाहौर, लाहौर से कलकत्ते तक पहुँच गया। इस समय यद्यपि शासन और शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी चल रही थी, पर उससे सम्बन्धित वे ही लोग थे जो कालिजों से सम्बन्धित थे या वहाँ की शिक्षा से लाभान्वित होने का जिन्हें सौभाग्य प्राप्त हो गया था। इस प्रकार नवीन शिक्षित वर्ग और नौकरशाही ही अंग्रेजी को सब कुछ मानते थे। शेष जनता का सम्बन्ध हिन्दी आदि अपनी भाषाओं से था। जागरूक समाज-नेता पश्चिम से आती ज्ञान और जागरण की धाराओं के विरोधी नहीं थे, पर अपनी भाषा और अपने साहित्य के स्थान पर अंग्रेजी भाषा और साहित्य को भी नहीं सहन कर सकते थे।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण की इस पृष्ठभूमि पर राष्ट्रीयता की भावना स्फुलिंगवत देश को सचेत करने लगी। १८८५ में कॉंग्रेस की स्थापना हुई और इस प्रकार देश के एक महान राष्ट्रीय आन्दोलन की भूमिका तैयार हुई। कॉंग्रेस अखिल भारतीय संस्था थी। इसमें अंग्रेजी में विचार व्यक्त किये जाते थे। पर पं० मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय जैसे कुछ नेता हिन्दी में भी बोलते थे। अंग्रेजी के माध्यम से यह राष्ट्रीय आन्दोलन जन के निकट नहीं आ सकता था। स्वदेशी की धूम मची : स्वराज्य की माँग उठी। जनता के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए हिन्दी को आगे चलकर स्वीकृत किया गया। इस भाषा के ग्रहण करने से कॉंग्रेस अब मात्र संस्था न रह गई : एक जन-आन्दोलन का प्रतीक बन गई। फिर उसने साहित्य के क्षेत्र में राष्ट्रीय भावनाओं का वहन किया और राजनैतिक क्षेत्र में आन्दोलन की वाणी बन

गई। उस समय तक विघटन और विभाजन की शक्तियाँ राष्ट्रीय हित में समाहित थीं। हिन्दी के प्रचार-प्रसार में प्राय: सभी राष्ट्रीय नेताओं ने प्राणपथ से प्रयत्न किया। फलतः हम क्रान्ति करते करते स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। स्थानीयता, प्रान्तीयता आदि अप्रगतिशील तत्व १९४७ तक दिखाई नहीं पड़े।

स्वतन्त्रता के पश्चात् चित्र में कुछ विकृति आने लगी। प्रादेशिकता उभरने लगी। जो शक्तियाँ विदेशी राज्य को यहाँ जमने से सहायक हो रही थीं उन्हीं के हाथों में शक्ति का अधिकांश भाग आया। इनके अन्तर में स्वार्थ मिश्रित एक प्रतिक्रिया भी चल रही थी। भाषा के क्षेत्र में भी यह प्रतिक्रिया दीखी। अपनी भाषाओं की साधना को भुला दिया गया। सुशासन, शिक्षा-स्तर, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के नाम पर अंग्रेजी के प्रश्न को उठाया गया। अंग्रेजी के छोड़ देने पर अनेक भयंकर स्थितियों की सम्भावनाओं को जोर-शोर के साथ सामने रखा गया। प्रादेशिक भाषाओं को खतरे की बात समझाई गई। दोनों के परस्पर विरोधी होने के भ्रम को फैलाया गया। यह भुला दिया गया प्रादेशिकता और राष्ट्रीयता एक दूसरे के पूर्ण सहायक हैं। इसी प्रकार राष्ट्रीय और प्रादेशिक भाषाओं का सम्बन्ध है। साथ ही राष्ट्रीय अभिव्यक्ति के माध्यम और अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों से मिलने वाले ज्ञान को लेकर भी भ्रम फैला है। सत्य यह है कि अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम तो राष्ट्रभाषा ही हो सकती है। ज्ञान कहीं से भी प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए अन्य भाषाओं को पढ़कर ज्ञान-स्रोतों का उपयोग करने में कमी कोई नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह नहीं कि हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के जन्मसिद्ध अधिकारों को ठुकरा कर किसी विदेशी भाषा को उनके ऊपर थोप दिया जाय। इस प्रतिक्रान्ति के मूल में दो तत्व हैं: मनोवैज्ञानिक आशंका और अपने निहित स्वार्थ। देश के सच्चे एकता प्रेमियों को इस प्रतिक्रियाशील प्रतिक्रान्तियों के प्रति अवश्य ही सावधान रहना चाहिए। गांधी जी ने एक बार कहा था: 'मेरी कामना है कि मेरा घर न तो दीवारों से चारों ओर से बन्द कर दिया जाए और न ही ताजी हवा को रोकने के लिए उसकी खिड़कियों को ही भेड़ दिया जाय। मैं चाहता हूँ कि सारे संसार की महान् सभ्यताओं और संस्कृति की वायु मेरे घर की ओर बढ़े, किन्तु साथ ही मैं यह भी ईमानदारी से चाहता हूँ कि विदेश की सभ्यता-संस्कृति की अमान्यताओं की आंधी से मेरा घर उड़ा ही न दिया जाए।' आवश्यकता है कि इन शब्दों में निहित सत्य को हम समझें।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि किन-किन परिस्थितियों में और किन-किन शक्तियों के सहारे हिन्दी बढ़ी। यहाँ अनेक क्षेत्रों में हिन्दी प्रसार की गति-विधि देख लेना भी प्रासंगिक होगा। प्रसार कार्य अनेक संस्थाओं ने किया है और कर भी रही हैं। १८९३ में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा का उद्देश्य समस्त भारत में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करके उसे राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के पद पर आसीन कराना था। स्व० रामनारायण मिश्र, श्यामसुन्दर-दास, मालवीय जी आदि ने इसको मूल्यवान योगदान दिया। लुप्त साहित्य की शीघ्र

शोध हुए। उसका प्रकाशन भी हुआ। इससे हिन्दी के साहित्य को समृद्धि मिली। 'हिन्दी शब्द-सागर का प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना है। सभा के कार्य आज भी बहुमुखी हैं। इन सबसे हिन्दी का बलवर्द्धन हो रहा है।

'हिन्दी साहित्य सम्मेलन; प्रयाग' भी इस दृष्टि से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था है। इसकी स्थापना १९१० में काशीनागरी प्रचारिणी सभा के ही अन्तर्गत हुई। इसका भी उद्देश्य ऐसा ही रहा। मालवीयजी ने इसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता की। टंडन जी ने इस संस्था के नींव को सुदृढ़ करना आरम्भ किया १९११ मे वे ही प्रधान मन्त्री चुने गये। पीछे देश के गणमान्य साहित्यिकों और नेताओं के सभापतित्व मे इसके अधिवेशन होते रहे; महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत होते रहे। जब १९१८ में गाँधीजी इन्दौर अधिवेशन के सभापति हुए, इसमें बल और जीवन नवीन स्फूर्ति के साथ आये। उसी समय यह निश्चय किया गया कि अहिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी और नागरी का प्रचार किया जाय। तदनुसार मद्रास-प्रान्त में हिन्दी के प्रचार का कार्य आरम्भ हुआ।

इस कार्य-भार को लेकर श्री हरिहर शर्मा, स्व० पं० रघुवरदयाल मिश्र, पं० हृषीकेश शर्मा, स्व० प्रतापनारायण वाजपेई, श्री देवदास गांधी, पं० देवदूत विद्यार्थी, पं० रामानन्द शर्मा, पं० अवधनन्दन आदि दक्षिण भारत पहुँचे। इन सबके सहयोग से मद्रास में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना हुई। आज तक यह संस्था हिन्दी के प्रचार-प्रसार कार्य में संलग्न है। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नेता स्व० बी० कृष्णस्वामी अय्यर ने पहले से ही राष्ट्रभाषा हिन्दी का समर्थन किया था। सन् १९१६ की लखनऊ कॉंग्रेस के अवसर पर अंग्रेजी के पक्षपाती दक्षिण से हिन्दी सीखने के लिए गाँधीजी के अनुरोध किया था। यह सब 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की पृष्ठभूमि थी। उक्त इन्दौर अधिवेशन म यह भी स्वीकृत किया गया कि छः दक्षिण भारतीयों को हिन्दी के अध्ययन के लिए प्रतिवर्ष प्रयाग भेजा जाय और छः हिन्दी भाषीविद्यार्थी दक्षिण में जाकर वहाँ की भाषा सीखें और हिन्दी के प्रचार में सहायक हों। मद्रास में उस समय 'इण्डियन सर्विसलीग' एक नवयुवक-संस्था थी। बापू की अपील का इस संस्था पर प्रभाव पड़ा। गाँधी जी ने अपने पुत्र देवदास गाँधी को हिन्दी-वर्ग चलाने के लिए भेजा। मई १९१८ में उक्त सेवा-समाज के अध्यक्ष श्री सी० पी० रामस्वामी अय्यर की अध्यक्षता में श्री मती एनी बेसेण्ट के हाथों प्रथम हिन्दी वर्ग का उद्घाटन हुआ। स्व० देवदास गाँधी के प्रचार के फलस्वरूप दक्षिण में हिन्दी सीखने वालों की संख्या बढ़ने लगी। पीछे टण्डनजी की प्रेरणा से स्वामी सत्यदेव देवदास को सहयोग देने दक्षिण गए। १९२० के सम्मेलन के पटना-अधिवेशन में मद्रासियों के योग्य कुछ अच्छी पुस्तकें तैयार करने की बात सोची गई। पं० हरिहर शर्मा ने 'हिन्दी स्वबोधिनी' अंग्रेजी और तमिल में तैयार की थी। गाँधीजी ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी। पीछे श्री ऋषीकेश शर्मा ने तेलुगु में हिन्दी स्वबोधिनी तैयार

की। पीछे मलयालम, कन्नड़ प्रतियाँ भी बनीं। पीछे हिन्दी-विद्यालय भी दक्षिण में खोले गये। गोदावरी नदी के किनारे राजमहेन्द्र वरम् के पास धवलेश्वर में एक विद्यालय खोला गया। दूसरा विद्यालय कावेरी नदी के किनारे इरोड नामक नगर में स्व० पं० मोतीलाल नेहरू के हाथों, उदघाटित हुआ। एक साल के बाद इन दोनों विद्यालयों को बन्द करके एक हिन्दी महाविद्यालय मद्रास में खोला गया। बापू का विचार रहा कि अहिन्दी-क्षेत्रों में हिन्दी प्रचार-कार्य वहाँ वालों को ही सम्भालना चाहिए। इसी को स्वतन्त्र रूप देने के लिए 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय, मद्रास, का नाम बदला गया 'दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा।' आज भी सत्यनारायण इसकी उन्नति के लिए सेवा भाव से प्रयत्नशील हैं। गाँधी जी इस संस्था के आजीवन अध्यक्ष रहे: उनके बाद राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद रहे। आरम्भिक वर्गों में हाईकोर्ट के न्यायाधीश सदाशिव अय्यर, प्रसिद्ध वकील वेंकट राम शास्त्री, तथा के० भाष्यम् अय्यंगार, एन० सुन्दर अय्यर, रंगरत्ना शास्त्री आदि सम्मिलित थे। महिलाओं में श्री अम्बुजम्माल, दुर्गाबाई देशमुख, इन्दिरा रामदुरे आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का कार्य सुव्यवस्थित हुआ।

१९३६ के डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता के हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन में यह प्रस्ताव हुआ कि दक्षिण-भारत ही नहीं, अन्य हिन्दीतर प्रदेश प्रदेशों में भी राष्ट्रभाषा का व्यापक प्रचार किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य से एक हिन्दी प्रचार-समिति की स्थापना हुई: वर्तमान नाम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति है। यह वर्धा में स्थापित हुई। आज देश में, असम, बंगाल, मणिपुर, उत्कल, गुजरात, महाराष्ट्र, बम्बई, विदर्भ, मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, मराठावाड़ा, आन्ध्र, मैसूर आदि में समिति का कार्य चल रहा है। देश से बाहर अफ्रीका, जावा, सुमात्रा, वर्मा, आरिशस, अदन, इग्लैंड आदि में भी समिति क्रियाशील हैं। जब हिन्दी-हिन्दुस्तानी प्रश्न उठा तब १९४२ में 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' की स्थापना हुई। प्रान्त-प्रान्त में अनेक समितियाँ बनी: उनके संचालक नियुक्त हुए।

गुजरात में हिन्दी का प्रचार 'गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद,' 'दक्षिणा मूर्ति विद्यामन्दिर, भावनगर', और 'राजकोट सेवासंघा के द्वारा होता रहा है। बड़ौदा में कार्य की तीव्रता अधिक थी। राज्य के सभी कर्मचारियों के लिए कचहरियों में हिन्दी सीखना अनिवार्य कर दिया गया था। अदालत के फैसले गुजराती भाषा तथा नागरी लिपि में लिखे जाते थे। सन् १९३५ में 'राष्ट्रभाषा प्रचारक मण्डल' की स्थापना हुई नियमपूर्वक राष्ट्रभाषा कार्य चलाया जाने लगे। १९३६ में वर्धा-समिति की स्थापना के बाद गुजरात में राष्ट्रभाषा का प्रचार उसके तत्वावधान में व्यवस्थित रूप से चलने लगा। गुजरात प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा का मुख्य कार्यालय अहमदाबाद में रखा गया। आज वहाँ राष्ट्रभाषा का पूर्ण वातावरण बन गया है। राष्ट्रभाषा की

परीक्षाओं में हजारों परीक्षार्थी बैठते हैं। 'राष्ट्रभाषा' समिति की मुख पत्रिका है। गुजरात प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से एक हिन्दी—भवन का भी निर्माण हुआ।

महाराष्ट्र में भी वर्धा समिति की स्थापना के पूर्व ही श्री ग० र० वैषम्पायन तथा श्री शंकर राव देव इस कार्य में रत थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पूना अधिवेशन के अवसर पर एक अखिल महाराष्ट्र हिन्दी प्रचार समिति का संगठन किया गया। पीछे इस संस्था के संचालन का भार तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ को सौंप दिया गया। कार्याधिक्य ने जिला समितियाँ स्थापित करने की प्रेरणा दी। अनेक जिला-समितियाँ आज यह प्रचार कार्य कर रही हैं। १६५१ से समिति ने एक तुलसी महाविद्यालय चलाना आरम्भ किया है। राष्ट्रभाषारत्न, अध्यापन विशारद, साहित्य-रत्न आदि पढ़ाइयों की इसमें व्यवस्था है। 'जयभारती' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है।

बम्बई राष्ट्रभाषा प्रचार-सभा अपना कार्य १६३६ से पहले से ही करती आ रही थी। इस समिति के अध्यक्ष सेठ जमना लाल बजाज थे। १६३७ से बम्बई समिति-वर्धा समिति से सम्बद्ध होकर राष्ट्रभाषा प्रचार कार्य कर रही है। १६४५ में हिन्दी प्रचार सभा का आदर्श अपनाया गया। फलतः १६४५ में उसका पुनर्संगठन हुआ। परीक्षाएँ भी चल रही हैं।

इसी प्रकार वर्धा समिति के अन्तर्गत 'विदर्भ-नागपूर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति (नागपुर) उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा (कटक) असम राज्य राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति (शिलांग) पश्चिमी बंगाल राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति (कलकत्ता), सिन्ध-राजस्थान राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (जयपुर) आदि संस्थाएँ राष्ट्रभाषा-सेवा प्रचार कार्य में रत हैं। इनके साथ दिल्ली प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति, हैदराबाद, राज्य हिन्दी प्रचार सभा, मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (भोपाल) पंजाब प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, काश्मीर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (श्रीनगर) मराठा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, का नाम भी नहीं छोड़ा जा सकता।

अफ्रीका में राष्ट्रभाषा का प्रचार एक गौरव की बात है। दक्षिण अफ्रीका में हिन्दी-शिक्षा-संघ, नैपाल के सभापति श्री नरदेव जी विद्यालंकार के सप्रयत्नों का परिणाम है। इसके अन्तर्गत समिति द्वारा ये केन्द्र चलाए जा रहे हैं। डरबन, पीटर मेरिस्स वर्ग, के पटाउन, पोर्ट एलिजाबेथ, लोरेंस मार्क्स, लेडीस्मिथ, बुलवायो, रोडेशिया आदि। पूर्व अफ्रीका में भी श्री अनन्तशास्त्री बड़ी लगन से कार्य कर रहे हैं। पूर्वी अफ्रीका मे मोम्बासा, नैरोबी, ऐलडोरेट, किसूमू, नकुस, कम्पाला, काकीरा, दारे सलाम, रांगा, म्बान्भा, जंजीबार आदि स्थानों पर केन्द्र हैं। लगभग ४०० परीक्षार्थी प्रतिवर्ष वर्धा समिति की परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं।

अन्दमान-निकोबार में भी व्यवस्थित रूप से राष्ट्राषाभा-प्रचार समिति का कार्य चल रहा है। वर्तमान समय में इसका कार्य उस निकोबार द्वीप समूह के अतिरिक्त, जहाँ लोग रोमन लिपि में अपनी भाषा लिखते हैं, अन्य द्वीपों में कहीं भी एक भाषा नहीं लिखी जाती। इस दृष्टि से राष्ट्रभाषा के रूप में देवनागरी लिपि का प्रवेश इन द्वीपों के लिए महत्वपूर्ण है। नानकोड़ी, आवरडीन तथा जंगली घाट में समिति के अतिरिक्त शिक्षा वर्ग चल रहे हैं।